प्रकाशक—

जीतमल लूणिया, मन्त्री

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

हिन्दी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय, उनका पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थायी ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मंडल के ग्राहक हैं तो अपना नम्बर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुर्जर,

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

भूमिका

साबरमती के सत्याग्रहाश्रम से सम्बन्ध रखने वाले सभी लोग काका कालेलकर को भली भाँति जानते हैं। गुजराती लोग भी उन्हें उनके लेखों द्वारा जानते हैं। दाक्षिणात्य तो वह हैं ही। पर हिन्दी-भाषी जन साधारण को उनका परिचय नहीं है। उनके लेखों का संग्रह इस रूप में छापने की कल्पना स्तुत्य है। क्योंकि इसीके द्वारा उनका परिचय हिन्दी-संसार को होगा। इन निबन्धों के पढ़ने से ही उनके विचार और विद्वत्ता की गहराई का पता चलता है। "जीवित इतिहास" शीर्षक का पहला लेख पीछे आने वाले निबन्धों की एक प्रकार से भूमिका है। हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचारों पर उन्होंने नयी रोशनी डाली है। उन त्योहारों पर, जिन्हें हम निरे गँवारों को भुलाने के लिए ढकोसला मात्र समझ बैठते हैं, समालोचनात्मक तत्व दृष्टि डालकर कालेलकर महोदय ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयों के लिए एक नया दृष्टि-कोण बतला दिया है। इन निबन्धों के प्रत्येक पृष्ठ में मौलिकता झलकती है और हिन्दी-भाषियों को काका कालेलकर के मौलिक विचारों के जानने का सुअवसर देकर सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल ने हम पर बड़ा एहसान किया है। मेरी आशा और विश्वास है कि इस ग्रन्थ से हिन्दी-भाषी बहुत लाभ उठावेंगे।

राजेन्द्रप्रसाद

विचार-कलिका

मेरा कुटुम्ब विशाल है। मैं अपने अकेले ही के सुख से सुखी कैसे रहूँ? सब सुखी हों तब मुझे भी सुखी होना चाहिए। जब तक संसार में एक भी प्राणी सुख से रहित है तब तक मेरे प्रयत्न शिथिल नहीं होंगे।

❀ ❀ ❀ ❀

पहले हृदय का जीर्णोद्धार करो। समाज का, धर्म का, और संस्कृति का जीर्णोद्धार इसी के द्वारा अपने आप हो जायगा।

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे अपचन से मुख में दुर्गन्धि हो जाती है, उसी तरह सामाजिक अन्याय के कारण अपने सभी व्यवहारों में कुरूपता फूट-फूट कर निकलती हुई दीखती है।

❀ ❀ ❀ ❀

सच्ची दरिद्रता कौन सी है? वह जब कि पास में विपुल धन होने पर भी उसका सदुपयोग किस तरह किया जाय, यह न सूझता हो।

काका कालेलकर

प्रकाशक के दो शब्द

सत्याग्रहाश्रम साबरमती के काका कालेलकर का यह लेख संग्रह—जीवन-साहित्य—हमें विश्वास है, हिन्दी-भाषियों को एक नई चीज़ मालूम होगी। काका साहब न केवल मौलिक विचारक और उच्च कोटि के लेखक हैं; बल्कि प्रथम श्रेणी के शिक्षा-शास्त्री, साहित्य-कला-मर्मज्ञ और धर्म-तत्व-चिन्तक हैं। दाक्षिणात्य होते हुए भी गुजरात में उनका नाम 'विचारों के ज्वालामुखी' पड़ गया है। काका के लेखों और विचारों ने, तरुण गुजरात के विचार और आचार पर असर किया है। काका साबरमती आश्रम के राष्ट्रीय विद्या-मन्दिर के आचार्य, राष्ट्रीय गुजरात-विद्यापीठ के कुलनायक (वाइस चान्सलर) और महात्माजी के जेल जाने के बाद 'नवजीवन' के संपादक रहे हैं। उनके दिव्य विचारों तथा सरल, सरस तथा कलापूर्ण लेखन-शैली, हिन्दी-पाठकों को भी मुग्ध किये बिना न रहेगी। इस 'जीवन-साहित्य' के द्वारा पाठकों को जीवन और साहित्य, दोनों का एवं जीवनदायी साहित्य का स्थायी लाभ मिलेगा—ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है।

इस उच्च पुस्तक की भूमिका लिखने का अधिकारी एक ऊँची आत्मा ही हो सकता है। हमें हर्ष है कि श्रीमान् बाबू राजेन्द्र प्रसादजी ने समयाभाव होने पर भी इसकी भूमिका लिख देने की कृपा की है। इसके लिये हम आपके बड़े कृतज्ञ हैं।

जीवन-साहित्य का दूसरा भाग भी हम शीघ्र ही पाठकों को अर्पण करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रकाशक

लागत का ब्योरा

कागज़	... ...	२९५) रु०
छपाई	... ...	२६०) ”
बाइंडिंग	... ...	४५) ”
लिखाई, व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च,		३४०) ”
		९४०) रु०

कुल प्रतियाँ २५००

लागत मूल्य प्रति संख्या ।=)

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

काका कालेलकर

विचार-कलिका

अपने आस पास सच्चे मित्रों को इकट्ठे करें, खुशामदी और अन्ध भक्तों को कदापि स्थान न दें ।

❀ ❀ ❀ ❀

समाज का मूलाधार सन्तोष-समाधान है, ईष्या द्वेष नहीं; मत्सर के मानी हैं प्रेम की मृत्यु ईर्ष्या-द्वेष के मानी हैं समाज का नाश ।

❀ ❀ ❀ ❀

हिल मिलकर काम करने में जो प्रतिस्पर्धा रहती है वह आनन्दप्रद और प्रोत्साहक होती है। परस्पर एक दूसरे के विरोधी काम करने में जो प्रतिस्पर्धा होती है वह हीनता उत्पन्न करती है ।

❀ ❀ ❀ ❀

दान से त्याग का महत्व विशेष है! हम दान करके ग़रीबों का कष्ट घटाते हैं, परन्तु सम्पत्ति का त्याग करके हम ग़रीबों की ग़रीबी ही मिटा देते हैं। बहुत बार दान से हम सामाजिक पाप का प्रायश्चित करते हैं, परन्तु त्याग से तो पापों ही को छोड़ देते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀

काका कालेलकर

जीवन-साहित्य

जीवित इतिहास

हिन्दुस्थान का इतिहास हिन्दुस्थानी लोगों द्वारा नहीं लिखा गया है—इस बात का हम कितना ही विरोध करें, तो भी यह नहीं सिद्ध होता कि प्राचीन समय का हमारा इतिहास लिखा गया है। रामायण और महाभारत इतिहास नहीं कहे जा सकते। आधुनिक दृष्टि से वे इतिहास हैं ही नहीं। हाँ, रामायण और महाभारत में तथा पुराणों में भी इतिहास तो हैं, किन्तु वह सब धर्म का निश्चय करने के लिए दृष्टान्त-रूप हैं। महावंश और दीपवंश इतिहास माने जा सकते हैं, पर वे सीलोन के हैं, और उनमें इतिहास बहुत थोड़ा आया है। काश्मीर की राजतरङ्गिणी के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। तो फिर प्रश्न उठता है हमारा इतिहास क्यों नहीं है? जीवन के किसी भी अङ्ग को लीजिए, उसमें असाधारण प्रवीणता हमने सम्पादन की है, फिर भी हमारे यहाँ इतिहास क्यों नहीं है?

इतिहास का अर्थ है मनुष्य जाति के सम्मुख उपस्थित हुए प्रश्नों का उल्लेखन। इनमें कितने ही प्रश्न निर्णीत हो चुके हैं

और कितने ही अभी तक अनिश्चित हैं। जिन प्रश्नों का निश्चय हो सका है, वे अब प्रश्न नहीं रहे, उनका निराकरण तो हो चुका है और वे सामाजिक जीवन में संस्कार-रूप से प्रविष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार से अन्न पाचन हुआ कि उसका रक्त बन जाता है, उसी प्रकार वे प्रश्न राष्ट्रीय मान्यता अथवा संस्कारों में परिणत हो गये हैं। खाना हजम हो जाने पर मनुष्य इस बात का विचार नहीं करता कि मैंने कल क्या खाया था, ठीक इसी तरह जिन प्रश्नों का उत्तर मिल गया है, उनके विषय में वह उदासीन रहता है।

अब विचारणीय है अनिर्णीत प्रश्नों का विषय। हम लोग परमार्थी हैं। अतएव हम अनिश्चित प्रश्नों को कागज़ पर लिख रखना नहीं चाहते। अनिश्चित प्रश्नों में मतभेद होता है। जितने मतभेद होते हैं, उतने ही सम्प्रदाय हम खड़े करते हैं। वेदों के उच्चारण में मतभेद हुआ तो हमने भिन्न भिन्न शाखायें खड़ी कर दीं। ज्योतिष में मतभेद हुआ तो स्मार्त और भागवत एकादशी जुदी जुदी मानी। दर्शनशास्त्र में तत्वभेद मालूम हुआ तो द्वैत और अद्वैतवाद के मार्ग हमने उत्पन्न किये। आहार और उद्योगों में भेद हुआ तो हमने भिन्न भिन्न जातियाँ बना लीं। जहाँ सामाजिक रीतियों में मतभेद हुआ, वहाँ हमने उपजातियाँ खड़ी कर दीं। यदि मनुष्य भूल से किसी रीति को तोड़ दे, या बड़े से बड़ा पाप करे तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है, उतने ही के लिए नई जाति नहीं खड़ी की जाती। हम लोग त्योहारों के द्वारा महान् ऐतिहासिक और राष्ट्रीय महत्त्व की घट-नाओं के इतिहास को जागृत रखते हैं। इसी तरह हर एक सामाजिक हलचल के इतिहास को, उस हलचल के केन्द्र को

तीर्थरूप देकर हम लोगों ने जीवित रक्खा है। इस तरह, इतिहास लिखने की अपेक्षा इतिहास को जीवित रखना, अर्थात् जीवन में उसे चरितार्थ कर दिखाना, हमारे समाज की खूबी है। चीथड़ों के बने कागजों के ऊपर इतिहास लिखना अच्छा, या जीवन ही में इतिहास का संग्रह रखना अच्छा? इन दोनों में कौनसा रास्ता अधिक सुधरा हुआ है, यह कहना क्या कठिन है? जब तक हमारी परम्परा टूटी नहीं थी तब तक हमारा इतिहास हमारे जीवन में जीवित था। अभी भी यदि लोगों के रीति-रिवाज, उनकी मान्यतायें, जाति-संगठन, तथा त्योहारों की खोज की जाय तो बहुतसा इतिहास मिल सकता है। हाँ, वह बहुतांश में राजकीय न होगा, राजनैतिक न होगा; वरन् सामाजिक और राष्ट्रीय होगा। क्या इतिहासों के संशोधक लोग इस दिशा में परिश्रम न करेंगे?

जन्माष्टमी

सूर्य प्रतिदिन उदय होता है, तथापि प्रतिदिन वह नवीन प्राण, नूतन चैतन्य, और अभिनव जीवन ले आता है। सूर्य को पुराना ही समझ कर पक्षिगण उत्साह-शून्य नहीं होते। कल ही का यह सूर्य आज फिर आया है, यह कह कर द्विजगण भगवान् भास्कर का निरादर नहीं करते। जिस मनुष्य का जीवन शुष्क हो गया है, जिसकी आँखों का तेज चला गया है, जिसके हृदय में रक्त-सञ्चार बन्द हो गया है, उसी के लिये सूर्य पुराना है। जिसमें प्राणों का कुछ भी अंश है उसके लिये तो भगवान सूर्य-नारायण नित्य नूतन हैं। जन्माष्टमी भी प्रतिवर्ष आती है, प्रति-वर्ष हम वही कथा सुनते हैं, ठीक उसी तरह उपवास भी करते हैं और उसी तरह श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव करते हैं। इसी क्रम के अनु-सार हजारों वर्ष बीत जाने पर भीजन्माष्टमी हर साल हमें उस जगद्-गुरु का एक नया ही सन्देश सुनाती रहती है। कृष्ण-पक्ष की अष्टमी के वक्र चन्द्र के समान एक पैर पर भार रख कर एक पैर टेढ़ा रक्खे और देह में कमनीय बाँक रख कर श्री मुरलीधर ने जिस दिन संसार में प्रथम वार प्राण फूँका, उस दिन से आज तक हरएक निराश्रित मनुष्य को आश्वासन मिला कि—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।'

हे तात! जिस मनुष्य ने सन्मार्ग ग्रहण किया है जो धर्म पर दृढ़ है, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती।

लोग समझते हैं कि धर्म दुर्बल मनुष्यों के लिये है, अधिक से अधिक व्यक्तिगत सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता होगी; परन्तु राजा और सम्राट् तो जो करें, वही धर्म है। साम्राज्य-शक्ति धर्म से परे है। व्यक्ति का पुण्य-क्षय हो जाता होगा, किन्तु साम्राज्य तो अलौकिक वस्तु है। साम्राज्य की विभूति ईश्वरीय विभूति से बढ़ कर श्रेष्ठ है। जब साम्राज्य अपने हाथ में विजय-पताका लेकर घूमता है, तब दिन के चन्द्रमा की तरह ईश्वर भी न जाने कहाँ छुप जाता है।

मथुरा में कंस की ऐसी ही भावना थी; मगध देश में जरासन्ध भी ऐसा ही समझता था; चेदि देश में शिशुपाल की मनोदशा भी यही थी; जलाशय का निवासी कालियानाग की मान्यता भी यही थी; द्वारकापुरी पर धावा करने वाले कालयवन का भी यही जीवन-सिद्धान्त था; महापापी नरकासुर को यही शिक्षा मिली थी और दिल्ली के सम्राट् कौरवाधिपति भी इसी वृत्ति में छोटे से बड़ा हुआ था। ये सभी महा पराक्रमी राजागण अन्धे या अज्ञानी न थे। इनके दरबारों में इतिहासवेत्ता, अर्थ-शास्त्र-विशारद और राज-कार्य-धुरन्धर अनेक विद्वान् थे। वे अपने अपने शास्त्रों का निचोड़ निकाल निकाल कर अपने अपने सम्राटों को सुनाते थे। परंतु जरासन्ध कहता था कि, 'तुम लोगों के इतिहास के सिद्धान्तों को रक्खे रहने दो, मेरा पुरुषार्थ इसी बात में है कि मैं अपने बुद्धि-बल और भुज-बल के द्वारा तुम्हारे सिद्धान्तों को झूठा कर दूँ।' कालयवन कहता—कि 'मैं एक ही अर्थ-शास्त्र जानता हूँ—दूसरे देशों को निचोड़ कर उनका धन हरण कर लेना। धनवान् होने का यही एक मात्र सीधा, सहल—अतएव

सशास्त्र मार्ग है।' शिशुपाल कहता कि, 'न्याय और अन्याय की बात तो प्रजाजनों के भीतरी झगड़ों में हो सकती है, हम तो ठहरे सम्राट्, हमारी जाति ही भिन्न, प्रतिष्ठा और वैभव यही हमारा धर्म है।' कौरवनाथ कहते थे कि 'संसार में जितने रत्न हैं, वे सब हमारी पैतृक सम्पत्ति हैं, वे सब हमें ही मिलने चाहिए 'यतो रत्नभुजो वयम्' (क्योंकि हम रत्न-भोगी हैं, रत्नोपभोग करने ही के लिये उत्पन्न हुये हैं)। संसार भर में जितने तालाब हैं, वे सब हमारे ही विहार के लिये हैं। हम युद्ध किये बिना किसी को इतनी भी भूमि न देंगे, जितनी कि सुई की नोक के बराबर हो।'

पक्षपात-शून्य नारद मुनि ने कंस को सावधान कर दिया था कि विदेशी शत्रु के मुकाबले में भले ही तेरी चली हो, किन्तु तेरे साम्राज्य के भीतर—अरे! तेरे घर के भीतर ही—तेरा शत्रु उत्पन्न होगा। तू ने जिस सगी बहन को आश्रित दासी के समान रख छोड़ा है, उसी के पुत्र के हाथ से तेरा नाश होगा, क्योंकि वह धर्मात्मा होगा। तू उसके तेजोभंग के लिए जितने प्रयत्न करेगा, वे सभी उसके लिए अनुकूल हो जायँगे। कंस ने मन में सोचा (Fore warned is fore armed) मुझे यथासमय इतनी चेतावनी मिल गई, अब यदि मैं पानी फूटने के पहले ही पाल न बाँध लूँ तो मैं इतिहासज्ञ ही क्या? सम्राट् ही कैसा? नारद ने कहा, 'यह तेरी विनाश-काल की विपरीत बुद्धि है। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह इतिहास का नहीं, धर्म का सिद्धान्त है; सनातन सत्य है। वसुदेव और देवकी के आठ सन्तानों में से एक के हाथ से तू अवश्य मरेगा। तेरे लिए एक ही उपाय है। अब भी

पश्चात्ताप कर और श्रीहरि की शरण में जा।' मानी कंस ने तिरस्कारयुक्त हास्य के साथ उत्तर दिया कि, 'सम्राट् समर-भूमि में पराजित हुए बिना पश्चात्ताप नहीं करते।' 'तथास्तु' कह कर निराश हो नारद चले गये। कंस ने सोचा, अब तक जो सम्राट् सफल न हुए, इसका कारण है उनकी असावधानता; उन्हें पूरी तरह सावधान रहने का ज्ञान न था। यदि मैं भी गाफिल रहा तो मुझे भी पराजय स्वीकार करना पड़ेगा। पर इसका कुछ अन्देशा नहीं। वीर पुरुष तो सदा विजय के लिये प्रयत्न करता है, किन्तु पराजय के लिये तैयार रहता है। हार जाना बुरा नहीं, किन्तु धर्म के नाम पर वशीभूत हो जाने में अकीर्ति है। धर्म का साम्राज्य साधु-सन्त, वैरागी और देव-ब्राह्मणों को मुबारक हो; मैं तो ठहरा सम्राट्। मैं तो एक शक्ति को ही पहचानता हूँ।

कंस ने क्रूर हो कर वसुदेव के सात निरपराध बालकों का वध किया। कृष्ण-जन्म के समय ईश्वरीय लीला चली और श्री-कृष्ण भगवान की जगह कन्या-देहधारी शक्ति कंस के हाथ लगी। उसे कंस ने ज़मीन पर पछाड़ा, परन्तु शक्ति से कहीं शक्ति थोड़ी ही मर सकती थी? वसुदेव ने श्रीकृष्ण को गुप्त रूप से गोकुल में रक्खा, किन्तु ईश्वर को कोई वस्तु गुप्त रखना स्वीकार न था। ईश्वर को प्रसिद्ध हो जाने का कौन सा भय था (sin of secrecy) शक्ति ने अट्टहास कर के भौंचक कंस से कहा, 'तेरा शत्रु तो गोकुल में दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा है।' मथुरा से गोकुल वृन्दावन बहुत दूर नहीं है, चार पाँच कोस भी नहीं है। कंस ने श्रीकृष्ण को मार डालने के लिए जितने हो सके, प्रयत्न किये। किन्तु वह यह जान ही न सका कि श्रीकृष्ण का मरण

किस तरह है? श्रीकृष्ण अमर तो थे ही नहीं, साथही मरणाधीन भी न थे। वे धर्म-कृत्य करने को आये थे। जब तक धर्म का राज्य न हो जाय तब तक वे विराम कब पा सकते थे? कंस ने सोचा कि श्रीकृष्ण को अपने दरबार में बुलवा लूँ और वहीं उनका वध करवा डालूँ, किन्तु उसकी बाजी वहीं बिगड़ी, क्योंकि, प्रजा ने परमात्म-तत्व को पहचाना और वह परमात्मा के अनुकूल हो गई।

कंस का नाश देख कर जरासन्ध को सचेत हो जाना चाहिए था, किन्तु उसने सोचा कि, नहीं, मैं कंस से बढ़ कर सावधान हूँ; मैंने अनेक भिन्न भिन्न अवयव जोड़ कर अपने साम्राज्य को प्रबल किया है, मल्लयुद्ध में मेरा समकक्ष कौन है? मेरे नगर का कोट दुर्भेद्य है, मुझे किस बात का डर? जरासंध की भी दो फाँक हुई। कालियनाग तो अपने जल-स्थान को सुरक्षितता का नमूना ही मानता था, उसका विष असह्य था। वह फूत्कार मात्र से बड़ी बड़ी सेनाओं का संहार कर देता था। उसके उस महा-विष की भी कुछ न चली। कालयवन ने चढ़ाई अवश्य की किन्तु वह मुचकुन्द की क्रोधाग्नि से बीच में ही जल कर भस्म हो गया। नरकासुर एक स्त्री के हाथ से भस्म हुआ, कौरवाधिपति दुर्योधन द्रौपदी की क्रोधाग्नि में भस्म हुआ और शिशुपाल को उसकी की हुई भगवन्निन्दा ने ही मार डाला।

षड्रिपु जैसे छः सम्राट् उस समय मर गये, सप्तलोक और सप्त पाताल सुखी हुए और जन्माष्टमी सफल हुई। फिर भी हम हर बरस इसी समय इस उत्सव को क्यों मनाते हैं? इसलिये कि अब भी हमारे हृदय से षड्रिपु का नाश नहीं हुआ है; वे

हमें बहुत सताते हैं; हम लगभग निराश हो जाते हैं। ऐसे प्रसङ्ग में हमारे हृदय में कृष्णचन्द्र का जन्म होना चाहिए। 'जहाँ पाप है, वहाँ पाप पुञ्ज-हारी भी हैं' इस आश्वासन का उदय हमारे हृदय में होना चाहिये। मध्यरात्र के घोर अन्धकार में कृष्ण-चन्द्र का उदय हो, तभी निराश संसार आश्वासन पा सकता है और धर्म में दृढ़ रह सकता है।

जन्माष्टमी का उत्सव

एक वृद्ध साधु के साथ देश की स्थिति के सम्बन्ध में मेरी बातचीत हुई थी, मैंने उस बातचीत में राजनिष्ठा के बारे में कुछ कहा। तुरन्त ही साधु बोल उठे 'अरे, हिन्दुस्थान में तो दो ही राजा हुए हैं--एक मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र और दूसरे जगद्गुरु श्रीकृष्ण। हिन्दुओं पर तो अब भी इन्हीं दोनों का राज्य चलता है। राजनिष्ठा तो इन्हीं के प्रति सम्भव है। भूमि और द्रव्य के ऊपर राज्य करने वाले कोई और हों, किन्तु, हिन्दुओं के हृदयों पर राज्य करने वाले तो ये दो ही हैं।' मुझे यह बात बिलकुल सच मालूम हुई क्योंकि, भजन समाप्त कर के 'राजा रामचन्द्र की जय' अथवा 'कृष्णचन्द्र की जय' बुलवा कर जब सभी लोग जयजयकार करते हैं, उस समय जो भक्ति का उफान उठता है, वैसी भक्ति दूसरे किसी के विषय में उत्पन्न नहीं होती।

श्रीरामचन्द्रजी का जीवन जितना उदात्त है, उतना ही सुगम भी है। श्रीरामचन्द्र आर्यों के आदर्श पुरुष—पुरुषोत्तम—हैं। वे सामाजिक रीति-रिवाजों और नीति-नियमों का पालन सोलहों आना करते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु वे तो लोक-भावना का इतना ख्याल करते हैं जो किसी भी प्रजा-सत्ताक राष्ट्र के राज्या-

ध्यत्त को भी लज्जित कर सकता है। श्रीरामचन्द्रजी में यह दृढ़ निश्चय है कि, मेरा जीवन समाज के लिए है।

श्रीकृष्ण भी पुरुषोत्तम हैं, किन्तु वे हैं भिन्न युग के पुरुषोत्तम। जब सामाजिक संगठन आत्मोन्नति में बाधक हो, तब उसे नष्ट कर के नये नियमों की सृष्टि करना यह प्रवृत्ति श्रीकृष्ण में दीखती है। फिर भी श्रीकृष्ण अराजक न थे। वे लोकसंग्रह के महत्त्व को अच्छी तरह जानते थे। श्रीकृष्ण ने धर्म को एक नूतन स्वरूप दिया और उससे श्रीकृष्ण के जीवन का हर एक प्रसङ्ग रहस्य-पूर्ण है। जैसे कोई व्याकरणकार एक सर्वव्यापी नियम का निर्देश करने के बाद फिर उसके अपवादों को एक सूत्र में ग्रथित करता है; इसी तरह श्रीकृष्ण ने मानो मानव-धर्म के सभी अपवाद अपने जीवन में सूत्रबद्ध किये हैं। गोपियों के साथ शुद्ध, पवित्र परन्तु मर्यादा-रहित प्रेम, दुराचारी राजा कंस, मामा लगने पर भी, उसका वध, भक्त की प्रतिज्ञा सच्ची करने के लिये अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके युद्ध में शस्त्र-ग्रहण कर लेना इत्यादि सभी ऐसे प्रसंग हैं जिनमें तत्त्व की रक्षा के लिए नियमों के भङ्ग करने के दृष्टान्त हैं। श्रीकृष्ण ने आर्य-जनता को अधिक अन्तर्मुख, अधिक आत्म-परायण किया है। भोग और त्याग, गृहस्थाश्रम और संन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति, ज्ञान और कर्म, इहलोक और परलोक इत्यादि सभी द्वंद्वों का विरोध भ्यास-रूप है, सब में एक ही तत्त्व निहित है; यह श्रीकृष्ण ने अपने जीवन और उपदेश से सिद्ध कर दिखलाया है। आर्य-जीवन पर अधिक से अधिक प्रभाव श्रीकृष्ण ही का पड़ा है फिर भी इस प्रभाव का स्वरूप कैसा है, यह निश्चित करना कठिन है। जैसे

अत्यन्त सरल भाषा में लिखी गई श्रीमद्भगवद्गीता के अनेक अर्थ किये गये हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण के जीवन का रहस्य भी विविध रीति से वर्णित किया गया है। जिस तरह वाल्मीकीय रामायण के रामचन्द्र और तुलसीकृत रामायण के रामचन्द्र में महान् अन्तर है, उसी तरह महाभारत के श्रीकृष्ण, श्रीमद्-भागवत के श्रीकृष्ण, गीतगोविन्द के श्रीकृष्ण, चैतन्य महा-प्रभु के श्रीकृष्ण और तुकाराम बाबा के श्रीकृष्ण, ये सभी एक होते हुए भी जुदा हैं। वर्त्तमान काल में भी नवीनचन्द्रसेन का श्रीकृष्ण, बङ्किमचन्द्र के श्रीकृष्ण से भिन्न है, गाँधीजी का श्रीकृष्ण तिलक के श्रीकृष्ण से भिन्न है। और अरविन्दघोष का श्रीकृष्ण तो सभी से न्यारा है। ऐसे सुलभ और दुर्लभ, एक और अनेक, रसिक और विरागी, बागी और लोकसंग्राहक, प्रेमी और निठुर, मायावी और सरल श्री कृष्णचन्द्र की जयन्ती किस तरह मनाई जाय, यह निश्चित करना महा कठिन है।

श्रीकृष्ण का चरित्र उनके जीवन के समान ही व्यापक है। श्री कृष्ण ने संसार की हर एक स्थिति को भोगा है, प्रत्येक स्थिति के लिए आदर्श दिखा दिया है। श्रीकृष्ण का बालपन अत्यन्त रम्य है। गाय और बछड़ों पर उनका प्रेम, वनमालाओं का शौक, मुरली का मोह, बालमित्रों पर स्नेह, मल्लविद्याविषयक अनुराग, ये सब अद्भुत और अनुकरणीय हैं। छोटे बच्चों को तो अवश्य ही उनका अनुकरण करना चाहिए। सुदामा के चरित्र को ध्यान में लाकर जन्माष्टमी के दिन यदि हम अपने दूर-निवासी मित्रों को दो दिन साथ रहने के लिए श्रीकृष्ण के गुण-गान करके विहरने के लिए बुलावें, तो यह बहुत ही उचित होगा।

श्रीकृष्णजी के मन में बड़ा या छोटा, गरीब या अमीर, ज्ञानी या अज्ञानी, स्वरूपवान या कुरूप किसी तरह का भेद न था। जब श्रीकृष्ण गौओं को चराने जाते थे, तब अपने सब साथियों से कह देते थे कि, हर एक मनुष्य अपने अपने घर से अपने अपने भोजन की वस्तुयें लेता आवे, फिर वे सभी हिल मिल कर सभी का भोजन एक में मिलाकर प्रेमपूर्वक वन-भोजन करते थे। आज भी हम एक पाठशाला के विद्यार्थी, एक दफ्तर के काम करनेवाले, एक मील के मजदूर और एक क्लब के खिलाड़ी इकट्ठे होकर अपने अपने घर से खाने को लाकर शहर या देहात के बाहर किसी बावड़ी पर या नदी के तट पर, किसी वृक्ष के नीचे बातें करते और गाते हुए, खेलते या भजन करते हुए यदि दिन बितावें तो इसमें कोई बुराई नहीं है। अलबत्ते इस वन-भोजन में लड्डू, पकौड़ी, या चिहुरा-चबेना नहीं चल सकता। कृष्णाष्टमी के दिन का मुख्य आहार तो गोरस ही है। दूध, दही, मक्खन और कन्द, मूल, फल, बस, यही आहार उस दिन के लिए उचित है। जिस दिन धर्म-संशोधक जगद्गुरु का जन्म हुआ था, उस दिन लड़कों को ऐसा सात्विक आहार करना चाहिए। बड़ों को व्रत रहना चाहिए। व्रत रखने की प्राचीन प्रणाली को छोड़ना न चाहिए। इसमें बड़ा गहरा रहस्य है। उपवास करने से चित्त अन्तर्मुख होता है, दृष्टि निर्मल होती है, और देह हलकी बनी रहती है। यदि बारम्बार व्रत रहने की आदत हो तो व्रत के दिन चित्त और भी अधिक प्रसन्न रहता है, बहुतेरों को इसका अनुभव है। व्रत से वासना शुद्ध होती है। यदि शरीर में किसी तरह का दोष न हो तो व्रत करने से चित्त

एकाग्र होता है तथा धर्म-सम्बन्धी गंभीर से गंभीर तत्त्व स्पष्ट हो जाते हैं। व्रत के दिन यदि बुद्धि-योग हो तो धर्म-तत्त्व का चिन्तवन करना चाहिए। यदि उतनी शक्ति न हो तो श्रद्धालु मनुष्यों के साथ धर्म-चर्चा करनी चाहिए। यदि यह भी न बन पड़े तो गीता का पाठ, नाम-स्मरण और भजन-कीर्त्तन करना चाहिए। सात्त्विक सङ्गीत के साथ भजन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके उपवास के दिन व्यवहार-सम्बन्धी कार्य बहुत कम कर देना चाहिए; परन्तु अवकाश के इस समय को आलस्य, निद्रा और व्यसन में न गवाँना चाहिए। हमें कई बार उत्तमोत्तम धार्मिक वचन, भजन आदि मिल जाते हैं, किन्तु उन्हें लिख लेने को अवसर नहीं मिलता। यह दिन उनके लिखने में लगादें तो बहुत ही अच्छा हो।

जिसे सार्वजनिक कार्य करने की शक्ति है, उसे श्रीगोपालजी के जन्म के दिन [illegible]रक्षण-सम्बन्धी हलचल करनी चाहिए। इससे बढ़ कर और क्या बात हो सकती है? जितना दूध और घी श्रीकृष्ण के साथियों को मिलता था, उतना ही घी और दूध जब तक हमारे बच्चों को न मिलने लगे, तब तक यह नहीं गिना जा सकता कि हमने श्रीकृष्णजन्मोत्सव मनाया। श्रीकृष्ण अनुपम मल्ल थे, गृहस्थाश्रम में रह कर वे ब्रह्मचर्य का पालन करते थे; श्रीकृष्ण दीर्घायु थे, इसलिए हरएक अखाड़े में श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव मनाया जाना चाहिए। और श्रीकृष्ण के जीवन का यह भूला हुआ विभाग फिर से स्मरण में लाना चाहिए। जो अपना जीवन पाण्डित्य ही में व्यतीत करना चाहते हैं, उनके लिये बढ़िया से बढ़िया काम यह हो सकता है कि, जैसे गीता में श्रीकृष्ण ने

अर्जुन को उपदेश दिया है, उसी तरह भिन्न भिन्न प्रसङ्गों पर प्रतिपादन किये हुए श्रीकृष्ण के उद्गार महाभारत या भागवत में से, विष्णुपुराण या हरिवंश में से जितने मिल जायँ सब इकट्ठे करें। उनके ऐसे उद्गारों की और कृष्ण-चरित के अनुसार गीता के अर्थ की सङ्गति लगानी चाहिए। इस तरह इन महान् जगद्-गुरु का जीवन-सिद्धान्त (Philosophy of life) क्या था, इनकी राजनीति कैसी थी; यह निश्चित करके उसे जन-साधारण के सम्मुख रखना चाहिए।

श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी का दिन स्त्रियाँ किस रीति से मनावें? यह प्रश्न बहुत नाजुक है। नारद मुनि ने अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति के अतिरेक का स्वरूप बतलाया है। कितने ही कवियों ने उस पर से मनोवृत्ति को गोपी कल्पित करके परब्रह्म पर-पुरुष पर वे कितनी मोहित थीं, इसका इतना अधिक वर्णन किया है कि जिससे श्री कृष्ण के जीवन का परिपूर्ण रहस्य जनता लगभग भूल गई है। श्रीकृष्ण को गोपी-जन-वल्लभ कहा है। श्रीकृष्ण और गोपियों का प्रेम कितना विशुद्ध और आध्यात्मिक बन गया था, इसकी कल्पना जिसके हृदय मे नहीं आ सकती, उन लोगों ने या तो कृष्ण को नीचे उतार दिया है, या प्रेम के वर्णन करनेवाले कवियों को तुच्छ-वृत्ति और असत्यवादी समझ लिया है। मैं यह प्रतिपादन नहीं कर रहा हूँ कि श्रीकृष्ण और गोपियों के प्रेम का वर्णन करने में कवियों ने भूल नहीं की है। मैं तो उल्टा, यही मानता हूँ कि समाज की स्थिति को ध्यान में रख कर उन कवियों को बड़ी सावधानी के साथ प्रेम का वर्णन करना चाहिए था। जब कट्टर मुसलमान राजा लोग इस्लाम के सूफी पन्थ के मस्त कवियों को

और फकीरों को सजा देते थे, तब वे कहते थे कि ये साधुजन जो कुछ कह रहे हैं, वह झूठ नहीं है, किन्तु अनधिकारी समाज में रहस्यपूर्ण वस्तुयें इस तरह रख कर वे समाज को हानि पहुँचाते हैं, इसी कारण वे दण्ड के पात्र हैं। केवल इसीलिए कि हम लोग गोपियों के प्रेम को नहीं समझ सकते, उस प्रेम को ऐसा स्वरूप दे देने की आवश्यकता नहीं है जो हमारी नीति सदाचार-सम्बन्धी वर्तमान धारणाओं के अनुकूल हो। गोपियों के प्रेम को तो मीराबाई ने स्पष्ट कर दिखाया है। जब जब धर्म पर से लोगों की श्रद्धा हट जाती है, तब तब उसको फिर से स्थिर कर देने के लिए मुक्त पुरुष इस विश्व में अवतार धारण करते हैं। और अपने प्रत्यक्ष अनुभव और जीवन के द्वारा लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं। इसी तरह जब लोगों को गोपियों की शुद्ध भक्ति के विषय में अश्रद्धा उत्पन्न हुई, तब गोपियों में से एक ने—शायद राधाजी ने—मीराबाई का अवतार लेकर प्रेम-धर्म की संस्थापना की। यदि हम ईश्वर और भक्त दोनों के बीच के इस अनिर्वचनीय प्रेम सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकें, तब तो गोपियों के प्रेम अथवा विरह के भजन गाने में मैं कोई आपत्ति नहीं समझता। हम मीराबाई को किसी तरह त्याग नहीं सकते। क्या महज इसीलिए कि ज़माना खराब आ गया है, हम इस समय मीराबाई को भूल जायँ? श्रीकृष्ण के साथ केवल गोपियों का ही सम्बन्ध था, यह बात नहीं है। यशोदा बालकृष्ण का पूजन करती थीं। कुन्ती पार्थ-सारथी को पूजती थी। सुभद्रा और द्रौपदी श्रीकृष्ण को बंधुरूप में पूजती थीं। श्रीकृष्ण का सारा जीवन हमें अपनी स्त्रियों के सम्मुख रखना चाहिए। श्रीकृष्ण कितने

संयमी थे, कितने नीतिज्ञ थे, और कितने धर्मनिष्ट थे; यह सब स्त्रियों के सम्मुख स्पष्ट करना चाहिए; और इसके बाद ही गोपिकाओं के प्रेम का आदर्श उनके सम्मुख रक्खा जा सकता है। प्रेम और मोह के बीच जो स्वर्ग और नरक के समान भेद है, उसे स्पष्ट कर दिखाना चाहिए। रासक्रीड़ा में गोपियों के चित्त में मलिन कल्पना आते ही श्रीकृष्ण—असंख्य-रूप-धारी श्रीकृष्ण, एकाएक अदृश्य हो गये, फिर जब गोपियों का मन शुद्ध हो गया, तभी वे पुनः प्रकट हुए। यह सुन्दर प्रसंग पुराणों में वर्णित है, उसका रहस्य हर एक मनुष्य को जानना चाहिए। वह रहस्य किसी भी मनुष्य से छिपा रखने में भलाई नहीं। अधूरे ज्ञान से उत्पन्न हुए दोषों को दूर करने का उपाय पूर्ण ज्ञान है, अज्ञान नहीं। हमें प्रेम को उसको शुद्ध मार्ग दिखाना चाहिए। प्रेम दबाने से दबता नहीं, वरन् दबाने की चेष्टा करते हुए वह विकृत हो जाता है।

हमें जन्माष्टमी के दिन सुदामा-चरित्र का कीर्तन करना चाहिए, श्रीकृष्ण का गोपियों को किया उपदेश गाना चाहिए। उद्धवजी के द्वारा श्रीकृष्ण ने गोपियों को जो सन्देश भेजा था, उसका मनन करना चाहिये। गीताजी का रहस्य समझना चाहिये, और उपवास कर के शुद्ध भाव से उस के रहस्य को समझना चाहिए।

यदि जन्माष्टमी के दिन हम गाय की पूजा करें तो इस में कुछ बुराई नहीं। गाय की पूजा करते हुए हम पशु को परमेश्वर नहीं मानते, वरन् उस पूजा के द्वारा प्रेम और कृतज्ञता प्रकट करते हैं। नदी की पूजा, तुलसी की पूजा और गो की पूजा आदि का रहस्य समझ कर यदि हम करेंगे तो उस से अन्तःकरण को बड़ी भारी

शिक्षा प्राप्त होगी। रस-वृत्ति विकसित होगी और मन पवित्र होगा। हर एक पूजा में भाव एक सा नहीं रहता। पूजा कृतज्ञता से हो सकती है, वफ़ादारी के कारण हो सकती है, प्रेम के बदौलत हो सकती है, आदर-बुद्धि से हो सकती है, भक्ति से हो सकती है, आत्मनिवेदन-वृत्ति से हो सकती है और स्वस्वरूपानुसन्धान से हो सकती है। इस दृष्टि से गो-पूजा करने में एकेश्वरवादी या निरीश्वरवादी को भी कोई वाधा न होनी चाहिए। क्या निरीश्वर-वादी आगस्टस् कान्ट, क्या मनुष्य जाति का पुतला बनाकर उसकी पूजा नहीं करता था? श्रावण में गायें बहुत ब्याती हैं। घर की छोटी छोटी लड़कियाँ यदि कृतज्ञता पूर्वक गायों और इधर उधर कूदते-फाँदते छोटे छोटे बछड़ों की हरिद्रा और कुङ्कुम से पूजा करें तो कितनी प्रेम-वृत्ति जागृत हो! कन्या पाठशालाओं में अनेक प्रकार से कृष्ण-जयन्ती मनाई जा सकती है। घर के भीतर ज़मीन को अच्छी तरह लीप कर सफ़ेद पत्थर के चूर्ण या आटे से उस भूमि पर चौक पूरने की बाजी रक्खी जा सकती है। लड़कियाँ भजन गावें, रास खेलें, श्रीकृष्ण के जीवन के भिन्न भिन्न प्रसङ्गों को गद्य या पद्य में वर्णन करें। घरों से फलाहार पाठशाला में लेजाकर सब मिलजुल कर खायें। यदि उस दिन शाला की लड़कियों को अपनी सखी-सहेलियों को भी लाने की इजाज़त मिल जाय तो और भी विशेष आनन्द आ सकता है तथा शिक्षा की ओर अधिक कन्यायें आकर्षित हो सकती हैं। यदि धार्मिक शिक्षण को कुछ सफल बनाना है तो हर एक त्योंहार के दिन पाठशाला को मन्दिर का स्वरूप दे देना चाहिए। यदि मूर्ति-पूजा से दूर न भागते हों तो जन्माष्टमी के दिन मदरसे में पालना बाँध

कर हिंडोले गाये जायँ। इस कार्य में कन्याओं की मातायें भी अवश्य भाग लेंगी।

आज कन्या-पाठशालायें समाज का अङ्ग नहीं बनी हैं, समाज में अभी कन्या-शालाओं ने जड़ नहीं जमाली है, इसीसे कन्या-शाला के सञ्चालक उत्साही देश-सेवकों का आधे से अधिक परिश्रम निष्फल जाता है। यदि जन्माष्टमी जैसे त्योहारों को मनाने में समाज की सभी स्त्रियाँ भाग लेने लगें तो देखते देखते शिक्षण सफल हो जायगा, शिक्षण का लाभ केवल मदरसे में पढ़नेवाली कन्याओं को ही नहीं, वरन् सारे समाज को मिलेगा और हम जो शिक्षण का पवित्र कार्य करते हैं, उस पर कृष्ण परमात्मा की अमृत भरी दृष्टि की वृष्टि होगी।

भक्ति की दृष्टि

-----●●●●●-----

जन-समाज में जिस दानी गृहस्थ की अधिक प्रतीष्ठा होती है, यदि वह संन्यास ग्रहण करके सर्वस्व का त्याग भी करे तो उसकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं होती। संन्यासी समाज से बाहर चला गया। वह दूर से पूजनीय है; उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता, इतना ही नहीं, वरन् उसके वचन भी श्रद्धास्पद नहीं गिने जा सकते। भला यह वृत्ति जन-समाज में क्यों होगी? जन-समाज स्वयं मोह का—दुर्बलता का—उपासक है। जन-समाज की इस दुर्बलता का कुछ भी अंश जिस मनुष्य में हो, वही जन-समाज का आप्त पुरुष गिना जाता है। जैसे मनुष्य शुद्ध प्राण वायु को नहीं सह सकता, वैसे ही शुद्ध तत्व को भी जन-समाज हज़म नहीं कर सकता।

साधारण जन-समाज व्यवहार में सदा धोखा खा जाता है। इसलिए लोकमत इस प्रकार का हो गया है कि शङ्का की दृष्टि ही सुरक्षित दृष्टि है। हम जितना विश्वास निन्दा पर कर लेते हैं, स्तुति पर उतना नहीं। उत्साही मनुष्य की अपेक्षा सावधान मनुष्य को हम अधिक चतुर समझते हैं। भक्त की अपेक्षा टीकाकार अधिक बड़ा पण्डित गिना जाता है। इसलिये समाज में एक विचित्र दम्भ उत्पन्न हो गया है। यदि मनुष्य अपनी दुर्बलता को ढँकने का प्रयत्न करे और अपना ऐब प्रकट करने में लज्जा करे,

तो यह बात समझ में आ सकती है; परन्तु उपर्युक्त लोक मत के कारण तो मनुष्य अपने ऊँचे से ऊँचे आदर्श, पवित्र से पवित्र निश्चय, और गहरे से गहरे अभिप्राय को भी प्रकट करने में लज्जित होता है। यह समाज की कृत्रिम दशा बहुत लोगों को असह्य हो गई है। धुएँ से भरी हुई हवा में श्वास लेना जितना कठिन होता है, उससे भी कहीं अधिक कठिन प्राकृतिक जीवन हो गया है।

गाँधी जी जब तक मिस्टर गाँधी थे तब तक उनकी गिनती चतुर मनुष्यों में होती थी। जिस दिन, जिस दुर्दैवी क्षण में वे 'महात्मा' बने उसी दिन से वे सनकी हो गये। बुद्धिमान पुरुषों को अब सचेत हो जाना चाहिए। उनकी जो सलाह अभी तक बुद्धिमानी से भरी होती थी, वही अब खतरनाक हो गई है। समाज-महाराज की आज्ञा है—दूर ही से इनकी पूजा करो, उनके पास न जाओ; और नवयुवको! तुम लोग भी सावधान रहना, गाँधी जी के विषय में तुम्हें जो कुछ कहना हो, दूरही से कहना, हम तुम्हें होशियार कहेंगे, उच्च आशय वाला कहेंगे, और समाज का नेता भी गिनेंगे। परन्तु यदि इन महात्माओं के अधिक नजदीक तुम जाओगे तो निश्चय पूर्वक जान लेना कि, जो निर्णय 'महात्मा' के सम्बन्ध में हमने दिया है, वही तुम्हारे लिए भी लिखा हुआ है। बल्कि तुम्हारी तो दूनी दुर्दशा होगी। हम तुम्हें बुद्धिमान पुरुषों की गिनती में से तो निकाल देंगे और महात्माओं में तो तुम प्रविष्ट हो न सकोगे। अतएव तुम 'इतोभ्रष्टस्ततोभ्रष्टः' होकर मारे मारे फिरोगे।

समाज की यह आज्ञा मैं बहुत काल से सुनता आरहा हूँ और अब तक मैं इस के अधीन भी बना रहा। जब तक मैं गाँधी जी

के सहवास में नहीं आया था, जब तक मैंने अपना तुच्छ जीवन उस ऋषि के चरणों में अर्पित नहीं किया था, तब तक मुझे गाँधी जी के सम्बन्ध में बोलने का अधिकार था। समाज ने यह स्वीकार किया था कि, गाँधी जी के गुण और दोषों की चर्चा करने योग्य बुद्धि मुझ में है। गाँधी जी के सम्बन्ध में मेरा लिखा परिचय प्रकाशक लोग प्रकाशित करते और पाठक पढ़ते भी थे। लेकिन मैं भूला। समझदारी की मर्यादा को लाँघ कर मैं भक्त बन गया। मुझे मालूम होता है कि इसी दिन से मुझे दिव्य-दृष्टि मिली। परन्तु समाज तो कहता है कि, उसी क्षण तुम अन्धे हो गये। मैंने समाज के निर्णय को स्वीकार कर लिया और गाँधी जी विषयक प्रेमोद्गार अथवा अनुभव के वचन उच्चारण न करने का नियम किया। आज तक मैंने यथाशक्ति उस नियम का पालन किया है। पर अब मेरा पागलपन बढ़ गया है। समाज सरकार की आज्ञा में मैं अब नहीं रहा। मैं अब समाज के शासन को तोड़ने के लिए उद्यत हूँ। मैं नहीं जानता कि यह कानून-भङ्ग सविनय है, या अविनय। यह आज मैं उस के जानने की ज़रूरत भी नहीं समझता। यदि मैं कुछ अधिक कह जाऊँ या लिख जाऊँ तो उसका जिम्मेदार समाज है। जब गुलाम स्वतंत्रता अखत्यार करता है, तब उस के द्वारा जो कुछ भी अतिरेक होता है, उसकी जिम्मेदारी उस के स्वामी के सिर पर ही होती है। आज तक मैंने समाज का अत्याचार सहन किया। जैसे एञ्जिन में भाप को रोक रखने से एञ्जिन के फट जाने का मौक़ा आ जाता है, ठीक उसी तरह अब तक समाज के बन्धनों को स्वीकार कर के दबी हुई मेरी वृत्ति आज उनको तोड़ कर बाहर निकल रही

है। आज समाज को समझाने के लिये मैं अपने विचारों को नोट नहीं कर रहा हूँ। आज तो मैं यह समझ कर कि समाज पागल है, और इस भावना की उन्मत्त दशा में आ कर लिखना चाहता हूँ।

मैं महात्मा गाँधी को ईश्वरीय पुरुष मानता हूँ। अर्थात् मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि वे मनुष्य नहीं हैं। वे मनुष्य हैं। मनुष्य में जो जो विकार या विकल्प आ सकते हैं, उनके अधीन वे थे और अब भी हैं। गाँधी जी में दैवीशक्ति प्रकट नहीं हुई है, अब प्रकट होगी, ऐसा मुझे ज्ञात होता है। फिर भी वह शक्ति प्रकट हो, या न हो, मुझे उसकी चिन्ता नहीं। यदि गाँधी जी अवतारी पुरुष होते तो मैं हृदय को साक्षी करके कहता हूँ कि मैं उन्हें कभी न पूजता। वे दैवी पुरुष हैं। उन्होंने श्रद्धा का विकास किया है। समाज जिन पुरुषों को अवतारी मानता है उनके गाढ़ परिचय में आने का सद्भाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। ऐसे लोगों के लिए मेरे मन में भी उतना ही आदर है जितना कि समाज को है, परन्तु गाँधी जी ने अपने अन्दर श्रद्धा का जितना विकास किया है, इतना तो मैं और कहीं न देख पाया और गाँधी जी का भक्त होने का इस से भी बढ़ कर मुख्य कारण यह है कि, मुझे जो श्रद्धा गाँधी जी दे सके, वह और कोई न दे सका। गाँधी जी स्वयं कहते हैं कि मुझे आत्मा का सम्पूर्ण दर्शन नहीं हुआ। इस वचन में मुझे पूर्ण विश्वास है। इतने पर भी उन्हें जितना आत्म-दर्शन हुआ है, उतने ही से वे चार्वाकों को आत्मवादी बना रहे हैं। दुर्बलों को सबल बना रहे हैं। मुझे श्रद्धा है कि इनके सहवास से मेरी आत्मा जाग्रत होगी।

गाँधी जी को मैं पूजता हूँ, उन्हें मैं दैवी पुरुष कहता हूँ, किन्तु यह इसलिये नहीं कि वे देश-सेवक हैं, राजनीतिज्ञ हैं, या अत्यन्त नीतिमान् हैं; बल्कि इसलिए कि, मैं जैसा भी कुछ हूँ, आत्मार्थी हूँ, और वह आत्मा मुझे गाँधी जी से प्राप्त हो जायगी, ऐसी श्रद्धा मुझमें है।

'सत्यान्नास्ति परोधर्मः', 'सत्यंतेंच परब्रह्म', 'अभयं वै ब्रह्म', (He who has realized the soul can change the whole world.) इत्यादि प्रचीन तथा अर्वाचीन सत्पुरुषों के वचनों का साक्षात्कार, मैंने गाँधी जी में ही किया।

मैं ज्यों ज्यों गाँधीजी के जीवन पर मनन करता हूँ, त्यों त्यों मैं इस निश्चय पर आता जाता हूँ कि उनके अन्दर प्रारम्भ ही से एक योजना है। वह यदृच्छा का प्रवाह नहीं है। गाँधीजी हिन्दुस्थान के लिये ही नहीं हैं, बल्कि संसार के लिए हैं; यह भी प्रति दिन अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। स्वामी विवेकानन्द अक्सर कहा करते थे कि, "सत्पुरुष यदि हिमालय की अज्ञात गुफाओं में अपने को मूँद कर वहाँ बैठे बैठे आत्मा का साक्षात्कार करें तो भी उसी क्षण संसार उन्नति को प्राप्त करता है।" इस वचन में पहले मुझे कवि की अतिशयोक्ति मालूम होती थी, किन्तु अब मुझे वही वचन स्वाभाविक सत्य के समान मालूम होता है। भारतीय संस्कृति का प्राण गाँधी जी में एकत्र हुआ है। संसार में हजारों वर्षों से जो त्रिविध अशान्ति फैली हुई है, उसको मिटाने की भवौषधि गाँधी जी के हाथ लग गई है।

पाँच वर्ष पहले सिन्ध-हैदराबाद में मीरों की कबर में बैठ कर हिन्दुस्तान का भविष्य मैं देख सका था। मेरे सम्मुख चारों

ओर रक्त-प्रवाह और विनाश के चिन्ह दीख पड़ते थे ! यह रक्त अँग्रेज़ों का नहीं, हमारे देश-वासियों के पारस्परिक विद्वेष और कलह का परिणामस्वरूप बहा था। मैं उस वक्त राष्ट्र-पूजा-धर्म को मानता था, मैं खून का प्यासा था, फिर भी उस रुधिर-प्रवाह को देख कर मैं स्तम्भित और दिङ्मूढ़ हो गया। मैंने गद्गद कण्ठ से ईश्वर से प्रार्थना की कि, हे प्रभो ! यह दृश्य सच्चा न साबित हो। गाँधी जी के परिचय से अब मुझे शान्ति मिली है। मैंने देखा है कि गाँधी जी के धर्म की मोहिनी 'अघटितघटनापटीयसी' है। अब मेरे दिल में यह श्रद्धा उत्पन्न हो गई है कि जो सत्य का पालन करता है, जो सत्य के प्रति वफ़ादार रहता है, उसके लिए संसार को कोई तत्व अदृश्य नहीं रहता। अगम्य वस्तु भी उसके दृष्टिगोचर हो जाती है।

गाँधी जी के धर्म—सनातन धर्म—की आवाज़ सारे संसार में पहुँच गई है। उसका महात्म्य देश-देशान्तर के दिव्य पुरुषों की समझ में आ गया है। जापानियों ने गाँधी जी का सन्देश सुना है, चीन में भी वह फैल गया है। मुसलमानी दुनिया उसका पाठ पढ़ रही है। यूरोप के मजदूरों के सामने वह पढ़ा गया है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि गाँधी जी ने युग-धर्म का परिवर्तन किया है। अब युद्ध का अन्त आवेगा, वैर शान्त होगा और आत्मा का उदय होगा। व्यक्तियों में आध्यात्मिक जागृति करने वाले सद्गुरु बहुतेरे हो गये हैं। विशिष्ट समाज को अध्यात्मपरायण करने वाले अवतारी पुरुष भी थोड़े नहीं हुए; पर अब जगद्-गुरु की जरूरत है। गाँधी जी जगद्गुरु हैं या उस जगद्गुरु के आगमन को सूचित करने वाले—उस आगमन की तैयारी करने

वाले अरुण हैं, यह मैं नहीं जानता और न जानना ही चाहता हूँ। श्रद्धावान् मनुष्य के लिये इतना ही काफ़ी है कि अब रात की समाप्ति हो गई और प्रकाश फूट कर निकल रहा है। मैं महावीर बुद्ध अथवा श्रीकृष्ण के साथ गाँधी जी की तुलना नहीं करता। परन्तु हाँ, जो धर्म उन्होंने प्रवर्तित किया है, वह जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म और भागवत के धर्म का निचोड़ है, और इसी कारण मैं मानता हूँ कि वह इन तीनों धर्मों से बढ़ कर है।

एशिया की साधना

दक्षिण में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर का झगड़ा कितने ही वर्षों से चल रहा है। ब्राह्मणों को तो हम जानते ही हैं। परंतु ब्राह्मणेतर वर्ग कहाँ से उत्पन्न हो गया? ब्राह्मणेतर नाम की कोई एक जाति तो है नहीं, फिर भी एक ब्राह्मणेतर पक्ष खड़ा हो गया है। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर के प्रश्न में जरा भी पड़े बिना हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणों के ब्राह्मणत्व का अभिमान और इस बात का भान कि हम दूसरों से जुदे हैं, ब्राह्मणेतर वर्ग के खड़े होने ही का एक कारण है। ब्राह्मणों में यह जाति का अभिमान तीव्र होने के कारण दूसरों में विरुद्ध भावना जगने पाई है।

आज की हमारी एशिया विषयक भावना भी ऐसी ही है। जब से योरप के लोग भौतिक शास्त्रों और आसुरी राजनीति में निपुण हुए, तब से उन्होंने अपने अंदर परस्पर मत्सर और बैर के होते हुए भी, साधारण तौर पर अपनी एकता को अच्छी तरह कायम रक्खा है, और योरप ने बाहरी देशों पर धावा बोल दिया है। इस आक्रमण का शिकार हुये लोगों में अपने अंदर ऐक्य कर लेने की भावना आगे पीछे अवश्य हो जायगी; और यही कारण है जो हमारे अंदर एशिया की एकता की कल्पना फैलने लगी है। एशिया की एकता की कल्पना के मूल में, यदि यही एक कल्पना

हो तो भी वह एकता सकारण तो मानी जा सकती है, परंतु होगी वह कृत्रिम ही।

परंतु एशिया की एकता योरोपियनों के उत्कर्ष जितनी आधुनिक नहीं, वह बहुत ही पुरानी और गहरी है। चीन और जापान, रूस और मध्य एशिया, तुर्किस्तान, अरबस्तान, ईरान और हमारा हिंदुस्थान—ये सभी देश प्राचीन काल से परस्पर एकता के सूत्र से बँधे हुये हैं। पर उस वक्त योरोप जुदा नहीं था। यूरेशिया (यूरोप + एशिया) एक अखण्ड भूखण्ड था और यद्यपि आज वह उतना अखण्ड न रह गया हो, तथापि अन्त में वह अखण्ड होने ही वाला है।

कितने ही लोगों के मन में यह विचार आता है कि अभी हमें स्वराज्य नहीं मिला, हमारी म्युनिसिपल्टियाँ भी हमारे हाथ में नहीं हैं, घर के अन्त्यजों को हम समाज में सम्मिलित न कर सके—ऐसी स्थिति में सारे एशिया के लिये कहाँ विचार करते फिरें? परंतु यह आक्षेप ठीक नहीं है। संसार की आज की स्थिति का विचार करके भविष्य का विचार करते समय यदि समस्त संसार के साथ हमारे सम्बन्ध ध्यान में लेकर विचार किया जाय तो ही हमें अपना मार्ग साफ़ दिखाई दे सकता है। फिर हम बाहरी संसार से चाहे कितने ही जुदा रहना चाहते हों, तो भी संसार कहाँ ऐसा है जो हमें जुदा रहने दे? और हमारा सम्बन्ध भी ऐसी सल्तनत के साथ जुड़ा है कि जो बिल्ली की तरह हर एक घर के दूध और घी को चख आती है। इसलिए इस बात का भी विचार कर लेना जरूरी है कि हमारा आज पड़ोसी देशों के साथ सम्बन्ध किस तरह का है, और यदि हमारी परिस्थिति हमारे

कब्जे में आजाय तो हम उनके साथ कैसा सम्बन्ध रक्खेंगे।

बहुतेरों का कहना है कि, 'योरोपियन और हिन्दुस्थानी दोनों लोगों के हित एक दूसरे के विरोधी होने के कारण दोनों जातियाँ चाहे जितनी लड़ें, परन्तु दोनों का जीवन के आदर्श-के विषय में एक खास तरह का एक मत है। दोनों के राजकीय आदर्श और सामाजिक कल्पनाओं में, व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो एशिया के अन्य देशों की अपेक्षा साम्य और आकर्षण अधिक है। चीनी और भारतीय लोगों में जितनी सामाजिक एकता है, उससे कहीं अधिक योरोपियन और भारतीय लोगों में है। हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म इन दोनों में जितना साम्य है, उतना हिन्दू धर्म और इस्लाम में नहीं। राष्ट्रीय अथवा सामाजिक आकर्षण देखते हुए हम एशिया के और देशों की अपेक्षा योरप के अधिक निकट है। इसलिए हमें योरप के साथ लड़कर भी अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहिए। एशियाई एकता भौगोलिक अथवा प्रादेशिक एकता है, परन्तु योरप के साथ हमारी एकता उच्च दृष्टि से देखने पर सांस्कृतिक अथवा जातीय है। जैसे एक लकड़ी के दो सिरे परस्पर विरुद्ध दिशाओं में होते हुए भी लकड़ी तो एक ही है, उसी तरह योरोपियन और भारतीय आदर्श, परस्पर-विरोधी होने पर भी, एक ही आर्य-आदर्श के वंशज हैं।

यह दलील निःसार नहीं है। योरोप की वर्त्तमान संस्कृति आसुरी है; (राक्षसी नहीं) और हिन्दुस्थान की संस्कृति का आधारभूत आदर्श दैवी है; यदि यही मान लिया जाय तो भी देव और असुर दोनों भाई भाई हैं, यह बात हमारे पुराणकर्ताओं ने ही स्वीकार की है।

योरप के साथ हमारा परिचय अनिच्छित रीति से बढ़ा, इसलिए हम योरप के साथ थोड़े बहुत अंशों में परिचित हुए। इसी तरह इस्लाम के साथ भी हमारा परिचय अनिच्छा पूर्वक ही हुआ, और हम इस्लाम की क़दर करना सीखे। अब ईश्वर का प्रश्न है कि संसार की एकता का अनुभव करने के लिए चीनी संस्कृति के साथ स्वेच्छापूर्वक परिचय करना है, या मैं ज़बरदस्ती करा दूँ? यदि अपने आप परिचय बढ़ाओगे तो स्वतन्त्र रहोगे; ज़बरन बढवाना चाहोगे तो उसका मूल्य देना पड़ेगा।

यदि एशिया, योरप के सर्वभक्षी धनलोभ और सत्तालोभ से डरकर योरप का सामना करने के लिए एक हो जाय तो वह आसुरी सङ्घ होगा, क्योंकि वह सङ्घ योरप की तरह ही स्वार्थ-मूलक होगा। जिसमें क्षण-क्षण में सन्धि और विग्रह के रङ्ग बदलते रहेंगे। और अन्त में सारा योरप एक ओर और सारा एशिया दूसरी ओर होकर, एक ऐसा महायुद्ध या अतियुद्ध चेतेगा कि जिसके अन्त में मनुष्य जाति और मानवी संस्कृति का लग-भग संहार हो जायगा और हज़ारों वर्षों का मानव-पुरुषार्थ मटियामेट हो जायगा। सर्वोदय का आदर्श अपने सामने रखने वाला ऐसा क्यों होने देने लगा?

योरप का विरोध करे या न करे मनुष्य जाति की एकता को दृढ़ करने के लिए, दया-धर्म और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने के लिए एशिया को एक हो ही जाना चाहिये।

और एशिया एक होना चाहता भी है। हमारी यह खिला-फ़त की हलचल, एक तरह से एशियाई एकता की नींव है।

इस्लाम के साथ का हमारा सम्बन्ध पुराना है। खिलाफ़त की हलचल में सहयोगी बनकर हम उसे पूर्ण कर रहे हैं।

हम लोगों ने एशिया की एकता का प्रारम्भ खिलाफत से किया है, किन्तु यह एकता की कल्पना कुछ आज की नहीं है। दिग्विजयी आर्य राजाओं ने चीन से मिस्र देश तक और उत्तर ध्रुव से कुछ नहीं तो लङ्का और बालिद्वीप तक सांस्कृतिक एकता स्थापन करने के प्रयत्न किये हैं। और इस एकता में आर्य लोगों ने अपने पड़ोसियों को जितना दिया है, उतना उनके पास से निःसंकोच लिया भी है, अलबत्ते अपनी उच्च अभिरुचि के अनुसार पसन्दगी करके लिया है। मैं मानता हूँ कि धर्मराज का राजप्रासाद बनाने वाला मयासुर चीन देशीय था, और उसकी पद्धति बृहस्पति तथा शुक्राचार्य दोनों की कला से भिन्न थी। यह भी माना जाता है कि चीनदेश की चित्रकारी और नृत्यकला का प्रभाव भारतीय कलाओं पर हुआ होगा।

इतिहासकारों की राय के अनुसार एक समय एशिया की कला-कुशलता का केन्द्र समरकन्द और खोतान के आसपास के देश में था। वहाँ से व्यापार के अनेक मार्ग भिन्न भिन्न दिशाओं में जाते थे। एक रास्ता चीन की ओर जाता था, एक हिन्दुस्थान की ओर आता था, एक मिस्र देश में जाता था और एक योरप में। और इस तरह वाणिज्य-व्यापार के साथ साथ संस्कृति का भी विनिमय इस मध्य भूमि में होता था। जनार्दन की इच्छा हुई कि थोड़े दिनों के लिए ये सिरे एक दूसरे से अलग होकर कुछ कुछ भिन्नता प्राप्त करें। बस तुरन्त ही बालू के समुद्र उछलने लगे और उन्होंने अमू दरिया और सर दरिया के देश को उजाड़

कर दिया। आज भी जब कि भारी आँधी आती है और बालू के परत उड़ जाते हैं, तब इस प्राचीन संस्कृति के अवशेष वहाँ मिलने लगते हैं।

आर्य लोग पहले से ही यात्रा-प्रवीण हैं। पहाड़ देखते ही उन्हें उसे पार करने की इच्छा हुए बिना नहीं रहती। नदी को देखते तो उसके उद्गम-स्थान की खोज लगाये बिना नहीं रहते। आर्यों का देव इन्द्र भुज्यु को समुद्र के पार ले गया था। आर्य राजा लोग हर एक राजसूययज्ञ में चीन और मिस्र देश के राजाओं को आमन्त्रित करते थे। अशोक राजा ने चारों दिशाओं में बौद्ध धर्म का प्रचार करने तथा अभय का सन्देश सुनाने के लिये आर्यों और अर्हतों को भेजा था और उस दिव्य सन्देश को सुनने के बाद दयामय धर्मराज भगवान् बुद्ध के देश की यात्रा करने को दिगन्त के यात्री आने लगे थे।

एशिया की एकता साधने की सम्पूर्ण शक्ति धारण करनेवाला तत्व तो महायान बौद्ध धर्म ही था। महायान बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध का उपदेश, तन्त्र मार्ग की लोक प्रिय विधियाँ और अनेक देवताओं के वृन्द तो थे ही, पर इसके उपरान्त दुःख-सन्तप्त मनुष्य को दिलासा देनेवाले और परोपकारी वीर पुरुषों के आकर्षण करनेवाले बोधिसत्त्व का आदर्श भी था। जब महायान पन्थ का प्रसार हुआ, तब हिन्दुस्थान का चीन देश के साथ, ईरान, बेक्ट्रिया आदि पश्चिम एशिया के साथ और सुवर्ण द्वीप (ब्रह्मदेश) के साथ सम्बन्ध घर के आँगन के समान हो गया था। इसके बाद धर्म-साम्राज्य की कल्पना अरबस्तान में पहुँची और उसने तीन खण्डों में एकेश्वरवाद और समता का सन्देश

पहुँचाया। अब भी यह धर्म मध्य एशिया और अफ्रिका में नये नये लोगों को अल्लाताला और उनके नवी साहव के चरणों में लाने का कार्य करता है। जब मुसलमानी धर्म का उदय हुआ तब हिन्दुस्थान के धर्म-धुरन्धर ब्राह्मण और श्रमण लोग तिव्वत और चीन में जा बसे थे। हिमालय और हिन्दू-कुश के पल्लेपार अनेक मठों में हिन्दुस्थान की प्राचीन संस्कृति के साक्ष्य-रूप साहित्य, स्थापत्य और कला के नमूने मौजूद हैं। हिन्दुओं की परम पवित्र यात्रा कैलास और मानसरोवर की है। इसके द्वारा हिन्दू और चीनी-संस्कृति की देन-लेन अखण्ड रूप से होती रहती थी। आज भी वह कुछ अंशों में चल ही रही है। जहाँ जहाँ हिमालय पार करके उत्तर दिशा की ओर जाने के रास्ते हैं, वहाँ वहाँ आर्य-संस्कृति के थाने—तीर्थ-स्थान—खड़े हैं।

हिन्दुस्थान का शिष्य-समूह जितना हम जानते हैं, उससे कहीं वड़ा है। चीनी और जापानी लोग हिन्दुस्थान को आदर की दृष्टि से देखते हैं। तिव्वत यात्रा के मार्ग फिर से खुलने लगे हैं। हिन्दुस्थान का अहिंसा का मार्ग सारे संसार में विख्यात हो गया है। योरप और एशिया के वीच के युद्ध में यदि हम अहिंसा धर्म को प्रधान पद देंगे तो चीन देश में उसका स्वीकार अवश्य होगा और उसका प्रभाव जापान के ऊपर पड़ेगा। खिलाफत का फैसला हो जाने के कारण मुसलमानों ने भी अहिंसा-धर्म का महत्त्व समझ लिया होगा और इस तरह केवल एशिया की ही नहीं, वरन् सारे संसार की एकता करने के लिये आवश्यक वायुमण्डल तैयार हो जायगा।

एशिया को एक हो जाना ही चाहिये; किन्तु वह किस लिये? स्वार्थ के लिए नहीं, योरप से युद्ध करके उसको पादाक्रान्त करने के लिए नहीं, किन्तु योरप में जो स्वार्थ-परायण साम्राज्यवाद की बाढ़ आ गई है, उसका नाश करने के लिए और धर्म का साम्राज्य स्थापित करने के लिए।

भूगोल का ज्ञान या भूगोल का भान

(एक मित्र को लिखी हुई चिट्ठी)

ऐसे परखैयों को भी मैंने देखा है जो किसी सोने की अँगूठी को हाथ में लेते ही यह बतला देते हैं कि वह कितने तोले और कितनी रत्ती की है। पास में घड़ी न रख कर भी कितने ही लोग स्वभावतः आसानी से बराबर समय बता देते हैं। मुझे स्वयं पहले यह तरकीब सध गई थी—रात को आँख खुलते ही मैं प्रायः ठीक ठीक समय बतला देता था, पर अब भूल गया हूँ। पढ़ना-लिखना न जाननेवालों की स्मरण-शक्ति और निरीक्षण-शक्ति बहुत तेज़ होती है। इसी तरह देहाती मनुष्यों को दिशाओं का भान बहुत ही अच्छा होता है। कबूतरों की आँखों में पट्टी बाँधकर उन्हें सन्दूक में बन्द कर चाहे जैसे टेढ़े-मेढ़े रास्ते से एक गाँव से दूसरे और दूसरे से तीसरे में ले जाइए, ज्यों ही आपने उन्हें छोड़ा नहीं कि वे जिस गाँव से लाए गये थे, ठीक सीधी लकीर में तुरन्त उसी जगह जाकर बैठ जायँगे। दिशाओं का यह भान कबूतरों में स्वाभाविक है।

अब प्रश्न यह है कि शिक्षण में कौन सा ध्येय नियत करना चाहिये? आपका भूगोल-विषयक प्रश्न उससे कहीं अधिक व्यापक है जितना कि आपने उसका निरूपण किया है। शिक्षा का ध्येय कौन

सा हो ? आज दिन तो लोग शिक्षा की व्याख्या एक प्रकार की करते हैं और बर्ताव और ही प्रकार का। शिक्षा की व्याख्या है अन्तस्थशक्तियों का विकास करना परन्तु बाह्य साधनों को काम में लाना सीखना, यह हुआ उसका मार्ग। पाश्चात्यों की व्याख्या के अनुसार (तथा अपनी प्राचीन प्रणाली के अनुसार भी) शिक्षा का अर्थ है योगविद्या। क्या अध्यात्म और क्या कला, क्या पदार्थ-विद्या और क्या धनुर्विद्या सभी पहले हम लोग 'योगबलेन्' अवगत अथवा हस्तगत करते थे। इसका एक स्थूल उदाहरण दूँ तो, पहले अमरकोश मुखाग्र कर लेते थे, अब थेसारस* का उपयोग कैसे किया जाय, यह सीखा जाता है। पहले हम लोग अङ्क (गिनती) याद करते थे, अब 'रेडी-रेकनर' का उपयोग किस तरह करना चाहिए और चेम्बर के लागरथम का कोष्टक किस तरह काम में लाना चाहिए, यह सीखते हैं। पहले इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता था कि कण्ठ से उत्तम स्वर कैसे निकले ? आज दिन इसके लिए परिश्रम किया जाता है कि वही स्वर ग्रामोफ़ोन में किस तरह उतारें। सारांश यह है कि पहले कलावान् होकर शक्तिशाली होने की ओर झुकाव था और अब धनवान् होकर साधनवान् होने की प्रवृत्ति देखने में आती है।

आज कल योरप में साधनों के सम्बन्ध में एक तरह का वैराग्य उत्पन्न होने लगा है और अन्तःस्थ शक्ति की वृद्धि करने की लालसा दीख पड़ती है। किन्तु यह लालसा किस रास्ते से पूरी होगी, यह अभी निश्चित नहीं हुआ। उनका आधार बहुतांश

---

* Thesarus (शब्दकोश)

में उपकरणों पर है और हमारा आधार था ध्यान के ऊपर। गुण और दोष दोनों पद्धतियों में वर्तमान हैं। साधनों के द्वारा अयोग्य मनुष्य भी बहुत सुख प्राप्त कर लेते हैं। अन्तःस्थ शक्ति तो जिसमें हो उसीको लाभकर या हानिकर होती है। नकशे के संबंध में ऐसा ही हुआ है। 'हमारा स्वदेश हिन्दुस्थान या प्यारा हिन्दुस्थान' आदि गीत गाते समय लकड़ी की दो चीपों में मढ़ा हुआ लाल और पीले (तथा कहीं कहीं हरे) रंग का नकशा आँखों के सामने आ खड़ा हो तो वह किस काम का ? लड़का यदि और अधिक पढ़ा हो तो उसे बहुत हुआ तो फिलिप के रिलीफ़ मैप को याद हो आवेगी। मुँह से 'भारत हमारा देश है' इन शब्दों के निकलते ही दशहरे के दिन गङ्गा जी में स्नान करने का, शिवरात्रि के दिन श्रीरामेश्वर पर अभिषेक करने का चित्र तथा दीवाली के अवसर पर सजाया हुआ अमृतसर, मुहर्रम के दिनों का पूना, दुर्गापूजा करता हुआ कलकत्ता और दशहरे के दिन सीमोल्लंघन के लिए जाने वाला बड़ोदा आँखों के सामने उपस्थित हो जाना चाहिए। 'अम्बरचुम्बितभाल हिमाचल' का आलाप कानों पर आते ही नन्दा देवी के दिव्य शिखर, गौरीशङ्कर के धवल मुकुट की स्मृति खड़ी हो जानी चाहिए। हिन्दुस्थान शब्द कान में पड़ते ही आगरे का ताजमहल, अजन्ता की गुफ़ायें, सिंहगढ़ का क़िला और अजमेर का पुष्करराज सरोवर, हलदी घाट तथा पानीपत की रणभूमि का स्मरण हो जाना चाहिए; शङ्कराचार्य और समुद्रगुप्त, अशोक और अकबर, कालिदास और तानसेन, जगदीश और रवीन्द्र, गाँधी और तिलक, बेसेण्ट और निवेदिता—इन सबों का स्मरण हो जाना चाहिए।

पर यह सब हो किस तरह ? इस समय 'सुवर्णयुग' लगा है। जहाँ देखो वहीं सुवर्ण के लिए छटपटाहट हो रही है, कि लड़का अति शीघ्र कमाने धमाने लग जाय, क्योंकि पैसे बिना कुछ नहीं मिलता। देशाटन करके और प्रवासियों के साथ हिलमिल कर धीरे धीरे देश-भूमि का भान हो इतनी देर तक धैर्य किसको ? साहित्याचार्य पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते आये हैं, स्त्री-स्वातन्त्र्य के जमाने में उनके शब्द झूठे हो गये हैं। आज कल तो मनुष्य का अर्धाङ्ग उसकी घड़ी, साइकल, थरमामेटर, रेल्वेगाइड, दैनिकपत्र, नकशे और Who is who ये हैं।

जिस समय आपका पत्र आया उस समय मेरा भूगोल-विषय ही चल रहा था और मैं......से पूछ रहा था कि ईशान्य कोण कौनसा है ? उसने कहा मैं नकशे पर बतला सकता हूँ, वैसे तो नहीं जानता। इस उत्तर को सुन कर मैं लज्जित हो गया। इतने ही में आपका पत्र मिला।

इसके दो ही घण्टे बाद मैंने एक अँगरेज़ी पुस्तक में पढ़ा:—

'Maps have become so completely mixed up with our thoughts of places far and near that we take their existence as a matter of course, almost in the same way as that of the sun above our heads or the air about us.'

नवरात्र

महिषासुर साम्राज्यवादी था। सूर्य, इन्द्र, अग्नि, पवन, चन्द्र यम और वरुण आदि सभी देवताओं का अधिकार वह स्वयं ही चलाता था। उसने स्वर्गीय देवों को भूलोक की प्रजा बना दिया था। कोई भी अपने स्थान में अपने को सकुशल नहीं मानता था। देवगण परमात्मा की शरण में गये और सृष्टि की व्यवस्था को महिषासुर ने कितना अस्त व्यस्त कर डाला है, यह सब उन्होंने परमात्मा से कह सुनाया। पूरा वृत्तान्त सुन लेने पर विष्णु, ब्रह्मा और शङ्कर आदि सभी देवताओं के शरीरों से पुण्य प्रकोप प्रकट हुआ और उसकी एक दैवी शक्ति-मूर्ति निर्माण हुई। इस सर्व देवमयी शक्ति को देवों ने अपने अपने आयुध देकर मण्डित किया। इसके बाद देवों की दैवी शक्ति और महिषासुर की आसुरी शक्ति इन दोनों के बीच भयङ्कर युद्ध ठना। कौन कह सकता है कि वह युद्ध कितने वर्ष तक होता रहा? किन्तु माना यों जाता है कि यह युद्ध आश्विन शुक्ल प्रतिपदा से दशमी पर्यन्त चलता रहा और उसी के अनुसार दैवी शक्ति के विजय के उपलक्ष्य में नवरात्र का उत्सव हम लोग मनाते हैं।

दैवी शक्ति परमा विद्या है, ब्रह्मविद्या है—आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व का शुद्ध स्वरूप है। यह शक्ति 'शठं प्रति शुभङ्करी' है। 'अहितेषु साध्वी है; वह शत्रुओं पर भी दया प्रकट करती है

दुष्ट लोगों के दुष्ट स्वभाव को शान्त कर देना, यही इस दैवी शक्ति का शील है। 'दुर्वृत्तवृत्तशमनं तव देवि शीलम्।'

इस शक्ति को असुरों ने न समझ पाया। भक्त जब दैवी शक्ति की जय बोलने लगे, तब असुर लोग घबड़ा कर चिल्लाने लगे—'अरे, यह क्या, यह क्या ?'। अन्त में असुरों का राजा स्वयं ही लड़ने लगा। उसने अनेक प्रकार की नीति से काम लिया, अनेक रूप धारण किये, किन्तु अन्त में 'निश्शेषदेवगणशक्ति-समूहमूर्ति' को ही विजय हुई। अनुकूल हवा बहने लगी, वर्षा ने पृथ्वी को सुजला और सुफला कर दिया, दिशायें प्रसन्न हुईं और भक्तगण देवी का मङ्गल-गान करने लगे। देवी ने भक्तों को आश्वासन दिया कि, 'जब जब इस तरह की आसुरी वृत्ति से क्लेश बढ़ेगा, तब तब मैं स्वयं अवतार धारण करके दुष्टता का नाश कर दूँगी।'

यह महिषासुर हर एक मनुष्य के हृदय में अपना साम्राज्य स्थापन करने का बड़ा उद्योग करता है और ऐसे समय दैवी शक्ति को, उसके सभी स्वरूपों को पहचान कर उनका समूलो-च्छेदन करना पड़ता है। यह युद्ध हर एक हृदय में कितने वर्षों तक होता रहता है, यह हर एक मनुष्य अपने अन्तःकरण को जाँच कर जान सकता है। हमें नवरात्र के दिनों में हृदय में अखण्ड दीप जला कर उस दैवी शक्ति की आराधना करनी चाहिए। क्योंकि जब वह प्रसन्न हो जाती है, तब वह दैवी शक्ति ही हमें मोक्ष दिला देती है।

सैषा प्रसन्ना-वरदा, नृणां भवति मुक्तये।

बलि का राज्य

बलि राजा ने दान का नियम लिया था। जो याचक जो वस्तु माँगता था, बलि राजा उसे वही वस्तु दे देता था। बलि के राज्य में जीवहिंसा, मद्यपान, अगम्यागमन, चोरी और विश्वासघात—इन पाँच महापापों का नाम भी कहीं न था। सर्वत्र दया, दान और उत्सव की चहल-पहल थी। अन्त में बलि राजा ने वामन-मूर्ति श्रीकृष्ण को सर्वस्व अर्पण किया। बलि की दान शूरता के स्मारक के तौर पर श्रीविष्णु ने बलि के नाम से तीन दिन रात का त्योंहार निश्चित किया। यही हमारी दीवाली है। बलि के राज्य में आलस्य, मलिनता, रोग और दारिद्र्य का अभाव था। बलि राजा के राज्य में अथवा लोगों के हृदय में अन्धकार न था। सभी प्रेम से रहते थे। द्वेष, मत्सर या असूया का कारण ही न था। बलि का राज्य जन-साधारण के लिये इतना लोकोपकारी था कि जिसके कारण प्रत्यक्ष श्रीविष्णु उसके द्वारपाल बन कर रहे। इसी कारण यह निश्चित किया गया कि बलि राजा के स्मारक में, इस त्योंहार के पहले कीच-मट्टी और गन्दगी निकाल डाली जाय, जहाँ अँधेरा हो, उस स्थान को दीपावली से शोभित तथा प्रकाशित कर दिया जाय। निश्चित किया गया कि लोगों के प्राणहारक यमराज का तर्पण करें, पूर्वजों का स्मरण करें, मिष्टान्न भक्षण करें, सुगन्धित धूप, दीप तथा पुष्प-पत्रों से सुन्दरता

बढ़ावें। इन दिनों में सायङ्काल की शोभा इतनी मनोहारिणी होती है कि, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, औषधि,* पिशाच, मन्त्र और मणि ये सभी उत्सव का नृत्य करते हैं। लोग बलि राजा का स्मरण करके चित्र-विचित्र रङ्गों से चौक पूरते हैं। सफेद चांवल के तरह तरह के सुन्दर चित्र बनाते हैं। गाय और बैल आदि गृह पशुओं को सजा कर उनका जुलूस निकालते हैं। छोटे और बड़े सब हिलमिल कर आपस में यष्टिका कर्षण खेलते हैं। यह योरपियन लोगों की 'टग ऑफ वॉर' के जैसा एक खेल है। इसी को हम लोगों ने एक नया नाम गजग्राह दे दिया है। प्राचीन काल में दीवाली के दिन राजा लोग अपनी राजधानी के सभी लड़कों को सार्वजनिक आमन्त्रण देते और उन्हें खेल खिलाते थे।

सुगन्धित द्रव्यों की मालिश करके स्नान करना, तरह तरह के दीपकों की पंक्तियाँ बाँधना और इष्ट-मित्रों के साथ मिष्टान्न भोजन करना यह दीवाली का मुख्य भाग है। यदि बलि-राज्य में प्रवेश करना हो तो द्वेष, मत्सर, ईर्ष्या और अपमान आदि सभी भूल कर सभी के साथ एकचित्त हो जाना परम आवश्यक है। इस तरह निष्पाप होकर नये वर्ष में प्रवेश करना हमारी पुरानी प्रथा है।

आज के दिन सत्यभामा ने श्रीकृष्ण की सहायता से नरकासुर का नाश किया था और सोलह हज़ार राजकन्याओं को मुक्त किया था।

---

* औषधि = जङ्गली जड़ी-बूटियाँ दीवाली की रात में अपना २ प्रभाव पाती हैं।

दीपावली के उत्सव में स्त्रियों की उपेक्षा नहीं की गई है। स्त्री और पुरुष के सभी सम्बन्धों में भाई और बहन का सम्बन्ध शुद्ध सात्विक प्रेम का और समानता के उल्लास का संबंध होता है। इतना व्यापक और इतना उल्लास युक्त प्रेम पति-पत्नी और माता-पुत्र का नहीं होता।

धनतेरस से भैयादूइज तक के पाँचों दिनों के साथ यमराज का नाम जुड़ा हुआ है। इसका क्या उद्देश होगा? इन्द्रप्रस्थ का राजा हँस मृगया के लिए पर्यटन कर रहा था। हैम नामक एक छोटे राजा ने उसका आतिथ्य किया। उसी दिन राजा हैम के घर पुत्रोत्सव था। राजा आनन्द मना ही रहा था कि इतने में भवितव्यता ने आकर कहा कि, विवाह हो जाने पर चौथे दिन यह पुत्र सर्पदंश से मर जायगा। हँस राजा ने उस पुत्र को बचाने का निश्चय किया। यमुनाजी के एक डोह में एक सुरक्षित घर बनवा कर हैम राजा को उसमें रहने के लिये उसने कहा। सोलह वर्ष के बाद राजपुत्र का विवाह हुआ। विवाह से ठीक चौथे ही दिन ऐसे दुर्गम स्थान में भी सर्प प्रकट हुआ और राजपुत्र मर गया। आनन्द की घड़ी अपार शोकमय हो गई। इस करुणप्रसङ्ग में क्रूर यमदूतों को भी दया आई और उन्होंने यमराज से यह वर माँग लिया कि, जो कोई मनुष्य दीपावली के पाँच दिन तक दीपोत्सव करे उस पर ऐसा शोकमय प्रसङ्ग न आवे।

यह तो धनतेरस की बात हुई। नरक चतुर्दशी के दिन तो भीष्म और यमराज के तर्पण का विशेष रूप से विधान बताया गया है। दीपावली तो अमावस्या का दिन, उस दिन तो यमलोक निवासी पितरों का पूजन और पार्वण श्राद्ध करना ही होता है।

प्रतिपदा के लिये यमराज की कोई कथा नहीं मिलती, किन्तु ऐसा मान लेने में बाधा नहीं कि, यमराज भी उस दिन अपनी नई बही आरम्भ करते होंगे। भैयादुईज के दिन यमराज अपनी बहन यमुना के यहाँ भोजन करने जाते हैं। दीवाली की स्वच्छन्दता के साथ यमराज का स्मरण रखने में उत्सवकारों का जो कुछ उद्देश रहा हो, किन्तु उसका प्रभाव बहुत ही अच्छा पड़ता होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिन्होंने उत्सव में भी संयम रक्खा होगा वही यमराज के पाशों से मुक्त रह सकेंगे।

सत्यनारायण

स्वामी विवेकानन्द ने अपने 'उद्बोधन' में कितनी ही उत्तम कथायें और सुंदर शब्द-चित्र दिये हैं। उनमें एक नीचे लिखा हुआ भी है। "सनातन हिन्दू-धर्म का कैसा भव्य गगन स्पर्शी मन्दिर! मन्दिर में जाने के रास्ते भी कितने? और उस मन्दिर में नहीं क्या है? वेदान्तियों के निर्गुण ब्रह्म से लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, दुर्गा, सूर्यनारायण, चन्दामामा और चूहे पर सवारी करने वाले गणेश जी से लेकर ठेठ छठ्ठी, शीतला जैसे छोटे बड़े देव देवियों पर्यन्त सभी कुछ हैं। और वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण, तथा तन्त्र आदि में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि, उनमें से किसी एकही के द्वारा भव बन्ध छूट सकता है। फिर इस मन्दिर के सम्मुख लोगों की भीड़ भी कितनी? तैंतीस करोड़ मनुष्य उस मन्दिर की ओर दौड़ते हैं। हमारे मन में भी कौतूहल हो जाने से हम पैदल चले। पर जाकर देखते हैं क्या? मन्दिर के भीतर तो कोई जाता ही नहीं। दरवाज़े पर पचास सिर, सौ हाथ, दो पेट और पचास पाँव की एक मूर्ति खड़ी है और सब लोग इस मूर्ति के चरणों में लोटाङ्गण डाल रहे हैं। एक मनुष्य से पूछा गया कि, यह है क्या? तो उसने कहा, पहले मन्दिर में जो देव देवियाँ देख पड़ती हैं, उन्हें दूर ही से नमस्कार करना चाहिए और उन पर एक दो फूल फेंक दें तो उनकी खूब

पूजा हो गई, समझना चाहिये। किन्तु असली पूजा तो इन द्वारस्थ देवता ही की करना चाहिए। और आज दिन जो वेद, वेदान्त, दर्शन, पुराण और शास्त्र सभी तुम देखते हो इनका श्रवण प्रसङ्गोपान्त करो तो कुछ बाधा नहीं, परन्तु हुक्म तो इसी का मानना चाहिए।"

हमने फिर पूछा "तो इन देवाधिदेव का नाम क्या है" ? उत्तर मिला, "लोकाचार।"

इस चमत्कार पूर्ण शब्द-चित्र में स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का असली स्वरूप बतलाया है। यह स्थिति हिन्दू धर्म ही की है, सो नहीं। सारे संसार में सभी धर्मों की यही स्थिति है। शास्त्र की प्रगति तर्कानुसार भले ही चले, किन्तु लोकरूढ़ि तो उसी दिशा में बहती है जहाँ हृदय का प्रवाह जाता है। ईसाई धर्म में तथा इस्लाम में कितने ही संस्कार और प्रणालियाँ उन धर्मों के सिद्धान्तों से भिन्न ही हैं। हिन्दुस्थान के समाज में द्विजाति और अद्विजाति दो बड़े भेद होने के कारण शास्त्र-धर्म और प्राकृत धर्म इस तरह दो निश्चित भेद पड़े हुये हम देखते हैं। धर्म-सुधारकों ने समय समय पर इस प्राकृत धर्म को सुधार कर उसे संस्कृत धर्म बना देने का प्रयत्न किया है। रूढ़-धर्म और उसकी रूढ़ियों की निन्दा करने ही में हमने इधर कितने ही वर्ष गँवा दिये, परन्तु यह हमारे ध्यान में न आया कि रूढ़-धर्म के मूल में राष्ट्रीय प्राण निहित होता है। देश की खामी और खूबी देश की शक्ति और अशक्ति इस रूढ़ धर्म ही की अहसानमन्द होती है। किसी भी देश का शास्त्र-धर्म उस देश के आदर्श अथवा महत्त्वाकांक्षा को बतलाता है, किन्तु देश की यथार्थ स्थिति रूढ़-धर्म पर से ही

समझ में आ सकती है। समाज जब बहते हुए पानी के सदृश पुरुषार्थी और स्वच्छ होता है तब शास्त्र-धर्म पत्थर के समान कठोर नहीं बन जाता; और न रूढ़-धर्म ही अपमानित होता है। समाज में उच्च-वर्ग और सर्व-साधारण-वर्ग जब परस्पर मिल जुल कर रहते हैं तब शास्त्र-धर्म की उदात्तता रूढ़-धर्म में झर कर उतर आती है, और जैसे कमल को कीच से पोषण मिलता है वैसे ही शास्त्र-धर्म को रूढ़-धर्म से नित्य नया भोजन मिलता है। शास्त्र-धर्म का तर्क-शास्त्र बहुत तीक्ष्ण होता है, शास्त्र-धर्म का मानस-शास्त्र बहुत सूक्ष्म होता है। रूढ़-धर्म भोला होता है। वह मनुष्य-स्वभाव की गहरी परीक्षा नहीं करता। शास्त्र-धर्म तो ब्रह्मदेव के समान हंसारूढ़ होता है पर रूढ़-धर्म बहुचराजी* के समान कुक्कुट-वाहन होता है। शास्त्र-हंस को तत्त्वरूपी मोती मिलते हैं या नहीं, यह तो बतलाना कठिन है, किन्तु रूढ़ि-मुर्गे को, उसके बहुत फिरते रहने के कारण, संस्कार-रूपी दाने खूब मिल जाते हैं।

आज कल योरप में ऑन्थ्रोपॉलॉजी (Anthropology) अथवा मानव-वंशशास्त्र की ओर संस्कारी लोगों का ध्यान विशेष रूप से है। इसका प्रभाव यहाँ भी पड़ा है, और यहाँ के विद्वान् गण शास्त्रबाह्य हिन्दू संस्कारों का और रीतियों का अध्ययन करने लगे हैं। बङ्गाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बाउल सम्प्रदाय के साहित्य की ओर लोगों की दृष्टि आकर्षित की है। मैसोर में मिथिकल सोसाइटी ने, बम्बई में सर नारायण चन्दावरकर ने, लोक-

* भगवती भवानी की एक विभति का नाम।

रूढ़ि-की दृष्टि से हिन्दू-धर्म का रहस्य खोज निकालने का प्रयत्न आरम्भ किया है। योरप में मानव-वंश-शास्त्री मुख्यतः इस तरह के साधनों को संग्रह करने और भिन्न भिन्न देशों की प्रचलित मान्यताओं की तुलना करने का काम करते आये हैं।

संस्कारी सनातन धर्म का रूढ़-धर्म भी महान् संस्कारी है। इसका अध्ययन जुदी ही रीति से होना चाहिए। किम्बहुना, हिंदू समाज के नेताओं की दृष्टि पहले ही से इस रूढ़-धर्म को ओर जा चुकी थी, अतएव उन्होंने रूढ़-धर्म के स्वतन्त्र प्रवाह को किसी तरह भी रोके बिना ही उसे संस्कारी बनाने का शुभ प्रयत्न पहले ही से अङ्गीकार किया है। उन्होंने रूढ़-धर्म के सभी देव-देवियों को पञ्चायतन के अवतार बना डाले, उनमें से प्रमुख देव-देवियों को राष्ट्रीय त्योहारों में स्थान दे दिया; मांस के स्थान में उड़द का आटा और कुम्हड़ा रखकर हिंसक संस्कारों को अहिंसक बना दिया और जन साधारण को उन्नति के मार्ग में लगाया।

रूढ़-धर्म में बहुत शुद्धता की खोज करना ही भारी भूल है। लोगों का स्वभाव जैसा है वैसा ही उसे लेकर उसमें उन्नति का एक-आध बीज बो देना और लोक जीवन में अहिंसा की एक-आध काव्यमयी छटा मिला देना इतना ही काम वहाँ हो सकता है। इसी दृष्टि से हिन्दू-शास्त्रकारों ने रूढ़-धर्म में कौन से और कितने संस्कार किये हैं और उसके बदौलत आज का हिन्दू-जीवन कैसा संस्कारी और काव्यमय हो गया है, यह हमें संस्कृति की दृष्टि के जाँचना चाहिए। भगिनी निवेदिता ने इस तरह का अध्ययन बहुत किया है। फील्डिङ्ग हाल ने ब्रह्मदेश के सम्बन्ध में इसी तरह के लेख लिखे हैं। किन्केड साहब ने अङ्गलोइण्डियन

पद्धति से इस दिशा में बहुत कुछ लिखा है। परन्तु हम इतने ही से सन्तोष नहीं मान सकते। हमें हर एक त्योहार, रीति और संस्कार की छानबीन करना चाहिए और यह खोज निकालना चाहिए कि उसमें कौन सा रहस्य निहित करनेका प्रयत्न किया गया है। रूढ़ि में दोषों का देखना कुछ कठिन नहीं है, परन्तु सत्य-दृष्टि गुण-दोषों की विवेचना नहीं करती, वरन् रहस्य जानना चाहती है। हमारे देश में प्रचलित व्रत और उत्सवों का अध्ययन इसी दृष्टि से करने का हमारा विचार है। प्रायः उसमें सारे भारत में अत्यन्त लोकप्रिय और औरों से अत्यन्त नवीन व्रत सत्यनारायण के व्रत ही से प्रारम्भ करें।

" सत्या परता नाहीं धर्म, सत्य तेंच परब्रह्म।"

—मुक्तेश्वर।

सत्यनारायण का व्रत गुजरात, महाराष्ट्र, संयुक्त प्रान्त, मध्य-भारत और मध्य-प्रान्त में बहुत लोकप्रिय है। धर्म-शास्त्रों में इस व्रत को स्थान नहीं, किन्तु रूढ़-धर्म में सत्यनारायण व्रत का स्थान उच्च है। लोगों की यह धारणा है कि इस व्रत से मनोकामनायें सिद्ध होती हैं। इस व्रत में सत्यनाराण की पूजा, कथाश्रवण और प्रसाद-भक्षण ऐसे तीन मधुर विभाग हैं। शायद, इसी कारणवश इस व्रत में सत्य की जो महिमा है, वह लोगों के ध्यान में नहीं आती। लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित करने के लिए यह छोटा सा प्रयत्न किया जा रहा है। इस रहस्य को पढ़ने के पूर्व जिन्हें सत्यनारायण की कथा मालूम न हो, उन्हें उसे जान लेना परम आवश्यक है।

धर्म मानवी हृदय की अत्यन्त उच्च वृत्ति है; और वह मनुष्य

के सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त रहती है। हमारा जीवन जैसा ही उत्तम, मध्यम अथवा हीन होता है, वैसा ही रूप हम धर्म को भी देते हैं। बुद्धि प्रधान तार्किक लोग जहाँ धर्म वृत्ति को तत्वज्ञान का दार्शनिक रूप देते हैं, प्रेमी नम्र लोग उपासना का रूप देते हैं, कर्मप्रधान कला-रसिक लोग पूजा-अर्चा इत्यादि तान्त्रिक विधियों द्वारा धर्म्मवृत्ति का पोषण करते हैं; तहाँ साधारण अज्ञ जन-समुदाय कथा-कीर्तन द्वारा ही धर्म के उच्च सिद्धान्तों का आकलन कर सकता है!

धर्माचरण के फल के सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। धर्माचरण का फल अन्तःस्थ और उच्च होता है, यह बात जिनके ध्यान में नहीं आ सकती उनके सन्तोषार्थ पौराणिक कथाओं द्वारा बाह्य फल दिखलाने पड़ते हैं। धर्मतत्त्व कितने ही ऊँचे हों, किन्तु यदि उन्हें समाज में रूढ़ करना हो तो उन्हें समाज की भूमिका पर्यन्त नीचे उतारना पड़ता है। भगवान् तथागत के उपदिष्ट तत्त्व उच्च, उदात्त और नैतिक थे किन्तु जब उन्हें देव-देवता, पूजा-अर्चा तथा मन्त्र-तन्त्र आदि का तान्त्रिक स्वरूप देकर महायान-पन्थ अवतरित हुआ तभी वे तत्त्व अथवा उनका अंश आधे एशिया खण्ड को जँचा। यह सत्यनारायण का व्रत भी इसी किस्म का एक ताज़ा उदाहरण है। सत्यनारायण का व्रत इसी अन्तिम शताब्दी के भीतर निर्माण हुआ है, ऐसा एक पुराण धर्माभिमानी शास्त्री ने कहा था। परन्तु इस व्रत के विस्तार और लोकप्रियता को देखकर यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि लोगों के हृदय में निवास करने वाले धर्म का स्वरूप इस व्रत में दृष्टिगोचर होता है।

संसार का बहुत सा व्यवहार अल्पप्राण लोगों के हाथ में होता है। बहुजन-समाज की सत्य पर श्रद्धा बहुत थोड़ी होती है। संसार में चाहे जैसी हानि को सहन करने योग्य पुरुषार्थ लोगों में नहीं दिखाई देता। सत्यासत्य का कोई न कोई विधि-निषेध रक्खे बिना क्षणिक और दृश्यमान लाभ के लिए लोग वचन-भङ्ग कर डालते हैं, नियम-भङ्ग कर देते हैं और झूठे को सच्चा कर दिखलाते हैं। अतएव यह एक भारी प्रश्न है कि, कामना-सिद्धि के लिए सत्य को धता बताने वाले अज्ञजनों को सत्य की लगन किस तरह लगानी चाहिए और ऐसी श्रद्धा किस तरह दृढ़ करनी चाहिए कि सत्य-सेवन ही से अन्त में सर्वकामना-सिद्धि होती है। साधु-सन्तों ने, नियमों की रचना करनेवालों ने, तथा समाज के नेताओं ने अनेकों प्रकार से प्रयत्न कर देखे हैं। सत्य नारायण-व्रत के प्रवर्तक ने इस प्रश्न को अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार सत्यनारायण की पूजा और कथा द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है।

लोगों में सत्यनारायण की पूजा प्रचलित करने से दो हेतु सिद्ध होते हैं। लोग सत्य-सेवी हों, यह एक उद्देश्य, और सत्य की महिमा समाज में निरन्तर गाई जाया करे, यह दूसरा उद्देश। इस पूजा का नाम उत्सव नहीं, व्रत रक्खा है; यह बात भी इस जगह ध्यान में रखने के योग्य है। उत्सव में हम लोग किसी भूत वृत्तान्त का अथवा किसी धार्मिक तत्त्व का उत्साह पूर्वक सहर्ष स्मरण करते हैं, और व्रत में हम अपना जीवन उच्चतर बनाने के लिए किसी दीक्षा को ग्रहण करते हैं।

सत्यनारायण की कथा श्रवण करने और स्वादिष्ट प्रसाद

भक्षण करने मात्र से कहा जायगा कि सत्यनारायण का उत्सव हुआ पर वह व्रत किसी तरह नहीं माना जा सकता। जिसे सत्य-नारायण का व्रत करना हो उसे, सर्वदा, सभी स्थानों में और सभी प्रसङ्गों में सत्य के आचरण की, और अवसर आ पड़ने पर सभी लोगों को सत्य का महत्त्व समझाकर सत्य का कीर्तन करने की, दीक्षा ग्रहण करनी होगी। यदि इसी तरह व्रताचरण किया जाय तो ही कर्ता को सत्यनारायण-व्रत के करने का फल प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

संसार में सभी लोग सामर्थ्य और सम्पत्ति चाहते हैं। धर्म कहता है कि, 'तुम्हें भूतदया और सत्य-आचरण के द्वारा ही सच्चा सामर्थ्य और सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है।' पुराणों ने इसी सिद्धान्त को एक सुन्दर रूपक देकर हमारे मन में बैठाया है। पुराणों का कथन है कि, सामर्थ्य और सम्पत्ति अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, क्रमशः कल्याण की अभिलाषा और सत्य अर्थात् शिव और सत्यनारायण के अधीन रहते हैं; क्योंकि, शक्ति तो शिवजी की पत्नी है, और लक्ष्मी सत्यनारायण की। यदि तुम पति की आराधना करोगे तो पत्नी तुम पर अवश्य ही अनुग्रह करेगी। इस तरह धन, धान्य, सन्तति, और सम्पत्ति आदि ऐहिक लक्ष्मी की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को सत्य का अर्थात् सत्यनारायण की आराधना करना इस व्रत में कहा गया है।

हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नीतिशास्त्र में सत्य का बहुत ही व्यापक अर्थ किया गया है। श्रीवेदव्यास ने महाभारत में सत्य के तेरह प्रकार कल्पित किये हैं। हिन्दू-शास्त्र और पुराणों को

उलट पलट कर देखा जाय तो परस्पर बिलकुल ही विभिन्न ऐसी तीन वस्तुएँ सत्य शब्द में समाविष्ट होती हैं।

पहली वस्तु—सत्य अर्थात् यथार्थ कथन। जो बात जैसी हो, हम उसे जिस स्वरूप में जानते हों, अथवा जिस स्वरूप में बनी हुई हमने देखी हो, जिस स्वरूप में हमने उसकी विवेचना की हो; उसे ठीक ज्यों की त्यों कह देना, इसका नाम है सत्य।

दूसरी वस्तु—सत्य अर्थात् ऋतम्, सृष्टि का नियम अथवा किसी भी महाकार्य का विधान। 'सत्य ही से सूर्य उदय होता है' 'सत्य ही से वायु वहता है', सत्य ही से पृथ्वी विश्व को (सब को) धारण करती है', 'सत्य ही से यह लोक चलता है', सत्य ही यज्ञ की प्रतिष्टा है इत्यादि शास्त्रवचनों में सत्य का अर्थ अनुल्लंघनीय नियम, ऐसा होता है।

तीसरी वस्तु—सत्य अर्थात् प्रतिज्ञा-पालन। यहाँ सत्य के मानी हैं मुँह से एक बार निकाले वचन का पालन करने की टेक; एक बार मुँह से निकाले वचन को व्यर्थ न जाने देने की टेक। इसी सत्य के लिए कर्ण ने अपने कुण्डल दे दिये थे। इसी सत्य के लिए श्रीराम वनवास गये थे। इसी सत्य के लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य का दान कर दिया; और तो क्या, मातृ-भक्त पाण्डवों ने माता के वचन को सत्य करने के लिए एक द्रौपदी के साथ पाँचों भाइयों ने विवाह कर लेने जैसे निन्दनीय कर्म को भी कर डाला। (आज कल हमारे सत्य और स्वामिभक्ति की धारणा अधिक विशुद्ध हो गई है, अपने पुत्र क्या वस्तु प्राप्त कर लाये हैं, इस बात को जाने समझे विना ही, 'पाँचों भाई बराबर बाँट लो' इस तरह माता के मुख से निकले वचन को सत्य करने के लिए यदि

पाँच भाई इस समय विवाह करने को उद्यत हों, तो हम उन्हें सत्य-द्रोही और मूर्ख कह डालेंगे। स्वप्न में ब्राह्मण को—दिया वचन सत्य करने के लिए प्रजा की मिलकियत-सम्पूर्ण राज्य-को प्रजा महाभयङ्कर सङ्कट डालने वाले एक तामसी ब्राह्मण को सौंपने वाले राजा को हम राज-धर्म-भ्रष्ट, श्रद्धा-जड़ और पामर कहेंगे। अस्तु। यहाँ तो हम पुरानी धारणा के अनुसार सत्य-नारायण की कथा का रहस्य खोलने चले हैं।)

जन-समुदाय में दो वृत्तियां खास तौर पर बलवती होती हैं-लोभ और भय। इन दोनों वृत्तियों से लाभ उठाकर सत्यनारायण के कथाकार ने सत्य की महिमा गाई है। यदि आप सत्य का सेवन करें, तो आप को सन्तति और सम्पत्ति आदि सभी सामग्री मिल जायगी, समस्त सङ्कट दूर होंगे और मनोकामनायें परिपूर्ण होंगी; यह तो हुआ लोभ। सत्य को भूल जाने से, सत्य को छिपाने से, तुरन्त ही आप के बाल बच्चे मर जायँगे, धन-धान्य का नाश हो जायेगा, दामाद पानी में डूब जायगा; यदि राजा किसी को अन्याय से कारागार में ठूँस देगा तो उसकी राजसत्ता नष्ट हो जायगी और उस पर सभी तरह के संकट उमड़ पड़ेंगे; यह हुआ भय।

सत्य का व्रत सब के लिए समान फलप्रद है। सत्यपालन का धर्म सभी वर्णों के लिए है, ऐसा बतलाने के लिए इस कथा में ब्राह्मण, राजा, बनिया और ग्वाल तथा लकड़हारे लाये गये हैं और ऐसा मालूम होता है कि ऊपर बतलाये हुए सत्य के तीनों अर्थ सत्यव्रत में अभिप्रेत हैं। साधु और उसका दामाद दोनों अपनी की हुई प्रतीज्ञा को भूल जाते हैं। इसलिये उन पर सत्यदेव

का कोप होता है। उसी के परिणाम स्वरूप राजा चन्द्रकेतु भी इन दोनों से पराङ्मुख होता है। इन दुर्दैवी लोगों के स्त्रियों के हृदय में प्रतिज्ञा-पालन का धर्म-भाव जागृत होते ही तुरन्त चन्द्रकेतु राजा के हृदय में भी न्याय-भाव जागृत होता है। साधु और उसका दामाद चोर-भय से दण्डी बाबा के सम्मुख झूठ बोलते हैं। इसलिए हमारे कथाकार उनके मिथ्याभाषण के कारण उनके सर्वस्व नाश हो जाने का अनुभव दिखला कर विनाश-भय द्वारा उन्हें सत्यनिष्ठ बनाते हैं। कलावती पति-दर्शन के मोह में पड़कर सत्यनारायण-व्रत के नियम का भङ्ग करती है। तुङ्ग-ध्वज राजा भी अपनी वर्णोच्चता के अभिमान और सत्ता के मद में सत्य का अनादर करता है। इससे कलावती का पति और तुङ्ग-ध्वज का राज्य नष्ट हो जाता है। किन्तु उनका वह मोह और वह मद नष्ट हो जाने पर फिर से उनको उनका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, ऐसा बता कर कथाकार लोगों से कहते हैं कि—भाइयो! सच ही बोलो; अपने वचन का भङ्ग मत करो तथा समाज के अथवा नैसर्गिक सर्वव्यापी नियमों का भङ्ग मत करो; उनका उल्लङ्घन न करो। यदि इस तरह का व्यवहार करोगे तो तुम्हारा ऐहिक और पारलौकिक कल्याण अवश्य होगा; क्योंकि जो सत्य पर चलता है वह—

सर्वान्* कामानवाप्नोति, प्रेत्य सायुज्य माप्नुयात्।

इस लोक-काव्य में सत्य को सर्वसङ्ग परित्यागी दण्डी

---

* जीते जी मन की सभी कामनाओं को पा जाता है और मरने पर सायुज्य मोक्ष पाता है।

का स्वरूप दिया है, यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है। सत्यपूर्वक चलने से सम्पूर्ण वासनाओं का क्षय होकर मनुष्य में संन्यस्तवृत्ति ठँस जाती है, और सत्याचरणी मनुष्य में अन्तःस्थ वृत्तियों के और बाह्य समाज के नियमन अथवा दण्डन करने की दण्डी शक्ति आ जाती है, यह कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ सूचित किया है। सत्यनारायण की पूजा में सत्य का स्वरूप और महिमा बतलाने वाले कितने ही श्लोक बड़े उच्च भाव से भरे हुए हैं, उन्हें यहाँ देकर श्रीसत्यनारायण की यथामति की गई इस उपासना को मैं यहाँ समाप्त करता हूँ—

† नारायणस्त्वमेवासि सर्वेषां च हृदि स्थितः।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरित मानसः॥
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम्।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद् भावबोधकः॥

---

† हे नारायण! आप ही सभी के हृदयों में स्थित हैं, जितने प्रेरक हैं उन सभी के प्रेरक आप हैं; मैं आपही की प्रेरणा से मन में प्रेरित होकर आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर के जन-पावन आपकी उपासना करता हूँ। आप [illegible] ों के [illegible] ों के भावों के रचयिता और सभी के [illegible] और [illegible] हैं। आपही के अधिष्ठान मात्र से [illegible] जी) [illegible] करनेवाली हैं; अतएव मैं उन्हीं को आ[illegible] भजन करता हूँ। [illegible] और [illegible] हो[illegible] और [illegible]। आप [illegible] व[illegible] जा[illegible] और [illegible] पर [illegible] से [illegible]

त्वधिष्ठानमात्रेण, सैव सर्वार्थकारिणी ।
तामेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकाम्यया ॥
न मेत्वदन्यस्त्राताऽस्ति, त्वदन्यं नहि दैवतम् ।
त्वदन्यं नहि जानामि, पालकं पुण्यरूपकम् ॥
नमस्ते देवदेवेश, नमस्ते धरणीधर ।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यस्त्राताऽस्ते जगतीतले ॥

इस वाञ्छितार्थफलप्रद श्रीसत्यनारायणव्रत और कथा के इस रहस्य को जो पढ़ेंगे उन्हीं को श्रीसत्यनाराण का कृपा-प्रसाद प्राप्त होगा । यह रहस्य संस्कृत भाषा में नहीं लिखा है, अथवा आधुनिक है, ऐसा समझ कर जो इसका अनादर करेंगे उनका सत्यनारायण-व्रत निष्फल होगा । परन्तु जो कोई ध्यान तथा मनन पूर्वक इसको श्रवण कर के सत्यनाराण का व्रत आचरण करेंगे वे—

* यत्कृत्वा सर्वदुःखेभ्यो, मुक्तो भवति मानवः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो, दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात् ॥
इहसद्यः फलं भुक्त्वा, परत्रे मोक्षमाप्नुयात् ।
धनधान्यादिकं तस्य, भवेत् सत्यप्रसादतः ॥
दरिद्रो लभते वित्तं, बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भीतो भयात् प्रमुच्येत, सत्यमेव न संशयः ॥

---

* सत्यनारायण का व्रत करके मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है । वह मनुष्य सब पापों से छूट कर दुर्लभ मोक्ष को पा जाता है । इस लोक में तात्कालिक फल भोगकर परलोक में मुक्ति भी पा जाता है । सत्य की कृपा से उस मनुष्य के धन-धान्य भी होते हैं । इस व्रत से दरिद्री धन पा जाता है, बँधुआ बन्धन से छूट जाता है, डरा हुआ मनुष्य डर से बचाव पाता है, इसे सच जानो, इसमें संशय नहीं ।

कलियुग में हर एक मनुष्य भली और बुरी हर तरह की कामनाओं की सिद्धि के लिए सत्यनारायण-व्रत करने लगा, यह देख कर श्रीमहादेवजी ने फलप्राप्ति के मार्ग में एक कीलक (कांटा) और अर्गला (अटक ज़ंजीर) डाल दिये हैं। जो मनुष्य जितेन्द्रिय और सत्यवादी होगा, वही इनका उत्कीलन करके इस व्रत-फल के द्वार को खोल सकेगा। इतिशम्।

गया की महिमा

लोक-पितामह ब्रह्मदेव ने असुर वृत्ति से असुरों को उत्पन्न किया और सद्भाव से देवों को। उन असुरों में गयासुर महाबली और पराक्रमी था। उसका शरीर बहुत ही मोटा था। असुर का नाम लेते ही महापापी, क्रूर, सभी लोगों को पीड़ा पहुँचाने वाला, इन्द्र पर धाक बैठाने वाला, अप्सराओं को हरण कर ले जाने वाला, मायावी और कपटी जीव का, स्वभाव स्वरूप सामने खड़ा हो जाता है। पर, सभी असुर इसी तरह के नहीं होते। बलि राजा भी तो असुर ही गिना जाता है। गयासुर भी इसी कोटि का असुर था। इसे पवित्रता की लगन लगी और इसने कोलाहल-पर्वत पर घोर तपस्या आरंभ की।

इसने हज़ारों वर्ष तक श्वास-स्थिर कर तपस्या की। इससे देवगण हमेशा की तरह बहुत ही व्याकुल हुए। नियमानुसार सब देव ब्रह्मदेव के समीप गये, ब्रह्मदेव शंकर के और शंकर विष्णु के समीप। देवताओं के रिवाज के मुताबिक उन्होंने श्री विष्णु की स्तुति की। विष्णु ने उनकी घबराहट का कारण पूछा। तब देवताओं ने पुकार मचाई कि गयासुर के भय से हमारी रक्षा करो, रक्षा करो। विष्णु ने उन्हें वचन दिया कि तुम आगे चलो और मैं इसी क्षण वहाँ आकर गयासुर को वरदान देता हूँ।' सभी देवता

लौट गये। विष्णु ने गयासुर से कहा–'वर माँग ले'। गयासुर ने माँगा 'देव, ब्राह्मण, यज्ञ, तीर्थ, ऋषि, मुनि, ज्ञानी और ध्यानी सब से मैं पवित्र हो जाऊँ।' भगवान विष्णु ने प्रसन्नतापूर्वक 'तथास्तु' कह कर वर दिया और सब देवता एक दूसरे का मुँह ताकते हुए अपने अपने घर चले गए।

अब वहाँ तो 'चौबे गये छब्बे बनने और दूबे होकर आये' ऐसी दशा हो गई। गयासुर का ही पवित्र दर्शन करके, उसका स्पर्श करके, सभी वैकुण्ठ जाने लगे। तीनों लोक खाली हो गये। यमपुरी उजाड़ हो गई। तब यम, इन्द्र आदि अधिकारी लोग ब्रह्मदेव के समीप जा कर शिकायत करने लगे। 'ये लीजिएगा हमारे इस्तीफ़े। आपका दिया हुआ अधिकार लौटा लीजिए क्योंकि अब हमारा कुछ काम नहीं रहा।'

यह सङ्घ फिर श्रीविष्णु तक जा पहुँचा। विष्णु तो गयासुर को सनद दे चुके थे, अतएव उन्होंने देवताओं को एक युक्ति सुझाई। उन्होंने कहा—

'तुम सब गयासुर के पास जाकर यज्ञ करने के लिए उसकी पवित्र देह माँग लो और उसके शरीर पर ही यज्ञ करो।'

देवगण ब्रह्मदेव को अगुआ बनाकर गयासुर के पास गये। गयासुर ने उनका स्वागत सत्कार किया और उनके कुछ भी कहने के पहले ही उनका कार्य कर देने का वचन दे दिया। ब्रह्मदेव ने कहा—"मैं यात्रा करता हुआ सर्वत्र पर्यटन कर आया, किन्तु तेरे शरीर से अधिक पवित्र स्थान मुझे कहीं न मिला। मुझे यज्ञ करना है, अतएव तू अपना शरीर दे दे"।

गयासुर ने अपने को धन्य माना। उसने ब्रह्मदेव से कहा—

'मेरे माता और पिता दोनों के वंश धन्य हुए। आप ही ने इस शरीर को उत्पन्न किया है, और आप ही ने पवित्र किया है। मुझे निश्चय है कि आपका यज्ञ सभी के उपकार के लिये होगा। 'सर्वेषामुपकाराय यागोऽवश्यं भविष्यति'।

इस विशुद्ध भाव से प्रेरित गयासुर शरीर देने में कब देरी लगाने लगा? वह तुरन्त वहीं पर सो गया। सृष्टि-रचयिता ब्रह्मदेव ने यज्ञ की सामग्री और यज्ञ के ऋषिगण वहीं उत्पन्न कर दिये। इतने मुनि उत्पन्न हुए कि जिनकी नामावलि का पार नहीं। गयासुर की देह पर बड़ा भारी यज्ञ हुआ। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी गई। गयासुर मर गया होगा यह समझ कर सब ने उसे उठाकर एक बड़े तालाब में ले जाकर डाल दिया। वहाँ तो वह असुर हिलने चलने लगा! हे भगवन्! अब क्या करें? ब्रह्मदेव ने चकित होकर यमराज से गुहार मचाकर कहा—"तुम्हारे घर में वह जो भारी धर्म-शिला है, उसे लाकर झटपट इसके सिर पर रख दो, मेरी आज्ञा है। विचार मत करो।'

सिर पर धर्म-शिला के रख देने पर भी असुर हिलने लगा। तब सब देवों ने अपने अपने पैर उस पर रख कर उसे अच्छी तरह से दबा रक्खा तो भी वह दैत्य शान्त न हुआ। अब तो ब्रह्माजी व्याकुल हो गये। विष्णु क्षीरसागर में, सोये थे। वहाँ जा पहुँचे। द्वारपाल ने उनके आगमन की खबर विष्णु को दी। विष्णु ने ब्रह्मदेव को भीतर बुलाकर उनसे आगमन का कारण पूछा। ब्रह्मा ने कहा, 'हमने यज्ञ किया। देव रूपिणी धर्म-शिला उसके ऊपर डाल दी, रुद्रादि सभी देवगण उसके ऊपर बैठ गये, तो भी वह

असुर निश्चल नहीं होता। अब तो आपकी दया बिना काम न चलेगा।"

विष्णु ने अपने शरीर में से मूर्ति निकाल कर ब्रह्मदेव को दी। उसका भार भी पर्याप्त न हुआ। अन्त में क्षीरसागर से विष्णु स्वयं आये और उस धर्म-शिला के ऊपर खड़े हुए। उनके हाथ में पुराण-प्रसिद्ध गदा थी। विष्णु के साथ गायत्री, सावित्री सरस्वती, लक्ष्मी, सीता, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र और वृहस्पति आदि सभी देव-देवी आकर गयासुर के शरीर पर खड़े हुए, तब जाकर वह असुर स्थिर हुआ।

जिसने 'सर्वेषामुपकाराय' अपने शरीर-सहित सभी कुछ दे डाला था, उसके हृदय को इस कपट से आघात पहुँचा। उसने वेदनायुक्त अन्तःकरण से देवताओं से पूछा—'मुझे तुम लोगों ने इस तरह क्यों धोखा दिया? मैंने तो अपना निर्मल शरीर ब्रह्म-देव को यज्ञ करने के लिए दिया था। क्या मैं श्रीविष्णु के वचन-मात्र ही से निश्चल न हो जाता, जो तुमने और विष्णु ने अपनी गदा से मुझे इतना पीड़ित किया? खैर, यदि मुझे पीड़ित ही करना निश्चित हुआ हो तो, मैं इतना ही चाहता हूँ कि इससे भी सब सदा सन्तोष पावें।'

> ऊचे गयासुरो देवान्, किमर्थं वञ्चितोऽह्यहम्।
> यज्ञार्थं ब्रह्मणे दत्तं, शरीरममलं मया॥
> विष्णोर्वचनमात्रेण, किं न स्यां निश्चलोऽह्यहम्।
> यत्सुरैः पीडितोऽत्यर्थं, गदया हरिणा तथा॥
> पीड्यश्च यद्यहं देवाः, प्रसन्नाः सन्तु सर्वदा॥

गया-महात्म्य में यह नहीं लिखा कि यह सुनकर देवगण

लज्जित हुए या नहीं ? किन्तु उन्होंने गयासुर से कहा—'हम तुझ पर प्रसन्न हुए हैं, वर माँग।' उसने माँग लिया कि—'जब तक यह पृथ्वी, यह पर्वत और ये चन्द्र, सूर्य, और नक्षत्र हैं, तब तक ब्रह्मा, विष्णु, महेश और दूसरे देवता, त्रिलोकी के सभी तीर्थ, गङ्गादि नदियाँ सब मेरे सिर पर रक्खी हुई इस शिला पर बने रहें, और वे सब मेरे निमित्त लोगों का कल्याण करें। यहाँ पर जो कोई स्नान, तर्पण तथा श्राद्ध करें उनकी हज़ार पीढ़ी उद्धार पावें, उनका पाप धो जाय। सभी तीर्थ लोगों का मङ्गल करें। अधिक मैं क्या माँगू ? आप में से एक भी देवता यहाँ से न हिलें। इतना वचन पालना—'समयः प्रतिपाल्यताम्।'

देवों ने 'तथास्तु' कहा। दैत्य प्रसन्न हो गया और सदा के लिए निश्चल हो गया।

इस महत्कार्य के कर लेने बाद ब्रह्मदेव ने सब देवताओं के देखते २ वह सारी ज़मीन और पाँच पाँच गाँव ब्राह्मणों को दे दिये, सभी सामग्रियों समेत घर बाँध दिये, कामधेनु, कल्पवृक्ष और पारिजात आदि वृक्ष दिये, दूध की नदियाँ दीं, घी के तालाब दिये, शहद के कूए दिये, दही के सरोवर दिये, अन्न के पर्वत दिये, भक्ष्य भोज्य फलों की सुविधा कर दी और ब्राह्मणों से कहा, अब आप लोग किसी से कुछ माँगना नहीं, गदाधर को प्रणाम करके ब्रह्मदेव ब्रह्मलोक को चले गये।

परन्तु ब्राह्मणों से रहा न गया। उन्होंने धन लेकर यज्ञ करना आरम्भ किया। यज्ञ का धुआँ स्वर्ग-लोक तक पहुँचा, तब ब्रह्मा ने वहाँ आकर वह सब छीन लिया।

ब्रह्मा ने 'तुम लोग सदा लोभी ही रहोगे,' ऐसा कह कर विप्रों

को शाप दिया। ब्राह्मण रोने लगे, और कहने लगे कि, "हमारे निर्वाहार्थ कुछ तो व्यवस्था कर दीजिए" ब्रह्मा ने दया कर कहा—'अब तो भीख माँगने पर ही तुम्हें कुछ मिल सकेगा तुम्हारे सिर पर सदा तीर्थ-गुरुत्व ही रहेगा। लोग तुम्हारी ही पूजा द्वारा मेरी पूजा करेंगे।' इन्हीं ब्राह्मणों के वंशज गयावाल पण्डे हैं।

*　　*　　*　　*　　*

ऐन वक्त पर ब्रह्मदेव को जिस धर्मशिला का स्मरण हुआ, उसका क्या महात्म्य है ?

एक पवित्र साधु की धर्मव्रता नाम की कन्या थी वह सर्वलक्षण सम्पन्ना थी। गुणों में लक्ष्मी से भी बढ़ चढ़ कर थी। ब्रह्मदेव के परम तपस्वी पुत्र मरीचि के साथ उसका विवाह हुआ था। बुढ़ापे में एक दिन मरीचि वन में फल-फूल लेने गये थे वहाँ से थक कर आये। धर्मव्रता थके हुए पति के पैरों में घी की मालिश करने लगी। ज्यों ज्यों थकान उतरती गई, त्यों त्यों ऋषि को नींद आने लगी। इतने में वहाँ ब्रह्मदेव आये। सती धर्मव्रता ससुर को देखकर उठी, क्योंकि वे गुरु के भी गुरु थे। वहू ने उन्हें चरण-प्रक्षालन करने के लिये पानी दिया, पूजा की, और एक उत्तम शय्या बिछा दी। इतने में मरीचि उठे। उन्होंने जब देखा कि पत्नी पास में नहीं है तो, तुरन्त क्रोधाविष्ट होकर शाप दिया कि, 'तू मेरी आज्ञा बिना पाँव दाबना छोड़ कर चली गई, इसलिये जा, शिला हो जा' सती को बहुत खराब लगा। उसने कहा, 'जब घर में पिता आवें तब उनकी सेवा-पूजा करने का काम आपका था। वही काम आपकी धर्मपत्नी होने के कारण मैंने किया, इसमें मेरा क्या अपराध ?; मरीचि ऋषि अपनी भूल को समझ गये।

दोनों मिलकर श्रीहरि की शरण गये और प्रार्थना की कि, 'भगवन्! हमारी रक्षा कीजिए।' इतने में ब्रह्मदेव भी निद्रा से जगे। सब ने सती की तपस्या की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की। किन्तु कहा कि, 'ऐसे पति के शाप को व्यर्थ करने की शक्ति हम किसी में भी नहीं है। इसलिए तू ऐसा कोई दूसरा वर माँग ले जिस से धर्म की रक्षा हो।' सती ने माँगा कि, 'यदि आप लोगों में पति का शाप दूर कर देने की शक्ति न हो तो इतना ही वर दीजिए कि, नदी, नद, सरोवर, तीर्थ, देव, ऋषि, मुनि, प्रधान देवता और यज्ञ-क्षेत्र मुझ में आकर निवास करें। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में मैं पावनी शिला बनूँ। मेरा दर्शन करके लोग पाप और उपपातक सभी से छूट जायँ। जो मनुष्य शिला पर श्राद्ध करें, उन्हें और उनके वंशजों को विष्णुलोक मिले और जब तक यह ब्रह्माण्ड रहे, तब तक वह शिला भी बनी रहे।' देवों ने उसे वैसा ही वर दिया किन्तु फिर पछताये। उस शिला को छू छू कर सभी लोग वैकुण्ठ जाने लगे। यमराज घबराये। उन्होंने अपना अधिकार और यमदण्ड ब्रह्मदेव को सौंपा और कहा, 'अब तो मेरा काम ही नहीं रहा।' ब्रह्मा ने यमराज से कहा, 'उस शिला को उखाड़ कर तुम अपने घर में रख लो, तो काम बन जायगा, उस समय से यमराज फिर लोगों का शासन करने लगे और लोगों में धर्म-शिला की कीर्तिमात्र रह गई।

गयासुर के शरीर पर यज्ञ किये बाद भी जब गयासुर फिर से हिलने लगा तब ब्रह्मदेव ने यमराज के पास से यही शिला माँग ली थी। उस शिला में सभी तीर्थों की स्थिति होने से वह बहुत ही भारी और अति पवित्र हो गई थी।

श्रीविष्णु गयासुर के शरीर पर जिस गदा को लेकर खड़े हुए थे, उसकी भी कथा है। ब्रह्मदेव ने वज्र से भी अधिक दृढ़तर गद नामक असुर से उसकी हड्डियाँ माँग ली थीं। उन हड्डियों की एक वज्रगदा विश्वकर्मा से ब्रह्मा ने तैयार कराई थी और हेति नामक महा बलवान राक्षस को मारने के लिए श्रीविष्णु को दी थी; क्योंकि उस राक्षस को स्वयं ब्रह्मदेव ही ने वर दिया था कि वह देवों के शस्त्रास्त्रों से न मर सकेगा।

ऐसे ऐसे प्रसङ्गों के कारण प्रसिद्ध हुई भूमि पर—

लोकानां रक्षणार्थाय, जगतां मुक्तिहेतवे।

श्री आदि गदाधर, लक्ष्मीजी के साथ खड़े हैं। जो लोग वहाँ यात्रा के निमित्त जाते हैं, उनके मन की अभिलाषायें तृप्त होती हैं। शास्त्र में इतना अवश्य लिखा है कि वहाँ जाने वाले को ब्रह्मचारी और संयमी अवश्य होना चाहिए। शुद्ध और सन्तुष्ट रहना चाहिये, दान न लेना चाहिये, अहंकार से निवृत्त रहना चाहिए, जितेन्द्रिय और दानशील होना चाहिए; ऐसा होने ही से उसे तीर्थ-फल प्राप्त हो सकता है।

धर्मव्रता को शाप देने के कारण महादेव जी ने मरीचि को शाप दिया कि 'जा, तू दुखी हो'। फिर मुनि के पश्चात्ताप को देख कर उस शाप का परिहार उःशाप दे दिया कि 'गया में तेरी मुक्ति होगी'। मरीचि ने शिला के समीप बैठकर घोर तपस्या की। महादेव जी के शाप से मरीचि काला हो गया था, वह तपस्या से शुद्ध हो गया और श्रीविष्णु के वर से स्वर्ग-लोक को चला गया।

जो मनुष्य इस पुण्य गयाख्यान को श्रद्धापूर्वक पढ़ेगा या सुनेगा उसे सद्गति प्राप्त होगी।

इति श्रीवायुपुराणे श्वेतवाराहकल्पे गयामाहात्म्यं सम्पूर्णम्।

* कामंक्रोधं तथा लोभं, त्यक्त्वा यो सत्यवाक् शुचिः।
सर्वभूतहिते रक्तः, स तीर्थफलमश्नुते ॥
तीर्थान्यनुसरन् धीरः, पाखण्डं पूर्वतस्त्यजेत्।
पाखंडं तच्च विज्ञेयं, यद्भवेत् कर्मकामतः ॥

---

* तीर्थ यात्रा का फल वही पाता है जो काम, क्रोध और लोभ को त्याग दे, सत्य बोले और पवित्र रहे तथा प्राणिमात्र के हित में तत्पर हो। धीर मनुष्य तीर्थों में यात्रा करे तब पाखण्ड का त्याग पहले ही से कर दे। पाखण्ड वही है जो फल-प्राप्ति की इच्छा से कर्म किया जाय।

अँगरेज़ी शिक्षा

श्री आनन्दकुमार स्वामी ने अँगरेज़ी शिक्षा का वर्णन इस तरह किया है:—

'हमारे यहाँ अँगरेज़ी राज्य की ऐसी विचित्रता है कि जिस वस्तु ने हिन्दुस्थान की भारी से भारी हानि की हो, वही हमें अपने लिए आशीर्वाद-रूप मालूम होती है' इसका यथार्थ उदाहरण है शिक्षा।

अच्छे या बुरे उद्देश से शिक्षा के नाम से जो वस्तु हमें दी जाती है, उसने हिन्दुस्थान के राष्ट्रीय उत्कर्ष पर जितना मर्मघातक प्रहार किया है उतना और किसी दूसरी वस्तु ने नहीं।

आज दिन यदि हम स्वराज्य के लिए योग्य हैं तो इसका कारण वह सुधार नहीं जो शिक्षा के फल-स्वरूप हमने किया है; वल्कि "अँगरेज़ी शिक्षा की पद्धति के द्वारा हमारी राष्ट्रीय संस्कृति और हमारी विशेष संस्थाओं का तिरस्कार तथा नाश हो जाने के बाद और साथ ही राष्ट्रीयता का नाश करने वाली कल्पनाओं की हम में जड़ जमा देने पर भी, हम में जो कुछ थोड़ा सा राष्ट्रीय जीवन शेष रह पाया है, उसी के कारण हम स्वराज्य के लिए योग्य बने हुए हैं।"

हम भोले और अज्ञानी थे, संकुचित दृष्टिवाले थे, हमारा सारा जीवन तरह तरह के वहमों से ओतप्रोत भरा था, हम संसार

के बारे में कुछ भी न जानते थे, हमने स्वतन्त्रता का स्वाद नहीं चखा था, थोड़े में कहें तो हम जीने के अयोग्य थे, ऐसे समय में अँगरेज़ी शिक्षा ने आकर हमारा उद्धार किया, यह आमतौर से माना जाता है। यदि कोई अँगरेज़ी शिक्षा पर ऐतराज़ करता है तो उसके हिमायती कहते हैं कि भाषा ने कौन सा पाप किया है? जैसी संसार की अनेक भाषायें हैं, वैसी ही अँगरेज़ी भी है। इतना ही कि वह अधिक परिष्कृत और समृद्ध है; ज्ञान का एक भी विषय ऐसा नहीं कि जिस पर अँगरेज़ी भाषा में पुस्तकें न हों और अँगरेज़ तो बिल्ली की तरह संसार के सभी प्रदेशों में संचार करने वाली एक जाति है; इसलिए अँगरेज़ी भाषा के कारण हमारा परिचय संसार के साथ बढ़ता है। अँगरेज़ी शिक्षा सभी तरह आशीर्वादरूप ही सिद्ध हुई है। बम्बई-सरकार के वर्तमान शिक्षा-मन्त्री ने एक बार कहा था कि ऐसे हिन्दुस्थान की तो कल्पना की जा सकती है, जिसमें अँगरेज़ न हों किन्तु ऐसा हिन्दुस्थान कल्पना में भी आना कठिन है, जहाँ अँगरेज़ी भाषा न हो।

ये उद्गार अँगरेज़ी-शिक्षा के विजय के सूचक हैं। जो काम डायर जैसे अधिकारियों की गोलियों से न हो सका, वह अँगरेज़ी शिक्षा ने कर दिखाया है। लोग कहते हैं, "भाषा ने कौन सा पाप किया है?" किन्तु भाषा का अर्थ केवल व्याकरण और शब्दकोश मात्र ही नहीं, वरन् भाषा का अर्थ है भाषा के बोलने वालों का स्वभाव, उनका धर्म, उनकी समाज-सम्बन्धी कल्पना और वे सूक्ष्म सिद्धान्त और प्रणालियाँ जिनके अनुसार वे सोचते रहते हैं कि किस बात की प्रशंसा करें और किसकी

निन्दा। भाषा होती है समाज का प्राण, समाज की पूँजी और समाज की विरासत। अँगरेज़ी भाषा में ही पढ़ाई हो, कोमल अवस्था में सभी तरह के संस्कार अँगरेज़ी पुस्तकों से ही लिये जायँ, इस आग्रह का सीधा अर्थ है अँगरेज़ों की जाति में मिल जायँ। हम अँगरेज़ी राज्य के खिलाफ रात-दिन आवाज़ उठाते रहते हैं, अँगरेज़ी रहन-सहन हमारे अनुकूल नहीं, यह भी अब हम जानने लगे हैं। यह भी हम सुनते हैं कि पाश्चात्य सुधार मानवी कल्याण की नींव पर स्थित नहीं है, योरप की दशा हम देख रहे हैं, पर फिर भी हम मानते हैं कि जिसके भीतर अँगरेज़ों का स्वभाव और अँगरेज़ों का ही आदर्श भरा है, उसी भाषा में बच्चों को शिक्षा देना हानिकारक नहीं।

अँगरेज़ी शिक्षा के मानी हैं प्रॉटेस्टेण्ट शिक्षा। अँगरेज़ी शिक्षा का अर्थ है पारलौकिक जीवन के विषय में लापर्वाह रहने का उपदेश करने वाली शिक्षा। अँगरेज़ी शिक्षा को प्राप्त करनेवाला मनुष्य शायद ही दया करने, ममता रखने तथा मनुष्यता का विकास करने का विचार करता है। उसकी ज़बान पर तो जीवन-कलह, हक़, न्याय, आर्थिक दृष्टि से लाभकारक, प्राकृतिक नियम, इत्यादि शब्द ही सदा रहते हैं। अँगरेज़ी शिक्षा हमें कुटुम्ब-धर्म भुला कर शिकार-धर्म सिखलाती है।

कोई कोई कहते हैं कि कौन आप को मजबूर करता है कि आप अमुक ही प्रकार के विचार रक्खो, यह भी कैसे कहा जाय कि अँगरेज़ी साहित्य में उच्च विचार ही नहीं हैं? बात सच है। ज़बरदस्ती नहीं है, किन्तु मायाजाल है और उच्च विचार किस [illegible] में नहीं हैं? पर प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि के सम्मुख

आदर्श कौन सा रक्खा जाता है ? अश्लील नाटकों में भी बोध-वचन तो मिल ही जाते हैं, किन्तु उनका प्रभाव नहीं पड़ता, वल्कि विलासी और हीन वृत्ति वनने की प्रवृत्ति होती है। यह उपमा शायद अधिक कठोर होगी। कहने का उद्देश इतना ही है कि जिन लोगों की भाषा के द्वारा शिक्षा के प्रथम संस्कार हम लेते हैं, उनके स्वभाव का असर हमारे ऊपर पड़े विना नहीं रह सकता। वालकों को शिक्षा अपनी ही भाषा द्वारा देने से अपनी संस्कृति के गुण-दोष वच्चों में उतरते हैं; और यदि शिक्षा की पद्धति सरल और सादी हो तो नई पीढ़ी उसमें से उन्नति के अंश खोज सकती है। परदेशी भाषा द्वारा शिक्षा पाने से परकीय लोगों के गुण-दोष की छाप पड़े विना रही नहीं सकती। और दूसरों के गुणों को हज़म करना कठिन होने के कारण कई वार उनके दोषों ही का अनुकरण होता है। इस तरह पूरी चित्तवृत्ति ही भ्रष्ट हो जाती है, सो अलग।

हमने जो अँगरेज़ी शिक्षा ग्रहण करना आरम्भ किया सो कुछ अँगरेज़ों के धर्म अथवा समाज-रचना-विषयक आदर के कारण नहीं, वल्कि खासकर सरकारी नौकरी प्राप्त करने की लालच से और कुछ अँशों में स्वच्छन्दता करने के विचार से। इसके वाद अँगरेज़ों ने कहा कि, हिन्दुस्थान की समाज-रचना से योरप की समाज-रचना श्रेष्ठ है। अँगरेज़ी इस देश के राज्य-कर्ता हुए इसीलिए हमने उनका यह दावा स्वीकार किया। देश और परदेश विषयक ज्ञान में और भौतिक शास्त्रों में उनकी प्रगति को देख कर हमारा निश्चय हुआ कि अँगरेज़ हम लोगों की अपेक्षा अधिक होशियार हैं। किन्तु होशियार के मानी

सुधरे हुए नहीं; होशियार के मानी धर्मनिष्ठ नहीं। यदि हम लोगों में धर्म-तेज ही होता तो भी हम अँगरेजों से चौंधिया नहीं जाते। किन्तु दुर्दैववश उस विषय में हमारे देश में आधी रात थी; इसलिए सभी तरह अँगरेजी शिक्षा के फैलाव के लिए वह अनुकूल समय था।

अब अँग्रेजी शिक्षा के कारण हम में कौन कौन से परिवर्तन हुए हैं, यह देखना चाहिए।

सबसे पहला परिवर्तन तो यह हुआ कि, हम यह मानने लगे कि अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने और रहन-सहन को खर्चीली कर देने में कोई दोष नहीं, वरन् उलटा समाज-हित ही है। इसके कारण परदेशी व्यापार बढ़ा और हमारी द्रव्य की थैली में अनेक छेद हो गये।

दूसरा परिवर्तन यह कि, हमारे दिल में अपने समाज के सम्बन्ध में तिरस्कार उत्पन्न हुआ, इसी के परिणाम-स्वरूप हम समाज की सहायता की अपेक्षा पैसे की सहायता से सभी काम चलाने की सुविधा खोजने लगे और दिन-दिन समाज में रहने वाले लोगों का परस्पर सम्बन्ध टूटता गया।

तीसरा एक परिवर्तन यह हुआ कि, पढ़ा-लिखा मनुष्य अपनी साहित्य-सम्बन्धी भूख और प्यास को अँग्रेजी साहित्य के द्वारा ही मिटाने लगा। इससे निज भाषा का साहित्य ताक में रक्खा रह गया। जहाँ इसका अध्ययन भी न हो, वहाँ उसमें वृद्धि तो हो ही कैसे सकती है?

चौथा परिवर्तन यह हुआ कि, हम अंग्रेजी पढ़ने वाले मनुष्यों को ही श्रेष्ट समझ कर उन्हीं से वाहवाही लेने को आतुर

हो उठे और अपने लेख अँग्रेजी ही में लिखने लगे। हिन्दुस्थान के शिक्षित समुदाय ने संस्कृत और देशी भाषा की पुस्तकों का अँग्रेजी अनुवाद करके अँग्रेजी भाषा के घर में थोड़ी गुलामी नहीं की। हिन्दुस्थान को जीतने वाली जाति को हमारे विद्वानों का दिया हुआ यह कर बहुत ही भारी है।

हमने अपनी राजनैतिक हलचल भी अँग्रेजी भाषा ही में चलाई, जिससे राज्यकर्ता को उत्तम शिक्षा और राज्य-कार्य संचालन-दक्षता भी प्राप्त हुई। उस परिमाण में हम लोगों को स्वराज्य की कुछ भी शिक्षा न मिली।

अँग्रेज़ी जानने वालों की एक न्यारी ही जाति हो गई है। वे अँग्रेजी न जानने वाले राष्ट्र के साथ समभाव नहीं रखते, उनके विचारों को समझ नहीं सकते और अपने विचार उन्हें समझा नहीं सकते और उनके प्रति कुछ तुच्छ भाव रखना सीखते हैं।

अँग्रेज़ी शिक्षा द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान वन्ध्य साबित होता है। वह न तो देशी भाषा के द्वारा दिया जा सकता है न जीवन में अच्छी तरह उतर ही सकता है। हमारे पुराने संस्कारों के साथ उसका मेल नहीं बैठता और इसलिए पुराना सब मिटा कर उस जगह पाश्चात्य सृष्टि की एक नकल खड़ी कर देने का वह प्रयत्न करता है। दो ही पीढ़ियों के भीतर, सारे राष्ट्र को संस्कृति की दृष्टि से दिवालिया और भिखारी बना देने का सामर्थ्य इस शिक्षा ने प्रकट किया है।

अँग्रेज़ी शिक्षा से जीवन में स्वच्छन्दता का तत्व इतना घुस गया है कि समाज में से विवेक और कला दोनों लुप्त हो गई हैं। मानसिक और नैतिक दुर्बलता पर मनुष्य को जो लज्जा

मालूम होनी चाहिये, वह भी जाती रही और ज्यों ज्यों स्वच्छन्दता प्रबल होती जाती है, त्यों त्यों नैतिक आदर्श को नीचे खींचने की ओर पढ़े-लिखे मनुष्यों का झुकाव दिखाई देता है।

हमने अँग्रेजी शिक्षा के द्वारा भौतिक शास्त्रों में कोई भारी वृद्धि नहीं की। इस भारी संस्कारी देश के परिमाण में हमने ऐसा भारी साहित्य भी नहीं उत्पन्न किया जिससे संसार में कृतज्ञता उत्पन्न हो।

परदेश जाना सारे राष्ट्र का उद्देश्य कभी नहीं हो सकता। हज़ार में एक आध मनुष्य ही शायद परदेश को जाता होगा। उसके लिए सारी शिक्षा का आधार अँग्रेजी भाषा पर रचने के समान दूसरा और पागलपन क्या हो सकता है?

अँग्रेजी शिक्षा पाये हुए सामान्य मनुष्य अँग्रेजी राज्य का चाहे कितना ही द्वेष करते हों, परन्तु अपने आचरण के द्वारा वे अँग्रेजी राज्य को सहारा ही देते हैं। स्वराज्य की हलचल में जिन तीक्ष्ण उपायों का अवलम्बन करना ज़रूरी है और राष्ट्रीय दृष्टि में जो परिवर्तन करना उचित है, उसमें ये अँग्रेजी पढ़े मनुष्य ही विघ्न-रूप हो जाते हैं। पानी के बाहर जो दशा मछली की होती है, वही दशा इन लोगों की अँग्रेजी शिक्षा के वातावरण बिना, हो जाती है।

अँग्रेजी शिक्षा ही के कारण हिन्दुस्थान का राज्य-तन्त्र अँग्रेजी भाषा में चल सकता है और उससे प्रजा पर अधिक अत्याचार होता है और प्रजा को भी वह चुपचाप सहन करना पड़ता है।

अमेरिका का कोई भी मनुष्य जब अपने कुटुम्ब का इतिहास लिखने लगता है तो उसे अपने कुटुम्ब का मूल पुरुष योरप में

खोजना पड़ता है। हमारे अंग्रेजी पढ़े मनुष्य भी जब कभी किसी विषय पर विचार अथवा विवेचन करते हैं, तब उन्हें सर्वदा योरप की परम्परा, वहाँ के अनुभव और वहाँ की दलीलों को बतौर प्रमाण के लेने की आदत पड़ी होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि हम अपनी विरासत को छोड़ कर दूसरे की विरासत पर प्रतिष्ठित होना चाहते हैं। यह भी वर्ण-संकरता के समान ही भारी संकट है।

इतनी सब हानि होते हुए भी हम अँग्रेजी पढ़ते हैं। किस लोभ से? इतने ही के लिये कि कुछ कमाई अधिक हो और राज दरबार में अधिक अप्रतिष्ठा न सहनी पड़े। परन्तु यह कमाई परदेशी चीजों का व्यापार कर के अथवा विदेशी सरकार को अत्याचार करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सहायता करके प्राप्त करनी होती है। और जिस तरह कोई मज़दूर कलेक्टर साहब का चपरासी हो जाने पर अपनी ही जाति का तिरस्कार करने में अपने को कृतार्थ समझता है; वैसे ही कुछ कुछ अंग्रेज़ी पढ़े मनुष्य भी अपने अँग्रेज़ी ज्ञान से फूलेखाँ बन कर अपने ही समाज के साथ तुच्छता का बर्ताव रखते हैं। अच्छे संस्कारी मनुष्यों में ऐसे दोष कम पाये जाते हैं, और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण वे दोष ढँक भी जाते हैं किन्तु इस परिस्थिति के कारण देश का अपार तेजोवध होता है। सारांश में कहें तो अँग्रेज़ी शिक्षा को लेकर हम अपनी संस्कृति को गँवा बैठे, समाधान गँवा दिया, समाज की एकता भङ्ग कर दी, स्वदेश का धन विदेश में भेज दिया, हीन बन कर दूसरों की हर तरह की गुलामी की और स्वराज्य के मार्ग में एक महा विघ्नरूप हो गये। ये सभी दोष, दीपक के समान

स्पष्ट होने पर भी हम उन्हें देख नहीं सकते। यह भी इसी शिक्षा का प्रभाव है। हिन्दुस्तान की बरबादी के दूसरे सब कारणों को लोग सरलता से स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु अँग्रेज़ी शिक्षा भी हमारे सर्वनाश होने का एक बड़ा कारण है, ऐसा कहते ही कितने ही मनुष्य अपना घोर विरोध प्रकट करेंगे क्योंकि दूसरे कारणों का बुरा असर तो अपनी पोशाक पर, अपनी जेब पर, अपनी कुटुम्ब-व्यवस्था पर या अपनी तन्दुरुस्ती पर हुआ होगा परन्तु अँग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव तो हमारे मस्तिष्क और हृदय ही के ऊपर पड़ा है।

यहाँ हमारे कहने का आशय यह नहीं कि हिन्दुस्थान में कोई भी मनुष्य कभी अँगरेज़ी पढ़े ही नहीं। किन्तु हाँ, शिक्षा में अँगरेज़ी को स्थान नहीं दिया जा सकता। शिक्षा के संस्कार पूरे हो जाने पर फिर जिसे अँगरेज़ी-भाषा का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह बेखटके प्राप्त करे। वह उसमें से बहुत लाभ प्राप्त कर सकेगा। यदि शिक्षा में अँगरेज़ी को स्थान देना ही हो तो जितना ही देर में देर करके दिया जाय उतना ही ठीक है। क्योंकि, स्वदेशी, स्वकर्म, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वराज्य के संस्कार दृढ़ हो जाने के बाद ही कोई अँगरेज़ी साहित्य का अभ्यास करे तो उस से वह बहुत लाभ उठा सकता है, और स्वदेश तथा इंगलैण्ड को भी बहुत लाभ पहुँचा सकता है। आज कल अँगरेज़ी शिक्षा के बदौलत जो हमारी राष्ट्रीय हानि होती जा रही है, उसे तो अति शीघ्र रोक देने की आवश्यकता है।

शिक्षकों को सन्देश

(१)

बहुतेरे शिक्षक मानते हैं कि हम उदर-निर्वाह के लिए शिक्षक का पेशा करते हैं। उदर-निर्वाह हर एक मनुष्य को करना पड़ता है। राजा को भी उदर-निर्वाह करना पड़ता है। और संन्यासी को भी उदर-निर्वाह करना पड़ता है। यदि मनुष्य धनवान् न हो तो वह जो काम करता है, उसी के द्वारा प्रायः उसे आजीविका सम्पादन करनी पड़ती है, यह बात भी सत्य है किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि हम वह काम उदर-निर्वाह के लिए करते हैं। जो मनुष्य केवल उदर-निर्वाह के लिए ही काम करता है, वह थोड़ी से थोड़ी भी मिहनत करके ऐसे ही उद्योग को पसन्द करेगा जिससे उसका उदर-निर्वाह भली भाँति हो जाय। चोरी और ठगी, ये उद्योग भी उदर-निर्वाह के लिए हैं तो अवश्य, किन्तु जब हम नीति का विचार करते हैं तो धन्दा पसंद करने में उदर-निर्वाह के सिवा, दूसरे किसी तत्व को भी शामिल करते हैं।

यह जानने पर भी कि अमुक उद्योग करने से अनायास अधिक द्रव्य मिल सकेगा, हम उसे नहीं करते। हम कहते हैं कि—'हाँ, उसमें लाभ तो है किन्तु वह उद्योग हमें पसंद नहीं।' इस उत्तर

में हम अस्पष्ट रीति से कर्तव्य का तत्त्व, समाज-सेवा का तत्त्व अथवा ईश्वरीय आदेश का तत्त्व सम्मिलित करते हैं। पुराने लोग यही कहते थे कि, 'गुजर-बसर तो किसी न किसी तरह होती ही रहेगी, परन्तु ऋषि-मुनियों ने जो उद्योग हमारे पूर्वजों को बतलाया है, हमें वही करना चाहिए, इससे यही मालूम होता है कि हम जो उद्योग करते हैं वह धर्म-पालन के लिए करते हैं, यह भाव हम से पुराने लोगों में अधिक था और इसीसे वे जो उद्योग करते थे, वह धर्म का अनुसरण करके जितना हो सकता था उतना ही करते थे। धर्म का त्याग करके यदि कुछ भी लाभ होता हो तो उसे अभक्ष्य भक्षण समझना और उसका त्याग करना, यह तो सभी स्वीकार करते हैं परन्तु धर्म-हानि से होने वाले लाभ को ठुकरा देने योग्य निश्चय बल, धर्मविहीन शिक्षा के कारण हम में से बहुत कुछ घट गया है। जो धर्म के अनुकूल हो, उसीको पसन्द करने की हमारी शक्ति घट गई है। इसके विपरीत यह सिद्ध करने के लिए हम अपनी बुद्धि-शक्ति खर्च करने लगे कि धर्म वही है जो हमें प्रिय लगता है। हमने यह देखा है कि अधर्म आचरण करने की अपेक्षा प्राण-त्याग तक कर देना बहुत अच्छा है। यह भाव हमारे देश के असाधारण साधुओं में ही नहीं, किन्तु सामान्य मनुष्यों में भी बहुत था, धर्म के लिए चाहे जितनी कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता हमारी स्त्रियाँ अब भी बतलाती हैं। यह शक्ति हमारा राष्ट्रीय द्रव्य था, यही हमारा प्राण था। यदि हम इसे गँवा बैठें तो हमारी तर्क-शक्ति, हमारी रसिकता और हमारी सहिष्णुता का मूल्य एक कौड़ी भी नहीं रहा।

आज कल हम जो शिक्षा लेते या देते हैं उसमें धर्म, देश-

सेवा और आत्म-बलिदान के पाठ न हों सो बात नहीं, किन्तु उससे अभीष्ट वृत्ति तैयार नहीं होती। धर्म के लिए आत्म-बलिदान करने की भावना तैयार होने योग्य वातावरण ही हम कहीं नहीं देखते। न तो वह शिक्षकों में है, न माता-पिताओं में; फिर विद्यार्थियों में तो वह आवेगा ही कहाँ से !

मैं यह नहीं कहता कि आत्म-बलिदान की वृत्ति समाज में से नष्ट हो गई है। इतने हजारों वर्षों तक हमारे ऋषियों ने जो तपस्या की है, वह नष्ट नहीं हो सकती; किन्तु सच्ची शिक्षा के अभाव के कारण धर्म-वृत्ति के ऊपर गर्द जम गई है। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि यह दोष शुद्ध अँगरेजी शिक्षा में है। क्योंकि, योरोप की प्रजा, इंगलैण्ड की प्रजा आसुरी-वृत्ति की होने पर भी उस के भीतर आत्म-बलिदान की वृत्ति खूब विकसित होती है। परन्तु जब यहाँ पर अँगरेज़ी शिक्षा पहुँची, जब अँगरेज़ी राज्य यहाँ आया तब देश में अधर्म, स्वार्थभाव और सुख की लालसा बहुत ही बढ़ गई थी। उसी भाव को उत्तेजना देकर अँगरेज़ों ने अपना राज्य यहाँ स्थिर किया। यदि ऐसा न होता तो पूने में जब पेशवाई नष्ट हुई, उस वक्त उसके आनन्दोपलक्ष्य में एलफिन्सटन साहब ने जो दक्षिणा बाँटी, उसे पूना और नासिक के ब्राह्मण कैसे लेते? अँगरेज़ी शिक्षा से बड़ी बड़ी नौकरियाँ मिलती हैं, द्रव्य सम्पादन करके स्वयं ऐश-आराम कर सकते हैं और हाथ में जो कुछ थोड़ा अधिकार आता है उस से हम समाज की भी अवहेलना करके मनमाना आचरण कर सकते हैं, यह भावनायें उस वक्त से जो हम लोगों में घुस पड़ी हैं सो अभी तक थोड़ी-बहुत मात्रा में बनी हुई हैं। इसी वृत्ति के बदौलत हम परतन्त्र

हुए और जब तक यह वृत्ति रहेगी, तब तक हम परतन्त्र ही रहेंगे।

अँगरेज़ी शिक्षा के कारण दूसरी एक और खराबी हमारे अन्दर घुस गई है। अँगरेजी राज्य के पहले हम शिक्षकों को गुरुजी कहते थे। विद्यार्थियों के नैतिक और धार्मिक आचरण पर शिक्षकों की दृष्टि रहती थी और शिक्षक भी पक्के धर्म-निष्ठ रहते थे। अँगरेज़ सरकार ने उदार-भाव बतला कर धर्म के बारे में जो उदासीनता रक्खी, इससे हमारे शिक्षक भी धर्म सम्बन्ध में उदासीन हो गये—अपने आचरण में भी और अध्यापन में भी। अब तो अँगरेज़ी शिक्षण के द्वारा जो सुखोपभोग और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की हम लोग आशा रखते थे, उसका सौवाँ हिस्सा भी न रहा; फिर भी सरकारी शिक्षा और सरकारी नौकरी का मोह जैसा था, वैसा ही बना हुआ है और स्वार्थ-त्याग की भावना दिन-दिन लुप्त होती जाती है। इस स्थिति से निकल जाने का मार्ग प्रजा को बताना शिक्षकों का ही काम है। शिक्षक ही तरुण पीढ़ी के और इस कारण प्रजा के स्वाभाविक गुरु हैं। उन्हें सब से पहले जागृत होना चाहिए और दूसरों को भी जगाना चाहिए।

स्वाभाविक रीति से ही शिक्षकों का उच्च विचार के साथ परिचय होता है। उच्च साहित्य का अर्थ करके दिखलाना ही सदा इनका काम होता है। उन्हें देश-देशान्तर का इतिहास पढ़ना पड़ता है। नीति-शिक्षण के साथ कितने ही अंशों में धर्म की चर्चा करनी पड़ती है। तो क्या स्वयं उनके ऊपर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता? हम पुराने पुराणिकों की तो हँसी उड़ाते हैं कि, 'पोथी के बैंगन पोथी में' ही की तरह उनकी हालत होती है। हम इस वृत्ति से मुक्त हैं या नहीं, यह हमें जानना चाहिये। हमारा आचरण तेजयुक्त है या

तेजविहीन; इसका विचार हरएक शिक्षक को करना चाहिये। शिक्षकों का व्यवसाय अत्यन्त पवित्र है। जो आदर्श ब्राह्मणों के लिए बताया गया है, वही शिक्षकों का भी है। अतएव उनके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु तो है—पवित्रता। सरकार की खुशामद से वेतन की वृद्धि होती हो तो उसे शिक्षकों को हराम समझना चाहिये। सरकार को प्रसन्न करने के लिये हमें प्रजा को तेजहीन और पामर कदापि न बनाना चाहिये। जिस समाज की हम सेवा करते हैं, वह हमारा है और सरकार परकीय है। समाज़ का नमक खाकर हमें समाज को दग़ा हरगिज़ न देना चाहिये।

शिक्षक को यह छान-बीन करने की आज भारी आवश्यकता उत्पन्न हो गई है कि हमारा धर्म क्या है? युद्ध में विजय मिलने से हमारी सरकार ला-पर्वाह और उन्मत्त हो गई है। वह न्याय और अन्याय को भूल गई है, और मध्य एशिया में अपना राज्य बढ़ाने की युक्तियाँ भिड़ाने लगी है तथा हम पर भी अपनी सत्ता को अधिकाधिक दृढ़ करना चाहती है। न्याय अथवा प्रजा की भावना-दो में से एक की भी पर्वाह सरकार नहीं करती। वे लोग भी अब निराश हो गये हैं जो सर्वदा सरकार के साथ मिल जुलकर काम करते थे, जिनकी सरकार पर अपार श्रद्धा थी और सरकार भी जिन पर विश्वास बतलाती थी। हमारे विचारशील नेता अब सरकार के साथ सहयोग करने में बदनामी समझते हैं। शिक्षको! ऐसे समय हम शिक्षक लोगों का क्या कर्त्तव्य है? हम लोग राजनीति में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते, क्योंकि राजनीति से भी बड़ा काम हमने हाथों में ले रक्खा है, परन्तु क्या इससे हम अपना धर्म भूल जायँगे? क्या इससे समाज का नेतृत्व—गुरुपद—हम छोड़ देंगे?

धन की दृष्टि से हम ग़रीबी में रहते हैं, पर क्या इसी के कारण हम दूसरे से हीन-पामर हैं? सरकार जब तक न्याय से चलती थी तब तक उसके पास से आजीविका लेकर समाज की सेवा करने में सम्मान था। जब सरकार ने अपना धर्म और प्रजा की आवश्यकता का विचार त्याग दिया है, तब भी यदि हम नौकरी का मोह न छोड़ें तो मनु भगवान् के कथनानुसार, हमारी नौकरी श्वान-वृत्ति कही जायगी।

शिक्षकों के लिए सरकारी नौकरी का त्याग करना सरल से सरल काम होना चाहिए, क्योंकि आज भी वे कम से कम वेतन लेकर समाज की भारी से भारी सेवा कर रहे हैं। सरकारी नौकरी छोड़ करके उसी गाँव में उन्हीं लड़कों को पढ़ाने के लिए यदि वे खानगी पाठशाला खोल दें तो उन्हें कम वेतन न मिलेगा। सरकार भी तो आज कहाँ हमें पेट भर कर देती है? यदि हम सरकार की नौकरी से हट कर प्रजा के सेवक बन जावें तो उसमें हम कुछ भी न गँवाएँगे। सभी तरह से देखें तो इसमें सिवा लाभ के हानि हुई नहीं। बड़ी बात तो यह है कि समाज में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अब प्रजा समझने लगी है। लोग सरकारी नौकर की अपेक्षा प्रजासेवक का अधिक मान करते हैं। प्रतिष्ठा और मान की वृद्धि से हमारा कर्तव्य-ज्ञान भी अधिक जागृत होगा। हमारी बुद्धि और शक्ति भी प्रदीप्त हो जायगी, हमारे लड़कों को भी अच्छी शिक्षा मिलेगी। और हम समाज के नेता की हैसियत से अपना कर्तव्य बरा-बर पालन कर सकेंगे। 'बेचारा स्कूलमास्टर' या 'बेचारा स्कूल-मास्टर का लड़का' इस तरह के शब्द सुनने का तो प्रसङ्ग फिर न आवेगा।

यह सब तभी हो सकता है, जब कि हम यह बतला दें कि,

हमारा ज्ञान तेजस्वी है। जनता स्वतन्त्रता के हक प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गई है। प्रजा को अब स्वतन्त्र शिक्षा की आवश्यकता है। यदि हम नौकरी के लोभ से प्रजा के पुरुषार्थ में भाग न लेंगे तो प्रजा दूसरे शिक्षक खोज लेगी। ईश्वर का आदेश है, अतएव प्रजा का उत्थान तो होगा और फिर होगा। किन्तु साथ ही इतिहास में लिखा जायगा कि जब लोगों ने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कियां, तब पतितों में पतित दल हमारा—शिक्षकों का था। उन्होंने अपना ज्ञान वेंच खाया था, अतः प्रजा के अगुआओं को नया ही शिक्षक-वर्ग निर्माण करना पड़ा।

पुराने समय में भी शिक्षकों को वेतन अधिक नहीं मिलता था, परन्तु शिक्षक जहाँ जाता था, वहाँ सम्मान और प्रेम के साथ उसका स्वागत किया जाता था। गाँव के लोग उसकी सब प्रकार की सुविधा की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी उसकी सेवा करने में अपने को कृतार्थ मानते थे और धार्मिक भाव से शिक्षा का कार्य करके शिक्षक अध्यापक की पदवी प्राप्त कर लेता था। धार्मिक कर्त्तव्य समझ कर अपना आचरण उज्ज्वल रखते हुए, समाज के गुरु-स्थान पर आरूढ़ हो जो अध्यापन का कार्य करता था, वही अध्यापक होता था।

यदि हम फिर वैसी ही वृत्ति धारण करेंगे तो भावी इतिहास में लिखा जायेगा कि, स्वराज्य-सूर्य के उदय होने के पहले—सब से पहले शिक्षक जागे; उन्होंने अज्ञान पटल को भेद कर दूसरों को जगाया और राष्ट्रीय महोत्सव में सब से आगे रहे; तो अब बतलाइए कि भविष्य के इतिहास में हम क्या लिखवाना चाहते हैं ?

शिक्षकों को सन्देश

(२)

मनुष्य अपनी ही शक्ति के अनुसार कार्य करता है; पर कितने ही काम ऐसे होते हैं कि जिन को करने के लिए मनुष्य को हर तरह से पर्याप्त शक्ति-सम्पादन करना अनिवार्य होता है। ऐसा एक काम शिक्षा है, अथवा यों कहना चाहिए कि शिक्षा का काम दिन प्रतिदिन वैसा होता जा रहा है। पुराने समय में जब कि कुछ निश्चित सामाजिक व्यवस्था थी, चाहे वह भली हो या बुरी, तब शिक्षक का काम सरल था। समाज, शाला से जिस चीज़ की अपेक्षा करता था, वह थोड़ी, सादी और निश्चित थी। प्रचलित समाज-व्यवस्था को कायम रखना और विद्यार्थियों को लिखना और पढ़ना सिखाना, यही शिक्षक का काम था। धार्मिक आचार-विचार का ज्ञान और पालन तथा 'माता-पिता, स्वामी, गुरू' के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने के लिए शिक्षक लोग अपनी इच्छा से प्रयत्न करते थे। उस ज़माने में यह काम सुगम था। पर आज कल तो यही सब से अधिक दुष्कर वस्तु हो गई है, क्योंकि आज दिन सामाजिक और धार्मिक आदर्श के सम्बन्ध में अराजकता, अव्यवस्था और अनवस्था है।

जब अँगरेज़ सरकार ने शिक्षा का काम अपने हाथ में लिया,

तब भी शिक्षकों का कार्य सुगम था, क्योंकि; उस ज़माने में शिक्षा का उद्देश्य बहुत ही संकुचित था—हम लोगों की दृष्टि से अत्यन्त ही संकुचित था। परकीय लोगों का राज्य हुआ है, यदि उनकी भाषा सीख लेंगे तो अच्छी नौकरी मिल जायगी; फिर अँगरेज़ लोग वाणिज्य-वृत्ति वाले हैं, उनके साथ व्यापार भी करना ही पड़ेगा, वहाँ भी यदि अँगरेज़ी बोलना जानते हों तो अधिक मुनाफ़ा प्राप्त कर सकेंगे, बस, यही हमारा उद्देश्य था। अब भी बहुतेरे लोग इसी उद्देश्य से अँगरेज़ी शिक्षा लेते हैं।

अब सरकार के उद्देश की भी छानबीन करनी चाहिये। अपनी राज्य-पद्धति के अच्छी तरह अमल में लाने लायक अँगरेज़ी जानने वाले नौकरों की आवश्यकता प्रारम्भ में सरकार को थी, इसी उद्देश्य से सरकार ने यहाँ शिक्षा आरम्भ की। परन्तु पीछे सरकार ने शिक्षा की वृद्धि अधिक व्यापक उद्देश से की है। राजा और प्रजा में जितनी अधिक एकता हो उतना ही राज्य-कार्य सरल होता है। इसलिए या तो राज्यकर्ता को प्रजा के सामाजिक आदर्श और उनकी मनोरचना के साथ मिलकर एक रूप हो जाना चाहिए, या फिर प्रजा को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि, प्रजा का जीवन-आदर्श, उसकी मनोरचना—विचार-पद्धति शासकों के अनुकूल हो जाय। सरकार ने यह दूसरा उद्देश्य ही पसंद किया और उसी का अनुसरण भी किया, इसमें न तो किसी तरह की शङ्का है और न आश्चर्य।

अब हम स्वराज्य माँगते हैं। इसका यही अर्थ हुआ कि सरकार इस दूसरे उद्देश के स्थान में पहला उद्देश दृष्टि के सम्मुख रक्खे और उसी के अनुसार राज्य-कार्य में परिवर्तन कर दे। अब

प्रजा जग गई है और संसार के साथ हिन्दुस्थान को भी युगान्तर (Reconstruction) करने का प्रसंग प्राप्त हुआ है। अतः अब शिक्षकों का काम बहुत ही कठिन और महत्त्व पूर्ण हो गया है—फिर वह शिक्षक चाहे कालेज के प्रोफ़ेसर हों, चाहे देहाती स्कूल के पण्डित जी। ट्रेन्ड हों या अनट्रेन्ड, कन्या पाठशालाओं के हों या अन्त्यज पाठशालाओं के। आज शिक्षा का उद्देश लड़के पढ़ना और लिखना सीख लें, तथा सवाल लगा लें, इतना ही नहीं रहा केवल अँगरेजी समझ लें और बोलने चलने लग जायँ सो भी नहीं; मनमाना व्यवसाय करके द्रव्योपार्जन कर लेवें, इतना पढ़ने से भी काम न चलेगा। आज तो देश में राजकीय, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति हो रही है। ऐसे अवसर पर देश में जो राजकीय, सामाजिक और आर्थिक आदि तरह तरह की हलचलें हो रही हैं, उनके साथ बिना बहते हुए इन सभी विषयों में होनेवाले युगान्तर के साथ शिक्षक की परिपूर्ण सहानुभूति होनी चाहिए। यदि अपने पुराने से पुराने आदर्शों का वर्तमान परिस्थिति के साथ सुमधुर संमिश्रण न मिलाया जायगा तो यह सम्पूर्ण शिक्षा व्यर्थ होगी।

कोशिश करके शिक्षक को इस स्थान का पात्र अपने को बना लेना चाहिए। समाज-धर्म और संसार की वर्तमान साम्पत्तिक अवस्था और साथ ही संसार की राजनीति के साथ भी शिक्षकों का पूर्ण परिचय होना चाहिए। देश की संस्कृति के संरक्षक राष्ट्रीय अगुआओं ने हर एक विषय पर किस तरह के विचार स्थिर किये हैं, यह भी प्रत्येक शिक्षक को थोड़ा बहुत अवश्य जानना चाहिए। इसके बाद शिक्षक की इतनी तपस्या भी होनी चाहिए कि जिससे समाज उसके नेतृत्व को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करले।

हमारे देश में समाज राजबल और तपोबल इन दो ही बलों को पहचानता है, और खास कर तपोबल की प्रतिष्ठा को वह विशेष मानता है। यह हमारे समाज की विशेषता है। मनुष्य जितना ही वासना के कम अधीन हो, उसका जीवन जितना सादा और जितना संयत हो, उतनी ही उसकी तपस्या भी श्रेष्ठ है। स्वार्थ और विलास के मोह-जाल से मनुष्य जितना ही मुक्त हो, उतना ही वह तपस्वी होता है। हमारे समाज की यही मान्यता है।

ज्ञान और तपस्या इन दोनों का संयोग ही ऐश्वर्य है। यह ऐश्वर्य हर एक शिक्षक के पास होना ज़रूरी है। पुरानी सामाजिक व्यवस्था, पुरानी आर्थिक व्यवस्था और पुरानी राजनीति अब काम नहीं दे सकती। इन तीनों विषयों में समाज को नया रास्ता बतलाना ही होगा। कई लोग कहते हैं कि शङ्कराचार्य जैसे प्रतिभाशाली स्मृतिकार को ही सामाजिक रीति, आचार और आदर्श में परिवर्तन करने का अधिकार होता है; जब तक ऐसा पुरुष अवतार नहीं लेता, हमें पुराना ही संग्रह बनाये रखना चाहिए। मैं कहता हूँ, यदि ऐसा हो तो बलिहारी है। पर हम प्राचीन बातों को स्थिर कहाँ

रख सके। पुरानी प्रथा का प्राण तो कभी का चला गया है; ऊपर का कलेवर अथवा शव अलबत्ते किसी किसी जगह रह गया है। पर वह भी सड़ रहा है, क्या उसकी दुर्गन्ध नहीं आती? भाइयो, अब इस अल्पप्राण श्रद्धा को फेंक दो। तुम्हीं नये स्मृतिकार बनो, कम से कम नये जमाने के नये स्मृतिकारों को ढूंढ़ तो जरूर लो और अनन्य श्रद्धा से उनका अनुसरण करो। मैं नहीं कहता कि वर्तमान काल के सभी नेता स्मृतिकार हैं। जिन्होंने भारतीय संस्कृति की आत्मा को पहचाना है, जो प्राणवान हैं, जो इस समय की निर्बल दशा में भी राष्ट्र की सोई हुई शक्ति पर श्रद्धा रखते हैं, और जो उसे जागृत करने के लिए प्रयत्न करते हैं, वही हमारे स्मृतिकार हैं। उनकी सूचित स्मृति को स्वीकार करो, नहीं तो जीवन-कलह की नास्तिक स्मृति अपना साम्राज्य स्थापित करेगी। अर्थशास्त्र की निर्घृण स्मृति जारी हो जायगी। हो क्या जायगी? होने लग गई है। धर्म का लोप हो रहा है, असुर-वृत्ति की विजय हो रही है। देवों को सहायता देने के लिए कटिबद्ध हो जाओ; भविष्य शिक्षकों के हाथ में है।

'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।'

इस पुराने स्मृति-वाक्य को नये सिरे से लिखो और कहो

'प्रजानां शिक्षको गुरुः।'

शास्त्र में ऐसा लिखा है अथवा सरकारी कानून ऐसा है, इस तरह की भाषा तुम्हारे मुख में शोभा नहीं देती। प्रजा का हित किसमें है और मोक्ष का मार्ग कौनसा है, यह प्रजा को अपनी अथवा तुम्हारे अगुआओं की अधिकार युक्त वाणी द्वारा बतलाओ।

देहात में रहने वाले देहाती शिक्षको ! तुम्हारे लिए भी यही सन्देश है। तुम्हें पेट के लिए काफी मिलता नहीं, देहात में भी सरकारी अधिकारीगण तुम्हारी प्रतिष्ठा स्थिर नहीं होने देते, यह मैं जानता हूँ तो भी यह सब सहन करके तुम्हें अपना उच्च कार्य पूरा करना चाहिए। स्वराज्यवादियों से मैं कहता हूँ; यदि तुम्हें सच्चा स्वराज्य दरकार हो, स्वराज्य का सन्देश घर-घर पहुँचाना हो तो शिक्षकों की दैन्यावस्था को दूर करो। शिक्षकों को धन का लोभ न रखना चाहिए, उनका जीवन सादा होना चाहिए, यह बात सच है। पर साथ ही यह भी उतना ही सच है कि उन्हें पेट के लिए काफ़ी रकम जरूर मिलनी चाहिए, अन्यथा शिक्षकों में पामरता प्रविष्ट हो जायगी। इसलिए ऐसी व्यवस्था जहाँ तक हो अति शीघ्र करो कि जिससे शिक्षकों को उदर-निर्वाह के लिए पर्याप्त द्रव्य मिल सके। देश के राष्ट्रीय अगुआओं को चाहिये कि वे भारतीय संस्कृति का राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, अन्तधार्मिक और औद्योगिक आदर्श क्या है और वर्त्तमाम समय में किस तरह उस पर अमल किया जा सकता है, यह सब स्पष्ट करके बतलावें। इस से शिक्षक समाज को उचित राह की ओर ले जावेंगे। आज का यह युद्ध विराट है। यह इतना उदात्त है कि भारतीय संस्कृति क़ायम रही तो वह विश्वविजयिनी होगी। शिक्षक हमारे सैनिक हैं। शिक्षक यदि अपने इस कार्य को समझ लेंगे तो तुरन्त ही अपने जीवन को धार्मिक बनायेंगे। शिक्षकों का जीवन धार्मिक होने पर ही हिन्दुस्थान का या संसार का उद्धार निर्भर है।

नया सङ्कल्प

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्यक्षेत्रे कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥

दूसरी जगह किया पाप तीर्थ में धुल जाता है, क्योंकि, वह बिना जाने किया होता है; और उसमें पश्चात्ताप के लिए अवकाश रहता है। तीर्थ में जाकर वृत्ति पवित्र होने के बाद और कृत-कर्मों के लिए पश्चात्ताप कर लेने बाद, यदि फिर भी हम पाप के मोह में पड़ जायँ तो हमें उसमें से कौन सी शक्ति उबारेगी? और इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि पुण्यक्षेत्र में किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है।

राष्ट्रीय शिक्षा ऐसा ही पुण्यक्षेत्र है। सरकारी अराष्ट्रीय शिक्षा का कड़ुवा अनुभव मिल जाने के बाद उसका पाप धोने के लिए हम राष्ट्रीय शिक्षा की ओर झुके हैं। निस्सन्देह, हमें इसकी प्रेरणा तो असहयोग से ही मिली है; किन्तु, सरकारी शिक्षा का त्याग करते ही असहयोग का कार्य तो पूरा हो गया। सरकार का सम्बन्ध छोड़ कर यदि सरकारी पद्धति पर स्वतन्त्र शिक्षा-पद्धति शुरू की जाय तो असहयोग इसके लिखाफ़ आप से कुछ न कहेगा। परन्तु वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में केवल इतना ही दोष नहीं है कि उसका संबंध सरकार से है। वह हमारे राष्ट्र के लिए ज़रा भी

अनुकूल नहीं; वह तो राष्ट्रीय भावना को नष्ट करनेवाली है। उस शिक्षा ने हमारी संस्कृति को अधमरी कर डाला है। शिक्षित मनुष्यों में हमारी संस्कृति के प्रति श्रद्धा या आदर न रहा। सरकारी शिक्षा से हमें गुलामी की आदत लग जाती है। तात्कालिक स्वार्थ को छोड़ने जितनी भी त्यागवृत्ति हम में नहीं रह जाती। ऐसी शिक्षण-पद्धति को क्षणमात्र के लिए भी हमें जारी रखना न चहिए। अव तक सरकारी शिक्षा से अनेक दोषों के साथ कुछ लाभ होते थे। असहयोग करके हमने उन्हें छोड़ दिया है। अव भी य.द हम सरकारी शिक्षा को जारी रक्खेंगे तो वह निष्काम पाप होगा।

यदि राष्ट्रीय शिक्षा को सफल वनाना हो तो शिक्षा का ध्येय वदल देना चाहिए। शिक्षा के विषयों में परिवर्तन कर देना भी आवश्यक है। अध्ययन-क्रम की रचना में भी परिवर्तन करना अनिवार्य होगा। अभी तक शिक्षा का मुख्य लक्ष्य रहा—राज्य के संचालन में सरकार को किस तरह सहायता हो; किन्तु अब से 'स्वराज्य किस तरह शीघ्र मिलेगा' यही उद्देश दृष्टि के सम्मुख रहना चाहिए। अब तक इस वात पर ध्यान दिया जाता था कि नवीन प्रजा राजनिष्ट कैसे हो; अव से इसी बात का विचार करना चाहिए कि देश की सन्तान धर्मनिष्ठ और देशनिष्ठ किस तरह हो। अव तक शिक्षा के लिए देहात के सयाने लड़के शहरों में आते थे; अवसे शहरों के नवयुवक देश-भक्त देशोद्धार के लिए देहात में जा वसेंगे। अव तक हम अँगरेजी भाषा के द्वारा अपना धर्म, अपना समाज, और अपनी स्थिति आदि विषयों का ज्ञान परदेशियों को देते थे; अव से देश-बान्धवों को संसार-विषयक ज्ञान देने के लिए हम देशी भाषाओं को उन्नत बनावेंगे। आज तक शिक्षित दल को

हाथ-पैर चलाना याद नहीं था; और हाथ-पैर चला कर गुजर-बसर करने वाले अभागों को शिक्षा का लाभ नहीं मिलता था; अब से कारीगर मनुष्य संस्कारी दीखेंगे और शिक्षा पाये मनुष्य हाथ-पैर चलाकर अधिक दिन जीयेंगे। अब तक सरकारी नियमानुसार चलने वाले जीवनहीन मास्टरों के हाथ में शिक्षा थी, अब से वे ही मास्टर प्राणवान् अध्यापक बनेंगे और अपने नियमों को वे स्वयं ही निर्मित कर लेंगे। आज तक शिक्षक ही पुलिस, न्यायाधीश और जेलर थे; अब से वे बन्धु, मित्र और गुरु बनेंगे। अब से एक ही विषय एक बार हिन्दी में और फिर लौट कर अँगरेज़ी में न पढ़ना पड़ेगा। हर एक विषय अपनी भाषा में पढ़ने से शिक्षा वन्ध्या न रहेगी। घर में एक लड़का भी पढ़ेगा तो उसकी माँ-बहिनें विद्यार्थी का पाठ घर बैठे सुन सुन कर संस्कारी हो जाँयगी। जिस तरह हम मज़दूरों को मज़दूरी अधिक देने की हलचल कर रहे हैं, उसी तरह हम प्राथमिक शिक्षा-पद्धति इसी तरह की रक्खेंगे कि जिससे देहात के लड़कों को पूरी शिक्षा मिले।

शिक्षा में हमारा देश पिछड़ा हुआ है, हमें बहुतेरी चीज़ों के सीखने की आवश्यकता है, यह सब सच है। पर केवल इसी लिए लड़का बारह और बारह चौबीस वर्ष तक पढ़ता ही रहे, ऐसी स्थिति खड़ी करनी चाहिए। यदि लड़का बीस वर्ष के बाद विद्यार्थी दशा में ही रहे तो उसकी तेजस्विता फीकी पड़ जाती है, उसकी कर्तृत्व-शक्ति कुंठित हो जाती है। आज देश में पुरुषार्थी लोगों की आवश्यकता है। शिक्षा का आधिक्य कर के उसका नाश न कर देना चाहिए। विद्यार्थी की बुद्धि सर्वग्राही होते ही उसकी शिक्षा

समाप्त कर देनी चाहिए। उसके बाद अपने खास विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए अथवा सर्व सामान्य संस्कार प्राप्त करने के लिए वह भले ही सारा जन्म कोशिश करता रहे। राजकीय, धार्मिक और सामाजिक विषयों में भी आज जिस तरह स्वतन्त्रता की आवश्यकता है; उसी तरह शिक्षण में भी विद्यार्थियों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। विद्या वही है जो स्वतन्त्रता को प्राप्त कर दे। इन सभी आदर्शों का विचार करके हमें राष्ट्रीय शिक्षा का आरम्भ करना चाहिए। जड़ता से पुरानी लीकों में न खिच जाँय, ऐसा सङ्कल्प करके आइए, हम अपने इस कार्य का आरम्भ करें।

विद्यार्थि-वर्ग को

एक मनुष्य अँधेरी रात में जङ्गल में चलते-चलते एक करार के ऊपर से नीचे गिर पड़ा। 'सर्वनाश हो गया' यह जान कर वह मूर्च्छित सा हो गया। इतने में करार पर एक ओर उगे एक पेड़ की डाल उसके हाथ में आ गई। उसे पकड़ कर वह लटकता रहा। डाल में काँटे थे और वे उसे चुभते थे। डाल पर की चींटियाँ उसे काटती थीं। किन्तु वह सोचता—यदि मैं इस डाल को छोड़ दूँगा तो फिर नीचे न जाने कितने गहरे गड़हे में जाकर गिरना होगा, और निश्चय करता कि इन सब क्लेशों को सह कर टँगे रहने में ही कुशल है। लगभग सारी रात उसने इसी तरह बिताई। अन्त में उसे हाथ की वेदना असह्य हुई और देह की सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गई सी मालूम हुई। 'अब तो मैं अवश्य ही मरा' यह ख़याल आते ही हाथ डाल से छूट गया और वह फिर गिर पड़ा; पर कितना? ठीक एक हाथ भर! हाथ ही भर पर ज़मीन थी। उसने सारी रात व्यर्थ ही दुःख उठाया!

सरकारी शिक्षा छोड़ देने से हमारा सर्वनाश हो जायगा, ऐसा मान कर हमारे नवयुवक राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को खोकर शिक्षा ले रहे हैं और उससे होनेवाली सभी हानियों को सह रहे हैं। देश पर विश्वास रख कर, राष्ट्रीय नेताओं के शब्दों पर विश्वास रख कर,

परममङ्गल परमेश्वर के ऊपर दृढ़ विश्वास रख कर वे यदि इस प्राण-हारी शिक्षा को छोड़ देंगे तो एक हाथ पर—एक ही हाथ पर—स्वराज्य और सुख रक्खा हुआ है। आज सरकारी शिक्षा से हमें क्या मिलता है? कितने ही को—बहुत ही थोड़ों को—अच्छी सरकारी नौकरी। दूसरे थोड़ों का अदालतों में जाकर लोगों को लड़ा देने का व्यवसाय चलता है। बाकी के सब अपनी डिग्री-पदवी हाथ में लेकर चाहे जिस भाव उसे भुना लेने को घूमते हैं और अन्त में अपने को नीलाम के भाव जाने देते हैं। अपढ़ दैनिक मज़दूर को जितना मिल जाता है, उतना मैट्रिक पास को नहीं। मामूली राज या बढ़ई को जितना मिल जाता है, उतना प्राप्त करने में डिग्री वाले के सफ़ेद बाल हो जाते हैं। यह तो हुई आर्थिक स्थिति की बात। इन शिक्षितों की तन्दुरुस्ती की तो बात ही क्या कहें? सवेरे के पहर डाक्टर के घर छः आने देकर चौबीस घण्टों के लिए 'जीने का परवाना' प्राप्त किये बिना दुनिया के परदे पर घूमने-फिरने तक की इनके लिए रुकावट! बाकी रही संस्कारिता की बात। शिक्षा से अपनी दृष्टि विशाल और उदार होती है, देश-विदेश की स्थिति समझने में आती है, स्वदेश के प्रति कर्तव्य का ज्ञान होता है, समाज-सुधार करने की हिम्मत आती है, इसी तरह की बातें अपने शिक्षित वर्ग और उनके कहने से दूसरे भी इतने दिन तक मानते रहे। परन्तु सम्पत्तिशास्त्र पढ़ लेने पर भी हिन्दुस्तान की सम्पत्ति में शिक्षित वर्ग एक कौड़ी भी न बढ़ा सका। धर्म और नीति की मीमांसा पढ़ लेने पर भी अन्याय का सामना करने जितनी नीतिमत्ता या चरित्र-बल उस वर्ग ने नहीं प्रदान किया। समाज-बन्धन का महत्त्व जानते हुए भी समाज में

प्रवेश करके, समाज की एकता सम्पादन करके, समाज को उच्च पद पर चढ़ाने का कोई प्रयत्न उनके हाथ से नहीं हुआ। अँगरेज़ सरकार के ख़िलाफ़ भाषण करने में और लेख लिखने में वे अवश्य अग्रणी होते हैं; फिर भी अँगरेज़ी राज्य स्थिर रखने में अपनी प्रतिष्ठा, अपनी नीतिमत्ता, अपना धर्म और संस्कृति आदि सभी की आहुति देने के लिए वे ही सब से पहले और सब से अधिक तैयार होते हैं। पिछले तीस चालीस वर्षों का हमारा पुरुषार्थ सामाजिक बन्धन तोड़ कर समाज को विशृंखल करने में और सरकारी बन्धनों को दृढ़तर करने में खर्च हुआ है। बुद्धिपूर्वक हो या अन्ध-भक्ति से हो, पर हमारा जन-समूह अपनी सादगी, उद्योग और संयम की रक्षा करता रहा। हम शिक्षितों ने पहले संयम छोड़ा। विलास की जितनी चीजें विलायत से आईं, उनको अंगीकार करने में ही हमने नीतिबल बताया और माना। इस तरह हम समाज के बिगाड़ने के कारण बने। धर्म का बन्धन घटा कर कानूनों के ऊपर हम अधिक आधार रखने लगे। देशी कारीगरों को भूखों मार कर बिलायती कारखानों के हम वफ़ादार ग्राहक बने। इस तरह कहाँ तक गिनती लगावें? अब प्रायश्चित्त करने का प्रसङ्ग आया है। यदि हम सच्चे दिल से प्रायश्चित्त करेंगे तो अब भी उद्धार का मार्ग खुला है। जो पाश्चात्य संस्कृति के पञ्जे में जा फँसे हैं, उन्हें नौ महीनों में स्वराज्य प्राप्त कर लेना अशक्य मालूम होता है। पर वे यह नहीं जानते कि सारा राष्ट्र उन के समान बिगड़ा हुआ नहीं है। वह मोह-निद्रा में सोया है। उसे जगाने में देर न लगेगी। सोया हुआ निरोग मनुष्य और

जागता हुआ रोगी मनुष्य इन दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर जन-साधारण और पढ़े-लिखों के बीच है।

पढ़े-लिखे समुदाय को प्रायश्चित्त करना चाहिए और आज पर्यन्त उसे मिले समाज के नेतृत्व को सार्थक और सुशोभित करना चाहिए। यदि वे ऐसा न करेंगे तो दूसरे अधिक श्रद्धावाले, अधिक प्राणवाले अगुआ आगे बढ़ेंगे—बढ़े बिना न रहेंगे। ईश्वर ही की इच्छा है कि यह सनातन राष्ट्र संसार को दुर्दशा से उबारे और इस ईश्वर-निर्दिष्ट आदेश को सिद्ध करने का सामर्थ्य-सम्पादन करने के लिए पहले स्वयं अपना उद्धार करे।

इस स्वाभाविक नेतृत्व को लेने के लिए राष्ट्र आज विद्यार्थी-वर्ग को आह्वान करता है, क्योंकि समाज में उनका स्थान समाज की खास प्रीति और ममता का पात्र है। उनमें संस्कारिता है, उमङ्ग है, सच्ची श्रद्धा है। शिक्षित बड़े लोग जो नहीं देख सकते उसे वे देख सकते हैं, जो वे न कह सके वह वे कह सकते हैं। इसीलिए आज राष्ट्र उनको आह्वान करता है। जापान के मिकाडो ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा करते समय जिस गंभीरता और श्रद्धा से राष्ट्र का भविष्य अडमिरल टोगो और मार्शल ओयामा के हाथ में सौंप दिया था, उसी गंभीरता से आज राष्ट्रीय महासभा विद्यार्थीवर्ग को राष्ट्र का भविष्य हाथ में लेने की आज्ञा करती है। विद्यार्थी-वर्ग इस विश्वास का पात्र साबित हो। जापानी वीरों के समान शास्त्रीय श्रद्धा (Scientific fanaticism) प्रकट करें और नौ महीनों के भीतर स्वराज्य प्राप्त कर लेने का श्रेय लें।

स्त्रैण शिक्षा

स्त्रियों को अबला कहते हैं, स्त्रियाँ भी इस नाम के धारण करने में कुछ अभिमान मानती हों ऐसा दीखता है। क्या ईश्वर ने स्त्रियों को अबला ही रहने के लिए उत्पन्न किया होगा ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है 'न'। फिर भी लोगों की ओर से—स्त्री और पुरुषों की ओर से—'न' यही उत्तर आवेगा, ऐसा विश्वास कौन दिला सकता है ? हम लड़कियों को बचपन से ऐसी ही शिक्षा देते हैं कि, पुरुष तो पुरुष; और औरतें तो औरतें ही। स्त्रियाँ स्वतन्त्र रही नहीं सकतीं। अनाथ और विधवा स्त्री तो दुखी से भी दुखी समझी जाती हैं, क्योंकि उनका कोई स्वामी नहीं, पति नहीं। कहीं बाहर यात्रा करने जाना हो तो स्त्री अकेली जा ही नहीं सकती। कोई उसका संरक्षक साथ होना चाहिए। यदि स्त्री अकेली घूमे-फिरे तो वह न केवल अरक्षित मानी जाती है बल्कि ऐसा काम स्त्री को न शोभनेवाला माना जाता है ! "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"। उसका कोई न कोई संरक्षक—त्राता सदा होना ही चाहिए। इस तरह के विचार समाज में ऐसे रूढ़ हो गये हैं कि वे अत्यन्त स्वाभाविक मालूम होते हैं।

पशु-कोटि में मादा अबला नहीं होती, पक्षियों में भी मादा दुर्बल नहीं होती। वह अकेली ही अपनी और अपने बाल-बच्चों

की रक्षा कर सकती है। परन्तु पुरुष ने स्त्री को ऐसी दृढ़ शिक्षा दी और स्त्री ने भी उसे ऐसी श्रद्धा से ग्रहण किया कि उसकी अपने ऊपर की श्रद्धा बिल्कुल ही उड़ गई। हमने ऐसी स्त्रैण शिक्षा बहुत ज़माने से जारी रक्खी होगी और उसीके परिणाम-स्वरूप आज आधा देश अज्ञान, जड़ और भार रूप हो गया है।

परन्तु प्रकृति का नियम ऐसा है कि हम जैसी शिक्षा देते हैं, हमें भी वैसी ही लेनी पड़ती है। जो स्त्रैण शिक्षा देते हैं उनकी मनोरचना भी समय पाकर स्त्रैण हो जाती है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति' का स्त्रैण अर्थ करने वाले पण्डितों ने धीरे धीरे स्वयं स्त्रैण होकर एक स्त्रैण सूत्र उपजा डाला—'अनाश्रया न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लताः'। ऐसी स्त्रैण शिक्षा के कारण हम बिना ही परिश्रम, भोजन मिलने का इच्छा रखते हैं। इसी शिक्षा के कारण युवावस्था में भी पेन्शन देने वाले की खोज में फिरते हैं। इसी शिक्षा के कारण हम अफ़गान लोगों से भय रखते हैं और इसी शिक्षा के कारण हम मोपलों के पागलपन से घबरा कर ब्रिटिश संगीनों का आश्रय लेते हैं—उनका स्वागत करते हैं।

पर नहीं, ऐसा कहने में अन्याय होता है। यह सभी कल तक ही था। आज तो जिन्होंने स्त्रैण शिक्षा का त्याग किया है वे अपने पसीने की बदौलत मिली रोटियों को ही मिष्टान्न मानते हैं। वे अफ़गान को भाई के समान समझते हैं और मोपला भाइयों पर उनकी इतनी श्रद्धा है कि पहले तो वे इस बात को बिना विश्वसनीय प्रमाणों के मानने के लिए तैयार ही नहीं कि मोपलाओं ने भारी अत्याचार किया होगा और यदि मोपलाओं ने जो कुछ भी किया हो तो उससे दशगुना अत्याचार करने पर

भी उसका इलाज कौटुम्बिक नियमानुसार ही वे करना चाहते हैं। संस्कृत-काव्यों में ऐसा वर्णन आता है कि जब आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट होती थी तब ललनायें 'त्राहि माम्, त्राहि माम्' कहती हुई पास खड़े हुए तरुण पुरुष के वक्षःस्थल का आश्रय लेती थीं और इसलिए इस स्त्रैण स्वभाव को पहचान कर बहुतेरे युवक गण, जब स्त्री रुष्ट होकर बैठ जाती, तब मेघगर्जना होने की प्रार्थना करते थे। आज नौकरशाही भी अशक्त असहयोगियों को वश में करने के लिए मोपलाओं के उत्पात तक का स्वागत कर रही है और अपनी दी हुई स्त्रैण शिक्षा पर उसे इतना विश्वास है कि, मोपलोंवाली दलील मानो रामबाण अस्त्र हो, यह समझ कर उसका उपयोग करती है; और हम में भी अभी कितने ही ऐसे लोग मौजूद हैं जो ऐसा स्वराज्य चाहते हैं कि जिसमें परदेशी लोग हमारी रक्षा करें। जिसने स्त्रैण शिक्षा को प्राप्त किया है उसकी स्वराज्य-सम्बन्धी कल्पना भी स्त्रैण ही हो सकती है।

स्त्रैण शिक्षा परिश्रम से डरती है। स्त्रैण शिक्षा किसी समय भी विपत्ति का आह्वान नहीं करती। स्त्रैण शिक्षा विलासप्रिय होती है। स्त्रैण शिक्षा को वह प्रिय होता है जो सरल हो, थोड़ा हो, बिना परिश्रम मिलता हो, जिसके लिए यज्ञ और तपस्या न करनी पड़े। स्त्रैण शिक्षा ऊपर के भभके के भुलावे में पड़ती है। स्त्रैण शिक्षा थोड़े और क्षणिक स्वार्थ ही को देखती है। स्त्रैण शिक्षा में पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है? परिश्रम तो स्त्रैण स्वभाव के विरुद्ध है।

स्त्रैण स्वभाव का अर्थ स्त्री-स्वभाव नहीं। स्त्रियाँ तो आज भी हिन्दुस्थान में भारी से भारी तप और यज्ञ करती हैं। आज

जो पुरुषों में स्त्रियों के समान संयम होता तो स्वराज़्य कभी का मिल गया होता। स्त्री-स्वभाव में तो तेज होता है, परन्तु स्त्रैण स्वभाव में उसका पूर्ण अभाव होता है। स्त्रैण स्वभाव में 'अति दूर देशीपन', अति-होशियारी और अति सुरक्षितता की ओर दृष्टि, पूरी पूरी होती है।

स्त्रैण शिक्षा का त्याग करना सुगम है, परन्तु स्त्रैण शिक्षा के कारण बने स्त्रैण स्वभाव को छोड़ना सुलभ नहीं। आज दिन हर एक मनुष्य शिक्षा के अन्त में श्रेष्ठ 'केरिअर' प्राप्त होने की इच्छा रखता है। 'केरिअर' का ध्यान रखने में कुछ बुराई नहीं; परन्तु 'केरिअर' दो प्रकार का होता है। 'केरिअर' मर्दाना भी होता है और स्त्रैण भी होता है। जिसमें महत्त्वाकांक्षा होती है, जिसमें कमाने और गुमाने का साहस होता है, जिसमें सङ्कट से जूझने ही में निरतिशय आनन्द पाने की वृत्ति होती है, जिसमें मर कर कीर्ति-रूप में जीने की लालसा होती है, वह 'केरिअर' मर्दाना अथवा पौरुषी है। प्राण जाय पर ईमान न जाय, ग़रीबी भले ही आ जाय पर नाक नीची न हो, परिश्रम भले ही करना पड़े परन्तु अन्याय की रोटी कदापि न खावें, इस तरह का स्वभाव मरदाना स्वभाव है। आज बहुतेरे विद्यार्थी रुई धुनकने की अपेक्षा टाइप राइटर, सूत कातने की अपेक्षा ताश खेलना, कपड़ा बुनने की अपेक्षा लेक्चरबाज़ी और कम्पोज़ीटर बनने की अपेक्षा क्लर्क बन जाना अधिक पसंद करते हैं; यह सब स्त्रैण शिक्षा का ही प्रभाव है।

मरदानी शिक्षा का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिए कि जो परिश्रम करने के लिए तैयार न हो, उसको पढ़ने का अधिकार नहीं। कोई भी विद्यार्थी मजूर न रह कर पण्डित न बन पाये।

शिक्षा लेने के लिए मनुष्य धन भले ही न दे सके, पर उसे परिश्रम तो देना ही चाहिए। शिक्षार्थी मनुष्य-समाज से अनाज भले ही ले, पर पकाने का परिश्रम तो उसे स्वयं ही करना चाहिए, अपना भार भी वह समाज पर भले ही रक्खे, किन्तु अपने समान अनेक विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले गुरु का भार तो अपने ही ऊपर लेवे। मनुष्य-शिक्षा के परिणाम-स्वरूप अनेक तरह की रुचियाँ भले ही प्राप्त करे, परन्तु निर्विघ्न जीवन जीने की रुचि का विकास कदापि अपने अन्दर न करे, क्योंकि जोखिम—खतरा—ही जीवन का रहस्य है। और विघ्न-बाधाओं के साथ युद्ध करना सच्चा शौर्य है—सच्चा पुरुषार्थ है।

भावी युग की शिक्षा*

माङ्गलिक अवसरों पर प्रवचन करने की प्रथा पुरानी है। प्रवचन में भूत काल के किसी प्रसङ्ग को लेकर उसका रहस्य बतलाया जाता है। पर मैं तो आज भविष्य काल की ही बात करूँगा, क्योंकि आज का खोला गया यह बाल-मन्दिर भविष्य काल की संस्था है।

सर्व-साधारण जन भविष्य काल को अस्पष्ट, दूरवर्ती और परदे के पीछे ढँका हुआ मानते हैं, पर यह बात सच नहीं। भविष्य काल भूत काल ही में छिप कर विचरता है। वर्तमान काल में रहते हुए भी वह वर्तमान काल के नियमों से बँधा हुआ नहीं रहता। उसके अपने भविष्य के नियम जुदे ही होते हैं। वह उसी के प्रति वफ़ादार रहता है। आज के लड़के—हमारी गोद में खेलने वाले बच्चे—भविष्य काल के नागरिक हैं। इन्हें भविष्य काल के अनुकूल शिक्षा देना हमारा काम है।

बहुतेरे मानते हैं कि शिक्षा का अर्थ है मानव जाति की भूत-काल की कमाई के संग्रह का पाथेय बना कर बच्चों के देने की क्रिया। किन्तु यह भूल है। कई बार भूत काल का सञ्चय

---

* भावनगर दक्षिणामूर्ति विद्याभवन के बाल-मन्दिर के प्रवेश-महोत्सव के अवसर पर किया हुआ प्रवचन।

बोझ रूप हो जाता है। भूत काल का भार उठा कर जीवन-यात्रा में प्रयाण करना चाहिये, यह बच्चों को कहना महज़ क्रूरता है। मैं नहीं कहता कि भूत काल के अनुभवों को फेंक दें। वर्तमान काल भूत काल ही से बनता है, उसी से भविष्य काल को देखने की दृष्टि मिलती है। यह सच है; परन्तु केवल इसीलिये भूत काल को भूत की तरह भविष्य के कंधे पर न चढ़ बैठना चाहिये। भूत काल कितना ही चतुर और बूढ़ा हो तो भी उसमें बुढ़ापे का अन्धत्व तो आही जाया करता है। छोटे बच्चे का हाथ पकड़ कर जिस तरह बूढ़े चलते हैं, उसी प्रकार इस प्राकृतिक नियमानुसार जीवन-यात्रा का अगुआपन, बालक भविष्य काल के ही हाथ में होना चाहिये।

प्राचीन काल के मनुष्यों ने भविष्य काल के प्रति इतनी श्रद्धा सर्वदा नहीं बतलाई, इसीसे कई बार मुझे यह ख़याल हुआ कि ठीक हुआ जो आज तक लोगों को न सूझा कि तीन से छः वर्ष तक के कोमल बच्चों को पक्की शिक्षा दें; नहीं तो बेत, डण्डे और क़वायद की पुरानी पद्धति में हमारी यह पेढी कभी की कुचल गई होती।

भविष्य की शिक्षा भूत काल की शिक्षा से बिलकुल ही भिन्न होती है। शिक्षा की पद्धति के विकास का जाँच करने से उसमें हमें एक स्वाभाविक विकास दीख पड़ता है। मनुष्य सबसे पहले शरीर ही को पहचनता है और शरीर के द्वारा ही सब काम लेना चाहता है। बालकों की स्मरण-शक्ति का विकास नहीं हुआ, बस, करो शरीर-दण्ड का प्रयोग; बच्चा व्याकरण के नियमों को नहीं समझ सकता, कहो, इसे रट कर मुखाग्र करे। बच्चे की अधिक कार्य करने की वृत्ति और चैतन्य बदमाशी में परिणत हो

जाता है; दो, इसे भूखों मरने की सज़ा, एक समय यही दस्तूर था। शरीर के द्वारा मन को तैयार करने के प्रयास ही के फल-स्वरूप आध्यात्मिक संसार में प्राणायाम की प्रथा का आविष्कार हुआ है। वह श्वास को रोककर मन को रोकने की यह एक युक्ति है। देह-दण्डन अर्थात् देह को दण्ड देना इसी युग की एक दवा है। हम इस पद्धति को 'शारीरिक युग' कह सकते हैं।

फिर 'बुद्धियुग' का अवतार हुआ। 'बुद्धियुग' में तर्क पर असीम विश्वास था। गुरु और शिष्य के बीच में हुए प्रसिद्ध संवाद अभी तक लिखे हुए मिलते हैं। बुद्धि को पराजित कर देने से सर्वस्व प्राप्त होता है। यही उस समय माना जाता था। इसी कारण शिक्षा का अन्तिम आदर्श रहता था सभा जीत लेना। इन्हीं दिनों दिन-दहाड़े मशालें जलवाकर मल्लों की तरह विजयाभिलाषी विद्वान् घूमते होंगे।

परन्तु अन्त में मनुष्य ने देखा कि तर्क अप्रतिष्ठित है। मनुष्य का रहस्य मस्तिष्क में नहीं, हृदय में है; राजधानी कलकत्ते में नहीं, पर दिल्ली में है। जब लोगों ने यह देखा, तब हृदय का युग प्रारम्भ हुआ। इस युग में सङ्गीत और कला, शिक्षा में सम्मिलित हुई। संस्कारों और विधियों को महत्त्व प्राप्त हुआ; हृदय के द्वारा ही शिक्षा दी जाय, इस तत्त्व के साथ गुरु-भक्ति और गुरूपासना आरंभ हुई।

इसके बाद का युग है आत्मयुग। मानव-जाति इस आत्मयुग में प्रवेश करने की तैयारी कर रही है। आत्मा का स्वभाव है—स्वतन्त्रता, निर्भयता, तेजस्विता और स्वयं-स्फूर्ति। आत्मा का स्वभाव है, निर्वैरता और प्रसन्नता, जो शिक्षा इन वृत्तियों के द्वारा दी जाती

है, वह आध्यात्मिक शिक्षा कही जाती है। यदि बचपन ही से ऐसी शिक्षा दी जाय तो वह बच्चों के लिए बलप्रद हुए बिना नहीं रह सकती।

आध्यात्मिक शिक्षा में प्रतिस्पर्द्धा को स्थान नहीं मिल सकता, वहाँ तो सात्विक सहयोग ही हो सकता है। आत्मिक शिक्षा में डर और लोभ को जागृत करके काम नहीं लेना होता; बल्कि चैतन्य में जो स्वाभाविक उत्साह होता है, उसी के द्वारा काम लिया जाता है। आत्मिक शिक्षा में कर्मयोग प्रधान रहेगा, फिर भी उसके साथ ध्यानयोग और भक्तियोग पूर्णतया मिले हुए होंगे। इसीको थोड़े में कहना चाहें तो आत्मिक शिक्षा का अर्थ—कर्म, भक्ति, ध्यान और ज्ञान का अपूर्व रसायन है।

वीरयुग में कलहवृत्ति का विकास भी शिक्षा का आदर्श रहता था। आत्मिक शिक्षा में आत्मा की स्वाभाविक निर्भयता और तेजस्विता को ही विशेष महत्व दिया जाता है। ऐसी शिक्षा के द्वारा ही आत्मिक युग का, अहिंसात्मक स्वराज्य का, आवाहन हो सकता है। जिन बालकों को आत्मिक शिक्षा मिली है, वहीं अहिंसात्मक स्वराज्य के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा प्रदर्शित कर सकते हैं।

प्रेम, पवित्रता और धैर्य—ये आत्मिक शिक्षा के आधार-स्वरूप हैं। शारीरिक दण्ड द्वारा ऐसी शिक्षा नहीं दी जा सकती, न विद्यार्थी को तर्क-वितर्क के जाल में पारङ्गत करके ही वह दी जा सकती है। तरह तरह के विधि-विधानों से भी वह विकासित नहीं की जा सकती। गुरु केवल अनुकूल वातावरण खड़ा करे, उसमें अपनी शुद्ध वृत्ति से शुभ संस्कार और शिव संकल्प उड़ेलता रहे और बच्चों को स्वयं स्फूर्ति से स्वेच्छा से, उन्हें ग्रहण करने दे।

'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं, शिष्याः संछिन्नसंशयाः' इस बीज मंत्र का अर्थ अब हम बराबर समझते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं कि बिना गुरु के शिक्षा दी जा सकती है। आज देश में हजारों गरीब बच्चे—लगभग सारा देश—शिक्षा से वंचित है। इस स्थिति को कोई प्राकृतिक शिक्षा नहीं कह सकता। क्रूर प्रकृति में आत्म-विकास की व्यवस्था नहीं है। गुरु अपनी उपस्थिति से साक्षी रह कर ही आत्मा को स्वाभाविक वातावरण प्राप्त करा देता है, और आत्मा के जागृत होते ही स्वयं विकास का आरम्भ होता है।

राजनीति की तरह शिक्षा में भी आत्म-निर्णय अथवा स्वयं विकास का आदर्श सम्मिलित होना चाहिये। आज संसार में दो आदर्शों के बीच झगड़ा चल रहा है, एक तो साम्राज्य का आदर्श और दूसरा स्वराज्य का। साम्राज्य का आदर्श चाहता है कि शासन के समस्त सूत्र एक के ही हाथ में आ जावें। एक हुक्म करे और अन्य सब मानें; जहाँ तहाँ एक की ही सत्ता का दौर दौरा हो, यही साम्राज्य का आदर्श है। रावण ने इसी आदर्श का प्रयोग करके देखा था। शिक्षा में भी साम्राज्यवाद आ घुसा है। विश्वव्यापी शिक्षा का एक विभाग खोल कर, सर्वत्र ऐकही साँचे के शिक्षित लोग उत्पन्न करना भी साम्राज्य का आदर्श ही हुआ। स्वराज्य का आदर्श इससे विभिन्न है। आत्मा एक ही है और वह परमात्मा का अंश है। इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सभी जगह एक सा हो, पर आत्मा प्रत्येक मनुष्य में पृथक पृथक रूप से प्रस्फुरित होता है, अतएव प्रत्येक को स्वतंत्र रीति से अपना विकास करने देना ही स्वराज्य का आदर्श है।

सच बात तो यह है कि हम भविष्य के शिक्षकों को अब भी ठीक तरह से नहीं समझ पाये। भविष्य का शिक्षक पुराने पंडित जी नहीं। वह तो प्रजा का गुरु है। आज की राजनीति और समाज का नेतृत्व चाहे जिस किसी के हाथ में हो, पर भविष्य में बच्चों की मनोरचना को बनाने वाले अध्यापक ही समाज के नेता और राजनैतिक अगुआ होंगे। क्योंकि भविष्य का अध्यापक जितना मानसशास्त्री होगा उतना ही समाजशास्त्री भी होगा। समाज के हर एक अंग और प्रत्यङ्ग के प्रति उसकी ज्ञानपूर्ण सहानुभूति होगी और प्राचीन काल के दीर्घदृष्टा ब्राह्मणों ने समाज में जिस स्थान को प्राप्त किया था, उसी को भविष्य के अध्यापक और उन की शिक्षण संस्थायें प्राप्त करेंगी। सच्चा ब्राह्मण राजा के शासन से भी परे रहता है। उसी तरह शिक्षण संस्थायें भी स्वतंत्र रहनी चाहिएँ। ब्राह्मण को दान देकर जैसे नमस्कार करने की प्रथा है, उसी तरह आज भी धनी लोगों को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक शिक्षण संस्थाओं की सहायता करनी चाहिए और अपने को धन का सद्व्यय करने का अवसर देने के लिए सर्वदा अध्यापक गण का ऋणी रहना चाहिए। अध्यापक गण जितना ही समाज का विश्वास संपादन करेंगे और समाज उन्हें जितनी ही स्वतंत्रता देगा, उनकी शिक्षा उतनी ही सजीव—प्राणवान—होगी। अश्रद्धा-शील बनकर यदि समाज अध्यापकों पर आतंक जमाना चाहेगा तो निस्सन्देह उनकी शिक्षा भी निष्प्राण होगी।

वसंत पंचमी

वसन्त पंचमी क्या है ? ऋतुराज का स्वागत ।

माघ शुक्ल पंचमी को हम वसन्त पंचमी कहते हैं । परन्तु वसन्त पंचमी हर शख्स के लिए उसी दिन नहीं होती । ठण्ढे खून वाले आदमी के लिये वसन्त पंचमी इतनी जल्दी नहीं आती ।

वसन्त पंचमी प्रकृति का यौवन है। वह मनुष्य, वसन्त पंचमी के आगमन का अनुभव बिना ही कहे करता है जिसका रहन-सहन प्रकृति के प्रतिकूल न हो, जो कुदरत के रंग में रँग गया हो। नदी के क्षीण प्रवाह में एकाएक आई हुई बाढ़ को हम जिस प्रकार अपनी आँखों से देखते हैं, उसी प्रकार हम वसन्त को भी आता हुआ देख सकते हैं । हाँ, वह एक ही समय अलबत्ते सब के हृदय में प्रवेश नहीं करता ।

वसन्त जब आता है, तब यौवन के उन्माद के साथ आता है । यौवन में सुन्दरता होती है; पर यह नहीं कह सकते कि उसमें क्षेम भी हमेशा होता है । यौवन की तरह वसन्त में भी शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा करना कठिन हो जाता है । तारुण्य की तरह वसन्त भी लहरी और चंचल होता है । कभी जाड़ा मालूम होता है, कभी गरमी, कभी जी ऊबने लगता है, कभी उल्लास मालूम होने लगता है । जाड़े में खोई हुई शक्ति

फिर प्राप्त की जाती है; परन्तु जाड़े में प्राप्त की हुई शक्ति को वसन्त में संचित कर रखना आसान नहीं है। वसन्त में यदि संयम के साथ रहा जा सके तो सारे वर्ष भर के लिये आरोग्य की रक्षा हो जाती है। वसन्त में प्राणिमात्र पर एक चित्ताकर्षक कान्ति छा जाती है; पर वह वैसी ही ख़तरनाक भी होती है।

वसन्त के उल्लास में संयम की वात, संयम की भाषा, शोभा नहीं देती, सहन नहीं होती; परन्तु उसी समय उसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। क्षीण मनुष्य यदि पथ्य के साथ रहे तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? इससे क्या लाभ है? नाममात्र के जीवन में क्या स्वारस्य है? जीवन का आनन्द तो है सुरक्षित वसन्त।

वसन्त उड़ाऊ होता है। इस बात, में भी प्रकृति का तारुण्य ही प्रकट होता है। फूल और फल कितने ही लगते हैं और कितने ही मुरझा जाते हैं। मानो प्रकृति जाड़े की कंजूसी का बदला देती है। वसन्त की समृद्धि चिरस्थायी समृद्धि नहीं। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह स्थिर नहीं रहता।

राष्ट्र का वसन्त भी बहुत बार उड़ाऊ होता है। कितने ही फूल और फल बड़ी बड़ी आशायें दिखाते हैं; परन्तु परिपक्व होने के पहले ही मुरझाकर गिर पड़ते हैं। सच्चे वही हैं जो शरद ऋतु तक क़ायम रहते हैं। राष्ट्र के वसन्त में संयम की वाणी अप्रिय मालूम होती है; परन्तु वही पथ्यकर है।

उत्सव में विनय, समृद्धि में स्थिरता, यौवन में संयम—यही सफल जीवन का रहस्य है। फूलों की सार्थकता इसी बात में है कि उनका दर्प फल के रस के रूप में परिणत हो।

वसन्त पंचमी के उत्सव की सृष्टि शास्त्रकारों के द्वारा नहीं हुई और न धर्माचार्यों ने उसे मान्य ही किया है। उसे तो कवियों और गायकों ने, तरुणों और रसिकों ने जन्म दिया है। कोयल ने उसे निमंत्रण दिया है और फूलों ने उसका स्वागत किया है। वसन्त क्या है—पक्षियों का गान, आम्र-मंजरियों की सुगन्ध, शुभ्र अभ्रों की विविधता और पवन की चंचलता। पवन तो हमेशा ही चंचल होता है; परन्तु वसन्त में वह विशेष भाव से क्रीड़ा करता है। जहाँ जाता है वहाँ पूरे जोश-खरोश के साथ जाता है; जहाँ बहता है वहाँ पूरे वेग से बहता है; जब गाता है तब पूरी शक्ति के साथ गाता है और थोड़ी ही देर में घूम भी जाता है।

वसन्त से संगीत का नवीन सूत्र शुरू होता है। गायक आठों पहर वसन्त के आलाप ले सकते हैं। न तो देखते हैं पूर्वरात्र और न देखते हैं उत्तररात्र।

संगीत का प्रवाह तभी चलता है जब संयम, औचित्य और रस तीनों का संयोग होता है। जीवन में भी अकेला संयम स्मशानवत् हो जाता है, अकेला औचित्य दम्भ-रूप हो जाता है, अकेला रस क्षणजीवी विलासिता में लीन हो जाता है। इन तीनों का संयोग ही जीवन है। वसन्त में प्रकृति हमें रस की धारा प्रदान करती है। संयम और औचित्य-रूपी हमारी अपनी सम्मति हमें उसमें जोड़नी चाहिए।

गुलामों का त्योहार ?

हरएक त्योहार से कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य ही मिलती है। पर इस वर्तमान होली से भी कुछ शिक्षा मिल सकती है ? पिछले २०—२५ वर्षों में जिस ढँग से यह त्योहार मनाया गया है, उसे देखते हुए तो इसके विषय में किसी प्रकार का उत्साह नहीं हो सकता। प्राचीन इतिहास अथवा पौराणिक कथायें भी इस त्योहार पर अच्छा प्रकाश नहीं डालतीं। फिर भी इतना तो स्वीकार ही करना चाहिए कि होली एक प्राचीनतम त्योहार है। जाड़े के समाप्त होने पर एक भारी होली जलाकर आनन्दोत्सव मनाने का रिवाज प्रत्येक देश में और प्रत्येक युग में जारी रहता है। इस उत्सव में संयम की लगाम ढीली रखकर लोग स्वच्छन्दता का कुछ आस्वादन लेना चाहते हैं।

हिन्दू में, अकेले मनुष्यों के ही जाति नहीं होती। बल्कि देवताओं, पशु-पक्षियों और त्योहारों तक के जाति होती है। अष्टावक्र की जाति वैश्य है, नाग और कबूतर ब्राह्मण होते हैं और तोता बनिया होता है। इसी प्रकार होली का त्योहार शूद्र-जाति का है। क्या इसीलिए होली का कार्यक्रम किसी ज़माने के बिगड़े हुए शूद्रों के द्वारा रचा गया होगा और उनके हकों को क़ायम रखने के लिए दूसरे वर्णों ने उसे स्वीकार किया होगा ? पुराणों में एक नियम है कि होली के दिन अछूतों को छूना चाहिए,

इसका क्या उद्देश होना चाहिए ? द्विज लोग संस्कार-युक्त अर्थात् संयमी, और शूद्र स्वच्छन्दी हैं, यह मानकर क्या होली में इतनी स्वच्छन्दता रक्खी गई है ? होली के दिन राजा-प्रजा एक होकर दूसरे पर रंग उड़ाते हैं—क्या इसलिए तो नहीं कि कम से कम साल में चार-पाँच दिन तो समानता के सिद्धान्त का अनुभव हो ?

होली क्या है—काम-दहन, वैराग्य की साधना। विषय को काव्य का मोहक स्वरूप देने से वह बढ़ता है। उसीको बीभत्स स्वरूप दे कर, उसे नंगा कर, उसका असली स्वरूप समाज के सामने खड़ा करके विषय-भोग के प्रति घृणा उत्पन्न करने का हेतु तो इसमें न हो ? जाड़े भर के जिसके मोह-पाश में फँसे रहे, उसकी दुर्गत करके, उसे ज़ला कर पश्चात्ताप की विभूति शरीर पर लपेट वैराग्य धारण करने का उद्देश तो इसमें न रहा हो ?

प्राचीन-काल की लिंग-पूजा की विडम्बना तो इसके द्वारा न की जाती हो ? परन्तु होलिका को वसन्तोत्सव भी कहते हैं। जाड़ा गया, वसन्त का नूतन जीवन वनस्पतियों में भी आगया। इसलिए जाड़े में तमाम लकड़ियों को एकत्र कर आखिरी बार आग जलाकर ठंढ को बिदा देने का तो यह उत्सव न हो ? और ढुंढा राक्षसी कौन है ? कहते हैं कि वह नन्हे बच्चों को सताती है। होली के दिन जगह-जगह आग सुलगा कर, शोरगुल मचा कर वह भगाई जाती है। इसमें क्या कवि-कल्पना या रहस्य होगा ?

लोगों के अन्दर अश्लीलता तो हुई है। वह मिटाये नहीं मिट सकती। "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार साल में एक दिन देने से, कितने ही लोग मानते हैं कि वह हीन वृत्ति सारे

वर्ष भर काबू में रहती है। यदि यह बात सच हो तो यह भारी भूल है। आग में घी डालने से आग काबू में नहीं रहती। पाप और अग्नि के साथ स्नेह कैसा? वसन्त का उत्सव ईश्वर-स्मरण-पूर्वक सौम्य रीति से मनाना चाहिए। दिवाली में का उत्सव का आनन्द कम होता है? लकड़ियाँ जलाकर होली करने से ही सच्चा वसन्तोत्सव होता है। यदि यह माना जाय कि होलिका एक राक्षसी थी और उसे जलाने का यह त्योहार है तो हम उसे चुराकर लाई लकड़ियों से नहीं जला सकते। होलिका राक्षसी, प्रह्लाद की निर्वैर पवित्रता से ही जल सकती है।

हमें यह विचार करना चाहिए कि हमारे त्योहार, हमारे राष्ट्रीय जीवन और हमारी संस्कृति के प्रतिम्बिब-रूप हैं या नहीं? मनुष्य मात्र उत्सव-प्रिय हैं। परन्तु स्वतंत्र मनुष्यों का उत्सव जुदा होता है, गुलामों का जुदा होता है। जो स्वतन्त्र होता है, जिसके सिर जवाबदेही होती है, जो अधिकार का उपयोग करता है, उसकी अभिरुचि सादी और प्रतिष्ठित होती है। जो परतन्त्र है, जिसे अपनी जिम्मेदारी का ज्ञान नहीं, जिसके जीवन में महत्वाकांक्षा नहीं रह गई, उसकी अभिरुचि बेढंगी और सीमा-रहित होती है। एक ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि स्त्रियों को जो तरह तरह के रंग पसन्द होते हैं और रंग-बिरंगे विचित्र लिबास की ओर उनका मन दौड़ा करता है, उसका कारण है उनकी परवशता। स्त्री यदि स्वाधीन हो जाय तो उसका पहनावा भी सादा और सफ़ेद हो जाय। स्त्रियों के संबंध में यह बात ठीक हो या न हो; परन्तु राष्ट्र पर तो यह ठीक ठीक चरितार्थ होती है। जिस ज़माने में राष्ट्र अधिकार-हीन, परतंत्र, बाल-वृत्ति और गैर-जिम्मेदार होगा,

उसी ज़माने में मूर्खता-पूर्ण कामों के द्वारा इस त्योहार को मनाने की प्रथा प्रचलित हुई होगी।

रोमन लोगों में सैटर्नेलिया नामका एक गुलामों का त्योहार था। उस दिन गुलाम अपने मालिक के साथ खाना खाते, आज़ादी से बोलते-चालते और आनन्द मनाते। इतने आनन्द के बाद फिर एक साल तक गुलामी में रहने की हिम्मत उनमें आ जाती।

स्वराज्य-वादी लोगों को उचित है कि वे अधिक गंभीर हों। हमारी योग्यता क्या है, हमारी स्थिति कैसी है, इसका विचार करके उन्हें ऐसा ही जीवन व्यतीत करना चाहिए, जो उन्हें शोभा दे सकता हो। यदि वसन्तोत्सव करना हो तो समाज में नवीन जीवन पैदा करके इस त्योहार को मनाना चाहिए। यदि काम-दहन करना हो तो ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके पवित्र होना चाहिए। यदि होलिकोत्सव गुलामों का एक-मात्र सान्त्वना-साधन हो तो उसे स्वराज्य के खातिर एकबारगी मिटा देना चाहिए। भाषा में से यदि गालियों की पूँजी कम हो जाय तो शोक करने का प्रयोजन नहीं। होली के दिनों को हम शहरों और गाँवों की सफाई करने में लगा सकते हैं। लड़के मर्दानी कसरत करने और खेल खेलने में तथा शराब के दुर्व्यसन में फँसे लोगों के मुहल्लों में जाकर शराबखोरी मिटाने का उपदेश देने में लगा सकते हैं और स्त्रियाँ स्वदेशी के गीत गाते-गाते खादी का प्रचार कर सकती हैं।

प्रत्येक त्योहार का स्वराज्य-संस्करण अवश्य होना चाहिए। क्योंकि स्वराज्य का अर्थ है—आत्म-शुद्धि और नव-जीवन।

हरिणों का स्मरण

एक विशाल बन था। बीस-बीस तीस-तीस कोस तक मनुष्य की झोपड़ी या मुसाफिरों के काम चलाऊ चूल्हों तक का पता न था। उसमें एक रमणीय तालाब के पास कितने ही हरिण रहते थे। तालाब के किनारे बेल का एक पेड़ था। इस पेड़ के नीचे पाषाण-रूप में महादेव विराजमान थे। हरिण रोज तालाब में नहाते, महादेव के दर्शन करते और चरने जाते। दोपहर को आकर बेल के पेड़ के नीचे विश्राम करते। शाम को तालाब का पानी पीते, महादेव के दर्शन करते और सो जाते। बिना किसी शास्त्र के पढ़े ही हरिणों को धर्म का ज्ञान हुआ था। इससे वे बड़े ही सन्तोषपूर्वक अपना निर्दोष जीवन व्यतीत करते थे।

फाल्गुन मास था। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन की बात है। एक विकराल व्याधा उस बन में घुसा। शाम हुआ ही चाहती थी। व्याधा बहुत ही भूखा था। व्याधों की भूख ऐसी वैसी नहीं होती। यदि और कुछ न मिले तो वे कच्चा मांस ही खाने बैठ जाते हैं। परन्तु हमारे इस व्याधा को अपनी भूख का दुःख न था। घर में बाल-बच्चे भूखे हैं, उन्हें क्या खिलाऊँगा? कौन सा मुँह लेकर घर जाऊँ? यदि शिकार न मिले तो खाली

हाथ लेकर घर जाने की अपेक्षा वन में ही रात भर पड़ा रहूँ— शायद कुछ हाथ लग जाय। यह विचार करके वह तालाब के किनारे उस विल्वपत्र के पेड़ पर चढ़ कर बैठ गया।

'अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण के लिए स्वयं बहुत कष्ट उठाना और खतरे में पड़ जाना'—इतना ही वह अपना धर्म समझता था। इससे अधिक व्यापक धर्म का ज्ञान उसे न था।

रात हुई! कृष्णपक्ष की घोर अँधेरी काली रात! कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। व्याध ने तालाब की ओर देखने में रुकावट डालने वाले विल्वपत्रों को तोड़ कर नीचे गिरा दिया। इतने ही में दो चार हरिण वहाँ पानी पीने आये। पेड़ पर चढ़े व्याधा को देखकर चौंके और निराशा के स्वर में बोले—"भो भो व्याध, अपने धनुष्य पर बाण न चढ़ा। हम मरने को तो तैयार हैं; पर हमें इतना अवसर दे कि हम घर जा कर अपने बाल-बच्चों और सगे-संबंधियों से मिल आवें। सूर्योदय के पहले ही हम तेरे पास हाज़िर हो जायँगे।"

बहेलिया खिलखिला कर हँसा—"क्या तुम मुझे बुद्धू समझते हो? इस हाथ आये शिकार को मैं छोड़ दूँ? मेरे बाल-बच्चे जो भूखे तड़प रहे हैं?"

"हम भी तेरी तरह बाल-बच्चों का ही खयाल करके इतनी छुट्टी चाह रहे हैं। तू आज़मा तो, कि हम अपने वचन का पालन करते हैं या नहीं?"

व्याध के मन में श्रद्धा और कौतुक जाग उठा। ठीक सूर्योदय के पहले आ जाने की ताकीद करके उसने हरिणों को घर जाने

दिया और खुद बिल्व के पत्तों को तोड़ता हुआ रात भर पेड़ पर जगता रहा।

ठीक सूरज उगने के समय पुनः लौट आने की प्रतिज्ञा उन्होंने की थी। अतः वे हरिण अपने घर गये, बाल-बच्चों से मिले, अपने सींगों से एक दूसरे को खुजाया, नन्हें बच्चों को प्रेम से चाटा, व्याध की कथा उन्हें कह सुनाई और बिदा माँगी "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्।" अरे! दुष्ट बहेलिया को दिये वचन का क्यों पालन करना चाहिए? अपने शरीर का तमाम बल लगा कर यहाँ से चुपचाप भाग चलें—" ऐसी सलाह देने वाला उनमें कोई न निकला।

सगे-संबंधियों ने कहा—" चलिए, हम भी साथ चलते हैं। स्वेच्छा से मृत्यु स्वीकार करने पर मोक्ष मिलता है। आपके अपूर्व आत्म-त्याग को देख कर हम पुनीत होंगे।"

बाल-बच्चे साथ हो लिये, मानों व्याध की हिंस्रता की परीक्षा करने के लिये निकले हों!

सूर्योदय के पहले झुण्ड आ पहुँचा। रात वाले हरिण आगे बढ़े और बोले—"लो भाई, हम वध होने के लिए तैयार हैं।" दूसरे हरिणों ने भी कहा—"हमारा भी शिकार कर ले। अच्छी बात है, अगर इससे तेरे बाल-बच्चों की भूख शान्त होती हो।"

व्याधे की हिंसा-वृत्ति रात्रि की तरह लुप्त हो गई। सारे दिन का उपवास और सारी रात के जागरण से उसकी चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो ही गई थी। तिस पर इन प्रतिज्ञा-पालक हरिणों का धर्माचरण देख कर तो वह दंग ही रह गया! उसके हृदय में नवीन प्रकाश हुआ। प्रेम-शौर्य की दीक्षा उसे मिली।

वह पेड़ से उतरा और हरिणों की शरण गया। दो पैर वाले मनुष्य ने चार पैर वाले पशुओं को साष्टांग प्रणाम किया। आकाश से श्वेत पुष्पों की वृष्टि हुई। कैलास से एक बड़ा विमान उतरा। व्याध और हरिण उसमें बैठे और कल्याणकारिणी शिव-रात्रि का माहात्म्य गाते हुए शिवलोक को सिधारे। आज भी वे आकाश में दिव्य-रूप में चमकते हैं।

महाशिवरात्रि का दिन मानों इन धर्मनिष्ठ सत्यव्रत हरिणों के स्मरण का दिन है।

विजया-दशमी

दशहरे का त्योहार भिन्न भिन्न कालीन भिन्न भिन्न पुटों से बना है। दशहरे के त्योहार में असंख्य युगों के असंख्य प्रकार के आर्य-पुरुषार्थ की विजय समाविष्ट है।

मनुष्यों का पारस्परिक युद्ध जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही अथवा उससे भी अधिक महत्वपूर्ण युद्ध, मनुष्य और प्रकृति का है। मनुष्य की प्रकृति पर सब से बड़ी विजय खेती है। जिस दिन मनुष्य ज़मीन जोत कर, उसमें नव-धान्य बो कर कृत्रिम जल का सिंचन करके, उससे अपनी आजीविका और भविष्य के संग्रह के लिए आवश्यक अनाज प्राप्त कर सका, वही उसकी बड़ी से बड़ी विजय का दिन था। उस दिन की स्मृति को हमेशा ताज़ा रखना कृषि-प्रधान आर्य लोगों का प्रथम कर्तव्य था।

वीसवीं सदी भौतिक और यान्त्रिक अन्वेषण की सदी मानी जाती है, और वह ठीक भी है। मनुष्य-प्राणी की हस्ती और संस्कृति में जो महान् अन्वेषण कारणीभूत हुए हैं, वे सब आदि-युग में ही आविष्कृत हुए हैं। ज़मीन जोतने की कला, सूत कातने की कला, आग सुलगाने की कला और मट्टी से पक्का घड़ा बनाने की कला—ये चार कलायें मानवी संस्कृति का आधारस्तम्भ हैं।

इन चारों कलाओं का उपयोग करके विजया-दशमी के दिन हमने कृषि-महोत्सव की रचना की है।

विजया-दशमी के त्योहार में चातुर्वर्ण्य एकत्र दिखाई देता है। ब्राह्मणों का सरस्वती-पूजन और विद्यारंभ, क्षत्रियों का शस्त्र-पूजन, अश्वपूजन और सीमोल्लंघन और वैश्यों की खेती—ये तीनों बातें इस त्योहार में एकत्र होती हैं। और जहाँ इतना बड़ा काम हो, वहाँ शूद्रों की परिचर्या तो समाविष्ट हुई है। देहात के लोग नवरात्र के अनाज के सोने जैसे जवारे तोड़ कर पगड़ी में खोंस लेते हैं और बढ़िया पोशाक पहन कर बाजे-गाजे के साथ सीमोल्लंघन करने जाते हैं। उस समय ऐसा दृश्य दिखाई देता है मानो वे सारे देश का पौरुष व पराक्रम दिखाने के लिए बाहर निकल रहे हों।

दशहरे का उत्सव जिस प्रकार कृषि-प्रधान है, उसी प्रकार क्षात्र महोत्सव भी है। जब किराये के सैनिकों को मुरगों की तरह लड़ाने का रिवाज न था, तब क्षात्र-तेज और राज-तेज किसानों में ही परिवर्द्धित होता था। किसान का अर्थ है क्षेत्रपति—क्षत्रिय। जो साल भर तक धरती-माता की सेवा करता है वही प्रसंग पड़ने पर उसकी रक्षा भी करता है। नदी, नाले, पहाड़, पहाड़ी के साथ जिनका रात-दिन संबंध रहता है; घोड़े, बैल जैसे पशुओं को तालीम दे सकता है, अनेक मजदूरों को जो आजीविका दे सकता है और सारे समाज की जो उदर-पूर्ति करता है, उसके अन्दर यदि राजत्व के समस्त गुण वृद्धि पावें तो आश्चर्य की क्या बात है? जो राजा है वही किसान है और जो किसान है, वही राजा है।

इस अवस्था में कृषि-त्योहार के क्षात्र-त्योहार हो जाने में सोलहों आना ऐतिहासिक औचित्य है। क्षत्रियों का मुख्य कर्त्तव्य है—स्वदेश-रक्षा। पर कितनी ही बार, इसके पहले कि शत्रु स्वदेश में घुस कर देश की खराबी करे, उसके दुष्ट हेतु का पता पा कर खुद ही सीमोल्लंघन करके—अर्थात् अपनी हद को लाँघ कर शत्रु के ही देश में लड़ाई ले जाना ठीक और वीरोचित होता है।

थोड़ा ही विचार करने से ज्ञात हो जायगा कि इसी सीमोल्लंघन के मूल में आगे साम्राज्य-भाव विद्यमान है। अपनी हद से बढ़ कर दूसरे के देश पर कब्जा करना, वहाँ से धन-धान्य लूट कर लाना, इसमें धर्म-भाव की अपेक्षा महत्वाकांक्षा का अंश अधिक है। इस प्रकार लूट कर लाये सोने को यदि पराक्रमी पुरुष अपने ही पास रक्खें तो वर्तमान युग के क्षात्र-प्रकोप (Militarism) के साथ वैश्य-प्रकोप (Industrialism) के सम्मेलन की भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जाय। प्रभुत्व और धनित्व जहाँ एकत्र हैं, वहाँ शैतान को अलहदा निमंत्रण देने की ज़रूरत नहीं रहती। इसीलिए दशहरे के दिन लूट कर लाया सोना तमाम स्वजनों में बाँट देना, उस दिन की एक महत्वपूर्ण धार्मिक विधि निश्चित की गई है।

सुवर्ण बाँट देने के इस रिवाज का संबंध रघुवंश के राजा रघु के साथ भी जुड़ा हुआ है

रघु राजा ने विश्वजित् यज्ञ किया। समुद्र वलयांकित पृथ्वी को जीतने के बाद सर्वस्व दान कर देना, इसका नाम विश्वजित् यज्ञ है। ऐसा विश्वजित् यज्ञ पूरा कर चुकने के बाद रघु राजा के पास वरतन्तु ऋषि का शिष्य विद्वान् और तेजस्वी कौत्स आया

कौत्स ने अपने गुरु से चौदह विद्यायें ग्रहण की थीं और उसकी दक्षिणा के लिए चौदह कोटि सुवर्ण-मुद्रा गुरु को देने का संकल्प उसने किया था, परन्तु सर्वस्व दान कर चुकने के बाद मिट्टी के बरतनों के द्वारा रघु को आदरातिथ्य करता देखकर कौत्स ने उससे कुछ भी याचना करने का विचार छोड़ दिया। राजा को आशीर्वाद करके वह जाने लगा। रघु ने आग्रह-पूर्वक उसे रोक रक्खा और दूसरे दिन स्वर्ग पर चढ़ाई करके इन्द्र और कुबेर से धन लाने की तजवीज़ की। रघु राजा चक्रवर्ती राजा था, इससे इन्द्र और कुबेर भी उसके मांडलिक थे। ब्राह्मण को दान करने के लिए उनसे कर वसूल करने में संकोच किस बात का? रघु-राजा की चढ़ाई की बात सुन कर देवता डर गये—उन्होंने एक शमी के पेड़ पर सुवर्ण-मुद्रा की वृष्टि की। रघुराजा ने सुबह उठ कर देखा तो जितना चाहिए उतना सुवर्ण मौजूद है। उसने वह ढेर कौत्स को दे दिया। कौत्स चौदह करोड़ से अधिक लेता नहीं था और राजा दान में दिया धन वापस नहीं चाहता था। अन्त को उसने वह धन नगरवासियों को लुटा दिया। वह दिन था—आश्विन सुदी १०। इससे आज भी लोग दशहरे के दिन शमी का पूजन करके उसके पत्तों को सोना समझ कर लूटते हैं और एक दूसरे को देते हैं। कितने ही लोग शमी के नीचे की मिट्टी को भी सुवर्ण मान कर ले जाते हैं।

शमी का पूजन बहुत प्राचीन है। ऐसा माना जाता है कि शमी के पेड़ में ऋषियों का तपस्तेज है। प्राचीन समय में शमी की लकड़ी एक दूसरी पर घिस कर आग सुलगाते थे। शमी की समिधा आहुति के काम आती है। पाण्डव जब अज्ञातवास

करने गये थे, तब उन्होंने अपने हथियार एक शमी के पेड़ पर छिपा रक्खे थे और इसलिए कि कोई वहाँ जा न पावे, एक नर-कंकाल उस पेड़ में बाँध रक्खा था।

राम ने रावण पर जो चढ़ाई की सो भी विजयादशमी मुहूर्त पर। आर्य लोगों ने—हिन्दू लोगों ने—अनेक बार विजया-दशमी के मुहूर्त पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त की है। इससे विजयादशमी राष्ट्रीय विजय का मुहूर्त अथवा त्योहार हो गया है। मराठे और राजपूत इसी मुहूर्त पर स्वराज्य की सीमा बढ़ाने के लिए शत्रु के देश पर आक्रमण करते थे। शस्त्रास्त्र से सज कर, हाथी घोड़े पर चढ़ कर, नगर के बाहर जुलूस ले जाने का रिवाज आज भी है। वहाँ शमी का और अपराजिता देवी का पूजन सीमोल्लंघन का मुख्य भाग है। पुराणों में कथा है कि महिषासुर से श्रीजगदंबा ने नौ दिन युद्ध करके विजयादशमी के दिन उसका वध किया। इसीसे अपराजिता की पूजा और महिष (भैंसे) का बलिदान करने का रिवाज पड़ा है।

ऐसा माना जाता है कि शमी और अश्मन्तक वृक्ष में भी शत्रु के नाश करने का गुण है। अश्मन्तक कहते हैं उस्तुरा के पेड़ को। जहाँ शमी नहीं मिलती है, वहाँ उस्तुरे के पेड़ की पूजा होती है। उस्तुरे के पत्ते का आकार सोने के सिक्के की तरह गोल होता है और जुड़े हुए कार्ड (Reply Card) की तरह उसके पत्ते मुड़े हुए होते हैं, जिससे वे खूबसूरत दिखाई देते हैं।

दशहरे के दिनों तक चौमासा लगभग खतम हो जाता है। शिवाजी के किसान सैनिक दशहरे तक खेती की चिन्ता से मुक्त हो जाते थे। कुछ काम बाकी न रहता था। सिर्फ एक ही फसल

काटना बाकी रहता था। पर उसे तो घर की औरतें, बच्चे और बूढ़े लोग कर सकते थे। इससे सेना इकट्ठी करके स्वराज्य की हद बढ़ाने के लिए सब से नज़दीक मुहूर्त दशहरे का था। इसी कारण महाराष्ट्र में दशहरे का त्योहार अत्यन्त लोक-प्रिय था और आज है भी।

हम देख चुके हैं कि विजयादशमी के एक त्योहार पर अनेक संस्कारों, अनेक संस्करणों और अनेक विश्वासों की तहें चढ़ी हुई हैं। कृषि-महोत्सव क्षात्र-महोत्सव हो गया। सीमोल्लंघन का परिणाम दिग्विजय तक पहुँचा। स्व-संरक्षण के साथ सामाजिक प्रेम और धन का विभाग करने की प्रवृत्ति का संबंध दशहरे के समय जुड़ा। परन्तु एक ऐतिहासिक घटना को अभी हम दशहरे के साथ जोड़ना भूल गये हैं, वह इस ज़माने में अधिक महत्वपूर्ण है। "दिग्विजय से धर्मजय श्रेष्ठ है। बाह्य शत्रु का वध करने से हृदयस्थ षड्रिपुओं को मारने में ही महान् पुरुषार्थ है, नव धान्य की फसल काटने की अपेक्षा पुण्य की फसल काटना अधिक चिरस्थायी होता है"—यह उपदेश सारे संसार को देने वाले मारजित्, लोकजित् भगवान् बुद्ध का जन्म विजया दशमी के शुभ मुहूर्त में ही हुआ था। विजयादशमी के दिन बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ और वैशाखी पूर्णिमा के दिन उन्हें शान्तिदायी चार आर्य तत्वों और अष्टांगिक मार्ग का बोध हुआ, यह बात हम भूल ही गये हैं। विष्णु का वर्तमान अवतार बुद्ध अवतार ही है। इसलिए विजयादशमी का त्योहार भगवान् बुद्ध के मार-विजय को स्मरण करके ही हमें मनाना चाहिए।

दिवाली

प्रत्येक घर के दीवानखाने में कोई न कोई सुंदर वस्तु रखने का रिवाज़ होता है। यदि बाहर का कोई आदमी आवे और स्वभावतः ही उसकी नज़र उस पर पड़ जाय तो उसके मुँह से निकल उठता है—"कैसी बढ़िया चीज़ है! तुमने कहाँ से पाई?" किन्तु अजायबघर में तो जहाँ देखिए, वहाँ सुंदर ही सुंदर वस्तुएँ दिखाई देती हैं; देखकर मनुष्य बड़ा खुश होता है। लेकिन साथ ही साथ वह उतना ही पशोपेश में भी पड़ जाता है। वह इसी ख़याल में रहता है कि क्या देखूँ और क्या न देखूँ?

दिवाली त्योहारों का एक ऐसा ही अजायब-घर है। वह सब त्योहारों का स्नेह-सम्मेलन माना जाय तो भी उचित होगा। दिवाली का त्योहार पाँच दिन का माना जाता है। लेकिन सच पूछिए तो ठेठ नवरात्रि के त्योहार से उसकी शुरूवात होती है और यम-द्वितीया की भाई-दूज की भेट में उसके आनन्द की परिसमाप्ति होती है।

धर्म-शास्त्र में प्रत्येक त्योहार का माहात्म्य और कथा दी हुई होती है। दीवाली के सम्बन्ध में इतनी अधिक कथायें हैं कि उन्हें लिखने बैठें तो एक बड़ा पोथा हो जाय। धन-तेरस की कथा जुदी, नरकचौदस की जुदी और उसमें अमावस (दीवाली) की तो एक खास कथा होती है। उसके बाद विक्रम का नया वर्ष शुरू

होता है और द्वितीया के रोज भाई, बहन के घर अतिथि होता है। दिवाली गृहस्थाश्रमियों का त्योहार है। जन-समाज का त्योहार है। श्रावणी के दिन धर्म और शास्त्र की प्रधानता रहती है, दशहरे के दिन युद्ध और शस्त्रों का प्राधान्य रहता है; दिवाली के दिन लक्ष्मी और धन का प्राधान्य रहता है; और होली खेल तथा रंग-राग का त्योहार है। जैसे मनुष्यों के चार वर्ण हैं, वैसे ही त्योहारों के भी चार वर्ण हो गये हैं।

पुरातन काल में लोग श्रावणी के रोज़ जहाजों में बैठ कर समुद्र पार देश-देशान्तर में सफर को जाते थे। दशहरे के दिन राजा-लोग और दूसरे योद्धागण अपनी सरहद पार करके शत्रु पर चढ़ाई करने जाते थे और दिवाली के दिन राजा और व्यापारी गण दोनों स्वदेश में वापस आते और कौटुम्बिक सुख का उपभोग करते थे।

पुराणों में कथा है कि नरकासुर नाम का एक पराक्रमी राजा प्राग्ज्योतिष में राज्य करता था। भूतान के दक्षिण तरफ जो मुल्क है उसे प्राग्ज्योतिष कहते थे। नरकासुर दूसरे राजाओं से लड़ता था। यह तो घड़ी भर सहन कर लिया जा सकता था, किंतु उस दुष्ट ने तो स्त्रियों को भी सताना शुरू किया? सोलह हज़ार राज-कन्यायें उसके कारागार में थीं। श्रीकृष्ण ने विचार किया कि यह स्थिति हमारे लिए कलंक-रूप है। अब नरकासुर का नाश करना ही होगा। सत्यभामा ने कहा—"आप स्त्रियों के उद्धार के लिए जाते हैं तो फिर मैं घर रह सकती हूँ? नरकासुर के साथ मैं ही लड़ूंगी, आप भले ही मेरी मदद में रहें।"

श्रीकृष्ण ने यह बात कुबूल की। सत्यभामा रथ में आगे बैठी

थीं; श्रीकृष्ण मदद के लिए पीछे बैठे थे। नरकासुर का नाश चतुर्दशी के दिन हुआ, देश स्वच्छ हो गया। लोगों ने आनन्द मनाया। नरकासुर का बड़ा भारी जुल्म दूर हुआ, यह दिखाने के लिए लोगों ने रात को दीपोत्सव मनाया और अमावस के दिन भी पूर्णिमा की शोभा दिखलाई।

लेकिन यह नरकासुर एक बार मारने से मरता नहीं है। उसे तो हर साल मारना पड़ता है। चौमासे में सब जगह कीच हो जाता है। उसमें पेड़ की पत्तियाँ, गोबर और कीड़े वगैरह पड़ जाते हैं और इस तरह गाँव के आस पास नरक—गंदगी—हो जाती है। वर्षा के बाद भादों की धूप पड़ती है और इस नरक की दुर्गन्ध हवा में फैलती है। इससे लोग बीमार पड़ते हैं। फिर बहादुर लोग कुदाली फावड़ा वगैरह लेकर इस नरक के साथ लड़ने जाते, गाँव के आस पास के नरक का नाश करते और घर आकर बदन पर तेल मल कर नहाते हैं। गोशाला तो साफ़ की हुई होती ही है; उसमें से मच्छरों को निकाल देने के लिए रात को उसमें दिया जलाते और फिर प्रसन्न होकर मिष्टान्नों और पकवानों का भोजन करते हैं।

दिवाली के बाद नया वर्ष शुरू होता है और घर में नया अनाज आता है। हिंदुओं के घरों में वेद-काल से लेकर आज तक यह नवान्न की विधि बहुत श्रद्धा-पूर्वक की जाती है। महाराष्ट्र में भोजन से पहले एक कड़वे फल का रस चखने की प्रथा है। इसका उद्देश यह होगा कि बिना कड़वी मिहनत के किये मिष्टान्न नहीं मिल सकता। भगवद्गीता में भी लिखा है कि आरंभ में जो जहर के समान है और अन्त में अमृत के समान,

वही सात्विक सुख है। गोवा में दिवाली को चिउड़ा का मिष्टान्न बनाते हैं और जितने भी इष्टमित्र हों, उन सबको उस दिन निमंत्रण देते हैं। अर्थात् प्रत्येक जन को अपने प्रत्येक इष्टमित्र के यहाँ जाना ही पड़ता है। सब के यहाँ फलाहार रक्खा रहता है। उसमें से एक टुकड़ा खाकर वे दूसरे के घर जाते हैं। चाहे उनके व्यवहार में कटुता आई हो, दुश्मनी बँधी हो या जो कुछ भी हुआ हो, लेकिन वे दिवाली के दिन मन से सब निकाल देते हैं और नया प्रीति-संबंध जोड़ते हैं। जिस प्रकार व्यापारी दिवाली पर सब लेन-देन चुका देता है और नये वही-खातों में बाक़ी नहीं खींचता, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य, हृदय में कुछ भी ज़हर या वैर बाकी नहीं रहने देता। जिस दिन बस्ती में से नरक-गंदगी निकल जाय, हृदय में से पाप निकल जाय, रात्रि में से अंधकार निकल जाय और सर पर से करज़ दूर हो जाय, उस दिन से बढ़कर दूसरा पवित्र दिन कौन हो सकता है?

परशुराम और बुद्ध

जिस प्रकार द्रौपदी और सीता दो जुदे जुदे आदर्श हैं, उसी प्रकार राम और कृष्ण भी जुदे जुदे आदर्श हैं। प्राचीन काल से हम को आदर्शों के साधर्म्य और वैधर्म्य, साम्य और वैषम्य को देखते आये हैं। अन्त को हमने दोनों आदर्शों का सार अपने जीवन में उतार कर इन दोनों का समन्वय कर डाला है। जिस दिन यह समन्वय हमने किया, उसी दिन 'राम—कृष्ण' यह सामासिक नाम हमें सूझा। जिस दिन हमें यह दिखाई दिया कि जो राम है, वही कृष्ण है, जो शान्ता है वही दुर्गा है, जो शिव है वही रुद्र है, जो जनार्दन है, वही विश्वेश्वर है, उस दिन हिन्दू तत्व-ज्ञान को समाधान हुआ। तात्विक खोज में एक पूर्ण विराम मिला। पूर्ण विराम से नया वाक्य शुरू होता है। दो आदर्शों के विवाह से नयी सृष्टि उत्पन्न होती है।

परशुराम और बुद्ध दोनों विष्णु के ही अवतार माने जाते हैं। पर हम उन्हें अपने कल्पना-क्षेत्र में कभी एक दूसरे के नज़दीक लाये हैं? परशुराम और बुद्ध! इन दोनों में भला कुछ भी साधर्म्य या वैधर्म्य है?

परशुराम ब्राह्मण-क्षत्रिय हैं, भगवान् बुद्ध क्षत्रिय ब्राह्मण हैं। परशुराम ने ब्राह्मण होते हुए मन्यु (क्रोध) को आज़ादी दे कर शारीरिक बल पर आधार रक्खा। शाक्य मुनि ने क्षमा को प्रधान

पद देकर आत्मिक बल का गौरव बढ़ाया। परशुराम को क्षत्रिय की सत्ता प्रजापीड़क मालूम हुई। ईश्वर ने मनुष्य को दो ही बाहु दिये हैं और सो भी उद्योग के लिए। क्षत्रिय लोग सहस्र-बाहु हो जायँ और हर एक बाहु शस्त्र धारण करे तो बेचारा दीन समाज कहाँ जाय? रक्षा करना क्षत्रिय का काम है; पर वही जब प्रजाभक्षक हो जाते हैं तब प्रजा की रक्षा कौन करे? परशुराम ने सोचा कि क्षत्रियों का शास्ता ब्राह्मण है। बात सच है, परन्तु क्षत्रियों का शासन करते हुए ब्राह्मणों को अपना ब्राह्मण्य हरगिज़ न गवाँ बैठना चाहिए।

परशुराम हाथ में भारी परशु लेकर सहस्रबाहु की भुजायें काटने लगे। क्षत्रियों की पीड़ा मिटाने के लिए क्षत्रियों को इक्कीस बार पीड़ित किया।

परशुराम ने क्षत्रिय के तमाम गुण प्राप्त किए थे। क्षत्रिय के मानी हैं—सिपाही। सिपाही को चाहिये कि वह अपने सरदार का हुकुम तुरन्त बजा लावे। मातृभक्त परशुराम ने पिता का हुक्म होते ही माता का सिर धड़ से उड़ा दिया। ब्राह्मण ऐश्वर्य से दूर रहते हैं। क्षत्रिय ही पृथ्वी को जीतता है और दान करता है। परशु-राम ने जीता और दान का ही रास्ता पसन्द किया।

अब बुद्ध को लीजिए। उन्होंने राज्य का त्याग कर दिया। अपनी शान्ति के द्वारा मार (काम) पर विजय प्राप्त किया, करुणा का प्रचार किया। परशुराम के कारण क्षत्रिय भयभीत हो उठे और उन्होंने आत्मरक्षा के लिये संघ-बल का साम्राज्य स्थापित किया। भगवान् बुद्ध के बदौलत उनके शिष्य निर्वैर हो गये और उन्होंने अभय का साम्राज्य स्थापित किया।

परशुराम के कार्य का असर उनके समय में जो कुछ हुआ हो, आज तो नहीं के बराबर है। परशुराम के कारण साम्राज्य की कल्पना उत्पन्न हुई। साम्राज्य की कल्पना ने दिग्विजय का मोह पैदा किया और दिग्वजय की कल्पना का अर्थ है, निरन्तर विग्रह। जैसा कि भगवान् बुद्ध ने धम्मपद में कहा है, विजय कलह का मूल है। क्योंकि पराजित व्यक्ति के हृदय में अपमान का काँटा बराबर चुभता रहता है और वह दुनिया को शान्ति नहीं प्राप्त होने देता। भगवान् बुद्ध का असर परशुराम से अधिक गहरा और व्यापक हुआ। परशुराम हिंसामार्गी थे, बुद्ध अहिंसा-मार्गी। हिंसा में वीर्य नहीं। हिंसा ने अबतक न तो किसी अच्छे तत्व का नाश किया है, न किसी बुरे तत्व का। हिंसा ने जितना दुर्जनों के शरीर का नाश किया है, सज्जनों के शरीर का भी उतना ही नाश किया है। परन्तु दुनिया की सज्जनता और दुर्जनता हिंसा से अस्पष्ट ही रही है।

अहिंसा की विजय स्थायी होती है, पर कब? जब राज्य-सत्ता की सहायता के बिना हो, तब। सत्य और सत्ता परस्पर विरोधी हैं। जब जब सत्य ने सत्ता की सहायता ली है, तब तब सत्य अप-मानित हुआ है और अपंग बना है। सत्य का शत्रु असत्य नहीं। असत्य तो अभाव रूप है, अन्धकार रूप है। सत्य को असत्य से लड़ना नहीं पड़ता। जहाँ सत्य का प्रकाश नहीं पहुँचता, वहीं असत्य का अन्धकार होता है। असत्य का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं। सत्य का शत्रु है सत्ता। परशुराम ने सत्ता के द्वारा—बल के प्रभाव के द्वारा—सत्य का अर्थात् न्याय का प्रचार करना चाहा। बुद्ध भगवान् के अनुयायियों ने भी साम्राज्य की प्रतिष्ठा के द्वारा

सत्य का प्रचार करना चाहा। तब सत्य लज्जा से संकुचित हो गया।

अब समय आया है जब परशुराम की न्याय-निष्ठा और बुद्ध भगवान् की अवैर निष्ठा का सम्मेलन हो। मन में रत्ती भर द्वेष या विष रक्खे बिना अन्याय का प्रतिकार करना, सत्ता से जूझना, यही आज का युगधर्म है। क्या यही सत्याग्रह नहीं है?

हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा

हमारा प्रयत्न हिन्दुस्थान में एक भाषा करने का नहीं। हिन्दुस्थान से हमारा यह भी अभिप्राय नहीं है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों की भाषायें नष्ट होकर भारत में एक ही भाषा रहे। हिन्दुस्थान जैसे विशाल राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति होने के लिए भिन्न भिन्न गुण और स्वभाववाली प्रान्तीय जातियों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय संस्कृति के सार्वदेशीय विकास के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है। किन्तु जैसे भिन्न भिन्न इन्द्रियों में सञ्चार करने वाला मन तो एक ही है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में एकरूपता और एकप्राण का सञ्चार होता है, उसी तरह आज हिन्दुस्थान में एकराष्ट्रीयता की भावना जागृत करने के लिए तथा व्यक्त करने के लिए, राष्ट्रीय-भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई हो, सो नहीं। बहुत प्राचीन काल से हिन्दुस्थान में प्रयत्न पूर्वक राष्ट्रीय-भाषा निर्माण करके, उसे विकसित किया गया है। जब हिन्दू-राष्ट्र तेजस्वी था, सुसंस्कृत था, सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ था, उस समय हिन्दुस्थान के उत्तमोत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्व ज्ञान, आर्यों के पराक्रमों के वर्णन, और आर्यों की शास्त्रीय खोजें आदि सभी शुद्ध, उदात्त और संस्कृत भाषा में किये जाते थे और इसीलिए उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ।

जब हिन्दुस्थान की अवनति हुई, भारत की अभिरुचि बिगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओं से संस्कृत भाषा को दूषित कर देना, उस वक्त के लोगों ने ठीक न समझा। इसलिए उन्होंने प्राकृत-भाषा का आश्रय लिया। संस्कृत-भाषा में आर्यों को शोभित करने वाले शुद्ध विचार ही लिखे जाते थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय-जीवन क्षीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच में हिन्दुओं ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया; और उस समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारों के लिये संस्कृत-भाषा ही का दोहन किया। पर लोक-जागृति के लिये उस समय की प्रचलित भाषाओं को उपयोग में लाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहाँ तक हो सका संस्कृत-वाङ्मय का प्रचलित भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय-जीवन फिर से ज़ोरों के साथ फूत्कार मारने के लिये प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिये राष्ट्रीय-भाषा की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई है, अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र-भाषा कौन सी हो? यह एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। राष्ट्र की उन्नति तो पूर्ण-परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है, यह महान् सिद्धान्त जिसे मान्य है, उसके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र-भाषा संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिये।

पर आज भारत में केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैत-वादी, प्रेम-धर्मी हिन्दुस्थान में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है; और इससे भारत की राष्ट्रीय-संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग भी राष्ट्रीय-भाषा में

व्यक्त होना चाहिये। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्ष-काल में हुआ था। बड़े बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फारसी भाषा का अध्ययन करके, उन भाषाओं में अप्रतिम काव्य लिखते थे और बहुतेरे मुसलमानी बादशाह संस्कृत-पण्डितों को आश्रय देकर और स्वयं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दू-संस्कृति का रहस्य समझ ने की कोशिश करते थे। इस तरह धीरे धीरे हिन्दुस्थान की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उस भाषा के दो स्वरूप हैं। मुसलमानी राज्य में धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका—हिन्दू और मुसलमानों की रहन-सहन एक न हो सकी और इसी कारण हिन्दी और उर्दू इन दोनों के बीच का भेद बना रहा। वर्तमान स्थिति में वह विरोध तेज़ी के साथ घटता जा रहा है और इसलिये सम्भव है कि थोड़े प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू इन दोनों के बीच का भेद बहुत ही घट जाय! मुसलमानी सत्ता के बाद अँगरेज़ी राज्य की और अँगरेज़ी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हम पर पड़ा है, जिसके कारण हिन्दुस्थान की सभी भाषाओं पर और जनसमुदाय की विचार-शैली पर अँगरेज़ी पद्धति का प्रभाव पड़ा है। वह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अँगरेज़ी विचार-पद्धति और अँगरेज़ी ढङ्ग की वाक्य-रचना केवल आधुनिक सुशिक्षित गण की भाषा ही में दिखती है। जन-साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नहीं हुआ। यह भी एक तरह से इष्ट ही है।

अँगरेज़ों ने भारत को अपना देश नहीं बनाया है। उन्हें तो यहाँ केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हें हिन्द-पुत्र नहीं होना है, इसीलिए उनकी भाषा भी यहाँ कदापि वद्ध-

मूल न होगी। जिस तरह हम पर अँगरेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है किन्तु अँगरेज़ लोग हमारे साथ नहीं रहते हैं, न हमारे साथ मिलते-जुलते ही हैं, उसी तरह अँगरेज़ी साहित्य और उनकी विचार-पद्धति का प्रभाव हम पर होते हुए भी अँगरेज़ी भाषा का हिन्दुस्थान में राष्ट्र-भाषा होना या बने रहना सम्भवनीय नहीं। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

किन्तु यह हुआ सामान्य सिद्धान्त पर 'नर साँची करनी करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्व के अनुसार प्रयत्न करने पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य-संस्कृति और आर्य संस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि हिन्दुस्थान में पाश्चात्य-प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखों देखते हैं कि वही आज सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोते ही रहेंगे तो पुरुषार्थी अंगरेज़ लोग कालान्तर में अंगरेज़ी को केवल भारत की राष्ट्रीय-भाषा ही नहीं, किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के लिये बहुत से प्रबल कारण पाये जाते हैं कि उनकी सचमुच यह अभिलाषा है भी। आज तक उनकी शिक्षा-नीति इसी दिशा में अपना काम कर रही है। और वह सफल हुई है। ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही में बड़े लाट साहब के मुख से जानते या अनजान में निकल पड़े हैं। वे तो यह भी सुख-स्वप्न देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनों में अंगरेज़ी हमारे घरों में घुस जायगी!

अब यह विचार करना चाहिये कि आर्यों के वंशजों और आर्य-संस्कृति के अभिमानियों को ऐसा होने देना इष्ट है या नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अँगरेज़ी राज्य से हमें कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अँगरेज़ी भाषा की उपयोगिता भी हमें मान्य है।

परन्तु अपने धर्म के लिये, अपनी संस्कृति के लिये, अपने पूर्वजों के नाम के लिये और अपने वंशजों के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिये हम अपनी देश-भाषा—मातृ-भाषा को छोड़ नहीं सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय-भाषा तो हिन्दू और मुसलमानों में आज सैकड़ों वर्षों से अभेदभाव रखने वाली हिन्दी भाषा ही होनी चाहिये। अँगरेज़ी भाषा को राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर बिठाना हमारी संस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान् की राय है कि सुशिक्षितों की सामान्य भाषा अँगरेज़ी हो और अशिक्षितों की सामान्य भाषा हिन्दी। वे एक प्रौढ़ विद्वान् हैं और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझ में नहीं, तो भी मुझे इतना तो स्पष्ट विदित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है, और वह अशक्य है, यह परमेश्वर की बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओं में इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिएगा। योरप में श्रीमान् और निर्धन ऐसे भेद समाज में पड़ जाने से दोनों विभक्त हो गये। अतएव वहाँ के समाज में कैसे भयङ्कर उत्पात होते हैं, इसका वर्णन हम लोग पढ़ते हैं। हमारे देश में सुशिक्षित और अशिक्षित के बीच में फूट होकर वह यहाँ तक पहुँच जाय कि हमारी उनकी भाषा में ही भिन्न हो जाय तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा! इसकी कल्पना मात्र करने से भी रोमाञ्च हो जाते हैं। जिस समय सुशिक्षित-पन संस्कृत-भाषा के आश्रय में रहा था, उस वक्त के सुशिक्षित विद्वान् समाज से भिन्न नहीं हो गये थे। वे अपनी संस्कृति को जन-समाज में अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्यों तक पहुँचा देते थे

अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा-प्राप्त समाज आज ही प्रजा से बिछुड़ा हुआ नज़र आता है। फिर भाषा-भेद हो जाने पर तो समाज का उच्छेद ही होजायगा।

अँगरेज़ी राज्यकर्ताओं की भाषा है और इसीलिए हमें उसे अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिये; ऐसा कहनेवाला भी एक दल सुशिक्षितों में है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता, क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिये, यही उनकी भावना होती है। परन्तु शिक्षित-दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिये है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह करना चाहिये कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भली भाँति पालन करना है तो उसे प्रजा की संस्कृति के साथ एक रूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिये, प्रजा ही की भाषा में विचार करना चाहियें, और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहियें। गुर्जराधिपति सयाजी-राव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्र-भाषा को राज-भाषा बनाया। यदि आज बड़ोदा में फिर से मराठी राजभाषा हो जाय तो इसे कौन अच्छा कहेगा ? इसी न्याय से सारे हिन्दुस्थान में देशी भाषा ही राजभाषा होनी चाहिये, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें ?

देशी भाषाओं में से ही एकआध राजभाषा होनी चाहिये, इतना सिद्ध हो जाने पर हिन्दी का ख़ास पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते हैं। जन-समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय न जाने कब से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जाने

पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तवनों में कालयापन करना पौरुषहीन लोगों का काम है। सारे हिन्दुस्थान में ईमानदारी से द्वारपाल की नौकरी करनेवाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। हिन्दुस्थान के अनेक पंथों के साधुओं ने भी इस प्रश्न का निराकरण किया है। साधु चाहे बङ्गाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दी में ही बोलेगा। यात्रा करनेवालों का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मालूम होती है। कैलास से रामेश्वर तक और द्वारका से कामाक्षी तक हिन्दी से भली भाँति काम चल सकता है।

बहुतेरों का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि हिन्दुस्थान में लोग अधिकांश हिन्दी जानते हों, तो भी राष्ट्र-भाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ़ वाङ्मय उसमें कहाँ है? पर यह कहकर भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं। प्राकृतिक वर्णन करनेवाली कवितायें लीजिये, शृंगार, वीर, करुणा भक्ति या और कोई दूसरा रस लीजिये, उन सभी में संसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नहीं पड़ सकती। जिस भाषा में तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा में कबीर-दासजी ने भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण का प्रेम प्रकट हुआ, जिस भाषा में विचार सागर जैसे वेदान्त-रत्न रचे गये, जिस भाषा में सूरदासजी का कविता-सागर उमड़ रहा है, और जिस भाषा में भूषण कवि ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया, उस का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं, यह कौन कहेगा? आधुनिक शास्त्रीय शोधों

की पुस्तकें हिन्दी में न हों और इतिहास तथा राजनीति की मीमांसा करनेवाली पुस्तकें उसमें न हों, तो भी यह दोष उस भाषा का नहीं। मध्यकालीन हमारे जीवन का एकाङ्गी भाव ही इस स्थिति का उत्तरदाता है। हमारा जीवन व्यापक हुआ नहीं कि हिन्दी भाषा भी देखते ही देखते उस दिशा की ओर वेग से बढ़ी नहीं। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग में अपना सामर्थ्य, अपनी क्षमता और अपना उत्कर्ष प्रकट किया है, वह भाषा अन्य विभागों में लँगड़ी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य में हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता को बढ़ाता है। उसे बङ्गाली, मराठी और गुजराती आदि सभी प्रांतों में लोग सुगमता से अपने अनुकूल बना कर सचमुच राष्ट्र-भाषा बना सकें, ऐसी स्थिति स्थापक है और आज वही प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्ता-पूर्ण कितनी ही बँगला पुस्तकें हिन्दी में अनुवादित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण परमहंस, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बंगाली विद्वान् और साधु-गण हिन्दी वेष धारण कर हमारे साथ भाषण करने लगे हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामदास आदि हिन्दी में उपदेश करने लगे हैं। तिलक का 'गीता-रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर हिंदुस्थान को भी मिला है। सरदेसाई के अनेक वर्षों के प्रयत्नों का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद में प्राप्त हुआ है। गुजरात के 'सरस्वती चन्द्र' जैसी पुस्तकें भी हिन्दी रूप धारण कर के गुजरात के विद्वद्रत्नों की प्रतिभा का परिचय कराती हैं। पढ़ीआर की पुस्तकों के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यों को

स्वर्ग की कुञ्जी बतलाई है। महात्मा गांधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालों को भी सुलभ हो गया है।

यद्यपि इस प्रश्न की विशेष चर्चा महाराष्ट्र में नहीं हुई कि हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा कौन सी होनी चाहिये, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापकों ने महाराष्ट्र के लिये उसका निराकरण कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी-नवरत्नों में से भूषण कवि को बुलाकर उन्हें अपना राजकवि बनाया और उन्हे कन्याकुमारी से हिमालय तक भेज कर हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का स्थान दिया है, और इसी से सातवलेकर, दिवेकर, सप्रे और मगादे, पराड़कर और तामसकर साठे और गर्दे, जैसे मराठी लोग हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। और यह बात कुछ आजकल की नहीं, नामदेव और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्रीय साधु नामदेव की हिन्दी कविता सिक्ख लोगों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों में सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से मीराबाई, अखा, दयाराम और दलपतराम आदि ने भी हिन्दी को अपना कर चुकाया है। प्रेमानन्द के पहले गुजरात में ग्रन्थों की रचना भाषा (व्रज-भाषा) ही में हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा में काव्य-रचना होने लगी, तो भी हर एक प्राचीन कवि ने हिन्दी में भी अपनी लेखनी चलाई है।

यह सब तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृत-संजीवनी पिला कर उसमें नवजीवन का सञ्चार करा देने वाले धन्वन्तरि एक गुर्जर-पुत्र थे, इस विचार से किस गुजराती को अभिमान उत्पन्न

हुए बिना न रहेगा ? स्वामी दयानन्दजी ने हिन्दी को 'आर्य-भाषा' यह गौरव-पूर्ण नाम देकर पञ्जाब जैसे पिछड़े प्रान्त में भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बङ्गाली लोगों ने हिन्दी को अपना कर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द-प्राचुर्य के सम्बन्ध में, वाक्य-रचना की विविधता में और विवेचन-पद्धति के सौष्ठव में वह गम्भीर, ललित, विपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय बनती जाती है, इसी से आज एक महाराष्ट्रीय नाटक-मण्डली कलकत्ते में जाकर हिन्दी भाषा में नाटक करके बङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियाँ पर्वत से धो धो शब्द कर बहती हुई अपनी गोद के बच्चों को *खूब † दूध पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती है, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्थानी भाषा का उत्तम ग्रन्थ हो (फिर चाहे वह स्वतन्त्र लिखा गया हो चाहे, किसी पाश्चात्य-ग्रन्थ का अनुवाद हो) हिन्दी में उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और बङ्गाली-तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रखकर जब हिन्दी-लेखक उसका हिन्दी में अनुवाद करता है, तब मूल-लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसलिये कौन सी भाषा हिन्दुस्थान की राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है, अथवा हिन्दी भाषा राष्ट्र-भाषा होने के योग्य है या नहीं,

---

* छोटे छोटे टीले आदि † पानी।

आदि कायरों को भड़का देने वाली अनंत शंकाओं से सिरपच्ची न करके, हमें इसीका विचार मुख्यतः करना चाहिये कि हिन्दी भाषा का प्रसार राष्ट्र-भाषा के रूप में शीघ्रता से कैसे हो। थोड़ी बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं; किन्तु आज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दुस्थान के भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ व्यवहार बढ़ाकर राष्ट्र-संघटन को अधिक दृढ़ बनाने वाली, संस्कृत-वाङ्मय की वारिस, हिन्दू और मुसलमानों को एक समान अपनी मालूम होने वाली और इसी देश में जन्मी हुई हिन्दी में हमें अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ़ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिये। सब से पहली बात यह है कि हमारे अध्ययन-क्रमों में हिन्दी का प्रवेश होना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण में हिन्दी एक आवश्यक विषय माना जाना चाहिये। इसके बाद हर एक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिये अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी में करने का प्रयत्न करना चाहिये। जब अपनी भाषा में बोलना संभव न हो, तब हर एक भारतवासी को अपना काम अँगरेज़ी की अपेक्षा हिन्दी में चलाने का निश्चय करना चाहिये। आज अखिल-भारतीय प्रश्नों की चर्चा अँगरेज़ी में होती है, उसके बदले में वह साधारण जन-समाज की समझ में आने योग्य हिन्दी में होनी चाहिये। सर्व-प्रान्तीय-संस्थाओं को अपना काम काज हिन्दी में करना चाहिये। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्वविद्यालय, गोखले का भारत-सेवक समाज, बङ्गलोर स्थित ताता का शास्त्र-संशोधक विद्या-पीठ, भारत वर्षीय महिला-विद्या-पीठ, सकल धर्म-परिषद् और राष्ट्रीय-सभा आदि आदि

प्रान्तीय शिक्षा के लिये स्थापित संस्थायें प्रान्तीय भाषाओं में ही शिक्षा दें, परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिये स्थापित सर्व-भारतीय संस्थाओं में शिक्षण हिन्दी ही में दिया जाना चाहिये। हमारे, मुसलमान और ईसाई भाईयों के हित के लिये, यदि कुरान और बाइबिल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा में शीघ्रता से हो जायँ तो कैसा अच्छा हो ?

इतना कर लेने के बाद हमें सरकार से भी प्रान्तीय शासन-कार्य में प्रान्तीय भाषा और देश के सामान्य राज-कार्य में हिन्दी प्रचलित करने के लिये प्रार्थना करके, उसे वह करने के लिए मजबूर कर सकते हैं। महकमे जङ्गलात विभाग में, वैद्यक-विभाग में, पुरातत्व-विभाग में अथवा वातावरण-विज्ञान में हिन्दुस्थान के द्रव्य से जो शोध किये जाते हैं, वे सब हिन्दुस्थान के किसान और व्यापारियों के उपयोग के लिए सरकार को हिन्दी ही में छपाने चाहिये। इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं। पर इसके लिये मुस्तैदी के साथ प्रयत्न होने चाहियें। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा'—यह कह कर बैठे रहने से काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है; प्रयत्न करने पर यश मिले बिना नहीं रह सकता।

स्वराज्य संबंधी हमारी योग्यता वाद-विवाद या शाब्दिक प्रमाण से सिद्ध करने की अपेक्षा यही उत्कृष्ट मार्ग है कि राष्ट्र-हित के जिन अत्यन्त आवश्यक कार्यों को सरकार नहीं कर रही है, उन्हें अपने हाथ में लेकर पूर्ण कर दिखावें। जब सरकार हमारे कार्य को असम्भव करेगी, तब हम देख लेंगे। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद देना, उसका प्रचार बढ़ाना, तथा

साहित्य में वृद्धि करना सरकार का भी काम है। यदि सरकार स्वदेशी अर्थात् राष्ट्रीय होती तो वैसा अवश्य करती। आज की सरकार वैसा नहीं करती, इसलिये स्वराज्याभिलाषियों को वह काम अपने हाथ में लेकर अपनी स्वराज्य की पात्रता सिद्ध कर देनी चाहिये। हमारी पात्रता का निर्णय सरकार दे, उसके पहले हमें स्वयं कर लेना चाहिये। हिन्दी के प्रचार द्वारा यह काम करने के लिये यह सोने का अवसर है। हमें यह दिखा देना है कि हम अपने निश्चय को पूरा कर सकते हैं। ऐसा करने से हमें स्वसामर्थ्य की—सङ्कल्प-सामर्थ्य की प्रतीति होगी और इच्छित मङ्गल प्राप्त होगा। तथास्तु।

जीवन-चक्र

तपस्या, भोग और यज्ञ—यह एक महान् जीवन-चक्र है। मनुष्य किसी कामना से प्रेरित होकर सङ्कल्प करता है। उस सङ्कल्प की सिद्धि के लिये मनुष्य जिन जिन कामों को उठाता है, वे सभी तपस्या के नाम से निर्दिष्ट किये जाते हैं। ये काम खुद बखुद अथवा स्वतःप्रिय होते हों, सो नहीं, किन्तु सङ्कल्प-सिद्धि की आशा ही के कारण मनुष्य उनको प्रेम से या उत्साह-पूर्वक उठा लेता है। इस तपस्या के अन्त में फल-प्राप्ति होती है। फल-प्राप्ति के बाद की क्रिया को ही भोग कहते हैं। फलोपभोग हमारी धारणा से भी गूढ़ वस्तु है। यदि फलोपभोग में तृप्ति ही होती तो उसी में मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार हो जाता। पर फलोपभोग के आनन्द ही में विषण्णता भरी होती है। हम हर एक आनन्द में अज्ञानतः आत्मा को प्राप्त करना चाहते हैं। कामना-पूर्ति से मिले हुए आनन्द के बाद एक क्षणमात्र मोह-जन्य सन्तोष को प्राप्त कर दिल कहता है कि मैं जो चाहता था, वह यह नहीं। इतने ही से सावधान होकर यदि मनुष्य कामनाओं से विमुख हो जाय तो उसे आत्मप्राप्ति का मार्ग मिल जाय। परन्तु सत्य का मुख सोने के ढक्कन से, ढका होता है। एक सङ्कल्प सम्पूर्ण नहीं होने पाता कि दूसरा सङ्कल्प उसी में से उत्पन्न हो

जाता है और इस तरह फिर नई प्रवृत्ति में, नई तपस्या में और नये भोग में मनुष्य बहने लगता है।

इसमें यज्ञ को स्थान कहाँ है? प्रत्येक भोग, कामना से की हुई तपस्या, प्रकृति से लिये हुआ ऋण है। मनुष्य उसे चुका कर ही ऋण मुक्त होता है। मुझे अन्न खाना है, इसी लिये मैं ज़मीन जोतता हूँ, उसमें बीज बोता हूँ, फसल कटने तक खेत में परिश्रम करता हूँ और इस तरह ज़मीन का सार निकाल कर उसका भोग करता हूँ। मेरा धर्म यह है कि मैंने भूमि से जितना सार लिया उतना ही उसे फिर लौटा दूँ। इस तरह भूमि को उसकी पहली स्थिति प्राप्त करा देना ही, यज्ञ-कर्म है।

प्रवास में मैं किसी के यहाँ रात भर रहा, मुझे रसोई बनानी है, मैं घरवाले के पास से बरतन माँग कर लेता हूँ। अब बरतनों में अन्न सिद्ध कर लेना मेरा तप है; और भोजन करना मेरा भोग। इतना करने के बाद घरवाले के पात्र माँग कर जैसे थे, वैसे ही करके दे देना मेरा यज्ञ-कर्म है।

मुझे तालाब या कुँए पर स्नान करना है, पानी खींचना मेरा तप है; स्नान मेरा भोग है। अब यज्ञ कौनसा? बहुतेरे मनुष्य—बहुधा सभी—विचार तक नहीं करते कि इसमें कोई क्रिया बाकी रह गई है। शास्त्रों में लिखा है, 'यदि तुम तालाब में स्नान करो तो जितना तुमसे हो सके उसका कीचड़ निकाल कर बाहर फेंक दो।' यही हमारा यज्ञ-कर्म है। यदि कुएँ में नहाते हों तो उस कुएँ के आसपास की दुर्गन्ध को दूर करना हमारा आवश्यक यज्ञ-कर्म है।

गीता कहती है, जो इस तरह का यज्ञ नहीं करता, वह चोर

है। वह शरीर को तकलीफ देना नहीं चाहता, [अघायुरिन्द्रियारामः] समाज की सेवा तो ले लेता है, पर उससे उधार ली हुई चीज़ लौटाना नहीं जानता। जो मनुष्य भोग तो करता है, पर यज्ञ नहीं करता, उसका यह जन्म भ्रष्ट होता है; उसका परलोक कहाँ से अच्छा हो सकता है ?

इस यज्ञ-कर्म का लोप हो जाने से ही हिन्दुस्थान कङ्गाल और पामर बन गया है। हम स्त्रियों से सेवा लेते हैं, परन्तु उसका बदला उन्हें नहीं देते। किसानों के परिश्रम का भोग करते हैं, पर जिससे किसानों की भलाई हो ऐसा यज्ञ-कर्म नहीं करते। हम अन्त्यजों को समाज-सेवा का पाठ पढ़ाते हैं, सेवा भी बलपूर्वक उनसे लेते हैं, पर उनके उद्धाररूपी यज्ञ-कर्म तक को न करके उतने हाड्डुयों के हराम हम बन गये हैं। हम सार्वजनिक लाभ प्राप्त करने को सदा दौड़ते हैं, किन्तु कर्तव्यों का पालन शायद ही कभी करते हैं। इससे सारा समाज दीवालिया बन गया है।

मोक्ष-शास्त्र कहता है—न्याय के लिये भी तुम्हें भी यज्ञ करना चाहिये। भोग ले लिये की हुई तपस्या आधा कर्म हुआ। यज्ञ-कर्म उसकी पूर्ति है। आप तप तो करते हैं पर यज्ञ नहीं करते, इसी से आप की वासनायें अनियन्त्रितरूप से बहती हैं। यदि आप यज्ञ करने लगें तो भोग की इच्छा जरूर मर्यादित रहेगी; आपका जीवन पापशून्य हो जायगा।

हर एक बालक के जन्म के बाद शिशु-सम्वर्धन के लिए स्त्री-पुरुष यदि सात वर्ष ब्रह्मचर्य में बिताने का निश्चय कर लें तो उन्हें दीन बन कर समाज की दया पर आधार रखने का प्रसङ्ग नहीं आ सकता।

यज्ञ करने के बाद—ऋण चुकाने के बाद—मनुष्य जो तप करता है, जो भोग भोगता है, उसका वह मुस्तहक होता है, उनसे उसे किल्बिष (पाप) नहीं प्राप्त होता। उसकी प्रवृत्ति निष्पाप और उन्नतिकारिणी होती है। पर यदि मोक्ष प्राप्त करना हो तो प्रवृत्ति को छोड़ देना चाहिए—अर्थात् कामना, तत्प्रीत्यर्थ तप और उस तप के द्वारा उत्पन्न फल का उपभोग—इन तीनों को त्याग देना चाहिए। परन्तु यज्ञ को तो किसी तरह छोड़ ही नहीं सकते। निष्काम यज्ञ—ज्ञान पूवक यज्ञ—कार्यमेव—करना हा चाहिए। उससे पुराना ऋण चुक जाता है। अपने सम्बन्धियों का ऋण टल जाता है, समाज का सर्व सामान्य भार कम हो जाता है, पृथ्वी का भार हलका हो जाता है, श्रीविष्णु सन्तुष्ट होते हैं और वह मनुष्य मुक्त हो जाता है।

हम जो जी रहे हैं, इसी में सैकड़ों व्यक्तियों का ऋण हम लेते हैं। प्राकृतिक शक्तियों का तो ऋण हई है, समाज का ऋण भी हई है, समाज को हर प्रकार से संस्कारी बनाने वाले पूर्व ऋषियों का भी ऋण हई है और कुल-परम्परा की विरासत हमारे लिए छोड़ जाने वाले माता-पिताओं का भी ऋण हई है। ये सब ऋण पञ्च महायज्ञों द्वारा चुका देने के बाद ही मनुष्य भुक्ति या मुक्ति का विचार कर सकता है।

इस यज्ञ-कर्म में पर्याय से काम नहीं चलता। ऋण जिस तरह का हो यज्ञ भी उसी तरह का होना चाहिए। विद्या पढ़ कर गुरु से लिया ऋण गुरु को दक्षिणा भर दे देने ही से नहीं चुकता, बल्कि गुरु के दिए ज्ञान की रक्षा कर और बढ़ा कर नई पीढ़ी को दे देना ही सच्चा यज्ञकर्म है। सृष्टि में नवीन कुछ भी नहीं

होता। जा कुछ है उतने ही में काम चला लेना चाहिए। इस-लिए हम अपनी चेष्टाओं से साम्यावस्था का जितना ही भङ्ग करते हैं, उतना ही उसे फिर समान कर देना परम आवश्यक यज्ञ-कर्म है। आकाश जितनी भाफ लेता है, उतना ही पानी फिर दे देता है। समुद्र जितना पानी लेता है उतनी ही भाफ फिर दे देता है। इसी से सृष्टि का महान् चक्र बे रोक-टोक चलता है। यज्ञ-चक्र को ठीक ठीक चलाते रहना शुद्ध कर्म है। निष्काम होकर त्याग-भाव से कम से कम जहाँ तक अपना सम्बन्ध है, इस चक्र का वेग घटाना ही निवृत्ति-धर्म है। कुछ भी काम न करना निवृत्ति नहीं, यह तो बिल्कुल चोरी ही है।

वीर-धर्म

हिन्दुस्थान के सभी प्रश्नों में दरिद्रता का प्रश्न सब से बड़ा है। जिस राष्ट्र की जनता को दो बार पेट भर खाने को भी न मिलता हो, उसका चित्त किसी दूसरे प्रश्न की ओर कैसे जा सकता है? इस फ़ाक़ेकशी को दूर करने पर ही जनता को कुछ सूझ पड़ेगा और अपने जीवन में सुधार करने योग्य उत्साह उसमें आवेगा। सुबह से शाम तक, एक चातुर्मास से दूसरे चातुर्मास तक, और जन्म से मरण तक, यही एक प्रश्न ग़रीब भारत के सम्मुख हमेशा खड़ा रहता है कि इस फ़ाक़ेकशी को कैसे दूर किया जाय?

देहात में कई स्थानों पर, मनुष्य कितना ही बीमार हो जाय, तो भी वह एक दिन भी दवा नहीं ले सकता और न विश्रान्ति ही ले सकता है। क्योंकि, यदि वह विश्रान्ति लेने जाय तो खाए ही क्या? यदि डाक्टर को तीन आने देते हों तो एक दिन की अपनी खुराक काट करके ही वह दे सकता है। ग़रीबी के कारण मनुष्य का तेजोवध भी होता है। वह अन्याय होते हुए अपनी आँखों देखता है, किन्तु उसका प्रतिकार नहीं कर सकता। वह देखता है कि मैं ठगा जा रहा हूँ, किन्तु फिर भी वह उस ठगाई से बच नहीं सकता; ग़रीबी के कारण उसे स्वाभाविक

दया, माया और ममता भी छोड़ देनी पड़ती है। पुत्र-स्नेहवत् पाले हुए बैल और भैंसों से उनके बूते के बाहर उसे काम लेना पड़ता है। निर्दय बन कर उन्हें मारना-पीटना भी पड़ता है।

और सब से बड़ा आश्चर्य तो यह है कि ग़रीब देहाती ग़रीब होता है, इसीलिए उसे अक्सर ज़्यादह ख़र्च करना पड़ता है। इसीलिए उससे अधिक सूद लिया जाता है कि वह गरीब होता है, अतः उसे रिश्वत देने पर ही नई नई सुविधाओं का लाभ मिल सकता है। थोड़े में यों कहना चाहिए कि वह ग़रीब होता है, इसीलिए उसे और भी अधिक ग़रीब बनना पड़ता है।

इसका उपाय क्या है ? कानून के द्वारा इसकी रक्षा नहीं हो सकती। शाहज़ादे से लेकर अव्वल कारिन्दे तक के अधिकारियों के जो बड़े बड़े दौरे होते हैं, उनसे भी ग़रीबों की हालत नहीं सुधर सकती। उलटे ऐसे प्रसङ्गों पर तो ग़रीब बेगार करते करते अधमरे हो जाते हैं। अदालतें तो ग़रीबों को चूसने ही का काम करती हैं। पुलिस कर्मचारी ग़रीबों को यमराज के समान मालूम देते हैं। वकील, सूद पर रुपए-पैसे देने वाले साहूकार, सवाल-नवीस, अर्जी-नवीस, पटेल, पटवारी, वार्षिक उगाही करने वाले, गुरु, पुरोहित, और ज्योतिषी, साधु, संन्यासी, फकीर सभी गरीब किसानों ही के सिर पर अपना निर्वाह करते हैं। ग़रीब किसान सारी दुनिया को खिलाता है, परन्तु इस बेचारे को खिलाने वाला कोई नहीं मिलता। इसकी किस्मत में तो वही फ़ाकेकशी है !

तो अब इसका उपाय क्या है ? हम तो इसका एक ही उपाय बतला सकते हैं। और वह है स्वावलम्बन। किन्तु जिस मनुष्य पर सारा समाज अवलम्बित है, उसके सम्मुख स्वावलम्बन

की बात करते हुए हमें लज्जा आनी चाहिये। उस बेचारे को अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाई-बहिन आदि होते हैं और वह यह सब कुछ इसीलिए सह लेता है कि उनकी दुर्दशा न होने पावे, नहीं तो वह कभी का या तो बाग़ी बन गया होता, या भभूत रमाकर बैरागी ही हो गया होता। इसके दुःखों को कौन दूर कर सकता है? हम जो कुछ भी हलचल या आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरों में ही होता है। व्याख्यान शहरों ही में होते हैं; शिक्षा के लिये खर्च शहरों ही में होता है; समाचार-पत्र भी शहरों ही में पढ़े जाते हैं, दवा-दरपन की सुविधायें भी तो शहरों ही में होती हैं, सुख और सुविधा के सभी साधन शहरों ही में मिल सकते हैं। तब इन देहाती ग़रीबों का आधार कौन है?

विचार करने से ज्ञात होगा कि ग़रीबी की औषधि ग़रीबी ही है। जिस देश में करोड़ों मनुष्य फ़ाकेकशी कर रहे हैं, उसमें उनकी वह फ़ाकेकशी मिटाने के लिये हजारों और लाखों युवकों को स्वेच्छापूवक धार्मिकता से ग़रीबी धारण करनी चाहिये। अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त कर इस विषय में हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्यु से, वेइज्जती से, धर्म-द्रोह और देश-द्रोह से इतना नहीं डरता जितना वह ग़रीबी से डरता है। जिस देश में स्वेच्छापूर्वक धारण की हुई ग़रीबी की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज उसी देश में हरएक शिक्षित युवक कायर की तरह ग़रीबी से भागता फिरता है। रूस में अकाल फैला हुआ था। लोगों का दुःख असह्य था। उसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टि से देखने में उसे क्या लाभ हुआ? ग़रीबों की संख्या की और भी एक आदमी

बढ़ा दिया। बस यही न? अर्थ-शास्त्री इसका उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके शास्त्र में आत्मा के लिए स्थान ही नहीं। टॉल्स्टॉय ने संसार की आत्मा को जागृत किया, संसार के ऐशो-आराम में डूबे हुए हज़ारों मनुष्यों को फ़ाकेकशी का और उसके मूलभूत कारण अन्याय का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

नवयुवक कहते हैं, आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चों का क्या होगा? जिस स्थिति में रहने की आदत उनको पड़ गई है, उसमें तो उन्हें रखना ही होगा न? क्या यह योग्य है कि हमारे विचारों के कारण वे कष्ट सहें? मैं कहूँगा "ज़रूर" इसमें कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टि से केवल आपकी स्त्री और बाल-बच्चे ही सत्य हों, और भूखों मरने वाले ये करोड़ों भाई केवल भ्रम-माया हों, तब तो जुदी बात है। पर आप यह क्यों नहीं ख़याल करते कि क्या यह उचित है कि हमारी सफ़ेद आदतों के कारण हजारों गरीबों को भूखों मरना पड़े? इस डर से हममें कितनी कायरता आ गई है कि ग़रीबी में दिन काटने पड़ेंगे। प्रति पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है उसका कारण यह ग़रीबी का डर ही है। हम अन्याय को सहते हैं। अपमान का कड़वा घूँट पी जाते हैं, आखें मूँद कर अन्याय करने में दूसरे के साथ सहयोग करते हैं और रात-दिन आत्मा का अपमान करते हैं, इसका कारण सिवाय इस गरीबी के भय के और कुछ हई नहीं।

युद्ध में जो हज़ारों और लाखों सैनिक देश के लिये लड़ने जाते हैं, वे सभी कहीं महात्मा नहीं होते। उनके भी बालबच्चे होते हैं। दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य बाल-बच्चों के

की बात करते हुए हमें लज्जा आनी चाहिये। उस बेचारे को अपने बाल-बच्चे होते हैं, माँ-बाप और भाई-बहिन आदि होते हैं और वह यह सब कुछ इसीलिए सह लेता है कि उनकी दुर्दशा न होने पावे, नहीं तो वह कभी का या तो बाग़ी बन गया होता, या भभूत रमाकर बैरागी ही हो गया होता। इसके दुःखों को कौन दूर कर सकता है? हम जो कुछ भी हलचल या आन्दोलन करते हैं, वह सब शहरों में ही होता है। व्याख्यान शहरों ही में होते हैं; शिक्षा के लिये खर्च शहरों ही में होता है; समाचार-पत्र भी शहरों ही में पढ़े जाते हैं, दवा-दरपन की सुविधायें भी तो शहरों ही में होती हैं, सुख और सुविधा के सभी साधन शहरों ही में मिल सकते हैं। तब इन देहाती ग़रीबों का आधार कौन है?

विचार करने से ज्ञात होगा कि ग़रीबी की औषधि ग़रीबी ही है। जिस देश में करोड़ों मनुष्य फ़ाकेकशी कर रहे हैं, उसमें उनकी वह फ़ाकेकशी मिटाने के लिये हजारों और लाखों युवकों को स्वेच्छापूवक धार्मिकता से ग़रीबी धारण करनी चाहिये। अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त कर इस विषय में हम बहुत ही कायर बन गये हैं। आज तो मनुष्य मृत्यु से, बेइज़्ज़ती से, धर्म-द्रोह और देश-द्रोह से इतना नहीं डरता जितना वह ग़रीबी से डरता है। जिस देश में स्वेच्छापूर्वक धारण की हुई ग़रीबी की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, आज उसी देश में हरएक शिक्षित युवक कायर की तरह ग़रीबी से भागता फिरता है। रूस में अकाल फैला हुआ था। लोगों का दुःख असह्य था। उसे देखकर साधु टॉल्स्टॉय घर-बार छोड़कर भिखमंगा बन गया। बाह्य दृष्टि से देखने में उसे क्या लाभ हुआ? ग़रीबों की संख्या में और भी एक आदमी

बढ़ा दिया। बस यही न ? अर्थ-शास्त्री इसका उत्तर नहीं दे सकते, क्योंकि उनके शास्त्र में आत्मा के लिए स्थान ही नहीं। टॉल्स्टॉय ने संसार की आत्मा को जागृत किया, संसार के ऐशो-आराम में डूबे हुए हज़ारों मनुष्यों को फ़ाकेक़शी का और उसके मूलभूत कारण अन्याय का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया।

नवयुवक कहते हैं, आपकी बात सच है, किन्तु हमारे बाल-बच्चों का क्या होगा ? जिस स्थिति में रहने की आदत उनको पड़ गई है, उसमें तो उन्हें रखना ही होगा न ? क्या यह योग्य है कि हमारे विचारों के कारण वे कष्ट सहें ? मैं कहूँगा "ज़रूर" इसमें कुछ भी अनुचित न होगा। यदि आपकी दृष्टि से केवल आपकी स्त्री और बाल-बच्चे ही सत्य हों और भूखों मरने वाले ये करोड़ों भाई केवल भ्रम-माया हों, तब तो जुदी बात है। पर आप यह क्यों नहीं ख़याल करते कि क्या यह उचित है कि हमारी सफ़ेद आदतों के कारण हजारों गरीबों को भूखों मरना पड़े ? इस डर से हममें कितनी कायरता आ गई है कि ग़रीबी में दिन काटने पड़ेंगे। प्रति पद पर हमारा जो तेजोवध हो रहा है उसका कारण यह ग़रीबी का डर ही है। हम अन्याय को सहते हैं। अपमान का कड़वा घूँट पी जाते हैं, आखें मूँद कर अन्याय करने में दूसरे के साथ सहयोग क़रते हैं और रात-दिन आत्मा का अपमान करते हैं, इसका कारण सिवाय इस गरीबी के भय के और कुछ हई नहीं।

युद्ध में जो हज़ारों और लाखों सैनिक देश के लिये लड़ने जाते हैं, वे सभी कहीं महात्मा नहीं होते। उनके भी बालबच्चे होते हैं। दस या पन्द्रह रुपये पानेवाला मनुष्य बाल-बच्चों के

लिये क्या बचत कर सकता है ? स्त्रियों और लड़के-लड़कियों को आश्रित दशा में रहने की हमने आदतें डाल रक्खी हैं। इसी से हमें अज्ञात भविष्य में गोता लगाने में भय होता है। प्रति दिन परिश्रम करके रोटियाँ पैदा करना और भविष्य की ज़रा भी चिन्ता न करना, इसमें जो वीर-रस है, उसकी मधुरता अनुभव के बिना समझ में नहीं आती। कुशलता, सुशिक्षितता तो जीवन की विध्वंसक है। भविष्य की सन्दिग्धता—नित्य-नूतन युद्ध यही तो जीवन का सार है। इसका स्वाद जिन्हें नहीं मिला उन्हें तो अभागे ही समझिए। जिसका भविष्य सुरक्षित है उसमें धार्मिकता का होना बहुत ही कठिन है। जो सुरक्षितता को चाहता है, वह वास्तव में नास्तिक ही है। जैसे, बालक माता-पिता पर विश्वास रखकर निश्चिन्त रहता है उसी तरह वीर पुरुष को माङ्गल्य पर विश्वास रखना चाहिये। जहाँ सुरक्षितता है वहाँ न पुरुषार्थ, न धार्मिकता, न कला और न काव्य ही होता है।

जो मनुष्य स्वेच्छापूर्वक गरीबी धारण करता है, वह वीर बन जाता है। अन्यायी मनुष्य को वह काल के समान भासित होता है। पण्डितों को कृपानिधि जान पड़ता है, वह बड़ी से बड़ी सल्तनत का सामना कर सकता है, और धर्म का रहस्य भी उसको प्रकट होता है। ग़रीबी वीर मनुष्य की खुराक है, ईश्वर का प्रसाद है और धर्म का आधार है। जब इस तरह के गरीब देश में बढ़ेंगे, तभी देश की ग़रीबी दूर होगी, फ़ाकेकशी मिटेगी, लोगों में हिम्मत आयेगी और आज जो बात असंभव मालूम होती है, वही आगे संभव और सुलभ हो जायगी।

गुजरात में देश के लिए असीम प्रेम है, दया-धर्म है, विद्वत्ता

भी है। चतुर और उत्साही पुरुषों की तो गुजरात खान ही है; गुजरात में ज्ञान है; एक विशिष्ट संस्कृति है; सार्वजनिक कार्य करने का अभ्यास है। केवल ज़रूरत है—युवकों को ग़रीबी धारण करने की, लगन लगने की। आज हिन्दुस्थान में गुजरात की जो ख्याति है, वह गुजरात के व्यापार के कारण से नहीं, उसके संगृहीत रुपयों के कारण भी नहीं। गुजरात की ख्याति हुई है उसके पुत्रों के इस वीर-धर्म को—ग़रीबी को स्वेच्छापूर्वक धारण करने के कारण। देश के करोड़ों मनुष्य ऐसे ही मनुष्यों से उद्धार की आशा रख सकते हैं, क्योंकि ऐसे लोग ग़रीबी धारण करके पहले स्वयं अपना उद्धार कर लेते हैं।

ग़रीबों की दुनिया

मानव-जाति के इतिहास के मानी क्या हैं? भिन्न भिन्न मानव-जातियों के सम्मुख भिन्न भिन्न प्रसङ्गों पर खड़े हुए अनेकों प्रश्नों की उलझनें और उनके सुलझाने के लिए किए हुए मानव-प्रयासों का वर्णन। इस दृष्टि से आज यूरोप के इतिहास का अवलोकन हमारे लिये बहुत ही बोध-प्रद है। क्योंकि यूरोप ने अन्तिम शताब्दी में अपने पुरुषार्थ से सारे संसार पर भला या बुरा प्रभाव डाला है।

अन्धकार के युग में से उबर जाने के बाद के यूरोप के इतिहास में हम प्रायः भिन्न भिन्न राजवंशों के अभिमान, महत्त्वाकांक्षा और चतुराई ही देखते हैं, मानो इतिहास में सामान्य प्रजा का अस्तित्व ही नहीं था।

जैसे महाभारत में अठारह अक्षौहिणी सेना के युद्ध में गिने जाने और कट जाने के सिवा और कोई अर्थ ही नहीं, अथवा जिस तरह चित्र के पीछे उसे धारण करने के लिए पट होता है, ठीक वैसी ही दशा यूरोप में सर्वसाधारण जनता की थी, यों कहा जाय तो अयथार्थ न होगा। रूस, प्रशिया और आस्ट्रिया इन तीनों राज्यों ने यूरोप की एक महान् जाति के प्रति घोर अन्याय करके प्रजाओं को ऐतिहासिक महत्त्व दिया। जिस दिन पोलेण्ड के टुकड़े टुकड़े किए गए, उसी दिन यूरोप में राष्ट्रीयता

का जन्म हुआ। इटालियन देश-भक्त जोसेफ मॅजिनी ने अपने तत्त्व-ज्ञान से और कठोर तपश्चर्या से राष्ट्रों को नाम, रूप और महत्त्व समर्पित किया और उसी दिन से यूरोप के युद्ध और सुलहनामे अर्थात् सन्धि-विग्रहादि राष्ट्रों के नाम से होते हैं।

वर्तमान समय औद्योगिक प्रगति का युग होने से राजसत्ता किसी न किसी तरह व्यापारियों के हाथों में चली जाती है। ये व्यापारी अपने स्वार्थ के लिए भोली-भाली जनताओं में राष्ट्रीय अभिमान, द्वेष और ईर्षा सुलगाकर उन्हें लड़ाते हैं और भयंकर संहार कराकर उसका आर्थिक लाभ तो स्वयं चाट जाते हैं, किन्तु उसका भार तथा आपत्तियाँ मात्र उन ग़रीब प्रजाओं को ही उठानी पड़ती हैं।

जब तक यूरोप के शासनसूत्र राजवंशों के हाथों में थे, तब तक बाहरी दुनिया के साथ उसका अधिक सम्बन्ध नहीं हुआ था; परन्तु जिस दिन से औद्योगिक युग का आरम्भ हुआ, उसी दिन से यूरोप के झगड़े सारी दुनिया को बाधक होने लगे।

जिस प्रकार अन्यान्य सभी खण्डों की प्रजा, यूरोप के इन झगड़ों के कारण थक गई है, उसी प्रकार वहाँ का मजूर-दल भी इनके कारण उतना ही व्याकुल हो उठा है। वह कहता है कि "यह मान लेना भ्रमात्मक है कि आज यूरोप में पन्द्रह या अठारह राष्ट्र हैं। यूरोप में तो केवल दो ही राष्ट्र हैं। एक धनिकों का और दूसरा निर्धनों का। धनवान-राष्ट्र समर्थ और सुसंगठित है। पर निर्धन-राष्ट्र असहाय और छिन्न-भिन्न है। इसीलिए तो धनिक निर्धनों को अपना दास बना कर उनका खून चूस सकते हैं। यदि निर्धनों का वर्ग सुसंगठित हो जाय, ऐक्यपूर्वक रह

कर किसी योजना को तैयार कर, उसको पूरी कर सके, तो उसके पास मनुष्य-बल तो इतना है और राष्ट्रीय जीवन की एक एक नस इस तरह संपूर्णता के साथ उसके हाथों में है कि वह जिस क्षण चाहे, उसी क्षण अपनी मनमानी कर सकता है।" इसी ख्याल से वहाँ मजदूरशाही अथवा बोलशेवीज्म का जन्म हुआ। यूरोप में अब सधन और निर्धनों के बीच महान विग्रह शुरू हो गया है। यह कहना कठिन है कि कब और किस तरह इस विग्रह का अन्त होगा।

शंकराचार्य ने जिस समय 'अर्थमनर्थं भावय नित्यं' कहा था उस समय शायद उनके दिल में अपने बचन का इतना व्यापक अर्थ नहीं आया होगा। जब तक लोग इस तरह धन के लिए एकसा लड़ते रहेंगे, तब तक इस मानवता को सुख और शान्ति कैसे नसीब हो सकती है? 'अद्वैत' की तरह इस विग्रह में भी 'द्वितीया द्वै भवं भवति।' जब तक ये दो रहेंगे, युद्ध बराबर जारी रहेगा। सवनाश किये बिना यह विग्रह शान्त नहीं होगा।

पर श्रद्धा कहती है, 'नहीं, सर्वनाश के लिए इस मानवता की सृष्टि नहीं हुई है।' भगवान् ईसा ने कहा है कि यह दुनिया ग़रीबों के लिए है। पर ग़रीबों के मानो उपर्युक्त रीति के निर्धनों से नहीं है। क्योंकि, वे तो दोनों सधन और निर्धन भी, धन की वासना से पूर्णतया व्याप्त हैं। अतः वे दोनों ही धनवान ही हुए। जहाँ एक धन के मद से मत्त है, तहाँ दूसरा धन-लोभ से अन्धा हो रहा है। दोनों ही में धन की विकृति है। अतः जिसमें धन की विकृति है, वह ग़रीब नहीं, धनवान ही कहा जायगा। यह दुनिया धनवानों की नहीं, ग़रीबों की है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो समस्त यूरोप धनवान है। पूँजी-पति भी धनवान और बोलशेविक भी धनवान। क्योंकि दोनों धन-परायण हैं, धन को चाहने वाले हैं, उसके लिए पागल हो रहे हैं।

ये दोनों प्रकार के धनवान भले ही संसार में मनमाने लड़ें, कानून के पंडित भले ही चाहे कितने ही प्रकार से संपत्ति के विभाग करके देख लें, पर इस तरह संसार में कदापि शांति का साम्राज्य नहीं होगा।

यूरोप में अल्पसंख्यक लोगों के हाथ में धन है। निस्सन्देह यह स्थिति विषम है। परन्तु यदि निर्धन लोग भूखे भेड़िये की तरह हमेशा उस संपत्ति को लूटने की ताक में रहेंगे, तब तो वह विषमता और भी भयंकर हो जायगी। पर यह बात निर्धनों के ख्याल में नहीं आती। उनमें इतनी श्रद्धा का उदय होना ज़रूरी है कि धनिकों को बिना लूटे ही अपनी विषमता दूर हो सकती है।

इसके लिए निर्धनों को कुछ करना चाहिए। अपनी आव-श्यकताओं को वे घटावें और अत्यंत स्वाभाविक ज़रूरतों को स्वावलम्बन द्वारा पूरी करना सीख लें। फिर वे देखेंगे कि न तो धनवानोंके पास अधिक धन जा रहा है और न वहाँ एकत्र ही हो रहा है। बड़े पैमाने पर वस्तुओं को पैदा करना और उन्हें देश-देशान्तरों में भेजना अथवा संक्षेप में विराट् रूप से श्रम-विभाग करना ही इस विषमता का मूल कारण है। इस विषमता को दूर करने ही के लिए स्वदेशी धर्म का अवतार हुआ है। स्वदेशी के पालन से कोई भी मनुष्य धनिक न हो

सकेगा और न उससे किसी मनुष्य के निर्धन होने का ही डर है। यदि हमें एक जगह ऊँचा टीला करना है तो दूसरी जगह अवश्य ही गड्हा खोदना होगा। जहाँ सधनता का अभाव है, वहीं निर्धनता का भी अभाव हो सकता है। संपत्ति और दारिद्र्य दोनों सनातन पड़ोसी हैं। दोनों का नाश एक साथ ही हो सकता है। बोल्शेविज्म द्वारा नहीं, स्वदेशी धर्म द्वारा।

यदि परमात्मा चाहेंगे तो अब से आगे के ज़माने के लोगों में दो वर्ग होंगे—एक धन-परायण और दूसरा संतोष-परायण। एक होगा साम्राज्यवादी और दूसरा होगा स्वराज्य-वादी। एक होगा सत्तावादी और दूसरा होगा सत्यवादी। एक आतंक जमाना चाहेगा, दूसरा दया का शीतल स्रोत बहावेगा। एक ऐश्वर्य-परायण होगा और दूसरा होगा स्वधर्म-परायण। एक अहंकारवादी और दूसरा स्वदेशी।

संयम में संस्कृति

संयम संस्कृति का मूल है। विलासिता, निर्बलता और अनुकरण के वातावरण में न संस्कृति का उद्भव होता और न विकास ही। पच्चीस वर्ष तक दृढ़ ब्रह्मचर्य रखने वाले की सन्तान जैसी सुदृढ़ होती है, उसी तरह संयम के आधार पर निर्माण की हुई संस्कृति प्रभावशाली और दीर्घ-जीवी होती है।

ऋषियों ने तपस्या और ब्रह्मचर्य के द्वारा मृत्यु के ऊपर विजय प्राप्त कर के एक अमर-संस्कृति को उत्पन्न किया। बुद्ध-कालीन भिक्षुओं की योगियों की तपश्चर्या के परिणाम-स्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और आर्य-संस्कृति का विस्तार हो पाया। शङ्कराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर स्वामी की तपस्या से अहिंसा-धर्म का प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन व्यतीत करके ही सिक्ख गुरुओं ने पञ्जाब में जागृति की। त्याग के झंडे के नीचे ही सीधे-सादे मराठों ने स्वराज्य की स्थापना की। बङ्गाल के चैतन्य महाप्रभु मुख-शुद्धि के लिये एक हर्रे भी न रखते थे, उन्हीं से बङ्गाल की वैष्णव-संस्कृति विकसित हुई। संयम ही में नई संस्कृति उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। साहित्य, स्थापत्य, सङ्गीत, कला और

विविध धर्म-विधियाँ संयम ही की अनुगामिनी हैं। पहले तो संयम कर्कश और नीरस लगता है, परन्तु उसीसे संस्कृति के मधुर फल हमें प्राप्त होते हैं।

जो कला के पक्षपाती संयम को अप्रतिष्ठित कर देना चाहते हैं, वे संस्कृति की जड़ ही पर कुठाराघात करते हैं।

पञ्च महापातक

शास्त्रों में अनेक तरह के पापों का वर्णन है। झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना इत्यादि अनेक पाप हैं। किन्तु पापों का एक और भी प्रकार है, जिसका नामोच्चारण और निषेध होना ज़रूरी है। ये पाप इन सामान्य पापों से कम भयङ्कर नहीं हैं। भयभीत दशा में रहना, अन्याय सहना, पड़ोसी पर होते हुए अन्याय को चुपचाप देखते रहना, आलस्यमय जीवन व्यतीत करना और अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। इनमें अपनी आत्मा ही के प्रति द्रोह है। संसार में जहाँ जहाँ अन्याय होता है, वहाँ वहाँ अत्याचार करनेवाला तो ज़रूर ही पापी होता ही है, पर अत्याचार को सह लेने वाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुबला या डरपोक बन कर दूसरों को अत्याचार करने के लिये ललचाता है, वह भी समाज का कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूह में जो मनुष्य सब से धीरे चलता हो, सभी समुदाय को उसी की चाल से चलना पड़ता है। निर्बल लोग संघ की गति को रोकते हैं। ठीक इसी तरह जो लोग मनुष्य की जीवन-यात्रा में पोले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्य की प्रगति को रोकते हैं। जैसे हम निर्बलों का साथ पसन्द नहीं

करते, वैसे ही उन्नति-मार्ग में चलने वाली जातियाँ निर्बल और अन्याय-सहिष्णु लोगों को पसन्द नहीं करतीं।

❀ ❀ ❀ ❀

परन्तु मानवी-समुदाय में पसन्दगी करना किसी के हाथ में नहीं। इस संघ को तो ईश्वर ही ने तैयार किया है और वही स्वयं इसका नेता भी है। इसलिये जितने ही हम इस संघ से पीछे रहेंगे, उतने ही हम उस संघ-नायक के द्रोही होंगे।

* * ❀ *

अज्ञानी रहना भी एक महापाप है। वह भी संघ-द्रोह या समाज-द्रोह ही होगा, यदि हम उतना ज्ञान भी प्राप्त न कर लें जितना कि हम ग्रहण कर सकते हैं, अथवा जितना जीवन-यात्रा के लिये निहायत जरूरी है। विशेष कर जिनके सिर पर अनेक मनुष्यों को राह बतला कर उन्हें ले चलने का उत्तरदायित्व पड़ा हुआ है, जो समाज के अग्रगण्य नेता समझे जाते हैं, यदि वे संसार की स्थिति से, समाज के वर्तमान आदर्श से और संसार के सम्मुख समुपस्थित बड़े बड़े प्रश्नों से अभिज्ञ न रहें, तो उन्हें वही पाप लगेगा जो समाजघात का होता है। हिन्दू-समाज में राजा और साधु-वर्ग दोनों समाज का अगुआपन करते आये हैं। एक श्रीमान् होता है, तहाँ दूसरा अकिञ्चन। एक बड़े परिवार वाला है, तहाँ दूसरे के परिवार ही नहीं होता। एक सत्ता के बल पर कार्य करता है, तहाँ दूसरा सत्य के बल पर। एक में होती है प्रभुता, दूसरे में होता है वैराग्य। ऐसे परस्पर-भिन्न जीवन वाले और भिन्न आदर्श वाले वर्ग के हाथ में समाज का अगु-

आपन सौंप कर प्राचीन काल में समाज-व्यवस्थापकों ने समाज की उन्नति का मार्ग सुरक्षित कर दिया था। किन्तु दुर्भाग्य-वश इन दोनों वर्गों को उनकी सम्पूर्णता के भ्रम ने पछाड़ा। दोनों वर्गों ने अज्ञानी रहने का पाप किया और समाज-द्रोह उनके सिर पर आ पड़ा। साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हों, भले ही दश ग्रन्थ उन्हें मुखाग्र हों, किन्तु जब तक वे जगत् की परिस्थिति को न समझेंगे, समाज की नब्ज़ की परिक्षा न कर सकें, समाज को उसकी अपनी भाषा में यह न समझा सकें कि उसकी उन्नति का मार्ग किधर से होकर आता है, तब तक वे अज्ञानी ही हैं। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा क्यों हुई? इसीलिये कि वे अपने सामाजिक कर्तव्यों को पहचानते थे।

राजाओं का भी ऐसा ही है। पुरुषार्थ के बाद लक्ष्मी आती है, इस बात को भूल कर लक्ष्मी इकट्ठी करने की धुन में वे पुरुषार्थ को खो बैठे हैं। समाज का नेतृत्व करने के बदले, उसे दबाने ही में उन्होंने अपनी शक्ति का व्यय किया है।

खून और पसीना

हम शरीर का मैल पानी से धो सकते हैं, कपड़ों का मैल साबुन से मिटा सकते हैं, बर्तनों के दाग इमली या किसी अन्य खटाई से मिटा सकते हैं, परन्तु सामाजिक दोष और राष्ट्रीय पाप किस पदार्थ से धोये जा सकते हैं? इसके लिये शाब्दिक प्रायश्चित ही काफ़ी नहीं है। नदियों या समुद्र में जाकर स्नान कर लेने से काम नहीं चल सकता। वह तो ठेठ अन्तःकरण के प्रायश्चित्त से, आन्तरिक परिवर्तन से ही साफ़ हो सकता है। राष्ट्रीय और सामाजिक पाप के धोने के लिये साधारण पानी काम नहीं दे सकता, वह तो हमारे खून और हमारे पसीने से ही धोया जा सकता है।

इसी से ईश्वर की योजना के अनुसार प्रत्येक धर्म की स्थापना के पूर्व मनुष्यों का गरम खून बहा है। खून की दीक्षा ही से हृदय पलटता है और पाप धुल जाते हैं। खून ही से इस्लामी धर्म स्थापित हुआ, खून ही से यूरोप जैसी कड़ी जमीन में जड़ ईसाई-धर्म की मज़बूत हुई, खून ही से सिक्ख-धर्म फूला-फला और ईश्वरेच्छा यही मालूम होती है कि सत्याग्रह भी खून ही के द्वारा विश्वमान्य होगा।

खून और पसीने में कोई भेद नहीं। जैसे दूध और घी दोनों खून और माँस के निचोड़ हैं, वैसे ही पसीना भी मनुष्य के खून

ही का द्रव है। किसी पर जबरदस्ती करके उससे सेवा लेना, उसका पसीना बहाना, उसका वध करने के समान ही है। फ़र्क यही है कि यह वह सुधरा हुआ, सूक्ष्म और धीरे धीरे असर करनेवाला है। गुरु-का-बाग में डंडों की मार से खून बहाने और हिन्दुस्थान की दीन प्रजा को अपने सैनिक खर्च को चलाने के लिये निचोड़ डालने में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। उसी प्रकार आफ्रिका के जंङ्गली मनुष्यों का दूसरे मनुष्यों को मारकर खाने और सेठों के गुलामों की मजदूरी से पैसे खाने में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं। किसी देशकी प्रजा को गुलाम बना, उससे जबरदस्ती से मजदूरी लेकर उन्हें शर्तबंद कुलियों की हालत को पहुँचा देना भी उतना ही बड़ा मनुष्य वध है, जितना बड़ा कि किसी देश पर चढ़ाई करके उसके लाखों निवासियों को जान से मार डालने में है।

दूसरे के खून को बहाने के समान महापाप नहीं! इसी तरह इच्छा-पूर्वक और ज्ञानपूर्वक अपने खून का बलिदान करने के बराबर प्रायश्चित्त भी नहीं। जिस प्रकार दूसरे का खून लेने के बदले उसका पसीना लेने का एक नया तरीका संसार में निकला है, उसी प्रकार अपने खून का बलिदान करने के बजाय अपना पसीना दे देना अधिक सशास्त्र प्रायश्चित्त है। पापी मनुष्य जब चाहे तभी दूसरे का खून कर सकता है; परन्तु दूसरे का पसीना तो उसके सहयोग ही से उसे मिल सकता है। इसके विपरीत, जहाँ प्रायश्चित्त में हम खून देने को तैयार होते हैं वहाँ हम अपना खून तभी दे सकते हैं जब जालिम हमें सहायता करे। पञ्जाब-सरकार की सहायता न होती तो शूर-वीर अकालियों को धर्म के लिये अपना खून अर्पण करने का अवसर कैसे मिलता? परन्तु हम अपना पसीना तो जब

चाहें, तभी स्वेच्छा से बलिदान में दे सकते हैं। इसमें अत्याचारी की सहायता की आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय प्रायश्चित्त, आत्मशुद्धि के लिए, देवी स्वतंत्रता के प्रीत्यर्थ बलिदान में अपना पसीना, अपना परिश्रम, अविश्रान्त परिश्रम अर्पण करने के लिए अपने प्रति निर्दय बनकर काम करने ही का नाम रचनात्मक कार्यक्रम है। रचनात्मक कार्य की वीरता बाहर से नहीं दीखती, किन्तु इससे उसका महत्व भी कम नहीं हो जाता। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता हो, उसे सदा अपना खून देने की तैयारी रखनी चाहिये और जब तक वैसा मौका नहीं मिलता, रचनात्मक कार्य में अपना पसीना बहाते रहना चाहिये, और साथ ही यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं न तो किसी का खून बहाने का पाप करूँगा और न किसी से उसका पसीना बहाकर, उससे अनुचित लाभ ही उठाऊँगा।

रूपान्तर और देहान्तर

कोई सहृदय मनुष्य भिन्न २ वस्तुओं के बीच में कोई ऐसा साम्य देखता है, जो आश्चर्य या आनन्द उत्पन्न करता है। तब वह इस श्रद्धा से कि अन्य मनुष्यों में भी वही सहृदता भरी है, उस साम्य को उपमा के रूप में प्रकट करता है। दूसरा मनुष्य यही उपमा तीसरे मनुष्य को बतलाता है। और इस तरह लगभग सारा समाज भाषा के इस अलङ्कार से विज्ञ हो जाता है। समय पाकर इस उपमा की नवीनता और चमत्कार कम हो जाते हैं और वह नीरस बन जाती है। फिर जिस प्रकार हम दूध को उबालकर उसका मीठापन बढ़ाते हैं, उसी प्रकार इस उपमा के शब्दों को कम करके हम उसका एक रूपक बनाते हैं। रूपक समाज और भाषा की उन्नति का चिन्ह है। बिना एक विशिष्ट संस्कार के प्राप्त हुए रूपक नहीं बन सकता। हम कारक प्रत्ययों को उड़ाकर सामासिक शब्द बनाते हैं। यह भी भाषा और मनुष्य की विचार-शक्ति की उन्नति प्रकट करते हैं। समास के भीतर जो ओजस् है, वह विचार-शक्ति ही का ओजस् है। समय पाकर यह समास या यह रूपक सर्वत्र फैलता है, सभी लोग उससे काम लेते हैं, शनैः शनैः हम यह भाव भी भूल जाते हैं कि इसकी जड़ में दो वस्तुओं के मध्य का सम्बन्ध है। इस

तरह तो आप मुझ से पार न पाएँगे, हम लगभग भूल ही गये हैं कि इस वाक्य में नदी अथवा समुद्र को नाँघ जाने की कल्पना है।

इस अलङ्कारिक भाषा में प्रौढ़ता तो है, परन्तु उसका सार्वत्रिक व्यवहार होने से उसका प्राण निकल गया है, केवल उस संस्कार का ढाचा मात्र रह गया है। भाषा में शब्द-रचना बढ़ गई; किन्तु उसी परिमाण में उसका अर्थवाहित्व कम हो गया। शिक्षा का कार्य है, उस अर्थवाहित्व को जाने न देना, या जो गया है, उसका पुनरुद्धार कर देना। पुराने भूले हुए संस्कारों को जागृत कर देना भी उतना ही महत्वपूर्ण काम है, जितना नई उपमाओं का खोजना, नये संस्कारों का निर्माण करना। इसीलिए शब्दों और अलङ्कारों की व्युत्पत्ति के खोजने को उच्च शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अङ्ग हम मानते हैं। 'कुशल,' 'अनुकूल,' 'गोत्र,' और 'अलङ्कार' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति खोजने से हमें कुछ पुराना इतिहास मिलता है! और फिर इन शब्दों का उपयोग करके हम गहरे भाव व्यक्त कर सकते हैं। शब्दों का इतिहास जानने से शब्द की शक्ति का ठीक ठीक नाप लगाया जा सकता है। हर एक शब्द के कुल, गोत्र इत्यादि के ज्ञान से हमारी भाषा शुद्ध और प्रतिष्ठित होती है। इसीलिए तो अच्छेय आदि ग्रन्थों के अध्ययन को शिक्षा में अत्यंत महत्वपूर्ण विषय समझा गया है। आदि ग्रन्थों का अध्ययन करके हम विचारों और भाषा का मूल जान सकते हैं।

भाषा-वृद्धि के इस तत्त्व को देखकर हम उसका शिक्षा में उपयोग करते हैं, इसी तरह हमारे आचार-व्यवहारों के सम्बन्ध में भी होना चाहिए। जब हमारे दिल में जन-समाज के सुख के

लिये कुछ करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब हम उसके अनुसार कुछ परोपकार का काम करते हैं। यदि वह काम समाज को अनुकूल जँचा तो धीरे धीरे वही रिवाज या आचार में परिणत हो जाता है। अतिथि-सत्कार, प्रियजनों से सहानुभूति की समवेदना आदि रिवाज इसी तरह के हैं। पहले तो सामाजिक सेवा की वृत्ति से परोपकार का कार्य होता है, फिर वही कर्म जब रिवाज बन जाता है, तब इस रिवाज़ के कारण समाज-सेवा की वृत्ति उत्पन्न होती है या टिकी रहती है। सामाजिक संस्कार, जातीय रिवाज या प्रथायें अथवा विवेक इत्यादि वस्तुओं के भीतर ओजस् होता है। यही सच्चा सुधार भी है। किन्तु अधिक समय बीत जाने पर, इन प्रथाओं का भीतरी तत्त्व भुला दिया जाता है, संस्कृति का प्राण उड़ जाता है और उस ओजस् का प्रथा के रूप में केवल ढाँचा रह जाता है। प्राण का स्वभाव ही यह है कि वह एक ही शरीर में बहुत समय तक स्थिर नहीं रहता। जीवित अवस्था में भी हमारे शरीर में प्रतिदिन रूपान्तर होता रहता है। जब हमारी यह रूपान्तर करने की शक्ति घट जाती है, तब हमें शरीरान्तर करना पड़ता है। भाषा में भी उपमा से रूपक तक का रूपान्तर होता है। फिर इसी साम्य को बतलाने के लिए नई उपमा की सृष्टि होती है। बस, वही शरीरान्तर है।

ठीक यही बात रिवाजों की भी है। प्रथाओं के भीतर जो प्राण है, उसे यदि स्थिर रखना हो, संस्कृति को तेजस्विनी बनाये रखना है, तो इनके भीतर भी रूपान्तर और शरीरान्तर करना जरूरी है। शिक्षा-द्वारा हम पुरानी जीर्ण-संस्कृति का रूपान्तर करते हैं और नवीन संस्कृति का रास्ता साफ़ करते हैं।

अर्थात् अध्ययन में निरन्तर भूत और भविष्य के प्रान्तों को स्पर्श करते रहना चाहिए। यह नियम अत्यन्त रहस्यपूर्ण और महत्त्वपूर्ण है। यह तो शिक्षा-शास्त्र का एक आधार-स्तंभ ही है। संस्कृति को सुरक्षित रखने का मूलमंत्र भी यही है। हमने पातिव्रत-वृत्ति का विकास सती-दहन तक किया। यदि प्रत्येक सत्कर्म को हम प्रथा का रूप दे देते हैं तो पहले पहल तो उसका ओजस् खूब बढ़ता है, किन्तु बाद में वह निष्प्राण खोखला बन जाता है। इसीमें संस्कृति का नाश है। अतः शिक्षा द्वारा संस्कारों को सदा चैतन्य प्राण देकर संस्कृति के अग्नि को सदा प्रज्वलित बनाये रखना जरूरी है। रूढ़ि या विचारों का अभाव दोनों संस्कृति रूपी अग्नि को ढाँपने वाली राख हैं। समाज को चाहिए कि अपना जीवन विचारवान् बनाकर, अर्थात् निरन्तर शिक्षा रूपी फूंकों के द्वारा अग्नि पर ओटने वाली राख को उड़ाते रहे। और यथासमय उसका रूपान्तर और देहान्तर भी करता रहे। संस्कृति को प्राणवान् और विकासशील बनाये रखने का यही तरीका है।

युद्ध का मर्म

जब मनुष्य पानी में तैरना सीखता है, तब एक दो दिन तो कितना ही परिश्रम करने पर भी उसे प्रगति का एक भी चिन्ह नहीं दिखाई देता। निराश होकर वह दिल ही में कहता है कि, "सब तैरना जानते होंगे, किन्तु मुझे तो तैरना कभी नहीं आवेगा।" इस तरह की निराशा के उद्वेग में यदि वह अपने प्रयत्न को न छोड़ कर सिर्फ एक ही दिन अधिक प्रयत्न करता है, तो उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि मैं बिना किसी तरह की बाहरी सहायता के ही पानी में तैर रहा हूँ। किन्तु फिर भी उसे विश्वास नहीं होता। उसे मालूम होता है कि ज़रूर मैं कहीं भूल रहा हूँ। अभी पानी में तैर ज़रूर रहा हूँ, किन्तु दूसरे ही क्षण में डूब जाऊँगा। इस तरह फतह हासिल कर लेने पर भी उसे आत्म-विश्वास नहीं होता ?

हमारा, यह स्वराज्य-प्राप्ति का प्रयत्न भी इसी तर्ज़ का है। संसार के प्रातःकाल से जो राज्य सुधरा हुआ गिना जाता था, जो राज्य इतिहास के आरंभ से ही संसार में अग्रगण्य समझा जा रहा था, उसे स्वराज्य प्राप्त कर लेने में ही कितनी देर लगेगी? भारत का साम्राज्य हाथ में आ जाने पर भी अँगरेजों को यही आश्चर्य होता था कि इतना बड़ा साम्राज्य इतने स्वल्प प्रयत्नों से ही कैसे हाथ लग गया ? स्वराज्य प्राप्त कर लेने के बाद हमें भी यही

में पुराने ज़माने का अन्त हो गया है और नव-युग शुरू हो गया है। क्या ऐसे समय भारत के विद्यार्थी मुर्दे की शान्ति, हाँ, मरे मुर्दों की निश्चेष्टता ही प्रकट करते रहेंगे? क्या वे अपने अगुआओं की तपश्चर्या को निष्फल कर देंगे? क्या इस समय विद्यार्थी और जय तथा पराजय का हिसाब लगाते रहेंगे? यह होही कैसे सकता है? हिन्दुस्थान का नेतृत्व आज गुजरात के घर आया है। गुजरात ने ही स्वतन्त्र विद्यापीठ स्थापन कर के इसे बताया है।

कितने ही विद्यार्थी इसी विचार में पड़े हुए हैं कि भविष्य में क्या होगा, क्या आशायें Prospects हैं, कुशल किधर है? दूसरे कितने ही विद्यार्थी देश में अगुआओं से शर्तें कर रहे हैं, मानो भारत उन नेताओं का जागीरी गाँव हो, और वे खुद वेतन के लिये किराये के—अपना जीवन बेचने वाले—सिपाही हों। आज का युद्ध अँगरेज़ी राज्य को निकाल कर किसी दूसरे राजा का राज्य स्थापन करने के लिए नहीं, यह युद्ध तो स्वराज्य के लिए है, धर्म-राज्य स्थापन करने के लिए है। यह युद्ध कपट युद्ध नहीं जिसमें कपट-पटु सेनापति की ज़रूरत हो। युवको, किस लिये नेताओं की राह देख रहे हो? जिनके हृदय में सत्य हो, बहादुरी हो, वे अपनी शक्ति का हवन करके, कुरबानी करने को तैयार हो जायँ, घूम कर पीछे देखने का ख्याल भी दिल में न लावें, तभी तो कल्याण है। अगुआओं के पास जाकर उन्हें हमारे चरितार्थ की व्यवस्था करने को कहकर उनका काम और कठिन करने का यह समय नहीं है। क्या हमारे नवयुवकों में इतनी भी हिम्मत और कल्पना नहीं है कि स्वाधीनता के इस युद्ध के कुसमय में अपनी बहादुरी और बुद्धि-

शक्ति से फ़तह हासिल करलें। उनका मुख्य काम तो यही है कि दूसरों के अन्दर भी वही नव-जीवन की ज्वाला प्रज्वलित कर दें, जो खुद उनके अंदर जगमगा रही है। खुद आपके तथा दूसरे के अंदर भी यह भावना और निश्चय कर लें कि प्राण दे देंगे किन्तु अब पराधीन गुलाम बनकर नहीं रहेंगे।

कार्थेंज की अबलाओं ने शस्त्रास्त्रों के अभाव में अपने लम्बे बाल काट कर उनसे बहुत अच्छी डोरियाँ बना बना कर कार्थेंज के वीरों को सजाया था और उन्हें युद्ध करने के लिए भेजा था। क्या स्वराज्य प्राप्त करने के लिये, हिन्दुस्थान की नग्नावस्था की लज्जा बचाने के लिये, हम अपने तीन हज़ार वर्षों के साथी चरखे को हाथ में नहीं ले सकते? घर से पचीस पचीस, तीस तीस रुपये लाकर कालेजों में पढ़ने वाले विद्यार्थी क्या अपना निर्वाह अपनी ओर से नहीं चला सकते? काशी के असहयोगी विद्यार्थियों से पूछिए। वे अपने असहयोगी अध्यापक श्री जीव-राम कृपालानी के पास गये और उनसे कहा, 'हमें घर से पचीस रुपये इस महीने के मिले हैं, हम पचीस रुपये में एक की जगह दो मनुष्यों का निर्वाह करेंगे, जिससे उतने ही रुपयों में हमारी दूनी संख्या का निर्वाह हो। आप जितना पढ़ा सकें पढ़ाइयेगा, शेष समय हम अपने अपढ़ भाइयों के पढ़ाने में व्यतीत करेंगे। रात्रि-शाला चलायेंगे?' उनकी तपस्या प्रारम्भ हुई और इसी विशुद्ध और कठिन तपश्चर्या के पाये पर काशी का नया राष्ट्रीय विद्या-पीठ स्थापित हुआ है। वे लोग नेताओं के पास यह पूछने के लिए नहीं गये थे कि हमारा क्या होगा? हमारा क्या होगा, इसका उत्तर वे खुद भी वह नहीं जानते थे कि आगे उनका क्या

होगा किन्तु गुरु भी वैसा ही था। उसकी जेब में केवल सौ रुपये थे। अन्त में काशी धनिकों को लज्जा उत्पन्न हुई, उन्होंने आकर पूछा—'आप सबका निर्वाह किस तरह होता है ?' और बिना माँगे सहायता दी। जहाँ इस तरह की श्रद्धा हो, वहीं वह श्रद्धा कही जा सकती है।

देहातों में जाने की बात सभी के गले उतरती है, परन्तु वहाँ जाकर क्या करना है; इसका विचार ठीक कर लेना चाहिये। वहाँ अधिकारी बन कर नहीं जाना है, वहाँ प्रायश्चित्त करने के लिए हमें जाना है। अन्न, वस्त्र, बुद्धि और कर्म हर एक विषय में विदेशी सरकार की सेवा करने के लिये, परदेशी लोगों के चरणों में यह सब अर्पण करने के लिये, हमने इतने दिन देहात को चूसा है, उसका प्रायश्चित्त करना है। हम उसका प्रायश्चित महासभा को साक्षी रख कर करेंगे। हमारा आत्म-बलिदान जितना सच्चा और बहुमूल्य होगा, स्वराज्य उतना ही हमारे नज़दीक आवेगा। लम्बे लम्बे व्याख्यानों से नहीं, किन्तु देशमें रहने वाली जनता की सच्ची सेवा करके उनका नेतृत्व प्राप्त करना चाहिये।

इस तरह देहात की जनता को हमें यह पाठ पढ़ाना होगा कि जब स्वराज्य का युद्ध, जब उनके गाँव तक पहुँचे, तब वे शान्त और मज़बूत रहें। और यही स्वराज्य-प्राप्ति की सच्ची तालीम है।

प्रथम स्नातकों के प्रति

जब असहयोग युद्ध का आरम्भ हुआ, तब राष्ट्र की इज्जत के लिये तुमने पहले पहल अपनी आहुति दी। तुमने सरकार की शिक्षा का त्याग किया। तुम्हें यह मालूम हुआ कि राष्ट्र के लिये इतना करना तो ज़रूर ही चाहिये और तुमने वह कर डाला। तुमने इस बात का विचार तक न किया कि तुम्हारा साथ कितने लड़के देंगे। तुमने आशा की थी कि तुम्हारे समान और भी हज़ारों को स्वार्थ-त्याग की प्रेरणा होगी। किन्तु यदि तुम्हारे ही समान सभी विद्यार्थी सरकारी शिक्षा का त्याग कर देते तो आज हम ज़रूर ही स्वराज्य-मन्दिर के दरवाज़े पहुँच गये होते। परन्तु उस के साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता कि अँगरेज़ी शिक्षा का दुष्ट प्रभाव बहुत गहरा पहुँचा था। यदि देश की आज्ञा होते ही देश का प्रत्येक विद्यार्थी सरकारी स्कूल-कालेज से बाहर हो जाता तो सरकारी शिक्षा के विरोध में अधिक कुछ कहने की ज़रूरत ही न रहती। इसीलिये तुम्हारा स्वार्थ-त्याग इतना मूल्यवान हो गया है! आत्मा को कुचल डालने वाली शिक्षा में रहने पर भी तुमने अपने आत्मा को जागृत रक्खा। इसी कारण तुम अपना मुक्ति-साधन कर सके।

सांसारिक दृष्टि से तुमने बड़ा ही स्वार्थ-त्याग किया है, परन्तु

वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो तुमने एक श्रेष्ठ स्वार्थ ही की साधना की है। मानहानि, तेजोवध, और बुद्धि-भ्रंश, जिस शिक्षा का पुरस्कार है, यदि तुमने उसका त्याग किया भी तो इसमें तुमने क्या गँवाया ? ऐसा जीवन—"ऐसी कैरीअर" कि जिससे स्वराज्य दूर हो—स्वराज्यवादी की दृष्टि से तो हराम ही है, अतएव तुमने गँवाया तो कुछ भी नहीं। परन्तु यह तुम्हारी बहुत भारी कीर्ति है कि इस स्वराज्यवादी दृष्टि का तुमने ऐसे समय स्वीकार किया—जब उसे बहुतेरे स्वीकार न कर सके थे। जिस परिस्थिति में तुम छोटे से बड़े हुए, जिन विचारों में तुम्हारा बचपन बीता, उसकी हीनता का ज्ञान होने पर फौरन ही तुम उसका त्याग कर सके, इस से यही जाहिर होता है कि तुम्हारा आत्मा प्राणवान है। सत्य मालूम होते ही उसका तुरन्त स्वीकार कर लेना, महात्माओं का जीवन-सिद्धान्त होता है। जीवन के आरम्भ ही में तुमने उस पर आरोहण किया और इसी से देश के अगुआओं को युद्ध आगे चलाने का साहस हुआ। तुम्हारे उत्साह को देख कर ही विद्यापीठ जैसी स्थायी संस्था के संस्थापन करने का अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया। अनेक विद्वान् तुम्हारी सेवा करने के लिये और तुम्हारे द्वारा अपने निष्फल जीवन का जहाँ तक बन सके सार्थक करने के लिये, अपने स्वप्नों को प्रत्यक्ष कार्य में परिणत देखने के लिये और अपने पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए, वे एकत्र हुए। तुम्हारा और तुम्हारे लिए किया गया स्वार्थ-त्याग महान् है। अब तुम उस स्वार्थ-त्याग के योग्य बनो, जिसमें कोई यह न कहे कि तुम्हारा त्याग क्षणिक उत्तेजना का परिणाम था। तुम्हारे सारे जीवन को इस बात की पूर्ति करनी चाहिए कि

जिस दिन तुमने सरकारी संस्थाओं को छोड़ा, उसी दिन तुम्हारे जीवन तत्वों में क्रान्ति हो गई, तुम द्विज बने।

सरकारी और राष्ट्रीय दोनों प्रकार की शिक्षा के संस्कार तुम पर पड़े हैं। जब तुम राष्ट्रीय महाविद्यालय में आये, तब वहाँ कुछ भी तैयारी नहीं थी। यह तो नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रीय-शिक्षा की सम्पूर्ण योजना का लाभ तुम्हें मिला है, परन्तु इसमें शक नहीं कि तुम्हें राष्ट्रीयता का चैतन्य जरूर मिला है, दोनों पद्धतियों का सामान्य स्वरूप तुम्हारी दृष्टि के सम्मुख है ही। तुम्हारे जीवन से अनायास यह सिद्ध हो जाना चाहिये कि राष्ट्रीय-प्रेरणा से मनुष्य के जीवन में कैसा अद्भुत परिवर्तन हो जाता है।

सत्याग्रही, असहयोगी और राष्ट्रीय विद्यार्थियों की आत्मशुद्धि-जन्य विनय, और विवेक तुम्हारा अलङ्कार है। स्वदेश, स्वधर्म और स्वभाषा की उन्नति की साधना के लिए तुम व्रतबद्ध हो अपने इष्ट देवता के समान ही तुम इन तीनों की पूजा करो। इन तीनों में तुम्हारी ऐसी भक्ति हो कि तुम्हारे सामने इन तीनों में किसी एक की भी अवहेलना या हँसी न होने पाये। स्वभाषा की प्रतिष्ठा गवाँ कर तुम कभी अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते। स्वदेश का अपमान सहकर तुम कभी अपने आत्म-सम्मान की रक्षा नहीं कर सकोगे। स्वधर्म की श्रद्धा खो कर तो तुम किसी समय भी आत्म-श्रद्धा का विकास नहीं कर सकते। स्वधर्म अग्नि के समान है। इसके सहवास से हमारे दोष जल जाते हैं और बाद वह हमें अपने समान ही तेजस्वी बना देता है। आज उस अग्नि पर कुसंस्कारों की राख पड़ गई है, इस

लिये उपेक्षा न करो, उस पर पानी न डालो, बल्कि अपने प्राणों से फूँक लगाकर उसे प्रज्वलित करो ।

तुमने अपने कुल-पति और आचार्य को साक्षी रखकर पवित्रता की वर्दी को पहना है और कंधे पर राष्ट्रीय ध्वजा के रङ्गों को धारण किया है। उसका अर्थ है—"मैं अपना मस्तक अर्पण कर दूँगा, परन्तु इस राष्ट्र-ध्वज का अपमान न होने दूँगा। भले ही अन्यान्य मनुष्य खादी की चर्चा करें; परन्तु तुम्हारे लिये तो वह धर्म की वस्तु है, वह तुम्हारी विद्या की प्रकाशक है। हम जैसे माता-पिता और वंश की चर्चा नहीं करते, ईश्वरीय देन समझ कर उसे शिरोधार्य कर लेते हैं, खादी के लिए भी तुम्हारे अंदर वही आदर हो। यह खादी तुम्हारे कुलपति की दीक्षा है। समस्त विद्याओं का मूल, संस्कृति का आधार—सत्य और अहिंसा, ये तुम्हारे कुलपति का मन्त्र है, इसे ग्रहण कर तुम संसार में संचार करो। तुम जिस किसी स्थिति में होगे, तुम्हारी विजय ही होगी। आज तुम्हें स्वराज्य के सैनिक की हैसियत से कार्य करना है। भारत की शालीनता और शूरता तुम्हारे द्वारा प्रकट होगी, इसलिये जहाँ कहीं दीन-दुर्बलों पर अत्याचार होते हों, वहाँ तुम निर्भय होकर अकेले होने पर भी युद्ध करना। जहाँ जहाँ क्षुद्र स्वार्थ, मत्सर या ईर्ष्या हो, वहाँ तुम उसे अपनी उदारता द्वारा लज्जित करो और प्रेम-पूर्वक अपने वश में करो। तुम स्वयं मुक्त हो जाओ और संसार को भी मुक्त करो। इसीमें तुम्हारी विद्या की सार्थकता है, क्योंकि—

सा विद्या या विमुक्तये ।

सुधार का मूल

रेल्वे में कई बार भीड़ न होने पर भी लोग झगड़ा करते हैं। यदि हर एक मनुष्य अपने बैठने योग्य जगह लेकर बैठ जाय तो सभी सुख से बैठ सकें, पर कितने ही लोग बिना कारण स्वार्थी और मनुष्य-शत्रु होते हैं। उनका यह हठ होता है कि लड़-भिड़ कर उन से जितनी जगह रोकी जा सके, उतनी रोक कर ही हम मानेंगे। फिर परवा नहीं यदि उन्हें ऐसा करते हुए ज़रा भी आराम न हो रहा हो, बल्कि उन्हें उलटा दुःख भी झेलना पड़ता है। बेंच के ऊपर अधिक जगह रोकने के लिये यदि बिस्तर न हो तो वे पलथी ही मार कर बैठेंगे और उस पलथी को भी इतनी पोली करेंगे कि पैरों की सन्धियाँ दुखने लग जायँ। जब तक उनकी लात दूसरे को न लग जाय, उनके मन में तब तक यह विश्वास ही नहीं होता कि हमारा स्वार्थ पूर्ण हो गया। जब तक उन के पैर दूसरे से न छू जायँ, यदि इसके पहले हर एक मनुष्य सौजन्य-पूर्वक एक दूसरे की ही सुविधा का ख्याल रखते हुए सन्तोष-वृत्ति का विकास करे तो किसी को भी दुःख न हो और सभी आराम से प्रवास कर सकें।

शहरों और देहात में जब लोग घर बनवाते हैं, उस वक्त भी इसी प्रकार पड़ोसी-पड़ोसी में झगड़ा
भी लोग सुख-दुःख अथवा

छोड़ कर महज़ स्वार्थ-धर्म के प्रति वफ़ादार बने रहने के लिये कई बार लड़ते हैं। यदि मेरी एक बालिश्त भर ज़मीन चली जाने से मुझे कुछ भी हानि न होती हो और उसके पड़ोसी को मिल जाने से उसकी उत्तम सुविधा हो जाती हो, तो भी मुझ से उसका स्वार्थ-त्याग नहीं किया जाता, मेरा जी ही नहीं चलता। कदाचित मुझ में इस वक्त कहीं सद्‌बुद्धि का स्फुरण हो भी तो मेरे स्वर्ग-सम्बन्धी मुझे दुनियादारी की चतुराई सिखाने के लिए आते हैं। 'तू पागल तो नहीं हो गया है? इस तरह कर्ण सा दान-वीर बन कर परोपकार करने लगेगा तो लोग तुझे दिन-दहाड़े बाबाज बन देंगे, कुछ बालबच्चों के लिये भी रखेगा या नहीं? अरे, उसका तो काम ही रुक रहा है, पाँच-सात सौ रुपये माँग ले उससे। तेरा तो हक हीं है; छोड़ता क्यों है? न दे रुपये तो सोता रहे, अपने घर में। अरे हाँ, हमें कहाँ गरज़ पड़ी है? ज़मीन अपनी। कहीं भागे थोड़ी जाती है? स्वार्थ-धर्म की यह आज्ञा अस्वीकृत हो ही नहीं सकती। स्वार्थ-धर्म के आगे पड़ोसी-धर्म फीका पड़ता है, अथवा नष्ट हो जाता है। इसीलिये इस युग का नाम कलियुग पड़ा है। कलि का अर्थ है—कलह।

दो कुटुम्बों के बीच में जब विवाह-सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब भी यही दशा होती है। जो परकीय था, वह सम्बन्धी हुआ, अतएव उसके साथ प्रेम-धर्म का व्यवहार होना चाहिये न, पर नहीं; वहाँ भी व्यवहार-रीति के कलह उत्पन्न होवेंगे ही। मान-सम्मान में कहीं छोटी सी छोटी रीति भी रहने न पावे। मालिक के यहाँ गालियाँ भी सुननी पड़ती हों तो परवा नहीं, दफ्तर में अफ़सरों की फटकारें नीचा सिर करके सुन सकते हैं, परन्तु समधी के

पास से तो रीति के अनुसार पूरी चीजें जरूर ही मिलनी चाहिएँ; नहीं तो दुलहे को लौटा ले जाने को तैयार हो जाते हैं। विवाह का मङ्गलाचरण होता है ईर्ष्या और डाह से। यही दशा है जातियों की। पारस्परिक अविश्वास और असीम स्वार्थपरता। किसी में इतनी हिम्मत ही नहीं कि अपने स्वार्थ को छोड़ दे। यह कायरता! जहाँ देखिए तहाँ यह बुराई फैली हुई है।

जब घरों में यह दशा, जाति-पाँति में यह दशा, तब राष्ट्रों राष्ट्रों के बीच दूसरा और हो ही क्या सकता है? यदि पड़ोसी राष्ट्र निर्बल हो तो उस पर जरूर ही आक्रमण करना चाहिये, यदि वह बलवान् हो तो उसका पड़ोसी सर्वदा भयभीत दशा में रहता है, बल्कि उसको कमजोर करने के लिए कोई षड्यंत्र और उसके सम्मुख मृदुता करता रहता है। यह भी नहीं कि समानबल पड़ोसी हों तो शान्ति से रहें, परन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि मनुष्य को समानता कब प्रिय लगती है? वहाँ भी एक से दूसरा आगे बढ़ने के लिये प्रयत्न करता रहता है और अन्त में वहाँ भी अविश्वास और विरोध! हर एक पक्ष यही कहता है कि अपने बचाव तथा आत्मरक्षण के लिये हमें इतना तो करना ही पड़ता है। दो प्रबल राष्ट्रों के बीच यदि एक छोटा सा राष्ट्र हो, तब प्रबल राष्ट्र यों विचार करते हैं, यदि मैं इसे न ले लूंगा तो वह (दूसरा) तो जरूर ही इसे समेट लेगा और इसकी सहायता पाकर बलिष्ठ बन कर मुझ पर आक्रमण करेगा। इसलिए क्या बुरा होगा यदि मैं ही अन्याय कर के इसे भी ले लूँ! जितने साम्राज्य बढ़ते हैं, सब सी नियमानुसार बढ़ते हैं।

स्वार्थ और अन्यायपूर्ण प्रतिस्पर्धा आज यूरोप में सर्वव्यापी

हो गयी है और यही सिद्धान्त उनकी राज-नीति के मूल तत्व हैं। किन्तु इससे यह मान लेना भूल है कि यह तो मनुष्य-स्वभाव ही है। भले ही यूरोप आज सुव्यवस्थित पाशविक शक्ति को सुधार मान ले—पर सच्चा सुधार तो प्रेम-धर्म और पड़ोसी-धर्म ही में है। हमें श्रद्धापूर्वक अपने अन्दर इस पड़ोसी-धर्म का विकास करना चाहिये। जो सज्जनता दिखलाते हों, उनके साथ मैत्री और जो दुर्जन बन गये हों, उनके साथ असहयोग करना, यही प्रेम-धर्म का नियम है। प्रेम-धर्म सहानुभूति रखता है, सहायता देता है, परन्तु दीन बन कर सहायता की अपेक्षा नहीं करता। प्रेम-धर्म निर्भय होता है और इसीसे प्रेम-धर्म अमर्याद है। हम जिस पर प्रेम करते हैं, यदि उसकी शक्ति बढ़ती है तो हमें भय नहीं होता, बल्कि हमारा मित्र जितना ही निर्बल होगा, उतने ही हम कमज़ोर माने जायेंगे।

जहाँ अविश्वास का वातावरण हो, वहाँ उसे दूर करने के लिये, प्रेम असाधारण धैर्य और सहिष्णुता का विकास करता है, नम्र बनकर वह चढ़ता है और असीम स्वार्थ-त्याग करके विजय को प्राप्त करता है। प्रेम-धर्म में गवाँना ज़रूर पड़ता है, परन्तु थोड़े दिन के लिए; अन्त में उसकी अक्षय विजय होती है। इस प्रेम-धर्म का उपयोग कुटुम्ब से लगाकर राष्ट्रों २ के सम्बन्ध पर्यन्त फैला देना, यही सब सुधारों का मूल है और वही फल भी है।

सुधार की सच्ची दिशा

मनुष्य की स्वाभाविकी वृत्तियाँ और उसकी सद्बुद्धि एक दूसरे के अनुकूल (समरस) जब होंगी तब होंगी, आज तो वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। आज हम दोनों में विरोध है, आज जो मीठा लगता है, वह पथ्य नहीं होता। जो सुखप्रद प्रतीत होता है, वह कल्याणकर नहीं होता, जो प्रेय होता है वह श्रेय नहीं होता, कर्तव्य मार्ग दुःखदायी लगता है और सुख का मार्ग हितकर नहीं होता। हमारी स्वाभाविक वासनायें हमें आप ही आप पशु-जीवन की ओर खींच कर ले जाती हैं। ईश्वर ने मनुष्य को वह विवेक-बुद्धि दी है, जो पशु को नहीं दी। पशुओं को कार्याकार्य-विचार नहीं होता; मनुष्य को यह विचार करना पड़ता है। पर हमारी वासनायें कई बार इतनी प्रबल हो जाती हैं कि विवेक-बुद्धि को दबाकर वे तर्क-शक्ति को अपने अधीन कर लेती हैं। और यह तर्क-शक्ति न्यायान्याय का किसी तरह विचार न करने वाले पेट-भरू वकील के समान वासनाओं का पक्ष लेती है। जो सुखकारी है वही कल्याणकारी है, जो प्रेम है वही श्रेय भी है, इस तरह की दलीलों की पूर्ति करने में तर्क-शक्ति खर्च होती है। त्याग-आनन्द को भूलकर भोग की लालसा वृद्धि पाती है। तर्क-शक्ति भी मधुर वाणी से कहती है—'मनुष्य-जन्म भोग ही के लिए तो है, नाना प्रकार के विषयों का उपभोगन करना

मनुष्य का स्वत्व है। इस अधिकार का लाभ उसे ज़रूर उठाना चाहिये। भोग ही में तो मानव-जन्म की सफलता है। भोग-क्षमता ही संस्कृति है, यही सुधार है।' इस तरह अधर्म को धर्म समझने से आत्म-वञ्चना होती है।

इस तरह बहुतेरे लोग वासनाओं के वश हो गये हैं, क्योंकि किसको 'सु' और किसको 'कु' कहना यही नहीं सूझ पड़ता। उच्छृङ्खल मन को तर्क-शक्ति का अवलम्बन मिलने पर आने वाली अनर्थ-परम्परा को कौन रोक सकता है? जिससे आत्म-संयम नहीं हो सकता, उसे मनुष्य-जाति कितना ऊँचा चढ़ा सकती है? इसकी कल्पना उस आदमी को किस तरह हो सकती है, जो आत्म-संयम को जानता ही नहीं? ऐसे मनुष्य मानव-जाति का ध्येय कैसे निश्चित कर सकते हैं? मानव-जाति का श्रेय क्या है? उच्च वृत्तियाँ कौन सी हैं? आर्य जीवन कैसा होता है? अर्हत् पद का मार्ग कौन सा है? समाज का अन्तिम ध्येय क्या है। इन विषयों का निर्णय ऐसे अनधिकारी मनुष्य नहीं कर सकते। धन-लोभ के कारण कृपण का हृदय शून्य हो जाता है। उसे यदि ये ही सवाल पूछेंगे तो वह कहेगा—'धन'! द्रव्य मानव-जाति का ध्येय है। 'अर्थो हि नः केवलम्।' शृङ्गार-पूर्ण उपन्यासों को पढ़ने वाले उन्मत्त मनुष्य से यदि हम पूछेंगे तो वह भी तुरन्त "रम्या रामा मृदुतनुलता" की बातें करने लगेगा। इसी तरह क्रिकेट और टेनिस के खेलनेवाले कहेंगे कि हमारे खेलों ही से मनुष्य की उन्नति होगी। गाना-बजाना, ताश, या शतरञ्ज खेलना, घुड़दौड़ करना और चिड़ियाँ पालना इत्यादि धुनों ही में जो लोग मस्त रहते हैं, यदि उन्हें पूछा जाय कि भाइयो! मानव जाति का अन्तिम ध्येय

क्या है तो वे भी सिवा उसी एक उत्तर के और कुछ न कहेंगे।

ऐसे अनासक्त साम्यस्थित मन वाले महात्मा ही, जिन्होंने अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त की है और जिनका मन क्षुद्र स्वार्थ के वश नहीं है, यह ठीक ठीक समझ सकते हैं कि 'मनुष्य का श्रेय किसमें है'। जिस तरह मुद्दई मुद्दालेह यह नहीं देख सकते कि कलह में न्याय किसके पक्ष में है, बल्कि निष्पक्ष पञ्च ही उसे देख सकते हैं। इसी तरह मानव जाति का ध्येय क्या है, इस बात को निरपेक्ष और धर्मज्ञ स्मृतिकार-समाज के व्यवस्थापक ही बतला सकते हैं। मनुष्य जाति अपनी पशु-वृत्ति पर विजय प्राप्त करके कितनी ऊँची चढ़ सकती है, यह बुद्ध, ख्रिस्त और तुकाराम जैसे अनेक महात्माओं ने प्रत्यक्ष उदाहरण से बतला दिया है। संसार के सभी देशों में, सभी जातियों में, सभी धर्मों में और सभी युगों में ऐसे दैवी पुरुष उत्पन्न हुए हैं। इस पर से सिद्ध है कि प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करने पर उस भूमिका तक पहुँच सकता है।

कहा जाता है कि मनुष्य प्राणी अपने पुरुषार्थ से क्या क्या कर सकता है, कहाँ तक अपनी उन्नति कर सकता है इत्यादि का यथार्थ पाठ देने के लिये तथा मनुष्य प्राणी के लिए उसका ध्येय निश्चित कर देने के लिए परमेश्वर अवतार लेकर, मानव देह धारण करके मानवी कृतियों को करता है। इस कथन का रहस्य भी यही है। ध्येय मानव जाति की उन्नति की परिसीमा है। वह किसी खास समय खास व्यक्ति और उस व्यक्ति की शक्ति के अनुसार रहस्य बदलता नहीं है। एक भी मनुष्य यदि इस ध्येय को प्राप्त करके दिखा दे तो समझना चाहिए कि वह असम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से देखें तो मनुष्य के जीवन-क्रम के दो विभाग होते हैं। एक ओर विषय-लोलुपता, आहार-निद्रा भय आदि पशु-व्यवहार-परायणता, स्वार्थ तथा हठ होता है। दूसरी ओर निर्विषयता, निर्भयता, इन्द्रिय-दमन, परोपकार-परायणता और कर्तव्य होते हैं। हर एक को अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार इस उच्च ध्येय को कार्य में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु अपने पीछे रहने वालों को जङ्गली या पापी कह कर उनकी हँसी न उड़ाना चाहिये। इसी प्रकार अपने से अधिक उत्साही व्यक्तियों को पागल भी न कहना चाहिए। और चाहे कुछ भी हो उच्चतम ध्येय को किसी भी समय अशक्य-अप्राप्य करार कर देना तो सरासर भूल है। क्योंकि यदि हम ध्येय को एक बार भी उसके उच्च आसन से नीचे गिरा देंगे तो उसका शत-मुख नहीं, अनन्त मुख से विनिपात हो जायगा। जो स्थिर नहीं वह ध्येय काहे का ? और उसके लिये स्नेह, दया, सुख और जीवन इन सभी को तिलाञ्जलि देने को तैयार होने योग्य निष्ठा मनुष्य में किस तरह उत्पन्न हो ? इसलिए ध्येय को अपनी ऊँचाई से कभी न गिराना चाहिए। आराध्य देवता के समान उसीकी हमेशा उपासना होनी चाहिए। और उसके साथ उत्तरोत्तर सालोक्य, सान्निध्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो पीछे रह गये हों उन्हें आगे ले जाना चाहिये। जो आगे बढ़ गये हों उन्हें इससे भी आगे बढ़ना चाहिये। ध्येय को पा जाने तक किसी को कभी न रुकना चाहिए।

सभी सामाजिक सुधार इस उच्च ध्येय की, कर्तव्य की, इन्द्रिय-निग्रह की और संयम की दिशा में होने चाहिये। जो

नीचे हों उन्हें ऊँचे उठा देना चाहिए। जो ऊँचे हों उन्हें नीचे गिराना, पवित्र ध्येय को छोड़कर सुखप्रद अधोगामी ध्येय की उपासना करना, तो सरासर अधःपात है।

आजकल सुधार ही को सब चाहते हैं, परन्तु 'सु' और 'कु' के बीच के भेद को तो कोई भी नहीं देखते। पिनल-कोड ने जिसे अपराध नहीं माना, कल पास होकर आज ही से रोब गाँठने वाले डाक्टरों ने जिसे निषिद्ध नहीं गिना, वह सब करने का हमें स्वत्व है—हम वह ज़रूर करेंगे। पूर्व-परम्परा, उच्च मनोवृत्ति, जिसकी रक्षा और विकास आज तक किया, उस पवित्रता की भावना—शास्त्र—(रूढ़ियों का तो पूछना ही नहीं) सबको हम धता बता देंगे। यह है आज के हमारे समाज-सुधारकों की मनोवृत्ति। यह मैं नहीं कहना चाहता कि इनके कार्य-क्रम के सभी विषय त्याज्य हैं। हाँ, इन सभी की जड़ में जो वृत्ति है, उसके प्रति मेरा विरोध अवश्य है। अपने सभी सामाजिक व्यवहार में न्याय और उदारता होनी चाहिये। किसी पर टीका-टिप्पणी करते समय, मनुष्य प्राणी स्खलनशील है, इन्द्रिय-समूह बलवान् है, परिस्थिति के सामने मन का निश्चय स्थिर रहना कठिन है, इन सभी बातों पर ध्यान देकर यदि किसी से कोई भूल हो गई हो, तो उस पर क्रोध और तिरस्कार हमें न करना चाहिए, बल्कि दया, अनुकम्पा और सहानुभूति ही दिखाना चाहिए। जहाँ सामाजिक अन्याय हो रहा हो, वहाँ अनाथों का रक्षण-पालन करना भी हमारा कर्तव्य है। सामाजिक आदर्श को नीचे गिराना कदापि योग्य नहीं है। और जो कुछ भी सुधार करें, वह ऐसा हो जिससे सामाजिक न्याय, पवित्रता और सामर्थ्य बढ़े!

भारत की समस्या *

स्वेच्छा ही से बहिष्कृत हो जानेवाले, कुलीन फ्रान्स के ओ चिन्तनशील अतिथे! तुझे हमारा प्रणाम है! मन और वाचा दोनों का तुझ पर आशीर्वाद है। तुझे अपने राष्ट्र का अच्छा परिचय है। इसी कारण तू दुनिया के राष्ट्रों को समझ सकता है। फ्रान्स का भूतकाल, यूरोप की तपश्चर्या, पश्चिम की आकांक्षा तेरे अन्दर जागृत है; इसीलिए तू भविष्य को भी प्रत्यक्ष कर सकता है। पर स्मरण रहे कि भविष्य के भी अनेक अङ्ग हैं। वही शायद सम्पूर्ण भविष्य के दर्शन कर सकता है, जिसने सम्पूर्ण भूत को देख लिया है। सनातन अनन्तता के विस्तार में भूत और भविष्य एक से ही जीवित हैं—वर्तमान हैं।

हम समझ गये, तू कैसा हिन्दुस्थान चाहता है? हम इस पुण्य अभिलाषा के लिए तेरा अभिनन्दन करते हैं, बन्दना करते हैं, हम नहीं मानते कि हम श्रेष्ठ राष्ट्र हैं। पर हमारे स्वदेशी धर्मानुसार हम अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होना चाहते हैं। भेद की दिवालों को हम नहीं चाहते। हमारा प्रकाश, प्रकाश होने से संसार में सर्वत्र फैलेगा। प्रत्येक राष्ट्र के पास उसका अपना प्रकाश

* अहमदाबाद महासभा में श्री पाल रिचार्ड के व्याख्यान। (नवीन भारत) का उत्तर।

तो जरूर ही होता है। जहाँ जहाँ से हमारे यहाँ प्रकाश आ रहा हो, उन सभी को हमारा निमन्त्रण है। ईश्वरी प्रकाश तो एक रूप ही होता है, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र का प्रकाश तो भिन्नवर्णी होता है। ईश्वरीय योजना की यह एक खूबी है—सुन्दरता है। इसीमें काव्य है ।

हम न किसी की निन्दा करते हैं और न किसी की प्रशंसा। सृष्टि, जड़ और चैतन्य से ही बनी है। हमने सीखा है कि प्रकृति सत्-असत्-आत्मक ही है। जब तक जीव-दशा है, तब तक अवश्य ही दोनों का काम पड़ेगा। जड़ की पूजा करना ही हमारी समझ में जड़-वाद है, यह हमारा आशय कदापि नहीं। यूरोप में सर्वत्र ही जड़-वाद है। परन्तु हमें बुरा सिर्फ यही मालूम होता है कि हमने यूरोप से केवल जड़-वाद ही सीखा। किन्तु यदि हमारे अन्दर भी जड़-वाद न होता तो हम गिरते ही नहीं। इसलिए दोष तो हम अपना ही समझते हैं। हम जड़ के वश तो कभी के हो गये थे। किन्तु यूरोप से हम उस जड़ की पूजा भी करना सीख गये, अधःपात ही को उन्नति मानने लग गये; इसी बात पर हमें दुःख होता है।

हम यह जानते हैं कि आत्मा के मानी हैं—नित्य नूतनता। उस चीज को मरना पड़ता है जो नित्य नूतन नहीं होती। जन्म-मरण जितना सत्य है, उतना ही सनातन जीवन भी सत्य है। घास और वनस्पतियाँ ऋतु ऋतु में मरती हैं और ऋतु ऋतु में संजीवित भी होती हैं। यही है इनका जीवन-धर्म। बरगद और पीपल का जीवन-धर्म भिन्न है। प्रत्येक राष्ट्र बाल्यावस्था में भविष्य की ओर ही देखेगा, यौवन में वर्तमान ही में गिरफ्तार रहेगा

और वार्धक्य में भूतकाल की ओर ही आँसू भरी दृष्टि फेंकेगा; परन्तु जिस राष्ट्र को सनातन होना है, वह तो त्रिकाल-दर्शी ही होता है। उसके भीतर यौवन का उत्साह भले ही न हो, किन्तु उसके भीतर गाम्भीर्य तो भरपूर होगा। उसका स्वभाव धीरोदात्त होगा।

यह सच है कि हमारी समस्या कठिन से कठिन है। विरोधी धर्म और लड़ाके पन्थों का प्रेम-धर्म-सम्मेलन करने का गुरुतर भार हमारे सिर है। यह हमारा विशेष आदेश है, यही हमारा विशेष कार्य है। संसार के भाग्य-विधाता ने इसीलिये हमें एक स्वतन्त्र मन्त्र अर्पण किया है, जिसे हम 'स्वदेशी' के नाम से पहचानते हैं। वर्ण-व्यवस्था उसीका एक अङ्ग है। यदि संसार में सब को एक ही ढाँचे में न ढालना हो, बल्कि यदि जगत् की विविधता में भी ऐक्य का सम्पादन करना हो, यदि सप्तस्वरों के सङ्गीत की रचना करना हो, यदि सप्त वर्णों का एक सङ्घ बनाना हो तो स्वधर्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था ही उसका एक मात्र उपाय है। वर्ण-व्यवस्था भारतवर्ष की खासियत है। यदि उसे हम छोड़ दें तो हम अपने आदेश के प्रति अयोग्य सिद्ध होंगे। और ईश्वरीय योजना को निष्फल करेंगे।

हाँ, एक बात सच है कि वर्ण-व्यवस्था को—ईश्वर की चाही वर्ण-व्यवस्था को—हम अङ्गीकार नहीं कर सके, हमारे अन्दर प्रेम धर्म-पूर्ण कलाओं से प्रकट नहीं हुआ। इसीसे व्यवस्था में विद्वेष आया, विविधता में विस्खलितता आई, एकता टूट गई और हम संकुचित बन गये।

विविधता में ऐक्य, यह ईश्वरीय सन्देश है। हम एकता को

भूले, आप विविधता को सन्देहभरी दृष्टि से देखते हैं, क्या हम दोनों भूलते नहीं हैं ?

आज वर्ण-व्यवस्था में तिरस्कार है, दम्भ है, और अहङ्कार है। हमारे अंदर घुसी हुई अस्पृश्यता उसी का परिणाम स्वरूप है। किन्तु चूँकि हम इस समय अस्पृश्यता को मिटाने की बात कर रहे हैं, तो आप निश्चय समझ लें कि हम तिरस्कार, द्वेष, दम्भ और अहंकार को भी जला देना चाहते हैं। संसार में श्रेष्ठ और कनिष्ठ का भेद तो बनाही रहेगा, परन्तु श्रेष्ठ-कनिष्ठ की भावना का रहना अनिष्ट है। पवित्रता वहीं निवास करती है जहाँ नम्रता है, यह हमें जान लेना है। यदि वर्ण-भेद को मिटाने जा रहे हैं, तब धर्म-भेद को हम किस तरह बरदाश्त कर सकेंगे ? यदि ऐसा है तो फिर दया-धर्म को स्थान कहाँ ? और स्वधर्म के मानी क्या होंगे ?

जहाँ आदर्श का भेद हो, वहाँ उच्च-नीच के भेद रही नहीं सकते। पर जहाँ आदर्श-शिखर एक हो और उसके मार्ग पर हम कुछ दूर तक चले गये हों, वहाँ तो ज़रूर ही उच्च-नीच स्थिति रहेगी ही। किन्तु उसके कारण अहंता या दीनता न उत्पन्न होनी चाहिये। क्या गुरु और शिष्य के बीच उच्च-नीच भाव नहीं हैं ? क्या पापी और पुण्यवान् एक ही भूमिका पर हैं ? जहाँ प्रेम है, वहाँ समता का ख़याल ही नहीं होता, क्योंकि प्रेम विषमता को देखता ही नहीं।

हमने जिस तरह घर में अस्पृश्यता को स्थान दिया, उसी तरह बाह्य जगत् के साथ भी हम अस्पृश्य रहे, यह ज़रूर हमारा पाप है। समुद्र-यात्रा करके, देश-देशान्तर से व्यापार-व्यवसाय

करके हम उस पाप को नहीं धो सकते। परन्तु हम उसका प्रायश्चित्त ज़रूर कर सकते हैं। और उसका तरीक़ा यह है कि देश-देशान्तर का प्रकाश स्वीकारने के लिये हमारे खिड़की-दरवाज़े खुले करदें और तेरे जैसे देश-देशान्तर के सज्जनों को हमारे हृदय में स्थान देकर संसार के दुःख से दुःखी होकर, दुनिया की सेवा के लिये स्वतन्त्र हो जायँ।

हे खुदा-परस्त अतिथे! तुझे वन्दन करते हैं। हमारी संकुचितता को दूर करने का हमें अवसर देने के लिये, तू हमारा यह आतिथ्य स्वीकार कर, और अपने हृदय के भावों को प्रकट कर, हमारे हृदय के भावों को समझ ले और हमें हमारे मार्ग में प्रयाण करने का सहायक हो! हम इतने स्वाश्रयी हों कि अपना मार्ग खुद ही निश्चय कर लें, किन्तु फिर भी ऐसे अहङ्कारी भी नहीं, जो हम तेरे जैसों की सहायता का स्वीकार न करें।

नमस्तेऽस्तु भगवन्नतिथिर्नमस्यः।

आज का स्त्री-धर्म

स्त्री-जाति की उन्नति ही में सम्पूर्ण समाज की उन्नति है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही गृह-संसार स्वर्गमय बन जाता है। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही नवीन पीढ़ी का उत्कर्ष निश्चित समझिये। स्त्री-जाति की उन्नति होते ही सामाजिक जीवन सर्वाङ्ग-पूर्ण हुआ। स्त्री-जाति की उन्नति ही में इस देश का कल्याण भी आ जाता है, क्योंकि स्त्री और पुरुष एक ही समाज के दो अङ्ग हैं। दोनों का जीवन मिलकर ही सामाजिक जीवन बनता है। यदि दोनों में से एक अङ्ग की उपेक्षा की जाय तो समाज को पक्षाघात हो जाता है। यदि हमने दोनों अङ्गों को एकसे विकासित किये होते, तो आज स्त्रियों के प्रश्न पर इस तरह जुदी चर्चा करने की ज़रूरत न उपस्थित होती। आज स्त्री-जाति की उन्नति की चर्चा स्वतन्त्र रूप से करनी पड़ती है। कारण है वर्तमान सामाजिक दुरवस्था। स्त्रियों को समान स्वत्व मिलने के लिये लड़ने की आवश्यकता उत्पन्न होना, इसी बात को सिद्ध करता है कि हमारा सामाजिक और पारिवारिक जीवन गया-बीता हुआ है। गृहजीवन में तथा समाज में भी प्रेम-मूलक एकता होनी चाहिये। यदि वह होती तो हमें आज न्याय की समता का विचार कभी न करना पड़ता। समता—यह आदर्श न होना चाहिये, वह तो स्वाभाविक परिणाम है। जहाँ प्रेम और एकता है, वहाँ विषमता या विषमता का ख़याल भी नहीं हाता।

पर आज समाज की दशा विषम है। स्त्रियें पराधीन, आश्रित और अज्ञान दशा में पड़ी हुई हैं। पुरुषों की अपेक्षा अधिक सुधरी हुई होने पर भी, आज स्त्री का जीवन तेजस्वी नहीं है। स्त्री का स्वभाव अधिक कोमल, प्रेमल और अहिंसक है। स्त्रियों ने इन्हीं वृत्तियों का अधिकतर विकास किया है। यदि हिंसा जङ्गलीपन हो और अहिंसावृत्ति सुसंस्कृत अवस्था का लक्षण हो, तो कहना होगा कि स्त्री अधिक संस्कारवती है; अधिक सुधरी हुई है; यही यदि स्वच्छन्द की अपेक्षा संयम-श्रेष्ठ हो तो भी भारतवर्ष में स्त्री का दरजा ही उच्च गिना जाएगा। स्वार्थ को दबाकर परोपकार को प्रधान पद देने में उन्नति हो तो कौटुम्बिक जीवन में स्त्री ही अधिक उन्नत है। स्त्री की बुरी दशा तो उसके परावलम्बन में है। स्त्री के स्वतन्त्र होते ही उसके समस्त सद्गुण और हृदय की उन्नति एकाएक चमकने लग जायगी। मैं नहीं कहना चाहता कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी आजीविका की चिन्ता में पड़ें। किन्तु आजीविका प्राप्त करने का साधन उनके हाथों में हो तो काफ़ी है। आज यदि पुरुष-वर्ग आजीविका प्राप्त करने की चिन्ता का भार, आर्थिक स्वातन्त्र्य के सुन्दर नाम पर स्त्रियों पर डाल दे तो वह उसको (पुरुष-वर्ग को) शोभा नहीं देगा। मेरा तो यही कहना है कि समाज में पुरुष से स्त्री की सेवा श्रेष्ठ है। स्त्री का पद भी श्रेष्ठ होना चाहिये। स्त्री को यह जान लेना चाहिये कि उच्च वृत्ति संपादन कर लेने के कारण समाज का नेतृत्व स्वीकार करने का जो कर्तव्य उसे प्राप्त हुआ है, उसके लिये वह अपनेआप को योग्य बना ले।

आज समाज के सम्मुख—संसार के समस्त समाज के

सम्मुख—भारी से भारी प्रश्न आ उपस्थित हुए हैं। सारे संसार में उथल-पुथल हो गई है। सम्पूर्ण समाज की रचना नये सिरे से करने का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ है। पुराने समय में समाज के सम्मुख केवल पुराना आदर्श ही कायम रखने की चिन्ता रहती थी। उस समय अधिक विचार करने की आवश्यकता ही नहीं थी। जो कुछ था, उसे ही बनाये रखने का आग्रह रखने से सब काम चल जाता था। आज यह स्थिति नहीं रही कि पुराना आदर्श उसी रूप में बना रहे। उसमें परिवर्तन होना ज़रूरी है। स्मरण रहे कि उसके समूल नष्ट कर देने से भी काम नहीं चल सकता। जिस तरह अमेरिका के निग्रो लोगों ने पूरी श्रद्धा से ख्रिस्ती धर्म और अमेरिकन रहन-सहन स्वीकार कर ली, इसी तरह यदि हम भी करना चाहते तो रास्ता सरल था; पर हम देखते हैं कि हमारे लिये यह रास्ता लाभदायक नहीं है। आज सारी दुनिया निराशा में डूबी हुई है। यह निश्चय नहीं होता है कि कोई भी एक व्यवस्था कल्याण-कारक साबित होगी। यह तो हम देखते हैं कि हमारी समाज-रचना सफल नहीं हुई। अनुभव कहता है कि यूरोप की समाज-रचना भी कल्याण-कारक नहीं है। हम यह भी देख चुके हैं कि रचना में या सङ्गठन में परिवर्तन कर देने से काम न चलेगा। बल्कि हमें मनुष्य के स्वभाव ही में परिवर्तन करना होगा। अब तक हमारा ख़याल था कि न्याय की तराज़ू पारस्परिक स्वार्थ की विषमता को दूर कर देगी, और दुनिया में शान्ति स्थापित हो सकेगी। अब हम देखते हैं कि धर्म का मूल न्याय नहीं, परन्तु दया है। इस दया के आधार पर, पारस्परिक आदर के आधार पर, समाज की रचना नये सिरे से होनी

चाहिये। हिंसा के जवाब में प्रतिहिंसा करना न्याय है, यह मान कर अब तक हम हिंसा करते रहे। न्याय का मूल तो हाथ न लगा, परन्तु हिंसा ज़रूर बढ़ गई। अब हिंसा के बदले क्षमा को आजमा लेने को हमारा जी चाहता है, किन्तु इसको आजमायेगा कौन? न्याय का बदला तो वीर ले सकता है, परन्तु क्षमा के लिये तो योद्धा की अपेक्षा भी अधिक उच्च कोटि के वीर की आवश्यकता है। वह वीरता कौन बतला सकता है? जिनके हाथ अभी तक खून से अपवित्र नहीं हुए हैं, जिन्होंने नम्रता ही से अपनी उन्नति को प्राप्त किया है, जिन्होंने सेवा-द्वारा ही अपनी स्वार्थ-साधना की है, उस स्त्री-वर्ग ही से हम इस क्षमा-शक्ति की आशा रख सकते हैं। समाज का उद्धार उन्हीं के हाथों हो सकता है। अहिंसा-धर्म का ठीक ठीक अर्थ वे ही समझ सकती हैं, वे ही उसका पालन और प्रचार भी कर सकती हैं। अहिंसा-धर्म को धारण करने के लिए, जिस श्रद्धा की ज़रूरत होती है, वह तो स्त्रियों में है, किन्तु उसके लिये आवश्यक ज्ञान उन्हें अभी सीखना है। स्त्रियों में अहिंसा है, किन्तु वह तभी दिव्य प्रकार से चमकने लगेगी, जब उनमें निर्भयता और स्वाश्रय भी आ मिलेगा। वे इस भ्रम को छोड़ें कि वे अबला हैं। समाज के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिये वे तैयार हो जाएँ।

धर्म-संस्कार का प्रश्न सब से भारी है। अभी तक हम यही मानते आए हैं कि धर्म को ताक में रख कर उच्च स्वार्थ और दूर-देशी के नियमों ही से समाज का गाड़ा चल जायगा। किन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। अब तो हमें निश्चय हो गया है कि यदि समाज का उद्धार होगा तो सिर्फ़ धर्म ही से हो सकता है।

परन्तु समाज के सम्मुख आज धर्म का शुद्ध स्वरूप नहीं है। स्त्रियों के लिये तो कितने ही पुराने संस्कार और तरह तरह के वहम ही धर्म बन बैठे हैं। वास्तव में वह धर्म ही नहीं, जिससे सहिष्णुता, उदारता और भ्रातृ-भाव उत्पन्न न हो। धर्म से विरोध मिट जाता है। मेरा यह निश्चित मत है कि वह धर्म ही नहीं, जिसके नाम पर विरोध उत्पन्न होता है। प्रत्येक धर्म में शुद्ध तत्व तो जरूर होते हैं, परन्तु साथ ही उसमें कई अशुद्धियाँ भी घुस जाती हैं। उसे निकाल डालने के लिए सर्वदा धर्म-संस्कार की आवश्यकता है। यह धर्म-संस्कार तर्क-बुद्धि से नहीं, परन्तु शुद्ध हृदय से होना चाहिए।

यदि धर्म-संस्कार हो जाय तो समाजिक रिवाज और रूढ़ियों में सुधार करना हमारे लिए कठिन न होगा। सामाजिक दोषों को दूर करने की अपेक्षा श्रेयस्कर यही है कि हम ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दें जिससे वे दोष उत्पन्न ही न हो सकें। सामाजिक अत्याचार धर्म-वृत्ति के द्वारा ही टाले जा सकते हैं। यह धर्म-वृत्ति हर एक युग में उत्पन्न होनेवाले साधु-सन्त हमें बतला देते हैं, पर उसको स्वीकार कर, उसके प्रचार करने का काम तो स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, क्योंकि वे हर एक वस्तु को मस्तिष्क की नहीं, किन्तु हृदय की दृष्टि से देख सकती हैं। इसलिए आज हिन्दुस्थान में जिस अहिंसा-धर्म का उदय हुआ है, उसका स्वीकार और प्रचार करने का उत्तरदायित्व स्त्रियों ही पर है। और अभी तक अपने जीवन में उन्होंने इस योग्यता को प्राप्त कर उसका विकास भी किया है। आज भी स्त्रियाँ उसी काम में सम्पूर्ण शक्ति लगा दें, यही मेरी प्रार्थना है।

प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता

हवा सर्वत्र चलती है, सभी को छूती है और संसार की एकरूपता को सिद्ध करती है। स्वर्ग के देवता और कब्र के मुरदे हवा का त्याग कर सकते हैं। दोनों अस्पृश्य हैं। ईश्वर की इच्छा है कि पृथ्वी तो पृथ्वी ही बनी रहे। परन्तु कई मनुष्य अपने एकरंगी विचार के प्रवाह में बह कर इस भूलोक पर स्वर्ग और नरक की सृष्टि खड़ी करना चाहते हैं। मुरदा सड़ता है, मुरदे में प्राण नहीं होता, मुरदा पृथ्वी के लिए भार रूप है, इस-लिए उसे कोई छूता भी नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि उसे या तो दफ़ना कर या आग से जलाकर लोग उसे नष्ट कर देते हैं। देवता हमें छूते नहीं, परन्तु वे इस भूलोक पर विचरते भी तो नहीं। जब उन्हें विचरना होता है, तब वे मानवरूप धारण कर लेते हैं, वे मनुष्यों के से व्यवहार करते हैं, तभी वे मनुष्यों में मिलते-जुलते हैं। जब वे (देवता) ऐसा करने से इन्कार करते हैं, तब उन्हें पत्थर बनकर बन्दीवास भोगना पड़ता है।

हमारे समाज में इसी तरह के दो अस्पृश्य वर्ग देखने में आते हैं। एक अन्त्यजों का और दूसरा अग्रजों का। ढेड, मेहतर अस्पृश्य हैं, उसी प्रकार शङ्कराचार्य भी अस्पृश्य हैं। हम दोनों की श्रेणियों में बैठ कर भोजन नहीं करते। हम दोनों से हाथ भर दूर रहते हैं। दोनों को वेद का अधिकार नहीं और इस लिए

।नों को समाज में स्थान भी नहीं है। समाज में उनकी स्थिति ;तरनाक है। यदि उन्हें समाज में शामिल करना हो तो पहले नकी इस अस्पृश्यता को दूर करना जरूरी है। यदि अन्त्यजों ी समाज में अस्पृश्य ही बनाये रक्खेंगे तो सामाजिक दुग- ध बढ़ेगी। उसे दूर करने के दो ही उपाय हैं। या तो हिन्दू- माज से उनको निकाल दिया जाय, या उन्हें स्पृश्य बना लिया ाय। ब्राह्मण-संस्कृति के प्रतिनिधि शङ्कराचार्यों को भी चाहिए क वे मनुष्य की तरह समाज में विचरें, समाज की स्थिति पर चार करें और धर्मोपदेश-द्वारा समाज की सेवा करें। यदि वे सा न करते हों तो उन्हें चाहिए कि वे लोगों की सेवा, पूजा ात्र का स्वीकार करने वाली जड़मूक मूर्ति बन जाएँ। नैपाल में ाजा को इतना महत्व दिया गया है कि कोई भी व्यावहारिक ार्य राजा के योग्य नहीं गिना जाता। प्रजा-पालन, शत्रु-दमन, न्त्री तथा राजकर्मचारियों पर देख-रेख, नियम बनाना, किसी ो दण्ड देना, या क्षमा-प्रदान करना—इत्यादि कामों में ो एक भी काम यदि राजा स्वयं कर डाले, तो उसकी प्रतिष्ठा ो महान् हानि होती है। काम-काज प्रधान करता है, राजा केवल नाम मात्र का होता है। यह तो प्रजा ही जाने कि ऐसे अस्पृश्य राजा का उसे क्या उपयोग होता होगा। नेपाल के राजा का सम्मान चाहे कितना ही हो, समाज के हिसाब ो तो वह एक अहेतुक निरुपयोगी प्राणी है, क्योंकि वह अस्पृश्य है। वेद-विद्या को भी हमने इसी तरह बना रक्खा ै। वेद इतने पवित्र हैं कि उनका अर्थ तक नहीं किया ा सकता! संस्कृत-भाषा की भी यही दशा हुई है। संस्कृत

तो ठहरी देवताओं की वाणी, मनुष्य उसका व्यवहार कैसे कर सकते हैं? फलतः इसे जड़, निर्जीव, वीतप्राण ही हो जाना पड़ा। इस प्रतिष्ठा की अस्पृश्यता से देव-वाणी को और भूदेवों के समुदाय को कौन उबारेगा? जब शरीर के पैर और सिर भी समाज-सेवा के लिए अयोग्य हो जायँ, तब मनुष्य को पेट ही से विचार करना भी पड़े और चलना पड़े तो आश्चर्य ही क्या?

समाज को पंगु न बनाना हो तो शङ्कराचार्यों को और नैपाल नरेश जैसे राजाओं को अपनी अस्पृश्यता को त्याग कर आज समाज में सम्मिलित होना चाहिए। और अन्त्यजों का अस्पृश्यता को दूर कर उन्हें भी शामिल कर देना चाहिए। ऐसा करने ही से धार्मिक अन्धकार नष्ट होगा। और हिन्दू-धर्म के सिर का काला धब्बा धुल जायगा, केवल दिन दहाड़े मशालें जलाकर जुलूस निकालने से क्या होना जाना है?

लागत मूल्य पर हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली
एक मात्र सार्वजनिक संस्था

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

उद्देश्य—हिंदी-साहित्य-संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश्य से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सर्वसाधारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी।

विषय—धर्म (रामायण, महाभारत, दर्शन, वेदान्तादि) राजनीति, विज्ञान, कलाकौशल, शिल्प, स्वास्थ्य, समाजशास्त्र, इतिहास, शिक्षाप्रद उपन्यास, नाटक, जीवनचरित्र, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी आदि विषयों की पुस्तकें तथा स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, टाल्सटाय, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, बिहारी, भूषण आदि की रचनाएँ प्रकाशित होंगी।

इस मण्डल के सदुद्देश्य, महत्व और भविष्य का अन्दाज़ पाठकों को होने के लिए हम सिर्फ़ उसके संस्थापकों के नाम यहाँ दे देते हैं—

मंडल के संस्थापक—(१) सेठ जमनालालजी बजाज, वर्धा (२) सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला कलकत्ता (सभापति) (३) स्वामी आनन्दानंदजी (४) बाबू महावीर प्रसादजी पोद्दार (५) डा० अम्बालालजी दधीच (६) पं० हरिभाऊ उपाध्याय (७) श्री जीतमल लूणिया, अजमेर (मन्त्री)

पुस्तकों का मूल्य—लगभग लागतमात्र रहेगा। अर्थात् बाजार में जिन पुस्तकों का मूल्य व्यापाराना ढंग से १) रखा जाता है उनका मूल्य हमारे यहाँ केवल ।=) या ।≡) रहेगा। इस तरह से हमारे यहाँ १) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक की पुस्तकें तो अवश्य ही दी जावेंगी। सचित्र पुस्तकों में खर्च अधिक होने से मूल्य अधिक रहेगा। यह मूल्य स्थायी ग्राहकों के लिए है। सर्व साधारण के लिये थोड़ा सा मूल्य अधिक रहेगा।

हिन्दी-प्रेमियों का स्पष्ट कर्तव्य

यदि आप चाहते हैं कि हिंदी का—यह 'सस्ता मण्डल' फलेफूले तो आपका कर्तव्य है कि आजही न केवल आपही इसके ग्राहक बनें, बल्कि अपने परिचित मित्रों को भी बनाकर इसकी सहायता करें।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली दो मालाएँ और
स्थायी ग्राहक होने के दो नियम

खूब ध्यान से सब नियमों को पढ़ लीजिये

(१) हमारे यहाँ से 'सस्ती विविध पुस्तक-माला' नामक माला निकलती है जिसमें वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें निकलती हैं और वार्षिक मूल्य पोस्ट खर्च सहित केवल ८) है। अर्थात् छः रुपया ३२०० पृष्ठों का मूल्य और २) डाकखर्च। इस विविध पुस्तक-माला के दो विभाग हैं। एक 'सस्ती-साहित्य-माला' और दूसरी-'सस्ती-प्रकीर्ण पुस्तकमाला'। दो विभाग इसलिये कर दिये गये हैं कि जो सज्जन वर्ष भर में आठ रुपया खर्च न कर सकें, वे एक ही माला के ग्राहक बन जावें। प्रत्येक माला में १६०० पृष्ठों की पुस्तकें निकलती हैं और पोस्ट खर्च सहित ४) वार्षिक मूल्य है। माला से ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी, वैसे वैसे पुस्तकें वार्षिक ग्राहकों के पास मण्डल अपना पोस्टेज लगाकर पहुँचाता जायगा। जब १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँच जावेंगी, तब उनका वार्षिक मूल्य समाप्त हो जायगा।

(२) वार्षिक ग्राहकों को उस वर्ष की–जिस वर्ष में वे ग्राहक बनें–सब पुस्तकें लेनी होती हैं। यदि उन्होंने उस वर्ष की कुछ पुस्तकें पहले से ले रखी हों तो अगले वर्ष की ग्राहक-श्रेणी का पूरा रुपया यानि ४) या ८) दे देने पर या कम से कम १) या २) जमा करा देने तथा अगला वर्ष शुरू होने पर शेष मूल्य भेज देने का वचन देने पर, पिछले वर्षों की पुस्तकें जो वे चाहें, एक एक कापी लागत मूल्य पर ले सकते हैं।

(३) दूसरा नियम—प्रत्येक माला की आठ आना प्रवेश फ़ीस या दोनों मालाओं की १) प्रवेश फीस देकर भी आप ग्राहक बन सकते हैं। इस तरह जैसे जैसे पुस्तकें निकलती जावगी, उनका लागत मूल्य और पोष्ट खर्च जोड़ कर वी. पी. से भेज दी जाया करेंगी। प्रत्येक वी.पी. में =) रजिस्ट्री खर्च व =) वी. पी. खर्च तथा पोस्टेज खर्च अलग लगता है। इस तरह वर्ष भर में प्रवेश फीसवाले ग्राहकों को प्रति माला पीछे क़रीब ढाई रुपया पोस्टेज पड़ जाता है। वार्षिक ग्राहकों को केवल १) ही पोस्ट खर्च लगता है।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें

क्योंकि इससे आपको पोस्ट खर्च में भी क़िफ़ायत रहेगी और प्रवेश फीस के ॥) या १) भी आपसे नहीं लिये जावेंगे।

(४) दोनों तरह के ग्राहकों को—एक एक कापी ही लागत मूल्य पर मिलती है। अधिक प्रतियाँ मँगाने पर सर्वसाधारण के मूल्य पर दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जाती हैं। हाँ, बीस रुपये से ऊपर की पुस्तकें मँगाने पर २५) सैकड़ा कमीशन काट कर भेजी जा सकती हैं। किसी एक माला के ग्राहक होने पर यदि वे दूसरी माला की पुस्तकें या मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकें मँगावेंगे तो दो आना रुपया कमीशन काट कर भेजी जावेंगी। पर अपना ग्राहक नंबर ज़रूर लिखना चाहिये।

(५) दोनों मालाओं का वर्ष—सस्ता साहित्य-माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होकर दिसम्बर मास में समाप्त होता है और प्रकीर्ण-माला का वर्ष अप्रेल मास से शुरू होकर दूसरे वर्ष के अप्रेल मास में समाप्त होता है। मालाओं की पुस्तकें दूसरे तीसरे महीने इकट्ठी निकलती हैं और तब ग्राहकों के पास भेज दी जाती हैं। इस तरह वर्ष भर में कुल १६०० या ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें ग्राहकों के पास पहुँचा दी जाती हैं।

(६) जो वार्षिक ग्राहक माला की सब पुस्तकें सजिल्द मँगाना चाहें, उन्हें प्रत्येक माला के पीछे दो रुपया अधिक भेजना चाहिये, अर्थात् साहित्य माला के ६) वार्षिक और इसी तरह प्रकीर्ण माला के ६) वार्षिक भेजना चाहिये।

हमारे यहाँ से निकलनेवाली फुटकर पुस्तकें

उपरोक्त दोनों मालाओं के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी हमारे यहाँ से निकलती हैं। परन्तु जैसे दोनों मालाओं में वर्ष भर में ३२०० पृष्ठों की पुस्तकें निकालने का निश्चित नियम है वैसा इनका कोई खास नियम नहीं है। सुविधा और आवश्यकतानुसार पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहकों के जानने योग्य बातें

(१) जो ग्राहक जिस माला के ग्राहक बनते हैं, उन्हें उसी माला की एक एक पुस्तक लागत मूल्य पर मिल सकती है। अन्य पुस्तकें मँगाने के लिये उन्हें आर्डर भेजना चाहिये। जिन पर उपरोक्त नियमानुसार कमीशन काट कर वी० पी० द्वारा पुस्तकें भेज दी जावेंगी।

(२) ग्राहकों को पत्र देते समय अपना ग्राहक नम्बर ज़रूर लिखना चाहिये। इसमें भूल न रहे।

(३) मंडल से निकलने वाली फुटकर पुस्तकों के भी यदि आप स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो ।।) प्रवेश फ़ीस भेज कर बन सकते हैं। जब जब पुस्तकें निकलेंगी उनको लागत मूल्य से वी० पी० करके भेज दी जावेंगी।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (ले०—महात्मा गांधी)

(१) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≥) सर्वसाधारण से ।।।)

म० गांधीजी लिखते हैं—"बहुत समय से मैं सोच रहा था कि इस सत्याग्रह-संग्राम का इतिहास लिखूँ, क्योंकि इसका कितना ही अंश मैं ही लिख सकता हूँ। कौनसी बात किस हेतु से की गई है, यह तो युद्ध का सचालक ही जान सकता है। सत्याग्रह के सिद्धांत का सच्चा ज्ञान लोगों में हो, इसलिये यह पुस्तक लिखी गई है।" सरस्वती, कर्मवीर, प्रताप आदि पत्रों ने इस पुस्तक के दिव्य विचारों की प्रशंसा की है।

(२) **शिवाजी की योग्यता**—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०) पृष्ठ-संख्या १६२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।) सर्वसाधारण से ।=) प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिए।

(३) **दिव्य जीवन**—अर्थात् उत्तम विचारों का जीवन पर प्रभाव। संसार प्रसिद्ध स्विट् मार्सडन के The Miracles of Right Thoughts का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।) सर्व साधारण से ।=) चौथी बार छपी है।

(४) **भारत के स्त्री-रत्न**—(पाँच भाग) इस ग्रंथ में वैदिक काल से लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य-परायण, विद्वान् और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जीवन-वृत्तान्त होगा। हिंदी में इतना बड़ा ग्रन्थ आज तक नहीं निकला। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मूल्य स्थायी ग्राहकों से केवल ।।।) सर्वसाधारण से १) आगे के भाग शीघ्र छपेंगे।

(५) **व्यावहारिक सभ्यता**—यह पुस्तक बालक, वायु, पुरुष, स्त्री

सभी को उपयोगी है, परस्पर बड़ों व छोटों के प्रति तथा संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, ऐसे ही अनेक उपयोगी उपदेश भरे हुए हैं। पृष्ठ १०८, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)॥ दूसरी बार छपी है

(६) आत्मोपदेश—(यूनान के प्रसिद्ध तत्वज्ञानी महात्मा एपिक के विचार) पृष्ठ १०४, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ≡) सर्वसाधारण से ।)

(७) क्या करें ?—(ले०—महात्मा टाल्सटाय) इसमें मनुष्य जाति के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक प्रश्नों पर बहुत ही सुंदर और मार्मिक विवेचन किया गया है। महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मूल्य केवल ॥=) स्थाई ग्राहकों से ।≡) दूसरा भाग भी छप रहा है इसका मूल्य भी लगभग यही रहेगा।

(८) कलवार की करतूत—(ले०—महात्मा टाल्सटाय) इस नाटक में शराब पीने के दुष्परिणाम बड़ी सुंदर रीति से दिखलाये गये हैं। पृष्ठ ४० मूल्य –)॥ स्थाई ग्राहकों से –)॥

(९) जीवन-साहित्य—म० गांधी के सत्याग्रह आश्रम के प्रसिद्ध विचारक और लेखक काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग पृष्ठ २१८ मूल्य ॥) स्थाई ग्राहकों से ।=) इसका दूसरा भाग भी छप रहा है।

इस प्रकार उपरोक्त नौ पुस्तकें १६८६ पृष्ठों की इस माला के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुई हैं अब दूसरे वर्ष अर्थात् सन् १९२७ में जो जो पुस्तकें प्रकाशित होंगी उनका नोटिस कवर के चौथे पृष्ठ पर छपा है।

सस्ती-प्रकीर्ण-माला की पुस्तकें (प्रथम वर्ष)

(१) कर्मयोग—(ले० अध्यात्म योगी श्री अश्विनीकुमार दत्त। इसमें निष्काम कर्म किस प्रकार किये जाते हैं—सच्चा कर्मवीर किसे कहते हैं—आदि बातें बड़ी खूबी से बताई गई हैं। पृष्ठ सं० १५२, मूल्य केवल ।=) स्थायी ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—सीता जी की 'अग्नि-परीक्षा'

इतिहास से, विज्ञान से तथा अनेक विदेशी उदाहरणों द्वारा सिद्ध की गई है। पृष्ठ सं० १२४, मूल्य ।-) स्थायी ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा-सास, ससुर आदि कुटुंबी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, वर की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये आदि बातें कथा-रूप में बतलाई गई हैं। पृष्ठ सं० ९४, मूल्य केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—हमारा प्राचीन जीवन कैसा उच्च था, पर अब पाश्चात्य आडम्बरमय जीवन की नक़ल कर हमारी अवस्था कैसी शोचनीय हो गई है। अब हम फिर किस प्रकार उच्च बन सकते हैं-आदि बातें इस पुस्तक में बताई गई हैं। पृष्ठ सं० २६४, मूल्य केवल ॥-) स्थायी ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—प्रसिद्ध आयरिश वीर टैरेंस मेक्स-वीनी की Principles of Freedom का अनुवाद—प्रत्येक स्वतंत्रता-प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिये। पृष्ठ सं० २०८ मूल्य ॥), स्थायी ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्मा विद्यालंकार) भू० ले० पद्म सिंहजी शर्मा—इसमें अनेक ग्रन्थों को मनन करके एकांत हृदय के सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक विषयों पर बड़े ही सुन्दर, हृदयस्पर्शी मौलिक विचार लिखे गये हैं। किसी का अनुवाद नहीं है। पृष्ठ सं० १७६, मूल्य ।≡) स्थायी ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविंदसिंह—(ले० बंगाल के प्रसिद्ध लेखक श्री चण्डीचरण सेन) इस उपन्यास में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन-काल में भारत के लोगों पर अँग्रेज़ों ने कैसे कैसे भीषण अत्याचार किये और यहाँ का व्यापार नष्ट किया उसका रोमांचकारी वर्णन तथा कुछ देश-भक्तों ने किस प्रकार मुसीबतें सहकर इनका मुक़ाबला किया उसका गौरव-पूर्ण इतिहास वर्णित है। रोचक इतना है कि शुरू करने पर समाप्त किये बिना नहीं रहा जा सकता। पृष्ठ २९६ मूल्य केवल ॥=) स्थायी ग्राहकों से ।≡)॥

(८) यूरोप का इतिहास—(प्रथम भाग) छप रहा है। पृष्ठ लगभग ३५० मार्च सन् १९२७ तक छप जायगा। इस माला में एकाध पुस्तक और निकलेगी तब वर्ष समाप्त हो जायगा।

☞ हमारे यहाँ हिंदी की सब प्रकार की उत्तम पुस्तकें भी मिलती हैं—बड़ा सूचीपत्र मँगाकर देखिये!

पता—सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर।

यह प्रार्थना उन्हीं से है जिन्हें अपनी मातृभाषा से प्रेम हो

हिन्दी भाषा की अपील

भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा हिन्दी के प्रचार के लिये एक ऐसी सार्वजनिक संस्था की परमावश्यकता थी जो शुद्ध सेवा भाव से बिना किसी प्रकार के लाभ की इच्छा रखते हुए हिन्दी में उत्तमोत्तम पुस्तकें बहुत ही स्वल्प मूल्य में निकाले। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये यह सस्ता मंडल स्थापित हुआ है। **अभी तक जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं यह साथवाले नोटिस से आपको मालूम हो जायगा।**

मंडल का आदर्श

अभी हमने १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें स्थाई ग्राहकों को देना निश्चय किया है। पर हमारा आदर्श है कि १) में ८००) से १०००. पृष्ठों तक की पुस्तकें हम निकाल सकें। यदि यह दिन आगया जो कि अवश्य आवेगा तो हिन्दी भाषा की बड़ी सेवा हो सकेगी।

मण्डल के लाभ और हानि का सवाल

मण्डल सिर्फ इतना ही चाहता है कि उसके काम करनेवाले कार्य्यकर्ताओं का वेतन निकल आवे और वह इस तरह स्वावलम्बी होकर चिरकाल तक हिन्दी की सेवा कर सके, बस यही उसका स्वार्थ है। अभी जो १) में ५०० से ६०० पृष्ठों तक की पुस्तकें देने का निश्चय किया है उसमें जबतक **चार हजार ग्राहक न बन जावें तबतक मण्डल को बराबर हानि होती रहेगी।** इतने ग्राहक हो जाने पर १) में उपरोक्त पृष्ठों की पुस्तकें देने से मण्डल को हानि न उठानी पड़ेगी। **ज्योंही चार हजार से ऊपर ग्राहक बढ़ने लगे वैसे ही पृष्ठ संख्या भी बढ़ने लगेगी।**

मण्डल के जीवन का आधार

उसके स्थाई ग्राहक हैं—गुजरात जैसे छोटे से प्रांत में वहां के सस्तुं-साहित्य कार्य्यालय के सात हजार स्थाई ग्राहक हैं। इसीलिये आज उस संस्था से सैकड़ों उत्तम ग्रन्थ स्वल्प मूल्य में निकल गये हैं। उस हिसाब से हिन्दी में तो बीसियों हजार ग्राहक हो जाना चाहिये।

(पीछे देखिये)

आपसे विनीत प्रार्थना

जब कि हम स्थाई ग्राहकों को लागत मूल्य में पुस्तकें दे रहे हैं ऐसी अवस्था में क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि आप इसके स्थाई ग्राहक बनकर इस सेवा के कार्य्य में हमारा हाथ बटावेंगे। आपको तो यह लाभ होगा कि कुछ वर्षों में ही आपके घर में उत्तम चुनी हुई सब विषयों की पुस्तकों का बहुत ही कम कीमत में पुस्तकालय हो जायगा और हमें आपके ग्राहक बनने से बड़ी मदद मिलेगी। **दोनों मालाओं का पोस्टेज सहित कुल ८) वार्षिक है जिसमें कि ३२०० पृष्ठों की कोई अठारह बीस पुस्तकें घर बैठे आपको मिल जावेंगी।** आशा है आप हमारी इस उचित प्रार्थना को यों ही नहीं टाल देंगे।

अन्तिम निवेदन

(१) यदि किसी कारण से आप ग्राहक न बन सकें तो कम से कम एक दो ग्राहक बनाकर ही आप हमारी सहायता कर सकते हैं। आपके मित्रों या सम्बन्धियों आदि में एक दो को तो आग्रह करके आप जरूर ही ग्राहक बना सकेंगे। यह तो निश्चय बात है। सिर्फ आपके हृदय में हिन्दी के लिये सच्चा प्रेम होना चाहिये।

लोगों की उदासीन वृत्ति

जब हम, लोगों के पास अपने विज्ञापन भेजते हैं तो बहुत कम लोग उन पर ध्यान देकर ग्राहक बनते हैं पर जब हम उनके घर पर सामने चले जाते हैं तो वे जरूर ग्राहक बन जाते हैं यह हमारा खुद का अनुभव है। इसका कारण केवल उनका आलस्य या उदासीन वृत्ति है। घर घर जाने में कितना रुपया और कितनी शक्ति खर्च होती है यह आप अनुमान कर सकते हैं। आप यदि इस ओर ध्यान दें और सहायता के भाव से प्रेरित हों तो मण्डल की यह शक्ति और द्रव्य बच कर हिन्दी की अधिक सेवा में लग सकता है।

आशा है आप हमारी अपील को व्यर्थ न फेंक देंगे और ऐसा समझ कर कि हम आपके सामने ही अपील कर रहे हैं, कम से कम एक वर्ष के लिये जरूर ग्राहक बनेंगे।

विनीत—जीतमल लूणिया, मन्त्री,
सस्ता साहित्य-प्रकाशक मंडल, अजमेर

सन् १९२७ में प्रकाशित होने वाली कुछ पुस्तकें

(१) स्त्री और पुरुष—(महात्मा टाल्स्टाय) अर्थात् स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक संबंध का आदर्श—बहुत ही उच्चकोटि की पुस्तक है। पृष्ठ १५४ मूल्य ।≈) यह छप गई है।

(२) तामिल वेद—कुरल नामक तामिल ग्रंथ का अनुवाद। इस का वेदों के समान उस प्रांत में आदर है। धर्म और अर्थ पर पूर्णविवेचन है। पृष्ठ २५० से ऊपर, बढ़िया कागज़ मूल्य ॥≈) मामूली ॥) छप गई है।

(३) स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्तव्य—अर्थात् हिन्दु मुस्लिम समस्या—लेखक-पं० हरिभाऊ उपाध्याय-पृष्ठ लगभग १२० मूल्य ।≈) यह छप गई है।

(४) आत्म-चरित्र—(लेखक महात्मा गांधी) पृष्ठ लग भग ५००

(५) जीवन-साहित्य—(दूसरा भाग) पृष्ठ लगभग २००

(६) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—(उत्तरार्द्ध) पृष्ठ २५०

(७) क्या करें—(दूसरा भाग) पृष्ठ लगभग २५०

(८) हमारे ज़माने की गुलामी—(महात्मा टाल्सटाय)

(९) श्री रामचरित्र (१०) श्रीकृष्ण चरित्र—(लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०) इन पुस्तकों की प्रशंसा भारत के प्रायः सब विद्वानों ने की है। प्रत्येक पुस्तक की पृष्ठ संख्या लगभग ४०० और मूल्य लगभग १।)

(११) अनोखा—विक्टर ह्यूगो के प्रसिद्ध उपन्यास Laughing man का हिंदी अनुवाद—अनुवादक ठा० लक्ष्मण सिंह जी एम० ए० पृष्ठ लगभग ३५०

(१२) युरोप का इतिहास—(दो भाग) पृष्ठ लगभग ८००

(१३) हिंदू समाज, क्रांति के पथ पर—(ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय) पृष्ठ लगभग ४००

उपरोक्त पुस्तकें आगे पीछे सन् १९२७ में प्रकाशित हो जावेंगी। यदि आप ये पुस्तकें मँगाना चाहें तो आज ही आर्डर दे दें। स्थाई ग्राहक बनना चाहें तो पुस्तक के अंत में नियम लिखे हैं सो पढ़ लें।

पता—सस्ता साहित्य प्रकाशक मंडल, अजमेर।

जीवन-साहित्य

(दूसरा भाग)

काका कालेलकर

वर्ष २] सस्ती-साहित्य माला [पुस्तक ८

जीवन-साहित्य

(दूसरा भाग)

अर्थात्

आचार्य कालेलकर का लेख-संग्रह

अनुवादक

शास्त्र-निष्णात कलाभूषण

पण्डित श्रीनिवासाचार्य द्विवेदी

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल

अजमेर

प्रथमबार] १६२८ [मूल्य ॥)

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

हिन्दी-प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ संख्या और मूल्य ज़रा विचार कीजिए। कितनी उत्तम और साथही कितनी सस्ती हैं! मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिए।

ॐ ग्राहक नम्बर—

ॐ यदि आप इस मण्डल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

प्रकाशक का वक्तव्य
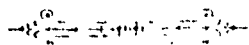
गुजरात विद्यापीठ के आचार्य काका कालेलकर की लेखनी में कुछ ऐसी विलक्षण प्रसन्नता है कि वह गहन से गहन विषयों को भी सरल और मनोरंजक बनाकर हमारे सामने रख देती है। काका साहेब द्वारा लिखित 'जीवन साहित्य' के प्रथम भाग का पाठकों ने जिस प्रेम के साथ स्वागत किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। और इसीलिए 'जीवन साहित्य' का यह दूसरा भाग उनकी सेवा में समर्पित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। इसमें शिक्षा, तत्त्वज्ञान, और राजनीति पर काका साहब के मौलिक एवं प्रौढ़ लेख पढ़कर पाठक और भी प्रसन्न होंगे। श्रीमान् बाबू राजेन्द्र-प्रसाद जी ने इस पुस्तक के प्रथम भाग की भूमिका में लिखा है 'हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचारों पर उन्होंने नयी रोशनी डाली है'। अतः यह पुस्तक प्राचीनता का अनुगमन करने वाले पुराण-प्रिय लोगों, एवं सुधारक होने का अभिमान करने वाले नवीन रोशनी के युवकों के लिए भी एकसी लाभ दायक है। हमें आशा है 'जीवन साहित्य' के इस द्वितीय भाग को भी हिन्दी भाषी जनता उसी तरह अपनावेगी।

प्रकाशक

लागत का ब्यौरा

कागज़	२३०)
छपाई	२२०)
बाईंडिंग	४०)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३७०)
	८६०)

प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ।≡)

इस पुस्तक का प्रथम भाग सन् २६ में छपा है

पृष्ठ संख्या २१८ मूल्य ॥)

थोड़ी सी कापियाँ बची हैं

विषय-सूची

जीवन-साहित्य

(दूसरा भाग)

काका कालेलकर

जीवन-साहित्य

शारदा का उद्बोधन

हम ठीक ठीक नहीं जानते कि किस नवमी के दिन सुरों ने शारदा का उद्बोधन किया। पर अवश्य ही वह बड़ा ही शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त होगा। समृद्धिदायिनी वर्षा के बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसीमें देवों को शारदा का दर्शन हुआ। पृथ्वी ने अभी नील रंग को छोड़ नहीं दिया है। परिपक्व धान्य सुवर्ण-वर्ण को धारण करने लगा है। ऐसे ही समय पर देवों ने शारदा का ध्यान किया। सज्जनों के हृदय के समान स्वच्छ जल में विहार करने वाले कमल, और आकाश में अनन्त काव्य के फ़व्वारे छोड़ने वाला चंद्र जब एक दूसरे का ध्यान कर रहे थे, तभी देवों ने शारदा का आवाहन किया था। शारदा आई, और पृथिवी के वदन-कमल पर हास्य नाचने लगा। शारदा के आते ही वन-श्री का गौरव बढ़ा। शारदा के आते ही घर-घर समृद्धि फैली। शारदा के आते ही

वीणा का झणत्कार शुरू हुआ; और संगीत का नृत्य भी ठौर ठौर आरम्भ हुआ।

शारदा का स्वरूप कैसा है ? बाला ? मुग्धा ? प्रौढ़ा ? या पुरन्ध्री ? शारदा मंजुल-हासिनी बाला नहीं, मनोमोहिनी मुग्धा नहीं, विलास-चतुरा प्रौढ़ा भी नहीं। वह नित्य-यौवना पर स्तन्य-दायिनी माता है। वह हमारे साथ खेलती है, हंसती है; पर वह हमारी सखी नहीं, माता है। हम उसके साथ बालोचित क्रीड़ा कर सकते हैं, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि हम माता के सम्मुख खड़े हैं। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृतनिधान। 'न मातुः परं दैवतम्।' यह वचन किसी उपदेशप्रिय स्मृतिकार का नहीं है। यह तो किसी मातृःपुत्र धन्य बालक की अमृतवाणी है।

सृष्टि के ऐक्य को अनुभव करने वाले हम आर्यसंतान एक शब्द में कई अर्थों को देखते हैं। शारदा का अर्थ है सरोवर में खिलने वाले कमलों की शोभा। शारदा है अश्विनी-पूर्णिमा, और दीपावली की शोभा। शारदा है यौवन-सहज-व्रीडा। शारदा है कृषि-लक्ष्मी। शारदा है साहित्य-सरिता। शारदा है ब्रह्म-विद्या, चिच्छक्ति। शारदा है विश्व-समाधि। यह हमारी माता, हम उसके बालक। कैसी धन्यता ! कैसी स्पृहणीय पदवी ! कितना बड़ा अधिकार ! और साथ ही कितनी बड़ी दीक्षा !

जिन लोगों को शारदा के स्तन्य का स्पर्श हुआ है वे, अपवित्र वाणी का उच्चार नहीं करेंगे, निर्बलता के वचन नहीं उच्चारेंगे, द्वेषोद्गार नहीं निकालेंगे, पाप को नहीं सजावेंगे, पौरुष का हनन नहीं करेंगे और न मुग्धजनों को ठगेंगे।

शारदा के मंदिर में सर्वोच्च कला हो, कला के नाम विलसती विलसिता नहीं! शारदा के भवन में प्रेम का वायुमण्डल हो, सौंदर्य का मोहन नहीं। शारदा के उपवन में प्राण का स्फुरण हो, निराशा का निःश्वास नहीं। शारदा की लता-कुंजों में विश्वप्रेम का संगीत हो, परस्पर अनुनय का कल-कूजित नहीं। शारदा के विहार में स्वतन्त्रता की धीरोदात्त गति हो, उद्देशहीन और स्खलनशील पद-क्रम नहीं। शारदा के पीठ में ब्रह्मरस का प्रवाह हो, विषयरस का उन्माद नहीं।

माता शारदा! हमें ऐसा आशीर्वाद दे, कि जिससे तेरा अखंड स्मरण हमें बना रहे। हम अधिकारी हो जायँ तब तेरा दर्शन भी हो। जब कभी हमारा ध्यान अविचल हो, और हमारी भक्ति एकाग्र और उत्कट हो, तब हमें तेरी दीक्षा देना। और तेरी सेवा के पूरी तरह योग्य बन जाने पर, हमें एक मात्र तेरी सेवा की ही धुन रहे यही भिक्षा देना। तुझे कोटिशः प्रणाम है।

या देवी सर्व भूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः

ॐ

(एक प्रवचन)

ॐकार हमारा सर्व-श्रेष्ठ मन्त्र है। उसका दर्शन और श्रवण दोनों गम्भीर और आल्हादजनक हैं। इस प्रणव का रहस्य-उद्घाटन करने के लिए ऋषिओं ने एक पूरी उपनिषद् लिख डाली पर फिर भी उसका पूर्ण रहस्य नहीं खुला। इस ॐ का क्या अर्थ है? ॐ के मानी हैं सनातन 'हाँ'। संशय, अश्रद्धा, नास्तिकता आदि सब को एक स्मित से दूर करने की शक्ति इस प्रसन्न 'हाँ' में भरी हुई है। ॐ कहता है ब्रह्म है; यह संसार है, भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध जैसा चाहें, आप जोड़ दें—कल्पना कर लें—वह सब कुछ है। इसलिए सब एक ही है; कुछ न हो सो नहीं। जहाँ ॐ है, वहाँ असत्य के लिए स्थान ही नहीं।

यही सत्य-नारायण है। यही हमारा प्रिय सखा है। इसके नजदीक रहकर हम सब सुखी हैं। जीवन-यात्रा में कितने ही मार्ग हमें ललचाते हैं, पद-पद पर शंका होती है। हम समझ नहीं पाते कि सर्वोच्च आदर्श कौनसा है। क्षण-क्षण पर धर्म-संकट उपस्थित होते हैं। पर आप इस प्रिय सखा ॐ अथवा शुद्ध सत्य का पाणि-ग्रहण करके चलिएगा। फिर आपको कहीं भय न होगा। समाज-सेवा करनी है? ठीक है कीजिएगा। पर सत्य का हाथ छोड़कर नहीं। दान परोपकार करना चाहते हैं? अवश्य, पर सत्य के प्रति वफादार जरूर बने रहिए। शास्त्रों की रचना करना है? शौक से, पर जरा संभलकर, जहाँ तक सत्य ले जाय—वहीं तक। और सब का साथ करने से भय हो सकता है। पर जिस प्रकार बालक के लिए उसकी

माता परम आप्त एवं परम कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार सत्य मनुष्य के लिए है। शेष सब बातें बाह्य हैं।—या तो उन्हें प्राप्त करना पड़ता है या उन्हें विकसित करना पड़ता है। पर सत्य तो हमारे जितना ही, बल्कि हम से भी अधिक पुराना है। बधू सुसराल के सभी मनुष्यों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करती है। पर अपनी निष्ठा तो वह पति को ही अर्पण कर देती है। उसी प्रकार, जिस क्षेत्र में चाहें आप काम कीजिए, कोई भी जिम्मेदारी का काम या साधना शुरू कीजिए, पर अपने इस प्रिय सनातन साथी को कभी न भूलिए। इसका साथ कभी न छोड़िए। इसी के पीछे संसार भी है। यही ईश्वर भी है। अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करने पर आप देखेंगे कि आत्मा भी इससे भिन्न नहीं है। सत्य के मानी केवल व्यावहारिक प्रमाणिकता ही नहीं है। सत्य के मानी केवल यथार्थ कथन नहीं। सत्य तो शुरू से ही हमारे साथ है। ज्यों-ज्यों हम उन्नति करते जाते हैं, त्यों त्यों हमें उसका सूक्ष्मतर दर्शन होता जाता है। वास्तव में ऐसा एक भी प्राणी न होगा जिसे सूक्ष्म नहीं तो स्थूल सत्य के भी दर्शन न हुए हों। इसीलिए सब को आशा है; और जिम्मेदारी है। सत्य का दर्शन ही जीवन का सार है। शेष सब निःसार ही समझिए। अपने उस हृदयेश्वर को हमें धोखा नहीं देना चाहिए। वह हमें कभी धोखा नहीं देगा। वह कल्याणकारी है। यह उसकी एक सुंदरता है, सिफारिश नहीं। उसकी सिफारिश तो यही है कि वह सत्य है। उससे उत्पन्न होने वाली प्रत्येक प्रवृति का अन्तिम फल सत्य ही है, इसका अनुभव मिलने पर ॐ ही हमारा महाकाव्य हो जाता है। उसकी रटन ही में हमारा अखण्ड समाधान है।

ॐ ॐ ॐ

सत्य-निर्णय
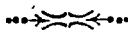
संसार में अनादि काल से सत्यान्वेशण का काम चला आया है। यह तो मनुष्य ने जान लिया कि सत्य यही परम धर्म है। परन्तु सत्य क्या है; यह अभी उतना प्रकट नहीं हुआ और इसी से संसार का व्यवहार साशङ्क और भयावह बन गया है। ईश्वर का स्वरूप कैसा है, हजार दो हजार वर्ष तक अगर इस बात का अन्तिम निर्णय न भी हो तो काम चल सकता है। परन्तु सत्य का स्वरूप निश्चित किये बिना एक क्षण भी काम नहीं चल सकता। कदम कदम पर हमें सत्य का निर्णय करना पड़ता है। मनुष्य अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ तो अकेला ईश्वर ही है। अतः परम सत्य क्या है, यह तो केवल ईश्वर ही जाने। तथापि सत्य के सम्बन्ध में हमें जितना और जैसा साक्षात्कार हुआ है, उसीके आधार पर हमें अपना व्यवहार चलाना पड़ता है। श्रद्धा कहती है, परम सत्य—एक मात्र सत्य-जरूर कहीं न कहीं होगा। अनुभव कहता है, हरएक मनुष्य को अपने को सूझी हुई वस्तु ही सच्ची मालूम होती है। अतः सत्य में प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार विविधता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि वासना सत्य के वास्तविक स्वरूप को ढँक देती है, और मोह के कारण हम उसका दर्शन नहीं कर सकते। किन्तु हम जिन्हें वीतराग और स्थितप्रज्ञ गिनते हैं उनमें भी तत्व-विषयक मत-भेद

देख कर सत्यान्वेषण के सम्बन्ध में निराशा उत्पन्न होती है। तथापि सत्यान्वेषण की यात्रा किसी क्षण भी बन्द नहीं होगी, क्योंकि वही जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश है।

सत्यान्वेषण जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश होने के कारण हम अपनी जीवन-विषयक कल्पना के अनुसार सत्य का निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ लोग बाह्य जीवन को अधिक महत्व देते हैं, तो बहुतेरे आन्तर-वृत्ति को। कितने ही सामाजिक निर्णय को ही प्रमाण मानते हैं, तहाँ दूसरे कितने ही लोग व्यक्तिगत अन्तःस्फूर्ति को सर्वोपरि मानते हैं। इन दोनों में से कौनसा पक्ष श्रेष्ठ है यह अभी निश्चित नहीं हुआ किन्तु जिस दिन वह निश्चित हो जायगा उसी दिन परम सत्य की खोज भी हो जायगी।

इस भेद के अनुसार अन्तःस्फूर्ति को अधिक महत्व देनेवाले मनुष्य कहते हैं, कि हरएक व्यक्ति को निष्पक्षता से जो सत्य लगता है, वही उसके लिए सत्य है। सारा संसार एक ओर हो और वह अकेला दूसरी ओर रहे तो भी वह अपने को जो बात सत्य मालूम हो उसीको पकड़े रहे, सत्य कभी धोखा नहीं देता। दूसरा पक्ष कहता है कि हरएक मनुष्य—हरएक व्यक्ति कितना अल्पज्ञ होता है? उसका अनुभव इतना मर्यादित होता है कि, व्यक्ति की सत्य-विषयक कल्पना पर आधार रखना मिथ्याभिमान है। यह जगत् सत्य है, इस जगत् का व्यापार सत्य है, हमारी क्षणिक कल्पना असत्य है। व्यक्ति मरणाधीन है, पर समाज उसकी तुलना में अमर है। व्यक्ति मोहावृत है, उसकी अपेक्षा समाज में अधिक योगयुक्त रहता है। इसीसे तो संसार का व्यवहार पंचों के निर्णय द्वारा चलाया जाता है। आप कहते हैं कि सत्य परम मङ्गल है। यदि

यह बात सच्ची हो तो आप को यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो परम मङ्गल है वह सत्य है। हम इस सिद्धान्त को मानते हैं इसीलिए जगद्गुरु ने कहा है:—

यद् भूतहितमत्यन्त तत्सत्यमिति नः श्रुतम्।

इस जगह जगद्गुरु ने 'इति मे मतिः' नहीं कहा। 'नः श्रुतम्' हमने पूर्वाचार्यों से सुना है; अर्थात् कहने और सुनने वाले अनेक हैं। सत्य की व्याख्या करने का अधिकार भी समाज ही को है, ऐसा जगद्गुरु ने 'नः श्रुतम्' कह कर स्पष्ट कर दिया है। प्राणिमात्र का आत्यन्तिक कल्याण जिससे हो वही सत्य है। हमें नहीं मालूम होता कि, इस व्याख्या पर कोई आक्षेप कर सकेगा। परम माङ्गलिक, सर्वभूतहितकर सत्य का निर्णय दूसरी तरह किया ही नहीं जा सकता। आज हमारा प्राणिमात्र के साथ समभाव न हो। जिस हद तक मनुष्य में प्रेम-वृत्ति का विकास हुआ होगा, उसी हद तक वह भूत-हित का व्यापक अर्थ भी कर सकता है और उसी परिमाण में उसे सत्य का स्थूल या सूक्ष्म साक्षात्कार भी हो सकता है। वहुतेरे लोगों के ख्याल में कुटुम्ब हित में ही भूतहित है। इससे ऊँची श्रेणी के मनुष्यों के ख्याल में मनुष्य जाति, सम्प्रदाय अथवा राष्ट्र-हित ही क्रमशः सम्पूर्ण भूत-हित है। आज सर्वोच्च कोटि के मनुष्यों में भी भूतहित के मानी मनुष्य-हित ही किया जाता है। मालूम होता है, कि निष्पाप जीवन बिताने के लिए शहद और तीड़ पर अपनी आजीविका चलाने वाले, वाइविल में वर्णित साधु भी मनुष्य-हित को ही भूत-हित मानते थे। जिस प्रकार भूतहित-विषयक यथार्थ ज्ञान क्रमशः प्राप्त होता है, उसी प्रकार 'अत्यन्त' शब्द का भाव भी क्रमशः स्फुट

होता है। आज क्षुद्र स्वार्थ के लिए, क्षणिक लाभ के लिए राष्ट्र की हानि करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा देश-हित के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाले व्यक्ति 'अत्यन्तम्' का अर्थ अधिक जानते हैं। उसी प्रकार न्याय अन्याय का बिना किसी तरह विचार किये राष्ट्रोपासना करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा मानव-कोटि का हित-संचय करने के लिए केवल परम-धर्म का ही अवलंबन करनेवाले मॅझीनी, टॉल्स्टॉय या गांधी जैसे महात्मा 'अत्यन्तम्' का अर्थ और भी अधिक जानते हैं। इस तरह ज्यों ज्यों समाज में भूत-हित और अनन्त काल का साक्षात्कार बढ़ता जायगा त्यों त्यों सत्य का दर्शन अधिकाधिक स्पष्ट होगा।

इस तरह सत्य की कसौटी दो रीति से होती है; व्यक्तिगत धर्म-बुद्धि (Individual conscience) द्वारा अथवा समाज-बुद्धि (Social conscience) निर्णीत आत्यन्तिक कल्याण की कल्पना द्वारा। दोनों निर्णयों में भय तो अवश्य ही है। और इसीलिए उनमें से प्रत्येक पक्ष के समर्थकों ने उसके लिए एक एक उतार भी बताया है। अन्तः करण-प्रवृत्ति की पूजा करने वाला सम्पूर्ण संसार पर अत्याचार कर सकता है उसके आत्मविश्वास में अहङ्कार भी हो सकता है। ऐसे मनुष्य का संग्रह करने से समाज-सुरक्षित भी न रहे। दूसरी ओर यह ख़तरा है कि समाज निर्णय को धर्म-पद देने वाला कहीं प्रगति का विरोधी और रूढ़ि का दास न बन जाय? इसके साथ लड़लड़ के ही सत्य को अपना रास्ता साफ़ करना पड़ता है। समाज-निर्णय का संमान करने में विनय अवश्य है, पर उसमें आत्मिक विकास के लिए अनुकूलता नहीं।

इन त्रुटियों के कम करने के उपाय भी देखने चाहिए। अंतःकरण-प्रवृति का पूजक अपने हाथ में सत्ता या ऐश्वर्य लेने में हिचकता है। किसी तरह का भी अधिकार हाथ में न ले यही उसका अधिधर्म है। यदि वह इस धर्म का पालन न करेगा, तो वह अपनी उन्नति में अपने हाथों विघ्न खड़े कर समाज के लिए असह्य हो जायगा। इसलिए उसे अपने सिद्धान्त से सन्वन्ध रखने वाली बातों में तिल भर भी न झुकना चाहिए। परवा नहीं, फिर यदि सारा संसार भी उसके प्रतिकूल हो जाय। परन्तु जहाँ तत्व का प्रश्न न हो, वहाँ उसे कदापि आग्रह नहीं करना चाहिए। गौण बातों में निराग्रही रह कर कदम-क़दम पर लोकमत का संमान कर उसे अपने को होम देना चाहिए। यही उसके लिए धर्म का रास्ता है, दूसरा नहीं। समाज-निर्णय को प्रधान पद देने वाले अपने सिद्धांत के लिए आग्रही बन कर, शेष बातों में हाथ-पैर समेट कर अपने को समाज के हाथों में सौंप देने वाली कूर्म-वृत्ति नहीं रख सकते। उनका वह धर्म नहीं। वे अपने विषय में विनयपूर्वक अश्रद्धा रखते हैं। परन्तु समाज पर-जनता पर-उनकी अमर्याद श्रद्धा रहती है। वे जनता ही को जनार्दन मानते हैं। उनका ख्याल है कि संसार का व्यवहार अधिकार ही से चलता है, सत्ता ही से चलता है। राष्ट्र तो समाज-सम्राट् की शुभचिंतक प्रजा है। और उस सम्राट् ही को उसका नियमन करना चाहिए।

हिन्दूधर्म में इन दोनों धर्म-वृत्तियों के दो महान् उदाहरण भी मौजूद हैं।—राजा रामचन्द्र और जगद्गुरु श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने किसी दिन राज्यपद अपने हाथ में नहीं लिया; और समाज को संतुष्ट रखने के लिए सीता का त्याग या शम्बूक का

वध करते हुए राजा रामचन्द्र भी बिलकुल नहीं हिचके। कौन कह सकता है कि इन दोनों संप्रदायों में से कौनसा पुराना और कौनसा श्रेष्ठ है? श्रीकृष्ण दोनों को एक से उत्तम मानते थे और अपने शिष्यों में से जिसका जो अधिकार होता, उसे उसी तरह का उपदेश देते थे। इसी कारण उद्धव-गीता और अर्जुन-गीता का पृथक पृथक निर्माण हुआ। ईश्वर की योजना अथवा सत्य की सुंदरता के कारण इन दोनों में विरोध नहीं हो सकता। और इसीसे विश्व का व्यापार आज तक सुव्यवस्थित रीति से चला आया है। जब जब वृत्ति-भेद का यह उत्तम रहस्य ध्यान में नहीं आया, अथवा जब-जब मोह के कारण समर्थ व्यक्तियों ने इस विशिष्ट वृत्ति-भेद में स्वधर्म का पालन नहीं किया, तभी तब संसार में दुष्टता उत्पन्न हुई और उत्पात भी हुआ है।

तत्त्व और व्यवहार
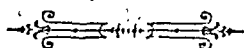
"आप तो आदर्श-लोक के निवासी ठहरे। व्यवहार में ऐसे आदर्श नहीं काम दे सकते। यहाँ तो संयोगों का स्वागत करते हुए व्यवहार की रक्षा करने वाला मनुष्य ही निभ सकता है। "यों कहने वाले तो क़दम-क़दम पर मिलते हैं। पर हमें यह हमेशा देखना चाहिए कि यह व्यवहार और ये संयोग हैं क्या चीज़ ?

व्यवहार एक सत्य वस्तु है, परन्तु यह नहीं कि यह सर्वदा अच्छी ही वस्तु हो। बीमारी में हानिकारक भोजन पर भी मन दौड़ता है। यह वासना भी सच्ची तो है ही, पर उसके वश में हो जाना श्रेयस्कर नहीं और न उसमें पुरुषार्थ ही है।

तत्व ऊपर को ले जानेवाली वस्तु है और व्यवहार नीचे को। संसार में इन दोनों के बीच सनातन युद्ध होता चला आया है। हां, इन के बीच समझौता या सुलह करने के लिए अबतक अनेकों प्रयत्न भी होते आये हैं, किन्तु व्यवहार बड़ा दुराग्रही। तत्व-पक्ष तो समाधान की शर्तों को स्वीकार करलेता है, परन्तु व्यवहार-पक्ष तो उसे ज्यों-ज्यों रिआयतें मिलती जाती हैं, त्यों-त्यों और भी रिआ-यतें माँगता जाता है, और अन्त में तत्व का खून तक कर डालता है। इसलिए तत्व-पक्ष को सदा सावधान रहना चाहिए। उसे कभी व्यवहार के साथ हमेशा के लिए समझौता नहीं कर लेना चाहिए।

तत्व और व्यवहार के इस सनातन युद्ध में हम कौनसा पक्ष ग्रहण करें ? किस पक्ष से सहानुभूति रक्खें ? किसके झण्डे के नीचे खड़े रहें ? जीवन में यही बड़े से बड़ा प्रश्न है। जीवन में व्यवहार-पक्ष का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। पर इसमें दो बातें हैं। एक तो केवल व्यवहार पक्ष का अस्तित्व स्वीकार कर लेना और दूसरे, उसका सहयोगी बनना। व्यवहार-पक्ष प्रारम्भ में सदा सौम्य, समझदार और उत्तम स्वभाव वाला मालूम होता है, और इसीसे हम उसके वश हो जाते हैं। परन्तु जहां एक बार व्यवहार-पक्ष की ओर मत दिया नहीं, उसकी तरफ़ से हाथ ऊँचा किया नहीं कि उसका साम्राज्य हमारे सिर पर हुआ नहीं। और प्रारम्भ हो जाने के बाद तो व्यवहार की हुकूमत तेज़ी से बढ़ती ही जाती है।

व्यवहार इतना चतुर है, कि तत्व का खून करने के बाद भी वह उसके शव को इस ढंग से सुरक्षित रख छोड़ता है कि, जिससे तत्व-पक्ष वालों को यह भ्रम बना ही रहे कि, अभी तो तत्व जीवित है। व्यवहार हमेशा कहता है, 'नाम मात्र के लिए राजा चाहे कोई हो, मुझे उसकी पर्वा नहीं, सत्ता अगर मेरी ही हो तो मेरे लिए काफी है।'

आज हमारे समाज में तत्ववादी कितने हैं, और व्यवहारवादी कितने ? जब किसी राष्ट्र में तत्ववादियों की संख्या बढ़जाती है तब देश की उन्नति होती है। व्यवहारवादियों ने किसी समय किसी भी समाज या राष्ट्र का उद्धार नहीं किया।

जिक और राजकीय हलचलों में आज तक हमने ऐहिक सुखोपभोग, स्वच्छन्द और व्यक्तिगत स्वार्थ को स्वाभाविक समझ कर उन्हें प्रतिष्ठा अर्पण की है। स्वार्थ और सुख लालसा स्वयं ही इतने बलवान् हैं कि, उनका अपमान करते रहने पर भी मनुष्य के हृदय पर उनका प्रभाव अनेकबार पड़ता ही है। फिर इन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा मिलने पर तो इनके लीला-विस्तार की बात ही क्या करनी है? बेशक, अन्तिम लाभ के लिए क्षणिक त्याग और असुविधा उठाने को यह प्रॉटेस्टेन्ट वृत्ति ज़रूर तैयार हो जाती है। पर यह तो असुरों की तपस्या है। तपस्या में दैत्य देवताओं से कम नहीं होते।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि, मनुष्य तर्क का समूल त्याग करदे। तर्क जिस भावना को उखाड़ सकता है वह शुद्ध भावना नहीं, वह तो मोह होता है। उसका त्याग ही करना श्रेयस्कर है। शुद्ध भावना को काटना तो दूर, वहाँ तक तर्क पहुंच भी नहीं सकता। बल्कि इस असमर्थता को स्वीकार करके वह पीछे हट जाता है।

पुराने खेत में नई जोत

एक वृद्ध ने मरते समय अपने लड़कों से कहा कि, हमारे खेत में धन गड़ा रक्खा है। उसके मर जाने के बाद लड़कों ने सारा खेत खोद कर देखा। पर उस समय उन्हें कहीं भी धन न मिला। पर उस वर्ष फसल इतनी अच्छी आई कि उसके आगे यदि गड़ा हुआ धन भी मिल गया होता तो वह किसी गिनती में न आता।

समाज में मामूली लोग हमेशा विचार-क्षेत्र ऊपर ही ऊपर जोतते हैं, अतः सामाजिक जीवन भी प्राकृत और क्षीण रहता है। परन्तु जब जब कभी 'धीर' पुरुषों ने विचार-क्षेत्र को उस वृद्ध के लड़कों के समान खूब गहरा खोदा है तब-तब बराबर विचार की फसल अपूर्व आई है। श्रीकृष्ण ने एक बार यह किया था, जिससे हिन्दू-विचार-सागर में इतनी बाढ़ आई। बुद्ध भगवान् ने आत्म-प्रतीति के सिवा दूसरे किसी भी प्रमाण को मानने से इनकार किया उससे आर्य-संस्कृति के ज्ञानाग्नि पर पड़ी हुई राख उड़ गई और आर्य-विचार राशि रूपी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। फ्रान्स के डिडेरो और विश्वकोश के लेखकों ने विचार क्षेत्र को जोत कर देख लिया कि मनुष्य-समाज का आधार किस तत्व पर है। और यूरोप में क्रान्ति हो गई, जन-साधारण स्वतन्त्र हो गये। मार्टिन लूथर ने भी अपने समय की धर्म-व्यवस्था को आग में रख दिया और फलतः

धर्म-कल्पना शुद्ध सुवर्ण रूप में उसे प्राप्त हो गई। इसी तरह मनुष्य जब-जब अन्ध-परम्परा को फेंक कर छोटे और बड़े प्रत्येक पदार्थ को 'कोऽस्मि। कस्मिंस्त्वयि वीर्यम्'* ऐसा प्रश्न करने का साहस करता है तब धर्म-संस्कार होता है। राष्ट्र में नवीन बल आता है, विद्वानों को नवीन दृष्टि मिलती है और इस दृष्टि का प्रभाव चौदहों विद्या और चौंसठों कलाओं पर पड़ता है।

आज भारत में इसी तरह की तत्व-जिज्ञासा, धर्म-जिज्ञासा और कर्म-जिज्ञासा सुलग उठी है। हम प्रत्येक वस्तु के रहस्य को खोजते हैं, जीवन का परम रहस्य नये सिरे से जान कर आचरण में लाना चाहते हैं, नवीन समाज-व्यवस्था और नवीन आचार विचारों के द्वारा उन्हें समाज में प्रविष्ट करना चाहते हैं, और इस नये प्राण को लेकर हम विचार संसार पर शुद्ध सात्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते हैं। आज कृष्ण और शङ्कराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, और मेसाया तथा महादी सभी नवीन अवतार धारण करने वाले हैं, नया रूप धारण करने वाले हैं; संभव है वे एकरूप भी हो जायँ। यह भी संभव है कि प्रत्येक विभूति कई अनेक रूप धारण करे, क्योंकि हम विचार-सागर का मंथन करने जा रहे

धर्म-संस्करण
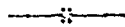
कितने ही लोग कहते हैं कि हमारा धर्म सब से पुराना है इसलिए वही सब से अच्छा है। दूसरे कहते हैं कि हमारा धर्म सब से आख़िरी है अतएव सबसे अधिक ताज़ा है। कोई कहते हैं कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ है इसलिए उसमें सब कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते हैं कि फलां किताब परमात्मा का संसार को दिया हुआ सबसे आख़िरी धर्म-ग्रन्थ है, इसलिए उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकते।

सनातन-धर्मी दूसरी ही तरह से विचार करते हैं। सृष्टि का आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थों का भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि-अनन्त है। इस लिए वह सनातन कहा जाता है। सनातन के मानी क्या हैं? जो इस सृष्टि की शुरुआत के पहले था और जो उसके अन्त के बाद भी क़ायम रहेगा वही सनातन है। इस अर्थ के अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातन का और भी एक अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावतः ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह तो मर जाता है। जो बदलता नहीं वह सड़ जाता है। जिसको प्रगति नहीं है उसकी अधोगति बनी बनाई है। कुन्द हवा बदबू करता है। जो पानी बहता नहीं है वह स्वच्छ नहीं रहता। पहाड़ के पत्थर

बदले नहीं जाते इसलिए वे धीरे-धीरे चूर्ण हो जाते हैं। घास पुनः उगती है, बन की वनस्पतियां प्रति वर्ष मरती हैं और फिर दूसरे साल उगती हैं। बादल ख़ाली होते हैं और फिर भरते हैं। प्रकृति को नित्य नूतन होने की कला अवगत हो गई है इसीलिए वह हमेशा नवयौवना दीख़ती है।

सनातन-धर्म के व्यवस्थापक इस सिद्धान्त को जानते थे इसी-लिए युगधर्म के अनुसार उन्होंने भिन्न भिन्न धर्मों की रचना की है। वे काल-माहात्म्य को जानते थे इसीलिए वे काल पर विजय प्राप्त कर सके। धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। पर उनका व्यवहार देश-काल के अनुसार बदलना होता है। इस बात को जानकर हो धर्मकारों ने हिन्दू धर्म की रचना में 'परिवर्तन-तत्व' शामिल कर दिया। इसी कारण यह धर्म सना-तन पद प्राप्त कर सकता है। अनेक बार वह क्षीण-प्राण ज़रूर हुआ पर निष्प्राण कभी नहीं हुआ। मनुष्य की जड़ता के कारण कई बार उस में गन्दगी भी फैल गई, पर विना किसी विप्लव के वह फिर पुनरुज्जीवित हो उठा।

सामाजिक व्यवस्था अथवा धार्मिक विधियों के पालन में कालानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक है। पर जब से हिन्दू समाज में अबुद्धि ने अपना अड्डा जमाया है तब से वह (हिन्दू समाज) ऐसे परिवर्तनों को शंकित दृष्टिसे देखने लग गई है। एक ऐसी भीति और नास्तिकता हमारे अन्दर घुस गई है कि हम हर समय कहने लग जाते हैं कि, "क्या पूर्वजों की अपेक्षा हम अधिक हो-शियार हो गये? पूर्वज तो त्रिकाल का विचार कर सकते थे। उनकी रचना में हम कहीं कोई परिवर्तन कर बैठेंगे तो शायद हम

संकट में पड़ जायंगे।" सच पूछा जाय तो इस तरह परिवर्तन से डरना सनातन धर्म के स्वभाव के ही विपरीत है। विचार-हीन, उच्छृंखल परिवर्तन की तो हिमायत ही कौन करेगा? पर अज्ञान के कारण डर कर निष्प्राण स्थिरता को खोजना पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपना छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना यह एक जुदी बात है; और अपना तथा परकीय धर्म दोनों को जांच कर तुलना कर उस में आवश्यक परिवर्तन करना यह एक भिन्न बात है। प्रत्येक ज़माने में नवीन-नवीन संयोग हमारे सामने उपस्थित कर परमात्मा हमारी बुद्धि शक्ति को आज़माने के लिए सामग्री उपस्थित करता रहता है और उसके द्वारा धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का परिचय हममें पुनः-पुनः जाग्रत करता है। बाह्य आकार में यदि बार-बार परिवर्तन न हो तो आन्तरिक सच्चे स्वरूप का दर्शन असम्भव हो जाय। यदि हमारे ज़माने में पूर्वजों की ही बुद्धि-हीन नक़ल हम करते चले जायं, कुछ भी नवीन न करें, कोई आविष्कार भी न करें, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दि वन्ध्या साबित हुई।

प्राचीन काल से ही हमारे देश में भिन्न भिन्न धर्म और जातियां एकत्र रहती आई हैं। प्रत्येक बार ऐसे सहवास के कारण हमें भिन्न भिन्न धर्म प्रवचन करना पड़े हैं। आवश्यकतानुसार एक ही धर्म सिद्धान्त को भिन्न भिन्न शंकाओं और दोषों को दूर करने के लिए भिन्न भिन्न शब्दों में जनता के सामने उपस्थित करना पड़ता है। और इसीलिए यह धर्म अनेक कोण वाले तेजस्वी रत्नों के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया।

परकीय सत्ता की अधीनता में रहते समय धर्म को अत्यन्त

हीन और कृत्रिम वायुमण्डल में दिन काटना पड़ते हैं। विरोधी लोग जिस समय आक्रमण करते रहते हैं तब भी धर्म संस्करण का स्वाभाविक विकास नहीं होता। यही डर लगता रहता है कि हम कोई परिवर्तन करने जावें और उसी समय विरोधी लोग हमारी कमजोरी देखकर मर्माघात कर बैठें तब? परकीय सत्ता स्वभावतः समभाव शून्य होती है। वह रूढ़ी को पहचानती है प्राण को नहीं। इसीलिए वह कहती है कि, "पूर्वापार से तुम्हारे जो रिवाज चले आये हैं उन्हीं की रक्षा की जायगी।" नवीन प्रथायें तुम शुरू नहीं कर सकते। न अपने स्थान से कहीं भी इधर-उधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवर को हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राण को राजमान्य कर दें तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेंगे? इस तरह समभाव शून्य तटस्थता में सड़ी रूढ़ियाँ भी क़ानून की कृत्रिम सहायता से टिकी रहती हैं।

'हिन्दू-ला' पर अमल करते समय प्रति पद पर यही स्थिति विघ्न उपस्थित करती है। न्यायमूर्त्ति तेलंग ने इस स्थिति के ख़िलाफ़ कई बार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाज को अपनी व्यवस्था में फेर-फार करने के अधिकार का होना तो बड़ा जरूरी है। पर यह करने के लिए आवश्यक स्वाधीनता, एकता और योजना-शक्ति का भी समाज में होना नितान्त आवश्यक है। बड़े से बड़ा त्याग करके हमें उसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिए। यदि हिन्दू-धर्म को प्राणवान् बनाये रखना है, संसार में उसे अपना स्वाभाविक स्थान पुनः प्राप्त कर देना है, यदि उसे समाज कल्याणकारी बना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमें उसकी गंदगी को धो डालना चाहिए।

कितने ही ऐसे खयालात और रूढ़ियां हमारे समाज के अन्दर बद्धमूल हो गई हैं कि जो धर्म के सनातन सिद्धान्तों के विपरीत हैं और जो समाज की प्रगति में बुरी तरह बाधक हो रही हैं। उन सब की हमें एकदम होली कर देना चाहिए।

अस्पृश्यता इन्हीं बुराइयों में से एक है। जातिगत अहंकार और संकुचित प्रेम दूसरी बुराई है। जहां रूढ़ी के नाम पर दया-धर्म का खून हो रहा हो, जहां आत्मा का अपमान हो रहा हो, जहां धर्म-प्रीति के बदले लालच और भीति को स्थान दिया जा रहा हो, वहाँ धर्म को इन बुराइयों के खिलाफ़ अपनी बुलन्द आवाज़ उठानी चाहिए। सरकारी अधिकारियों को रिश्वत देकर अपना मतलब गांठने वाले लोग एक परमात्मा को—ईश्वर को छोड़-कर उसके बदले अनेक भयानक शक्तियों को लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। जो हुकमी, तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधिकारियों की अधीनता में रह कर नामर्द बने हुए लोग देव-देवियों का स्वभाव भी उन्हीं के जैसा समझ कर उनके प्रति भी भय-वृत्ति का विकास करने लगे; और इस तरह अपने धर्म में अधर्म का साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायण से लगा कर कालभैरव तक सभी देवताओं को हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारकायें, ग्रह, जंगल के वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाई-बन्धु, पशु-पक्षी उषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर प्रत्येक स्थान पर जहां कि हमारे ऋषि उस परम मंगल की प्रेममय विभूतियों का साक्षात्कार करते थे, उनके साथ आत्मीयता और एकता का अनुभव करते थे, वहां आज हमें भय, भय और सिवा भय के और कुछ दीखता ही नहीं। धर्म का शुद्ध

और उदात्त तत्व जानने वाले लोग हमारी विधि-विधानों के अन्दर रहने वाले काव्य को देख सकते हैं। परन्तु अज्ञ जन-समुदाय काव्य को सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मान कर विचित्र अनुमान करते हैं और उन्हीं को पकड़ बैठ कर धर्म का कार्य विफल कर डालते हैं।

आज हिन्दू-धर्म का उत्कर्ष चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का यही प्रथम कर्तव्य है कि वह इस बात का उद्योग करे कि उसके समाज में धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। जिसमें सत्य की निर्भयता नहीं, त्याग की अक़्लमन्दी नहीं, उदारता की सुगन्ध नहीं, वहां धर्म हई नहीं— यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना और लोगों को समझाना भी चाहिए। हिन्दू-धर्म के संस्करण का समय आ लगा है क्योंकि उस पर जमी हुई गर्द उसका दम घोंट देने को है।

क्या हिंसा स्वाभाविक है ?
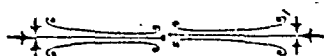
उन लोगों की बात जाने दीजिए जो बैर का बदला लेने के लिए हिंसा का पक्ष करते हैं अथवा स्वभावतः ही हिंसा में आनन्द लेते हैं। तथापि ऐसे बहुतेरे लोग हमें मिलेंगे जिन्हें अहिंसा प्रिय होते हुए भी व्यवहार्य नहीं मालूम होती। वे कहते हैं:—यह ठीक है कि यदि अहिंसा सीखी जा सके तो उस में कुछ भी बुराई नहीं और यह भी ठीक है कि यदि अहिंसा का पालन किया जा सके, तो हमारा राजनैतिक ध्येय भी हमें आसानी से और जल्दी मिल सकता है। पर सवाल यह है कि इतनी अहिंसा किस तरह उत्पन्न हो सकती है ? यह हम नहीं समझ सकते। सरकार हिंसावादी है। जब तक वह स्वराज्य देना स्वीकार नहीं कर लेती तब तक तो उसे हिंसा ही पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। अपने पशुबल द्वारा एक निश्शस्त्र राष्ट्र को दबाने के लिए सरकार के पास असीमशक्ति है। इधर हम ताजे अनुभव के आधार पर कह सकते हैं कि सरकार की नीति इस विषय में कहीं सुधर गई हो सो भी नहीं। ऐसी स्थिति में अत्याचारों को सहते सहते यदि प्रजा आकुल हो उठे और कुछ हिंसाकांड कर बैठे तो उसमें कौन अस्वाभाविक बात है ? हम जरूर मानते हैं कि किसी भी परिस्थिति में उपद्रव कर बैठना बुरा है परन्तु ऐसी वृत्ति कर लेना हमें तो यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम से कभी हिंसा हो ही नहीं।

इस तरह के शङ्काशील लोगों की शङ्का प्रामाणिक होती है। उस पर पूरा पूरा विचार अवश्य ही करना चाहिए। ऐसे लोग मनुष्य-स्वभाव का एकाङ्गी दर्शन ही किये होते हैं, भूतकाल के अनुभव पर वे अधिक भार रखते हैं और उसमें भी वे एक ही तरह के अनुभव की जाँच करते हैं। वे यह तो जरूर मानते हैं कि अहिंसा का नियम योग्य है। परन्तु जितनी चाहिए उतनी यह शिक्षा उनकी ठीक ठीक समझ में नहीं आती कि जो योग्य है वह शक्य होनी भी अवश्य चाहिये; उन्हें यह डर बना रहता है कि जन-साधारण का स्वभाव जैसा आज है वैसा ही आगे रहेगा, बल्कि उन्हें इसका निश्चय होता है। मनुष्य की इस बात पर से श्रद्धा उठ गई है कि शास्त्रीय, बौद्धिक और भौतिक शिक्षा के इन दिनों में प्रयत्न करने पर मनुष्य की नैतिक उन्नति भी हो सकती है। यह आम तौर पर ख्याल फैला हुआ है। हरएक मनुष्य अपना स्वार्थ खोजेहीगा और स्वार्थ के लिए जितनी हिंसा करनी पड़ेगी उतनी हिंसा भी बिना किये वह नहीं रहेगा। कहा जाता है कि, यह मनुष्य मानव-प्रकृति है। परन्तु वास्तव में वह प्रकृति नहीं, विकृति है।

स्वार्थ और हिंसा ही यदि मनुष्य की प्रकृति होती तो समाज कभी का रसातल को चला गया होता, आज कोई न बच पाता—न जालिम न गुलाम।

कहावत है कि यह उचित नहीं कि एक मनुष्य ने गो-वध किया तो दूसरा भी बछिया को मारे, यह कहावत असाधारण कोटि के महात्माओं के लिए नहीं है। कोई हिन्दू स्वार्थ के लिए कसाई का काम न करेगा, न गो-मांस का विक्रय ही करेगा।

मुसलमान भी स्वार्थ के लिए कोई ऐसा काम न करेगा जो उसके दीन से विरुद्ध होगा। यही बात सब के लिए कही जा सकती है। एक भाई यह नहीं चाहता कि दूसरे भाई को फाँसी की सजा हो, न वह उसके विरुद्ध ऐसी गवाही ही देता। संसार का संपूर्ण व्यवहार क्षमा ही से चलता है। यदि हरएक अपराधी को सज़ा ही देने बैठें तो संसार में दो-चार मनुष्य भी रहने पावेंगे या नहीं, यह प्रश्न है। उपद्रव करना अथवा हिंसा करना यह हमारे अज्ञान का सूचक है। यह हमारी बिगड़ी हुई स्थिति का चिह्न है। हिंसा इसलिए कभी स्वाभाविक नहीं सिद्ध हो सकती कि हम बिगड़े हुवों या अज्ञानियों की संख्या समाज में ज्यादा है।

यदि मनुष्य शुद्ध स्वार्थ को ही जान जाय तो भी वह आज जितनी हिंसा सीखता है उससे कम हिंसा करने लगे। कई बार मनुष्य विकार-वश अपने स्वार्थ की हानि करके भी हिंसा करने लग जाता है। आज जिन्हें सुधरे हुए राष्ट्र कहा जाता है उनमें इतना संयम तो होता है कि जहाँ हिंसा न करने में स्वार्थ हो, वहाँ वे विकार को दबा कर हिंसा को रोक सकते हैं। स्वराज्य का उपभोग करने वाले हरएक राष्ट्र में इतनी शक्ति तो अवश्य होती है। विकार-वश वे ही होते हैं जो जङ्गली हैं, जो स्वराज्य के वातावरण को भूल गये हैं, या जिनमें स्वराज्य प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा ही नहीं रही।

दो सुधरे हुए राष्ट्रों के बीच हददर्जे का वैर उत्पन्न होने पर भी, बल्कि उनमें युद्ध छिड़ जाने पर भी, शत्रु-पक्ष के राजदूतों की रक्षा तो ज़रूर की जाती है। देश में दो पक्ष पड़ कर भीतर ही भीतर जब यादव-स्थली मच जाती है, जब मनुष्य पागल होकर

इतना खून-खच्चर करने में अपने आपको भूल जाते हैं तब भी उनमें इतना संयम तो बच रहता है कि वे विदेशी राजदूतों को सुरक्षित रक्खें। इससे यह स्पष्ट है कि, क्रोध और निराशा की स्थिति में भी संयम रखना अशक्य नहीं है। तो आज जब महासभा एक व्यावहारिक नीति की तरह अहिंसा को स्वीकार करने का उपदेश राष्ट्र को दे रही है, तब महासभा उससे उसी संयम की आशा करती है जो अनेक देशों की साधारण जनता में प्रायः पाया जाता है। यदि मनुष्यों में उससे अधिक श्रद्धा आ जाय तो यह तो अभीष्ट ही है। परन्तु स्वराज्य भोगने वाले अन्य राष्ट्रों के जितना संयम तो कम से कम हमारे अन्दर अवश्य ही होना चाहिए।

हां, कोई कह सकता है कि, दूसरे देश के मनुष्य हम लोगों के समान निराश नहीं होते, इसलिए वे संयम का पालन कर सकते हैं। पर उसका यही उत्तर है कि, हमें अपने अन्दर स्वराज्य विषयक श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए। अग्रगण्य लोग अहिंसा का उपदेश करके ही देश में स्वराज्य के लिए आस्था उत्पन्न कर सकते हैं और यदि वे जनता में अहिंसा के प्रति धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न कर सकें तो हम शांति से—अर्थात् अपनी ओर से शांति रखते हुए स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, यही नहीं वरन् संसार में शाश्वती शांति स्थापित होने का उसे विश्वास भी दिला सकेंगे।

कला, जीवन और तत्वज्ञान

सामान्यतः तत्वज्ञान नीरस विषय समझा जाता है, और कला रसमयी, नहीं रसरूप समझी जाती है। आज समाज में दोनों के प्रति अ-भाव है, क्योंकि समाज में दोनों का अभाव है। सच पूछिए तो प्रत्येक कला का आधार तत्वज्ञान होता है। तत्वज्ञान जब जीवन में प्रवेश करता है तब वह जीवन के आनन्द के साथ मिल कर कला का रूप धारण कर लेता है। जिस तरह सुन्दर गायन का आधार भावगम्य छन्द और ताल-बद्धता होती है उसी तरह कला का आधार तत्वज्ञान होता है। भिन्न भिन्न समाजों में भिन्न भिन्न कला होती है। इसका कारण उस समय समाज के जीवन का आदर्श अथवा पुरुषार्थ की कल्पना की भिन्नता ही है। इसी से हमारे देश में धर्म-भेद के अनुसार तान्त्रिक, वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध और इस्लामी आदि कलायें भिन्न भिन्न रीति से प्रकट हुई हैं। धर्म-भेद क्रमशः होता है इसीलिए कला में भी परिवर्त्तन धीरे धीरे होता है। एकेश्वरवादी ख्रिस्ती धर्म ने ग्रीक लोगों के अनेक देव-देवताओं का त्याग किया, पर यूरोप की प्रजा इतना परिवर्त्तन एकदम कैसे सहन कर सकती थी ? प्रजा ने देवी-देवताओं के स्थान में ख्रिस्ती सन्तों को बैठा दिया और उपासना की बहुविधता की अभिलाषा को तृप्त करने का मार्ग खोज लिया और इस

तरह ग्रीक कला में जो कल्पना-समृद्धि थी उसकी रक्षा कर ली। हमारे यहाँ भी अशोक के समय की कारीगरी यही सूचित करती है कि, अशोक के पहले काष्ठ-स्थापत्य बहुत ही लोकप्रिय था और पत्थर जैसे पदार्थ में भी काष्ठ-स्थापत्य की मर्यादाओं की रक्षा करने में उस समय के कारीगरों ने आनन्द माना था। अजन्ता की कारीगरी पर भी काष्ठ-स्थापत्य का पूरा पूरा प्रभाव दीखता है।

जब जीवन में परिवर्तन होता है तब स्थापत्य में, शिल्प में, यही नहीं किन्तु नगर-रचना में भी परिवर्त्तन होता है। आश्चर्य की बात है कि अहमदाबाद की ❀ पोलों से गुजरात के समाज की वृत्ति कितनी स्पष्ट होती है इस ओर किसी का ध्यान कैसे नहीं गया। वह प्रजा जो लड़ने का ज़रा भी शौक नहीं रखती, तथापि आत्म-संरक्षण के लिए राजा पर बहुत विश्वास भी नहीं करती, जो धन कमा सकती है और उसका उपयोग करना भी जानती है, जो राज-शासन के झगड़े में तो नहीं पड़ती तथापि महाजनों के द्वारा समाज-शासन अत्यन्त सुधरी हुई पद्धति से कर सकती है, भला वह प्रजा अशान्ति के दिनों में किसी दूसरी तरह नगर-रचना कर सकती थी ? इससे विरुद्ध पाटन की नगर-रचना देखिए। इसका कारण यह नहीं कि पाटन की संस्कृति भिन्न है।। बात यह है कि असली पाटन तो इस समय रहा ही नहीं। वर्त्तमान पाटन शहर भिन्न राजकीय परिस्थिति में बँधा होगा।

❀ पोल=मुहल्ला, गली या सड़क जिसके दोनों सिरे पर दरवाजे हों।
—अनु०।

मामूली मंदिरों में भी जीवन के विकास को हम देख सकते हैं। एकांत में ध्यान-मग्न रहने वाले निवृत्ति-प्रिय शिव-उपासकों ने गुफाओं के प्रति नमूने स्वरूप छोटे मंदिर बाँधने की प्रथा आरंभ की। आज उन्हें गर्भ-गृह कहते हैं। प्रवृत्ति-प्रिय वैष्णवों ने जब सामुदायिक भक्ति-मार्ग शुरू किया तब इन गर्भ-गृहों के सन्मुख सभा-मण्डप की आवश्यकता मालूम हुई। इन दोनों के बीच का अन्तराल प्रदेश, जो ईंट-पत्थरों से ढक दिया गया, उसका नाम अन्तराल ही रक्खा गया। इस तरह मन्दिर में तीन विभाग हुए; गर्भ-गृह, अन्तराल और सभा मण्डप। इन तीन विभागों का प्रतिबिम्ब राजप्रासाद में भी पड़ा। वहाँ भी जो हुकुमी सुलतान का सलाह-खाना मन्त्र-गृह, मन्त्री-परिवेष्टित राजा का दीवानेख़ास और प्रजानुरंजक बादशाह का दीवानेआम तैयार हुए। जहां राजा था ही नहीं ऐसे हिमालय के गण-राज्यों में न मन्त्र-गृह है और न दीवाने-आम। वहाँ तो गाँव के पास टीलों पर बड़ेबड़े पत्थरों का एक चौतरा बाँधा जाता था। उसी पर बैठ कर वृद्ध जन स्वराज्य-संरक्षण का विचार करते थे। आज हम एक विराट् राष्ट्र बन गये हैं। आज की हमारी मन्त्रणा-सभा दीवानेआम में भी नहीं मा सकतीं। अब तो ऐसी रंग सभा बनानी पड़ेगी जिसके भीतर राष्ट्रीय महासभा बैठ सके। जहाँ-जहाँ लोक-प्राधान्य हो वहाँ वहाँ ग्रीक-संस्कृति का कुछ अनुकरण तो करना ही पड़ता है। इसीसे हमने वक्तृत्व-कला का विकास किया है। हमें अपनी रंग-सभा भी ग्रीक लोगों के एँम्फी थियेटर के समान बनानी पड़ेगी। हां, पर रंग सभा ऐसो हो होनी चाहिए जो भारत की उपवन-संस्कृति की शोभा दे। ईंट और पत्थरों की अपेक्षा वृक्षों

तत्वज्ञान में मिल जायगा। हमारा तत्वज्ञान आत्मपरायण है। दर्शनकारों ने आत्मा के तीन विभाग किये हैं; बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा अपने को इस बाह्य-सृष्टि से संलग्न और अभिन्न मानता है। अन्तरात्मा देहधारी होते हुए भी देह से अपने को भिन्न समझता है। और परमात्मा को तो देह-भान ही नहीं होता। मनुष्य की ये तीन दशायें हैं; और इन तीन दशाओं के अनुसार वह पहले जीवन-मन्दिर के सभा-मण्डप में बैठता है, उसके बाद अन्तराल में बैठ कर आत्मदेव का दर्शन किया करता है, और फिर उस साधना के पूरी होने पर गर्भ-गृह में प्रवेश करके अभेद-भक्ति में विलीन होता है। समाज में कला की प्रगति भी इन तीन दशाओं में होती है। सृष्टि-संलग्न दशा में कला बहिर्मुखी और सृष्टि की उपासक होती है। उसे यथार्थ-दर्शी (Realistic) कहते है। सृष्टि कामरूपिणी होती है, उसकी विविधता अनन्त है, इससे उसकी उपासना का अन्त शीघ्र नहीं आता। एक रूप में थके तो दूसरा रूप आपके सम्मुख खड़ा होता है। आप ज्यों-ज्यों सृष्टि के पाश में पकड़े जाते हैं त्यों-त्यों आप को आभास होता है कि आप की शक्ति बट गई है। जिस समय प्रभुता का मद चरम सीमा को पहुँच जाता है उस समय वस्तुतः मनुष्य सृष्टि का दासानुदास हो जाता है। परन्तु ईश्वर की सृष्टि में चिर-पतित कोई हुई नहीं। आत्मतत्व अमर है। और इसी से माया के पाश अपने ही भार से अन्त में गिर जाते हैं, तब मनुष्य को स्फूर्ति होती है कि, नियतिकृत ❀

❀ ब्रह्मदेव की निर्माण की हुई सृष्टि के बाह्य नियम की मर्यादा से मुक्त।

नियम-रहिता, ल्हादैकमयी, ⊛ अनन्य परतन्त्र, † नवरस-रुचिरा भावगम्य सृष्टि हम क्यों न निर्माण करें ?

यह बाह्य सृष्टि अपने सुवर्णमय ढक्कन से रसरूप परमात्मा को ढाँके रखती है। इससे यथार्थ-दर्शी कला में सुख के साथ विषाद संमिश्रित होता है। उसके आनन्द से समाधान के बदले वासना-ज्वर जागृत होता है। प्रवृत्ति का प्रवाह चाहे कितना ही रमणीय हो, वह है अधोगामी और अन्त में विषादमय ही।

इतना अनुभव हो जाने पर उपासक आत्माभिमुख हो जाता है। वह इन्द्रियजन्य रस को छोड़ कर भावात्मक आनन्द प्राप्त करने लगता है। उस आनन्द को प्रकट करने के साधन पार्थिव और इन्द्रिय-गोचर भले ही हों, तो भी उनके द्वारा व्यक्त करने का भाव इन्द्रियातीत ही होता है, और इसलिए उनके द्वारा प्राप्त होनेवाला आनन्द शुद्ध, निष्कलङ्क और स्थायी होता है। वह आनन्द शम-प्रधान होता है। वहाँ विलासिता का नाम तक नहीं होता। उस आनन्द में प्रवेश करने के बाद मनुष्य 'विगलितवेद्यांतर' हो जाता है। इस कला को आदर्शदर्शी (Idealistic) कहते हैं, क्योंकि इस कला के आदर्श में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। भारतवर्ष में इस आदर्श-दर्शी कला का ही प्राधान्य था। यहाँ यथार्थदर्शी कला थी ही नहीं सो नहीं। मया-सुर की कला यथार्थदर्शी थी। पर विश्वकर्मा की कला आदर्श-दर्शी थी। यहाँ तो विश्वकर्मा ही की कला लोकमान्य हुई। कदा-

---

⊛ सुख-दुःखात्मक नहीं, परन्तु शुद्ध आनन्द रूप।

† स्वतन्त्र, जो दूसरे पर आधार न रक्खे।

चित्र मयासुर की कला चीन देश से आने के कारण यहाँ न ठहरी हो, अथवा वह कला हमारी धार्मिक भावनाओं की पोषक न होने के कारण शायद लोगों के द्वारा वह उपेक्षित की गई। यह आदर्श-परायणता चित्रकला और सङ्गीत के अनुसार स्थापत्य में भी है; पूजा-अर्चा और जीवन-संस्कारों में भी है ? साहित्य और रीति-रिवाजों में भी है। इसमें कला का उत्कर्ष है, परन्तु वह पराकाष्ठा नहीं। काष्ठा और परागति तो आत्म-प्राप्ति ही है। आत्म-प्राप्ति में मनुष्य कलातीत होता है। रवीन्द्रनाथ टागोर के 'राजा' ('राजा' नाटक) के अनुसार आत्मा न सुन्दर होता है, न कुरूप। वह तो सत्यरूप होता है। इसलिए जीव-रानी को यदि उसके साथ रममाण होना है तो उसे भी कलातीत हो जाना चाहिए। यही अभेद-भक्ति है, यही गर्भ-गृह में प्रवेश है, यही सायुज्य मुक्ति है। इसका न वर्णन हो सकता है, न सूचना दी जा सकती। वह शब्दातीत है, वह अवर्णनीय है, वह निष्कल परब्रह्म है। आदर्शदर्शी कला हमें उस तरफ ले जाती है, उसका स्मरण कराती है, उसकी झाँकी देती है, उस तरफ जाने के लिए शक्तिमान् बनाती है। इसीलिए उस कला की उपासना प्रत्यक्ष परब्रह्म प्राप्ति की साधना है। इसीसे पुराने शास्त्रकारों ने कहा है कि नादोपासना से ब्रह्म-प्राप्ति होती है। कला की सम्यक् उपासना द्वारा मनुष्य कलातीत होता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

इस कला की उपासना योग से होती है। नाक पकड़ कर श्वास को रोकना ही योग नहीं कहलाता। योग का अर्थ है समत्व। योग अर्थात् वासनाराहित्य, योग अर्थात् निर्विकारता, योग अर्थात् संयम। योग-अर्थात् ध्यान। योग अर्थात् तदाकारता।

इस योग का साधक ही आर्य-कला के रहस्य को समझ सकता है, उसका पुनरुज्जीवन कर सकता है, उसमें नवीन प्राण फूँक सकता है और उसके द्वारा समाज में नूतन युग उत्पन्न कर सकता है। कला का उदय भीतर से होना चाहिए। इसलिए आज कलाधरों को तपस्या-पूर्वक ध्यान करना चाहिए। हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारा शरीर, समय और स्फूर्ति विलास के लिए अथवा विलासी जनों को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, वरन् अपनी कला द्वारा जनार्दन की सेवा करने के लिए है।

जीवन-कला ×
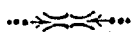
सौभाग्य वश मुझे कला का भान बड़ी देर से हुआ। बचपन में या बड़े होने पर भी मैंने पढ़ाई को अपने जीवन-विकास के मार्ग में आने ही नहीं दिया। अर्थात् ठेठ बाल्यावस्था से ही मैं प्रकृति की गोद में पला हूँ। प्रवास तो मेरी बाल्यावस्था का आनन्द का विषय। सो भी मैंने पार्सल की तरह रेल के डिब्बे में बैठ कर प्रवास नहीं किया, बल्कि बैल गाड़ी पर मैं दर कूच दर मंजिल प्रवास करता जाता। लड़के या बड़ों के साथ मैं विशेष पढ़ता भी नहीं था। पशु-पक्षी और फूल-पत्तियों से ही मेरी मित्रता थी। पर्वत निर्झरों के पास बैठ कर उनसे अर्थ विहीन बातें करना भी मैं सीख गया था। थोड़े ही दिनों में मैंने देखा कि पाठशाला के कई विद्यार्थियों ने अरुणोदय की शोभा को भी नहीं देखा था। रात को देर से जब तश्तरी का सा चंद्र अस्त होता है, तब उसके उस मजेदार दृश्य का तो उन्हें ख्याल भी कैसे हो सकता है? एक दिन हम सावंतवाड़ी के रास्ते पर सफर कर रहे थे। चंद्र अस्ताचल को जा रहा था। रात के करीब दो का अंदाज था। गाड़ी में लेटे लेटे मैं चंद्र को देख रहा था। चंद्र ठेठ क्षितिज पर आया और उस पर लाल स्याही फिर गई। समस्त प्रकृति शोक मग्ना जान पड़ने लगी। प्रकृति में सौंदर्य के

× सूरत के 'युवक सप्ताह' के उपलक्ष्य में भेजा हुआ निबन्ध।

साथ साथ भावनायें भी होती हैं यह प्रभाव दस साल के मेरे बाल हृदय पर उस दिन पहले पहल पड़ा। तथापि कला का भान नहीं जागा था। घर में और मंदिरों में धार्मिक संस्कार, विधियां, त्यौहारों की आयोजनायें और उत्सव आदि का प्रभाव बाल्यावस्था से ही पड़ रहा था। मैं तीन तीन घंटे बैठ कर घर में देव-पूजा किया करता। इसलिए मूर्तियों की नित्य नवीन रचना, रंगे विरंगे फूलों और तुलसी दल तथा दूर्वा, बिल्व-दल आदि की शोभा देखने की आदत और आनंद मुझे एक साथ प्राप्त होते। प्रत्येक प्रान्त के भिन्न भिन्न तरह के बर्तन, पोशाक; रहन-सहन और गृह-रचना देख-देखकर उनके बाह्याभ्यंतर भेद और साम्य की ओर मेरा ध्यान अपने आप आकर्षित होता। देशी राजाओं की राजधानियां भी बार बार देखने का अवसर प्राप्त होने के कारण दरबारी ठाट-बाट, गायन, नाच, राजप्रासाद, वहां का शिष्टाचार यह सब देखने का मौका मिलता। तरंगी मन इन बातों पर अनेक तरह के विचार कर कल्पनायें बांधता।

तथापि अभी तक मुझे कला का भान नहीं हुआ था। कला-रसिकता अब तक मुग्ध थी। इसलिए उसके शुभ संस्कार मिलते जाते थे पर उसके उन्माद का स्पर्श तक भी अभी मुझे नहीं हो पाया था। इसलिए मेरा ख़्याल है कि बच्चों को भक्तिपूत कला का वायु-मंडल जरूर मिलना चाहिए। पर भान पूर्वक कला का सेवन तो उनके लिए कदापि अच्छा नहीं है।

शिक्षा समाप्त कर लेने पर जब मैं जीवन के अंग-प्रत्यंगों पर मनन करने लगा तभी मुझे कला का भान हुआ, उसका महत्व समझा। भोग-विलास में मग्न रहने वालों का जीवन कितना हीन

निंद्य और उच्छृंखल होता है इसका ज्ञान मुझे पहले से ही था। इसलिए कला के सच्चे स्वरूप को जानने में मुझे बिलम्ब न लगा। इतनी पूर्व-तैयारी के बाद कला पर कई प्रमाणिक ग्रन्थों के पढ़ते समय मुझे कोई कठिनाई या शंका नहीं हुई।

कला का विवेचन शुरू करने के पहले उपर्युक्त अनुभव का सार कह दूं। जीवन की पूर्व दशा में पहले पहल सद्गुणों का विकास कर उन्हें दृढ़ करना चाहिए। और सदाचार की महत्ता तथा दुराचार की हीनता हृदय पर शिला लेख की भांति अंकित हो जानी चाहिए। इतना हो जाने पर ही कहा जा सकता है कि कला की दीक्षा लेने की पूर्व-तैयारी हो गई। जिस प्रकार यौवन चारों पुरुषार्थों का उत्तम काल है उसी प्रकार अनन्त प्रमादों का उद्गम स्थान भी वही है। यौवन के पास सब कुछ है, केवल जीवन नौका का प्रेरक कर्ण नहीं। यदि धर्म-संस्कार और सदाचार से यह कर्ण प्राप्त न हो सके तो उसे वह कला से कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। एक बार मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हुआ कि उसे सब कुछ मिल गया। धर्म-वीर्य के साथ मनुष्य चाहे जिस क्षेत्र में या विषय में गहराई के साथ प्रवेश कर सकता है, और उस क्षेत्र या विषय के यथार्थ रहस्य को प्राप्त कर सकता है। जीवन समस्त में प्रत्येक वस्तु को निर्मल दृष्टि से देख वह उसके स्थान, प्रयोजन और विनियोग को निश्चित कर सकता है।

धर्म अर्थात् श्रद्धायुक्त सदाचार के आधार पर जिस कला की रचना होती है वह रस-गंभीर, प्राण-पोषक और अनंतवीर्य होती है। कला पर जिस सदाचार की रचना की जाती है वह प्रायः ऊपरी शिष्टाचार ही होता है। जिस तरह सड़े हुए फल पर

रंगीन कागज लपेट कर उसे सुंदर दिखाने का प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार अ-संस्कारी अं-सयत जीवन पर नागरिकता का आडम्बर रचकर जीवन सदाचारी बताया जा सकता है। कला के द्वारा विकसित सदाचार को तो हलकी धातु पर चढ़ाई हुई कलई ही समझिए। जब से धर्म अप्रतिष्ठ हुआ है तब से सुधार एक तरह का 'वैनीर' बन गया है। वेनीर के मानी हैं हल की जाति की लकड़ी पर चढ़ाया हुआ शीशम अथवा महागनी जैसे लकड़ी का आवरण। यदि हम मांसाहार को सदाचार के विपरीत मानते हैं, तो इसका कारण हमें धर्म से प्राप्त होना चाहिए, कला से नहीं। मांसाहार में क्रूरता है, पाप है, हृदय-धर्म का द्रोह है। इस भावना से जब मांसाहार का त्याग किया जाता है तो वह स्थिर होता है, बलप्रद होता है। कितने ही कवि और कलाकार कहते हैं कि हम मांसाहार इसलिए नहीं करते कि मांसाहार हमारी सौंदर्य की कल्पना को आघात पहुंचाता है। इसलिए हम निरामिष भोजी हैं। ऐसे लोगों के निरामिष भोजन में व्रत की दृढ़ता नहीं होती। कभी कभी वे मांस का सेवन कर भी लें। कला के हिमायती कला का केवल सेवन कर सकते हैं पूजा नहीं। पूजन की वृत्ति का उदय धर्म से ही होता है। बिना स्वार्थ और अहंकार को मारे पूजा हो ही नही सकती।

जीवन विषयक कल्पना जब तक स्थिर नहीं हो जाती तब तक हमें इस बात का ख्याल भी नहीं हो सकता कि कला क्या वस्तु है। पशु के समान ही मनुष्य में भी भोगवृत्ति है, स्वामित्व-बुद्धि है, आलस्य है, उतार में फिसलने का आनन्द भी है। पर मनुष्य बुद्धिवान्, प्राणी है। इसलिए वह इन वृत्तियों को व्यव-

स्थितरूप दे देता है। शब्द जाल फैलाकर वह पशु जीवन को भी रसमय या यथार्थ बता सकता है। यह अनुभव तो बाद में मिलता है कि भोगमय जीवन न तो रसमय हो सकता है, और न यथार्थ। एक के अनुभव से मिली हुई मुफ्त की होशियारी लेने से जब तक दूसरे इन्कार करते रहेंगे तब तक भोग की फिलासफी और उस पर रचा हुआ सौंदर्यशास्त्र इसी तरह चलते रहेंगे।

सब से पहले यह तय करना चाहिए कि सफल जीवन किसे कहते हैं। किस प्रकार जीवन व्यतीत करने से हम निष्प्राण नहीं होंगे, हीन न होंगे, विनाश-मार्ग के पथिक न बनेंगे। इसके बाद इस मंगल-जीवन के अनुकूल कला का विकास अपने अंदर करना चाहिए। इन्द्रियों का अपने अपने विषयों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। यदि इस आकर्षण को ही कोई कलावृत्ति मान ले, इसीको यदि कोई रसिकता का नाम दे दे तब तो कहना होगा उसने अपना आत्मघात ही कर लिया। और कला का भी अपमान किया। कला का आनन्द विषयातीत होना चाहिए।

कितने ही बैरागी इंद्रियों में परिपूर्ण अविश्वास रखते हैं। वे कहते हैं—"इन्द्रियों को स्वाधीनता यदि दे दी जाय तो वे तो अपने विषयों की ओर अवश्य दौड़ेंगी, और यह निःसंदेह सिद्ध है कि विषयों का सेवन ही आध्यात्मिक मृत्यु है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति शुभ तो हरगिज़ नहीं और न वह एकदम बंद ही हो सकती है। यदि एकदम उसे बंद करने जाते हैं तो बलवान् इन्द्रिय-ग्राम कोई न कोई विकृति खड़ी कर देता है। इसलिए युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा, मधुरता पर साथ ही दृढ़ता के साथ इंद्रियों को विषय-पराङ्मुख करने में ही हमारा सच्चा पुरुषार्थ है।"

कला के उपासकों की दृष्टि इससे कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि "इन्द्रियों को विषय-सेवन करने के लिए स्वाधीनता दे दी जाय तो वे बात की बात में जीवन की तमाम सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट कर देंगी। विषय-सेवन में सुन्दरता हुई नहीं। सुन्दरता, कला, काव्य ये सब इन्द्रियातीत वस्तुयें हैं। इनका आनन्द सच पूछा जाय तो इन्द्रिय-निरपेक्ष है इसलिए शुद्ध सात्विक है। इस आनन्द के सेवन में इन्द्रियों की सहायता की जा सकती है। यही केवल हमारा कथन है। यह कोई बात नहीं कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्तियां अधःपात की ओर ले जाती है। हृदय की एक खास तरह से शुद्धि कर लेने पर इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा सौंदर्य का आकलन किया जा सकता है। एक ही युवती को पति और पिता जिस तरह भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं उसी प्रकार विषयी पुरुष और कलारसिक भी एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देख सकते है। हम इस बात को कुबूल करते हैं कि पिता की दृष्टि की निर्मलता दुर्लभ है। इस बात को भी हम स्वीकार करते हैं कि आज कल अपने को कलारसिक कहलाने वाले कितने ही लोग विषयी या विलासी ही होते हैं। हम जानते हैं कि हमारी जाति में इन बाहरी लोगों की संख्या ही बहुत बढ गई है। अतः ज्ञान-शुद्धि का प्रयत्न हमें करना चाहिए—सबको करना चाहिए। पर इस जाति का अंत तो कैसे किया जा सकता है?

प्रायः सभी कलापूजक इस बात को जानते हैं कि कला पूजन में सभी इन्द्रियां एक सी योगता नहीं रखतीं। स्पर्शेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय इतनी उन्माद कारी और असंयत होती हैं कि कला-पूजन में हम उनकी सहायता ले ही नहीं सकते। गंध भी स्पर्श

सुख ही है। इसलिए गंधकग्राही इन्द्रियों को भी कला-पूजन-इन्द्रियों में स्थान मिलना शंकास्पद है। अब शेष रही दो ज्ञानेन्द्रियाँ, श्रवण और नयन। इन दोनों की विलासिता को संयत कर इन्हें कलाग्रह की दीक्षा दी जा सकती है।

पर कला का सच्चा आनन्द शब्द या रूप के आस्वाद में नहीं है। कला निर्दोष सृष्टि निर्माण करने ही में आनन्द मानती है। अर्थात् हाथ और कंठ की सहायता से ही कला की श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपासना हो सकती है। कण्ठ से स्वर्गीय संगीत ध्वनि निकालने का आनंद कला का प्रधान आनन्द है। पर जब तक उसकी जांच नहीं कर लेते, श्रवण द्वारा अनुरंजक शक्ति का तथा भावनाओं को उद्दीपित करने के सामर्थ्य की जांच नहीं हो जाती तब तक संगीत से आनन्द मिल ही नहीं सकता। संगीत का आनन्द अन्ततोगत्वा इन्द्रियों से परे तो है ही पर वह श्रवण और कण्ठ की सहायता से ही जागृत हो सकता है।

सच देखा जाय तो प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा कला का आनन्द प्राप्त हो सकता है। पर उसे पहचानने की मनुष्य को शक्ति हो तब। कितनी ही इन्द्रियों का संयम करने ही से एक असाधारण और निर्विषय आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यह मनुष्य जाति का दुर्दैव है कि उसने इस आनन्द का बहुत कम अनुभव किया है। जिस आदमी को खुजली हो जाती है वह खजुआने को ही आनंद मानता है, पर नीरोग मनुष्य तो शुद्ध आरोग्य-आनन्द को ही पसंद करता है। जाड़े के दिनों में, जब हम बिलकुल स्वस्थ होते हैं। बिलकुल सुबह उठकर ठंडे पानी से नहाते हैं तब सारे शरीर में से—रोम-रोम से आनन्द फूटता है। क्या उसे छोड़कर हम खजु-

आने के सुख को पसन्द करेंगे ? ब्रह्मचर्य का आनन्द आरोग्य-आनन्द की अपेक्षा हजार गुना अद्भुत और उन्नत होता है। उसके अनुभवी बहुत कम होते हैं। पर इसे कोई ब्रह्मचर्य का दोष नहीं कह सकता।

पालखी और डोली में बैठकर घूमने में भी आनन्द है। सामने से जोरों की हवा चल रही हो उस समय टेकड़ी पर चढ़ने में भी आनंद है। आलस्य में और उद्योग में भी आनन्द है। पर इन दोनों में प्राणप्रद कौनसा है और प्राणनाशक कौनसा है ? इसका तो परिचय प्राप्त कर ही मनुष्य को अपनी पसन्दगी करनी चाहिए। इस तरह विचार करने वाला आदमी कला और परिश्रम में विरोध की कल्पना ही नहीं कर सकता। स्वयं जीवन-रस को शुष्क करने वाली इस बीसवीं सदी की मजदूरी को सच्चा परिश्रम नहीं कहा जा सकता। कला के नाम विलासिता का प्रचार करनेवाले धनिकों ने ही इस प्राण-नाशक मजदूरी को उत्पन्न किया है। इस बात को हमें क्षण भर के लिए भी नहीं भुलानी चाहिए। अमेरिका की स्त्रियों की टोपियों की शोभा बढ़ाने के लिए संसार भर के सुंदर सुंदर पक्षियों को मारने का उद्योग शुरू हुआ। भला इससे भी कहीं कला को पोषण मिल सकता है ? लॉर्ड कर्जन ने भारत का चाहे कितना ही नुकसान किया हो, पर उसने भारत के मोरों और अन्य पक्षियों के पींछें विदेशों में भेजने के व्यापार को बन्द करके जरूर एक सुंदर काम कर डाला। प्रत्येक प्रामाणिक मज्दूरी में—जीवन-पोषक मजदूरी में—कला का शुद्ध आनन्द है। जिस वस्तु के निर्माण करते समय पद पद और क्षण क्षण पर सावधानी की आवश्यकता होती है उसमें जरूर ही

कला निवास करती है। चरखा चलाते समय क्षण क्षण पर मुझे सूत की सुंदरता की ओर ध्यान देना पड़ता है। यही नहीं, बल्कि सूत की सुंदरता का मेरा आदर्श क्षण क्षण अधिकाधिक ऊँचा होता जाता है। लापरवाही से काता हुआ सूत हमारी लापरवाही का स्मारक बन जाता है। जितनी ही बार उस पर हमारी नजर पड़ती है उतनी ही वार हमारे चित्त में उससे ग्लानि ही उत्पन्न होती है। अतः जहाँ जहाँ अवधान की आवश्यकता है तहाँ तहाँ कला को स्थान है। इस पर से हम यह सर्वसामान्य सिद्धान्त कायम कर सकते हैं कि जो जो क्रियायें स्वायत्त हैं, वे ही कला को भी स्थान देती हैं।

कला का आनन्द शांत और स्थायी होता है। जिसमें विलास है, उससे क्लान्ति, ग्लानि और विषाद जरूर पैदा होते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि लालित्य और लालसा बिलकुल जुदी जुदी चीजें हैं।

* * * *

एक बंगाली भाई ने मुझ से एक भारी शिकायत की। उन्होंने कहा—"कला के नाम आप लोगों ने देश के पुरुषार्थ को बड़ी चोट पहुँचाई। युवावस्था में जब कि विद्यार्थियों का जीवन असीम अमर्याद महत्वाकांक्षा से स्फुरित होना चाहिए, जब उनको रात दिन यही स्वप्न रखने चाहिए कि सारे संसार का दुःख मैं अकेला दूर करूँगा, कीर्ति की लालसा यही उनका एकमात्र दोष जीवन में दृष्टि-गोचर होना चाहिए, और कष्ट सहन ही में जिन्हें आनन्द मानना चाहिए, ऐसे महत्वपूर्ण काल में आजकल के नौजवान कला के नाम निकम्मा जीवन व्यतीत करने लगे हैं। दूसरे

का दुःख देखकर रो पड़ने के बदले वे अपने ही दुःखड़ों का रोना जहाँ तहाँ रोते फिरते हैं, और स्त्रियों की खुशामद करने ही में पुरुषार्थ मानते हैं। संसार से नष्ट करने योग्य केवल एक ही दुःख इन नर-वीरों को दिखाई देता है—और वह है वैधव्य। इन भाई की पूरी टीका मैं यहाँ लिखना नहीं चाहता। अतिशयोक्ति पूर्ण टीका अपने उद्देश्य को ही हानि पहुचाती है। पर यह तो प्रत्येक विचारवान मनुष्य को स्वीकार करना होगा कि जिस तरह सदाचार और पुरुषार्थ के बीच कोई विरोध नहीं होना चाहिए, उसी प्रकार कला और इन दोनों के बीच भी विरोध न होना चाहिए। यदि कला कोई सच्ची वस्तु हो तो वह जीवन का संगीत रूप होनी चाहिए। जीवन के सभी अंग प्रत्यङ्गों में जब संगति उत्पन्न हो जाय तभी जीवन में संगीत बहाया जा सकता है।

* * * *

इसीलिए सदाचार सर्वश्रेष्ठ कला है। सदाचार ही में कला युक्त-जीवन है। रूप की उपासना की अपेक्षा प्रेम की उपासना ही श्रेष्ठ है। लैला और मजनू की कथा को रूढ़ करनेवाले सूफी कलाकारों ने मजनूँ को सुदामा का दूसरा अवतार बना कर और लैला को कृष्ण रात्री का कुसुम कल्पित कर यही बात जाहिर की है कि उच्च कला रूप की भी उपासना नहीं करती। घर के दीवान खाने में हरिण का सिर या सींगों का प्रदर्शन करनेवाला सौन्दर्य का उपासक भले ही समझा जाय पर उसके जीवन के कलाशून्य होने में कहीं सन्देह हो सकता है? फिर आप शत्रु की खोपड़ी इकट्ठी करने वाले तिब्बत के निवासियों को जंगली क्यों कहते हैं? शिकारी राष्ट्रों से कला का पाठ यदि हम पढ़ने बैठें

तो फिर कला में विकला का संकर हो इसमें कौन आश्चर्य की बात है । । हरिणों के सिरों से अपने दीवानखाने को सजाने वाले आधुनिक रसिक मनुष्य और विजित लोगों के सिरों को मिट्टी में रख कर एक विजय स्तंभ की रचना करने वाले तैमूरलंग में कोई जाति का भेद नहीं है । नन्हें-नन्हें बालकों के हाथ तोड़ कर उन्हें फूल पात्रों में रख कर दीवान खाने को सजाने वाले मनुष्य को यदि आप नर-पशु राक्षस कहें तो प्रेम-धर्म को भुला कर कला को विकास करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को भी आप को वही नाम अर्पित करना चाहिए ।

कला धर्म का स्थान नहीं ले सकती । पर वह धर्म की विरोधिनी तो कदापि नहीं हो सकती । कला सत्य तक नहीं पहुँच सकती । पर सत्य का द्वेष भी उसे नहीं करना चाहिए । कला में संपूर्ण पुरुषार्थ समाविष्ट न हो पर पुरुषार्थ की विघातिका उसे किसी प्रकार न होना चाहिए । समाजोपयोगी प्रत्येक मजदूरी में कला का दर्शन करने की दिव्य दृष्टि यदि हमें प्राप्त न हो सके तो कम से कम कला को मजदूरी का तिरस्कार करने का पाप तो हरगिज न करना चाहिए । मजदूरों का जीवन उसे विषम कदापि नहीं कर देना चाहिए । मजदूरी जब जीवन ही नहीं टिक सकता तब कला कहाँ

*

कहेगा,

ही कहाँ

कला की नित्य वैरिणी बात की बात में कला का कण्ठ धर दबावे। भाइयों के सहवास में ही बहन जीवन-व्यापी क्षेत्र में विहार कर सकेगी। भाई अपनी बहन के क्षेत्र को संकुचित नहीं करते बल्कि उसे संपूर्ण क्षेत्र का अधिकार सौंप देते हैं।

प्राचीन साहित्य❀
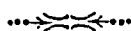
साहित्यकारों ने कविता की तुलना कान्ता से की है। शास्त्रकारों ने कुटुम्ब में जो प्रतिष्ठा स्त्री की कल्पित की है वही संस्कारी जीवन में साहित्य की भी है। जो समाज स्त्री की प्रतिष्ठा को भूल जाता है वह साहित्य की कदर भी क्या करेगा ?

जो मनुष्य जीवन भर व्रत-नियमादि किया करता है, उसे यह होश नहीं रहता कि हम कहाँ थे और कहाँ जाते हैं। उसके लिए भूत और भविष्य दोनों शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारों का भी यही हाल तो नहीं हो गया हो ? संस्कृत साहित्य के रहस्य को प्रकट कर देने वाले टीकाकार कम नहीं हैं। यदि साहित्य का कुरु-क्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारों की सेना इतनी बड़ी है कि वह जिस देश को चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्य को व्यापक दृष्टि से देखना किसी को सूझा ही नहीं। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमान में बैठकर लङ्का से अयोध्या तक के प्रदेश का निरीक्षण विहग-दृष्टि से कर सका, अथवा यक्ष पर दया कर के वह हिमगिरि से अलकापुरी तक मेघ को भेज सका, उस तरह एक भी टीकाकार को यह नहीं सूझा कि वह साहित्य-खण्ड का

❀ कवि-वर रवीन्द्रनाथ टागोर के 'प्राचीन साहित्य' के गुजराती अनुवाद के उद्देश्य से लिखा हुआ लेख।

समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पाँच मनुष्यों ही का मनोरंजन कर सकती है, उसका सङ्गीत किसी महासभा में व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारों की दृष्टि भी एक सम्पूर्ण श्लोक के बाहर नहीं पहुँचती। ज्यादह से ज्यादह यदि उसने यह बता दिया कि नान्दी का श्लोक सम्पूर्ण नाटक की वस्तुओं को किस तरह सूचित करता है, तो वह कृतार्थ हो जाता है। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराई में उतर सके हैं, उतने विस्तार से देख नहीं सके। एक श्लोक के भीतर दस-पाँच अलंकारों की संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं; परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि एक सम्पूर्ण महाकाव्य या खंडकाव्य किस तरह एक राग है, उसका आत्मा कहाँ है? इसका अपवादरूप एक क्षेमेन्द्र गिना जा सकता है। इस काश्मीरी महाकवि ने अलंकार और रसों के बाद औचित्य का महत्व बतला दिया है। उसने एक ही कवि के एक ही श्लोक का रस निचोड़ने के बदले संस्कृत साहित्य के बत्तीस विख्यात कवियों की भिन्न भिन्न काव्य-कृतियों को ले कर उनके गुण और दोषों की विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषों को बताते समय अपने दोषों को भी ध्यान में लाना नहीं भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्र को भी नहीं सूझी थी कि एक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य ले कर उसके रहस्य की खोज की जाय। इसकी दृष्टि से औचित्य था:—

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे॥
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे॥

प्रतिभामात्रमवस्थायां विचारेनाम्यथाशिपि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

कितनी ही जगहों में औचित्य-विचार की चर्चा करके कवि रुक गया है। रवीन्द्रनाथ ने हमें साहित्य की ओर देखने को एक नई दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्य का निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओं की स्वयम्भू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणी-संहार' लिखता है, तब द्रौपदी का क्रोध, भीम की प्रतिज्ञा, कर्ण का मत्सर और अश्वत्थामा की जलन का चित्र खींचने के बाद वह राष्ट्रीय उत्थान और पतन की मीमांसा भी अपने ढङ्ग से करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठता है तब रघु के कुल ही की नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृति की प्रकृति और विकृति को अंकित कर देना चाहता है।

हमारे कवियों की कृतियों की ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टि से देखने को वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगों ने सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथ का आर्य-हृदय तो संस्कृत-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टि से ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस–पाँच लकीरों से ही सम्पूर्ण चित्र को सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भिन्न भिन्न प्रसंगों पर लिखे हुए पाँच-सात स्फुट निबन्धों से ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्थान का इतिहास किस पुरुषार्थ को लेकर बैठा है, इत्यादि। संस्कृत कवियों में ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु

समग्र अवलोकन करे। जिस तरह वीणा दस-पाँच मनुष्यों ही का मनोरंजन कर सकती है, उसका सङ्गीत किसी महासभा में व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारों की दृष्टि भी एक सम्पूर्ण श्लोक के बाहर नहीं पहुँचती। ज्यादह से ज्यादह यदि उसने यह बता दिया कि नान्दी का श्लोक सम्पूर्ण नाटक की वस्तुओं को किस तरह सूचित करता है, तो वह कृतार्थ हो जाता है। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराई में उतर सके हैं, उतने विस्तार से देख नहीं सके। एक श्लोक के भीतर दस–पाँच अलंकारों की संसृष्टि सिद्ध कर सकते हैं; परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि एक सम्पूर्ण महाकाव्य या खंडकाव्य किस तरह एक राग है, उसका आत्मा कहाँ है? इसका अपवादरूप एक क्षेमेन्द्र गिना जा सकता है। इस काश्मीरी महाकवि ने अलंकार और रसों के बाद औचित्य का महत्व बतला दिया है। उसने एक ही कवि के एक ही श्लोक का रस निचोड़ने के बदले संस्कृत साहित्य के बत्तीस विख्यात कवियों की भिन्न भिन्न काव्य-कृतियों को ले कर उनके गुण और दोषों की विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषों को बताते समय अपने दोषों को भी ध्यान में लाना नहीं भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्र को भी नहीं सूझी थी कि एक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य ले कर उसके रहस्य की खोज की जाय। इसकी दृष्टि से औचित्य था:—

> पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
> क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे॥
> उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
> तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे॥

प्रतिभाभासवस्थार्थां विचारेनान्यथाशिषि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

कितनी ही जगहों में औचित्य-विचार की चर्चा करके कवि रुक गया है। रवीन्द्रनाथ ने हमें साहित्य की ओर देखने को एक नई दृष्टि दी है।

जैसे नाटक काव्य का निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओं की स्वयम्भू मूर्ति है। जब कोई भट्टनारायण 'वेणी-संहार' लिखता है, तब द्रौपदी का क्रोध, भीम की प्रतिज्ञा, कर्ण का मत्सर और अश्वत्थामा की जलन का चित्र खींचने के बाद वह राष्ट्रीय उत्थान और पतन की मीमांसा भी अपने ढङ्ग से करना चाहता है। जब कालिदास 'रघुवंश' लिखने बैठता है तब रघु के कुल ही की नहीं किन्तु अखिल आर्य-संस्कृति की प्रकृति और विकृति को अंकित कर देना चाहता है।

हमारे कवियों की कृतियों की ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टि से देखने को वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगों ने सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथ का आर्य-हृदय तो संस्कृत-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टि से ही देख सका है। जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस–पाँच लकीरों से ही सम्पूर्ण चित्र को सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भिन्न भिन्न प्रसंगों पर लिखे हुए पाँच-सात स्फुट निबन्धों से ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्थान का इतिहास किस पुरुषार्थ को लेकर बैठा है, इत्यादि। संस्कृत कवियों में ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु

उनमें ऐतिहासिक हृदय तो अवश्य है। सामाजिक सुख-दुःखों की प्रतिध्वनि उनके हृदयों से जरूर उठती है। राष्ट्र के उत्कर्ष के साथ वे आनन्दित होते हैं और उसकी मूर्छा के साथ मूर्छित। लोगों का अधःपात देख कर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेम भरे और मनोहर वचनों से समाज को सचेत करना चाहते हैं।

जहाँ शास्त्र का वश नहीं चलता, जहाँ नीति शास्त्र-कार 'ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे' इस तरह अरण्यरोदन करते हैं, वहाँ कविजन अपनी सहृदयता से समाज के हृदय को जागृत करके समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जा कर खड़ा कर देते हैं। मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर और उनकी जाति के अनेक स्मृतिकार समाज पर जो प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके, उस प्रभाव को लुटेरों का प्रमुख वाल्मीकि एक अमर काव्य द्वारा उत्पन्न कर सका है। श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, षट्पदी के समान सुंदर स्तोत्रों को लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्य ने उससे कहीं बढ़कर दिग्विजय प्राप्त किया है। शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खंडन-मण्डन द्वारा विरोधियों की बुद्धि पर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करना पड़ी, परन्तु जब वे परम हंस अपने सुन्दर स्तोत्रों का आलाप करते होंगे तब लोक-हृदय स्वेच्छा, से राजी-खुशी से पींजडे में आ गया होगा। ऐसे कवियों का हृद्गत भाव प्रकट करने के लिए उनके समान ही समर्थ कवियों की आवश्यकता थी। बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्याय-शास्त्र के छिलके छीलने के बाद साहित्य-शास्त्र की 'सर्जरी' सीख कर तैयार हुए टीकाकारों का वह काम नहीं। वाल्मीकि,

भवभूति, भास और कालिदास के समान कवियों ने रवीन्द्र के समान समालोचक को पाकर 'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः' कह कर उसी तरह की कृतार्थता का अनुभव किया होगा जो न्यूटन और क्रेप्लर का जन्म होने पर ब्रह्मदेव को अपनी सृष्टि रचना पर हुई होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियों की श्रद्धा रवीन्द्र जैसे समान-धर्मात्मा को देखकर चरितार्थ हुई होगी।

जब पुराने टीकाकारों ने हमें अपेक्षित दृष्टि नहीं दी, तब हमारे पाश्चात्य परिडतम्मन्य अध्यापकों ने हमें उल्टी ही दृष्टि दी। उन्होंने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिंदी इतिहास में कुछ भी नहीं। यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिंदी-काव्य सर्वदा निचली श्रेणी में गिने जाते हैं; इतना ही नहीं वरन् 'क्षेमं केनचिदिंदुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोक जिस समाज में निर्माण हुआ, जो समाज किलों की दीवारों में नहीं, किंतु वन-उपवन की गोद ही में परिवर्धित हुआ है, उस समाज के कवियों को निसर्ग निहारने को नेत्र नहीं हैं, ऐसा कहने की भी ढिठाई करने में वे और उनके शिष्य नहीं हिचकते! हबशी मनुष्य जब तक अपना सा रंग और अपनी-सी नाक तथा ओंठ किसी के नहीं देखते तब तक उसे कभी सुन्दर नहीं गिनते।

हिन्दुस्थान का इतिहास उज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्य-पूर्ण है। पर वह यूरोपियन इतिहास से बिलकुल भिन्न है, रवींद्र-नाथ ने हमें बतलाया है कि वह सरकारी तहखानों या तवारीखों में नहीं, बल्कि उस देश के साहित्य में मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय जीवन सजीव रूप में विद्यमान है। यह हमारी रंगभूमि

तरह तरह के उपकरणों से 'व्हाइट वे लेड लॉ' कम्पनी के 'शो-रूम' का प्रदर्शन नहीं करतीं; इसका कारण हमारा जंगलीपन नहीं, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन टीकाकारों की कल्पना में भी नहीं आ सकती। पर हमें यह समझाना भी रवीन्द्रनाथ ही के नसीब में बदा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ यक्ष के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नहीं; किंतु रवींद्रनाथ ने तो उसीको अपना दूत बनाकर उसके द्वारा हमें प्राचीन समय के भारत का साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य इतिहास के पद को प्राप्त कर सकता है। यह उन्होंने रामायण मीमांसा करके सिद्ध किया है। इस तरह अनेकों पद्धतियों से उन्होंने संस्कृत साहित्य का उद्घाटन किया है।

परन्तु रवींद्रनाथ की प्रतिभा खास सोलहों आना प्रकट हुई है, उनके कुमार-सम्भव और शाकुन्तल के निबन्धों में। जर्मन कवि गटे की एक-श्लोकी टीका को ले कर कवींद्र चले हैं और उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति से यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण-कृति है। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट के साथ शाकुन्तल की तुलना करके शेक्सपियर के मुकाबिले में उन्होंने कालिदास की अभिरुचि की श्रेष्ठता को प्रकट करने के योग का भी बड़ी अच्छी तरह साधन किया है। शाकुन्तल पर लिखा उनका निबन्ध एक अपूर्व योग है। कालिदास, गटे, शेक्स पियर और रवींद्रनाथ इन चार प्रतिभा-सम्पन्न, विश्वविख्यात महा कवियों का कण्वाश्रम में सम्मलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नहीं। कवियों की वाणी में कल्पनाओं के चाहे जितने फव्वारे उड़ते हों, तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नहीं होती। यह बात तो

रवीन्द्रनाथ ही ने सब से पहले इतनी सम्पूर्णता से प्रकट की है । उन्होंने बताया है कि उसमें तो व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन-रहस्य का तत्वज्ञान होता है; समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र इनके अन्तिम सिद्धान्तों को तर्क की दस्तनदाजी और गड़बड़ से बचाकर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्हें अनुप्राणित करते हैं और उसे जीवन के समान एक सम्पूर्ण और सजीव कृति निर्माण करते हैं । जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सृष्टि सभी एक-रूप है, इस ऋषियों के देखे हुए सिद्धान्त को कविजन हमारे सम्मुख मूर्तिमान् खड़ा कर देते हैं। संस्कृत में 'कवि' शब्द से जो भाव मन में उत्पन्न होते हैं वे अँग्रेजी में 'पोएट' शब्द से नहीं होते। कवि अर्थात् द्रष्टा। जो जीवन-रहस्य को देखता है, जिसे इह और पर सृष्टि दोनों समान तथा प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद में उतर सकता है, जो इस संसार में रहते हुए भी इस संसार का नहीं; वही कवि है । और कवि वही है जो चर्म-चक्षु से नहीं देखता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टि से नहीं होता, और जो ऐसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसंवेद्य अनुभवों का सम्पूर्ण साक्षात्कार करके कि, जिनके लिए व्यावहारिक संसार में प्रमाण नहीं मिलता, उन सब अनुभवों को शब्द अथवा वर्ण के समान मर्यादित साधनों द्वारा दूसरों के लिए भी प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि वे हैं जो इस सृष्टि की—इस बाह्य-सृष्टि और अन्तः सृष्टि की आधार-स्वरूप ईश्वरीय योजना का ईश्वरी लीला और ईश्वरी आनन्द का साक्षात्कार कर सकते हैं। वैदिक ऋषि जब ईश्वर स्तुति की ऊर्मि के शिखर पर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वर ही को 'कवि कह कर पुकारते हैं। इस सृष्टि को ईश्वर का काव्य बतलाते हैं। इसीलिए

कवि का सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टि का रहस्य जानने वाला। कालिदास ने जीवन के रहस्य को किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथ ने जाना, और न जाना राघवभट्ट ने। इस रहस्य को तो जानें गटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियों की कृतियों पर टीकाकार तो बहुत हो गये हैं, परन्तु 'काव्येर उपेक्षिता' में रवीन्द्रनाथ ने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही हैं। 'काव्येर उपेक्षिता' एक असाधारण टीका है। पर वह उतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ एक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही एक निबन्ध लिख देते, तो भी साहित्य-रसिकों को उनकी काव्य-शक्ति का पूरा-पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठक के लिए यह जान लेने के लिए किसी भारी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कि "चोखेर वाली" तथा "नौका डूबी" उसी कवि के लिखे हैं जिसने "काव्येर उपेक्षिता" में पत्र लेखा का विवेचन किया है।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टि का निरीक्षण करते ही नहीं, उन्हीं पुरानी उपमाओं को दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वयं ही सृष्टि का निरीक्षण करते और न काव्य का परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथ का वह निबन्ध पढ़ेंगे, जिसमें उन्होंने कादम्बरी का दर्शन कराया है तो अवश्य उनका भ्रम दूर हो जायगा। साहित्यकार जो बाणभट्ट की कादम्बरी को नारिकेल-पाक कहते हैं, उसका यह बढ़िया से बढ़िया उदाहरण है।

हरिणों के समान कल्पना-तृणांकुरों को अर्ध-विलीढ़ करके इतस्ततः वहीं फेंक सकते हैं, अथवा अभिनव-मधु-लोलुप भ्रमर के समान वहीं वहाँ स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं जिन्होंने हिमालय के समान पर्वत और मेघना या पद्मा के समान नदियाँ देखी हैं, अथवा जिन मनुष्यों ने पुष्प, पक्षी, तारे और लड़कों के साथ खेलने में बरसों व्यतीत कर दिये हैं। संस्कृत साहित्य में अंतःसृष्टि और बाह्यसृष्टि का जो सारूप्य और तादात्म्य है, उसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथ को मिला है। इसीसे कालिदास, बाणभट्ट और वाल्मीकि के समान कविजन पुत्र-संक्रांत-लक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये हैं।

जबसे हिंदुस्तान में युनिवर्सिटी स्थापित हुई तबसे प्रत्येक ग्रन्थ का बहिरङ्ग-परीक्षण करने की प्रणाली बहुत ही बढ़ गई है। काल-निर्णय, पाठ-भेद की मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम खूब सीख गये हैं, और यदि एक ग्रन्थकार के नाम पर अनेक ग्रन्थ हों तो हम यह भी अनुमान करने लग गये हैं कि एक ही नाम के अनेक लेखक हो गये होंगे, और इन ग्रन्थों के लेखक भिन्न-भिन्न होंगे। सत्यान्वेषण की दृष्टि से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सभी आवश्यक और महत्वपूर्ण तो जरूर है। परन्तु यदि हम बागीचे की लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतर के वृक्षों की तफसील और गिनती आदि ऊपरी बातों ही की जानकारी करने में सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलों की सुगन्धि और फलों का स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्त के समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षा का आदर्श और शिक्षा की प्रणाली में

परिवर्तन करना चाहते हैं। पाश्चात्य आदर्श को गुरु-स्थान में रख कर उस गुरुदृष्टि से संस्कृत-साहित्य की खोज करना हम नहीं चाहते। हम अपने प्राचीन कवियों के समीप शिष्य भाव से समित्पाणी हो कर जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासा से उनसे प्रश्न करना चाहते हैं। ऐसे प्रसंग पर संस्कृत-साहित्य के विषय में यह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे कवि सम्राट ने कहा है, और जिनके लिए हमें अभिमान है।

नदीमुखेनैव समुद्रमाविशेत्।
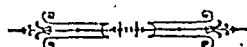
सुबह या शाम को जब हम नदी के तट पर जा कर शान्ति पूर्वक बैठते हैं तो अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वहाँ बालू का विशाल पट प्रति दिन ज्यों का त्यों ही दीखता है, तथापि उसका प्रत्येक कण हवा और पानी से स्थान-भ्रष्ट होता रहता है। इतनी सब बालू कहाँ से आती है और जाती कहाँ है? बालू के पट पर यदि हम चलते हैं तो बालू में स्पष्ट या अस्पष्ट पाद-चिह्न उठते हैं, पर घड़ी दो घड़ी के बाद हवा के कारण उनका 'नाम-निशान' भी नहीं रहता। दोनों किनारों के बीच नदी बहती है परन्तु वह किसी समय ठहरती नहीं। पानी आता है और जाता है, आता है, और जाता है। जब हम बच्चे थे तब सोचते थे "रात को यह नदी का पानी सो जाता होगा और सवेरे सबसे पहले उठकर फिर बहने लग जाता होगा। सूर्य, चन्द्र और ये नौ लाख तारे जिस प्रकार विश्राम लेने के लिये पश्चिम की ओर उतरते हैं, उसी प्रकार यह पानी भी रात में सो जाता होगा। विश्रान्ति की आवश्यकता तो सब को एक सी है।" पर बाद में देखा कि नहीं, नदी को विश्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती। वह तो बहती ही रहती है।

नदी को देख कर ख्याल होता है—'यह आती कहाँ से है और जाती कहाँ तक है?' यह विचार—यह प्रश्न सनातन है। नदी

का आदि और अन्त तो होगा ही। जितनी वार नदी को देखते हैं उतनी ही बार यह प्रश्न मन में उठता है; और ज्यों ज्यों यह प्रश्न पुराना होता है त्यों त्यों वह अधिकाधिक गम्भीर, काव्यमय और गूढ़ बनता जाता है। अन्त में दिल नहीं मानता, पाँव नहीं रुकते, मन एकाग्र हो जाता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अन्त खोजने की यह सनातन स्फूर्ति हमें नदी से मिलती है, और इसीसे हम जीवन-प्रवाह को भी नदी की उपमा देते आये हैं। उपनिषत्कार और देशी कवि, मॅथ्यु आर्नोल्ड जैसे कवि और रोमाँ रोलाँ जैसे उपन्यास-लेखक जीवन को नदी ही की उपमा देते हैं। इस संसार की सब से पहली पथिक नदी है। इसीलिए पुराने लोगों ने नदी के उगम, संगम और मुख को अत्यन्त पवित्र माना है।

नदी कहाँ से आती है और कहाँ जाती है? शून्य से आती है और अनन्त में समा जाती है। शून्य अर्थात् अति अल्प, सूक्ष्म परन्तु प्रबल; और अनन्त अर्थात् शान्त और विशाल। शून्य और अनन्त दोनों एक-से गूढ़ हैं, दोनों अमर हैं। शून्य से अनन्त की ओर—यह सनातन लीला है। दोनों एक ही हैं। जैसे कौसल्या या देवकी के प्रेम में समाने के लिए परब्रह्म ने बाल रूप धारण किया उसी तरह करुणावश अनन्त स्वयं शून्यरूप धारण कर हमारे सम्मुख खड़ा होता है। ज्यों ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों त्यों शून्य विकसित होता जाता है। जब अन्त में वह अपने विकास-वेग को संभाल नहीं सकता तो मर्यादा को तोड़कर अनन्त हो जाता है। वह बिन्दु का सिन्धु बन जाता है।

यही दशा मानव-जीवन की है। व्यक्ति में से कुटुम्ब, कुटु-

स्व से जाति, जाति से राष्ट्र, राष्ट्र से मानवता और मानवता से आत्मौपम्य में, इस तरह हृदय की भावनायें विकसित होती जाती हैं। हम अपनी भाषा द्वारा स्वजनों का हृदय समझते हैं और अन्त में सम्पूर्ण विश्व का आकलन करते हैं। गाँवों से प्रान्त, प्रान्तों से देश, देशों से विश्व इस तरह 'स्व' का विकास करते करते 'सर्व' में लीन हो जाना ही नदी और जीवन दोनों का क्रम है। नदी स्वधर्म-रत रहती है और अपनी मर्यादा को सुरक्षित रखती है। इसी से प्रगति करती हुई अन्त में नाम और रूप का त्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती है। स्मरण रहे अस्त होती है, नष्ट नहीं। वह चलती ही रहती है। यह नदी का क्रम है। यही क्रम जीवन का है। जीवन-प्रद शिक्षा का दूसरा कौन सा क्रम हो सकता है?

जीवन का संगीत

शास्त्रवेत्ता चाहे कितने ही सर्वज्ञ हों, परन्तु उन्हें यह अभिलाषा तो जरूर ही बनी रहती है कि सामान्य मनुष्य उनके शास्त्र के विषय में क्या अभिप्राय रखता है। इसी अभिलाषा या उत्सुकता को कुछ अंशों में पूर्ण करने के लिए आज मैं इस संगीत-चर्चा में प्रवृत्त हो रहा हूँ। मैं शिक्षा-शास्त्री होने का दावा करता हूँ। इस बात को तो प्रायः सभी जानते हैं कि भगवान् मनु ने ब्रह्मचारियों के लिए संगीत को चाहे कितना ही निषिद्ध बताया हो, पर आज कल तो वह शिक्षा का एक प्रधान अंग माना जाता है। अर्थात् शिक्षा की दृष्टि से संगीत का विवेचन करना तो मेरा क्षेत्र हुई है। परन्तु आज कल के संस्कृतियुक्त अध्ययन के युग में हमारे संगीत में आर्य-संस्कृति किस हद तक व्यक्त हुई है, साथ ही भविष्य में हमारा संगीत किस रूप को धारण करेगा, जीवन में उसका स्थान कहाँ होगा आदि बातों पर भी हमें अवश्य ही विचार करना होगा।

आज समाज में हम क्या देखते हैं ? सामान्यतः संगीत कला के प्रति उदासीनता। जहाँ उदासीनता नहीं, तहाँ कितने ही लोग संगीत का आत्यंतिक विरोध करते हैं। दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे हैं, जिनके जीवन में सिवा संगीत के और कुछ आकर्षक वस्तु ही नहीं दिखाई देती। संगीत के विरोधी कहते हैं

"संगीत से मनुष्य शौकीन, विलासी, और फिजूल खर्ची हो जाता है। संगीत के पीछे जो आदमी पड़ता है, वह संसार के आवश्यक व्यवहारों की तरफ से बिलकुल लापरवाह हो जाता है। विद्यार्थी तो एक बार संगीत की धारा में आये कि वहे। फिर व्याकरण, गणित, तर्क जैसे प्रखर विषयों में तो उनकी बुद्धि काम दे ही नहीं सकती। पर सामान्य विषयों पर से भी उनका चित्त उचट जाता है। जिसे संगीत का शौक लगा उसके यहां सुबह शाम दोस्तों की बैठक जमी समझिए। उनके लिए गाने-बजाने की महफिल के सामने और किसी कार्य का महत्व ही नहीं रह जाता। अंगरेज़ों ने लखनऊ सर कर लिया, पर इतने पर भी लखनऊ के नवाब साहब तो यही कहते रह गये कि 'एक और ठुमरी हो जाय'! औरंगजेब ने संगीत का बहिष्कार व्यर्थ नहीं किया था।"

प्रतिपक्षी जब दलील करने लगता है तब वह भी इसी प्रकार आग्रही होता है। नाद तो ब्रह्म है, उसकी उपासना से चतुर्विध पुरुषार्थ तो क्या, मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है। एक नाद-ब्रह्म को संतुष्ट करने से सभी देवता अपने आप संतुष्ट हो जाते हैं। गानानंद और ब्रह्मानंद के बीच विशेष भेद नहीं हो सकता। सामवेद के गायन से देवता भी संतुष्ट हो जाते हैं, फिर मनुष्यों की कौन कथा? व्यवहार में भी यही अनुभव है कि 'सद्यः फलती गांधारी'।

हमें सब से पहले यह जान लेना चाहिए कि संगीत के मानी जीवन सर्वस्व नहीं। साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि संगीत-शून्य जीवन अनेक प्रकार से नीरस और अधूरा होता है। संगीत एक अत्यन्त तेज़ वस्तु है। वह अधिक से अधिक उपयोगी है, और इसीलिए उसका दुरुपयोग भी हो सकता

है। संगीत का न तो किसी खास प्रकार के लोगों ने ठेका ही ले रक्खा है और न वह अस्पृश्य ही है। संगीत मनुष्य जीवन का एक अत्यंत आवश्यक और विश्वजनीन अंग है। सुबह-शाम प्रकृति को शब्दमयी बना देने वाले पक्षियों को संगीत की जितनी आवश्यकता है उतनी ही मनुष्य जाति को भी है। थके हुए आदमी को अन्न अथवा निद्रा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही संगीत की भी। सूर्योदय से लगा कर दिनान्त तक काम करने वाले मज़दूरों को पूछिए कि उनके लिए परिश्रम के बीच विश्राम की चीज़ क्या है? प्रातःकाल उठकर चक्की चलाने वाली गृहणियाँ, गाँव के कपड़े साफ करने वाला धोबी और धोबन, संसार की लज्जा को ढाँकने वाला जुलाहा, घर को टीपने वाली मजूरिन, हल चलाने वाले संसार के अन्नदाता किसान, माल को यहाँ से वहाँ ले जाने वाले बनजारे, गायें चराने वाले गवाल, दरिया पर नाव चलाने वाले मल्लाह, फकीर-बाबा, कत्थक, भाट, अरे! भिखारी और पशु तक संगीत की सहायता से अपने भार-रूप जीवन में आनन्द को देख और उसका साक्षात्कार कर सकते हैं या उसमें नवीन आनन्द को निर्माण कर सकते हैं।

संगीत की इस असाधारण शक्ति को देखकर इसका दुरुपयोग करने वाले भी कम नहीं पैदा हुए। संगीत एक प्रकार की मानसिक मदिरा का भी काम दे सकता है, यही देखकर हिंसा-कुशल लोगों ने इसे युद्ध में स्थान दिया है। "शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः" जब एक दम बजने लग जाते हैं तब आदमी अपने आपको भूल जाता है। रणमत्त बन जाता है और चाहे जो करने को तैयार हो जाता है। लश्करी बैंड तो फौज का आधा

प्राण है। सात्विक लोग इसी संगीत का उपयोग भक्ति-भाव का विकास करने में करते हैं। और कितने ही लोग तो ताल-मृदंगादि वाद्यों को मनमाना ठोंक-पीट कर वृत्तियों को बधिर कर डालते हैं। वे इस उन्माद को ही आध्यात्मिक उन्नति समझ लेते हैं। पूजा के पहले अफ़ीम खा कर उसमें एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न जितना प्रमादमूलक है उससे यह किसी प्रकार कम नहीं है।

संगीत तो भावना की भाषा, जीवन का उद्‌गार है। सच्चा संगीत जीवन का प्रतिबिम्ब ही होता है। आगे चल कर वही जीवन का मार्ग-दर्शक भी बन जाता है। जीवन में जब नव रसों का विकास होता है तभी साहित्य, कला और संगीत में भी नव रस खिलने लगते हैं। समस्त समाज का जीवन जागृत होगा तो संगीत भी सर्वत्र जागृत रहेगा। जीवन-ज्योति जब मंद हो जाती है, उसपर जब राख छा जाती है, तब संगीत भी समाज में अप्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे समय संगीत के कितने ही उपासक प्रयत्न पूर्वक संगीत की विरासत को सुरक्षित रखने की चेष्टा करते हैं। शनैः शनैः उनका एक वर्ग ही बन जाता है। हरिदास के बाद तानसेन अवश्य ही आवेगा। यह स्थिति अपरिहार्य है। अपनी पुरानी विरासत की रक्षा करने वाला एक पृथक् वर्ग ही न हो तो प्रमादी समाज को सर्वस्व गंवाने में कोई देरी न लगे। संगीत की विरासत को कायम रखने के लिए जहाँ एक पृथग्वर्ग बना कि अवश्य ही वह फ़ुरसत और योगक्षेम की निश्चिंतता की मांग पेश करेगा। वह निश्चिंतता प्राप्त करने का उसे हक जरूर है, पर यह एक जुदा सवाल है कि इससे उसे फायदा भी होगा या नहीं। बिना जड़ के पेड़, और बिना कीच का

भी कह देना चाहिए कि हमारे सार्वजनिक संगीत में कितना ही कर्ण-कठोर भाग पैठ गया है उसे निकाल डालना आवश्यक है)

राज्याश्रय का जमाना बीत गया। अब लोकाश्रय का जमाना आया है। लोकाश्रय के मानी हैं मध्यमवर्ग का आश्रय। इस आश्रय में कलाधर अधिकांश में स्वतन्त्र रहकर स्वाभिमान का विकाश कर सकता है। पर यदि यह लोकाश्रय पश्चिमी ढंग का अनुकरण करने लगेगा तो वह समाज के किए कदापि आशीर्वाद-रूप नहीं साबित हो सकता। राज्याश्रय के पुराने जमाने में गरीबों का बहिष्कार कदापि नहीं था। धर्म-संस्थायें गरीबों को संगीत परोसने का काम करती थीं। आजकल के नास्तिक जमाने में केवल टिकट के पैसे देने वाला ही संगीत सुन सकता है। यही दशा सर्वत्र हो जायगी तो गरीबों को जीवन के इस एक मात्र समाधान से भी वंचित होना पड़ेगा। लोकाश्रय पर निर्भर रहकर संगीत का उद्धार करने वाले पं० विष्णु दिगम्बर जब हरद्वार आते और गंगा तट पर बैठ गंगा मैया को अपना संगीत सुनाते तब मुझे बड़ा आनंद होता। क्योंकि इस बहाने सर्व-साधारण को अनायास उनके संगीत का लाभ मिलता। जिस दिन गरीब लोग संगीत से पूर्णतया वंचित रहने लग जावेंगे निःसंदेह उसी दिन वे पूरे पूरे शैतान हो जावेंगे। हमारा पुराना भोला-भाला जीवन नष्ट होता जा रहा है। जीवन कलह में मनुष्य की अनेकों सद्वृत्तियां मारी जा रही हैं। ऐसे समय तो संगीत की और भी अधिक आवश्यकता है। हजारों लाखों मजदूरों को एकत्र करने वाले मिल मालिकों से मैं जरूर कहूंगा कि अपने आश्रितों को आप शुद्ध संगीत सुनाने की व्यवस्था कीजिए। फिर वह भले ही लोक-संगीत हो या शास्त्रीय संगीत,

इसकी कोई बात नहीं। उनकी भजन-मण्डलियों का उत्साह बढ़ाइए। संगीतामृत का प्रवाह शुरू होते ही शराबखोरी और झगड़े कुछ अंशों में तो ज़रूर कम होंगे।

सच देखा जाय तो संगीत गरीबों का जन्म-सिद्ध अधिकार है। शास्त्रीय संगीत का उद्भव होने से पहले जहाँ-तहाँ लोक-संगीत का ही प्रचार था। उसका जन्म भोली-भाली प्रजा में ही हुआ है। प्रजा अधिकांश में अपने इस हक को गँवा बैठी यह उसी का अपराध है। अथवा यह कैसे कह सकते कि वह अपराध ही है? उनके जीवन पर ही उनका अपना अधिकार कहाँ है, जो इसे हम उनका अपराध कहें? हाँ, यह उनका दुर्दैव जरूर है। लोक-संगीत शुद्ध सुवर्ण है। उसी को कूट-पीट कर कलई चढ़ा कर शास्त्रीय-संगीत का निर्माण हुआ है। लाला लाजपतराय ने अपने अमेरिका के अनुभवों में लिखा है कि महाराष्ट्र और बंगाल के विद्यार्थियों में ही कुछ कुछ संगीत दिखाई देता है। शेष तो संगीत से अस्पृष्ट रहते हैं। सुशिक्षित लोगों के विषय में यह टीका सत्य है। यद्यपि सत्याग्रहाश्रम, गुजरात विद्यापीठ और इस संगीत-मण्डल ने इस टीका को, जहाँ तक उसका गुजरात से सम्बन्ध है, दूर करने का सुंदर प्रयत्न किया है। हमारी राष्ट्रीय शालाओं में संगीत एक आवश्यक—और मैं आशा करता हूँ कि—आकर्षक विषय बन गया है। यह भी सौभाग्य का विषय है कि गुजरात के कवि अपनी कवितायें लोक-संगीत के ढांचे में ही ढालते हैं।

काव्य और संगीत के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका विशेष विवेचन करने की मैं यहाँ आवश्यकता नहीं देखता। तथापि काव्य और संगीत एक दूसरे के आश्रित नहीं है। काव्य स्वतंत्र

रूप से रह सकता है। संगीत भी विना काव्य की सहायता के अपनी भावगम्य वाणी बोल सकता है। संगीत एक स्वतन्त्र भाषा है। इसका व्याकरण भिन्न होता है। इसके भाव भी स्पष्ट होते हैं। शब्दों की अपेक्षा संगीत के आलाप अधिक व्यापक और प्रभावोत्पादक होते हैं। संगीत की भाषा को सार्वभौम नहीं कहा जा सकता। तथापि यदि किसी समाज के जीवन का हमें थोड़ा सा परिचय होतो बिना भाषा समझे भी संगीत पर से उसके भाव समझे जा सकते हैं। इसीलिए संगीत-प्रवीण गाते समय अपने संगीत के शब्दों के विषय में इतने लापरवाह रहते हैं। पर उन्हें इतना तो अवश्य ही जान लेना चाहिए कि संगीत भाषा-निरपेक्ष भले ही हो, पर काव्य और संगीत के बीच विसंवाद को कोई भी संस्कारी-रसिक मनुष्य नहीं सह सकता। कितने ही गायकों का यह भी मत है कि पुरानी चीजों में शब्दांतर नहीं किया जा सकता। महज इसीलिए कितनी ही सर्वोत्कृष्ट संगीत वाली चीजों में नीरसता और अश्लीलता पाई जाती है। और उसे पसन्द न होने पर भी सुनना पड़ता है। 'सैंया गुय्यां' जैसे शब्द भी उनकी राय में वेदमन्त्र के जैसे ही अपौरुषेय होते हैं। फिर उनमें परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस जड़ता को तो उन्हें अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

एक ओर नित्य नवीनता को ढूँढने वाला चंचल समाज परिवर्तन चाहता है तहाँ दूसरी ओर वह वृत्ति है कि संगीत में परिवर्तन हो ही नहीं सकता। एक बार ऋषियों ने जो निश्चित किया सो किया। उसमें परिवर्तन करने का अधिकार क्षुद्र-पामर मनुष्य को कैसे हो सकता है? 'पुराण मित्येवहि साधु सर्वम्' मानने वालों की राय में विलासी तानसेन भी संगीत का एक ऋषि है।

है। तानसेन के बाद संगीत में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता। संगीत भी सामाजिक सकर के भय से ग्रस्त हो रहा है और मृत्यु की स्थिरता को वह प्राप्त करता जा रहा है। पर इसमें केवल गायकों का दोष नहीं है। अज्ञानी और असंस्कारी लोग संगीत के नाम मनमानी बेहूदी बातें जब करने लगते हैं, तब स्वभावतः गायकों के लिए पुराने को ही पकड़े रहना एक कर्त्तव्य सा हो जाता है। प्रत्येक शास्त्र और कला के समान संगीत में भी नवीन निर्मिति के लिए स्थान है। पर यह काम हर-किसी मनुष्य के हाथ नहीं हो सकता। जीवन की गहराई में जो उतर सकता है, भविष्य की आकांक्षाओं को जो अपने हृदय में अनुभव कर सकता है, और साथ ही साथ जिसने अपनी पुरानी विरासत को हजम कर लिया है वही नवीनता का निर्माण कर सकता है। राष्ट्रीय जीवन में जब बड़े बड़े परिवर्तन होते हैं, तब अवश्य ही संगीत में भी परिवर्तन का होना अनिवार्य है। इसी नियम के अनुसार इस्लामी संस्कृति के परिचय के साथ साथ हमारे यहाँ हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म हुआ। अंग्रेज़ों के आगमन के बाद यदि हमारे संगीत में कोई नई बात शामिल नहीं हुई तो इसके दो कारण हो सकते हैं: एक तो यह कि अंग्रेज़ों के जीवन में संगीत ही नहीं है या वे हम से एकदम अलग रहते हैं। अहमदाबाद जैसे शहर में लग्न-कार्यों में गली-गली गधे की तरह भूंकने वाला बैंड हमारे जंगलीपन की निशानी भले ही हो पर वह अंग्रेज़ों के संगीत का नमूना तो कदापि नहीं कहा जा सकता। अपने को संस्कारवान् सिद्ध करने के लिए हम तथा अंग्रेज़ लोग चाहे कितनी ही किताबें प्रतिदिन लिखते रहें पर इन सब का खासा उत्तर तो वह बैंड बाजा ही है कि हम

और वे दरअसल संस्कारवान् हैं या नहीं। जो लोग कुछ भी संस्कारी होने का दावा करते हैं, उनको ऐसे जुलूसों में सम्मिलित होने से साफ इन्कार कर देना चाहिए जिनमें वह वेहूदा वैंड बाजा बजता हो। हमारे रथ्या-संगीत में बहुत भारी सुधारों की आवश्यकता है। वीस-पचीस वर्ष पहले पूना और सातारा की सड़कों पर जो रथ्या-संगीत सुन सकते थे, वैसा आज कल शायद ही कहीं सुनाई दे। क्या धन बहा कर जंगलीपन का सिक्का अपने सिर पर लगाना अब भी हमारे शहरवासी नहीं छोड़ेंगे ?

हमारे सामाजिक जीवन के साथ साथ कदम रखने वाला नवीन संगीत हम अवश्य निर्माण कर सकते हैं। हमारा सार्वजनिक-जीवन नित्य नया रूप धारण करता है, नित्य नवीन सामाजिक आदर्श और भाव समाज में प्रकट होते जा रहे हैं और सब नवीन संगीत चाहते हैं। हमारी महासभा, हमारे सम्मेलन, हमारी परिषदें, हमारे आश्रम और नवीन नवीन धंधे सब को नूतन संगीत की आवश्यकता है।

अमुक राग में अमुक रस होता है, फलां राग फलां वक्त ही गाई जा सकती है आदि नियम हमारे वैदग्ध्य और उच्चाभिरुचि को प्रकट करते हैं। पर जहाँ रागों के नाम बदल दिये गये हैं, शुद्ध कोमल की परिभाषा बदल दी गई है, तहाँ पुराने शास्त्रों का अर्थ बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। क्या हम भी इस बात को नहीं मानते कि काल-भेद के अनुसार रागों के रस और भाव बदलते रहते हैं ? हमारे पूर्वजों ने संगीत का यह जो मानस-शास्त्र अथवा रस-परिपाक की मीमांसा का निर्माण किया है उसका हमें केवल जड़ता से स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए। बल्कि विवेक-

पूर्वक उनका अध्ययन कर, नवीन-नवीन तरह के प्रयोग कर के हमें उसमें नवीन शक्ति का विकास करना चाहिए, तभी हम अपने कीर्तिशाली पूर्वजों के वंशज कहलाने योग्य अपने को साबित कर सकेंगे। पूर्वजों की कीर्ति पर हमारा कब तक निर्वाह होगा? जातवान घोड़े को अपने मातृ-पितृ वंश का उच्चार नहीं करना पड़ता।

नवीन रचना जब होगी तब होगी। पर तब तक यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ही सुरक्षित रख सकें तो भी काफी है। डाकिया जिस तरह एक गांव का पत्र दूसरे गांव को ज्यों का त्यों पहुचा देता है उसी प्रकार यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ज्यों की त्यों नवीन जमाने के हाथों में सौंप दें, तो यह सेवा भी कोई मामूली सेवा नहीं होगी। यह काम तो संगीत की परम्परा को समझ कर संगीत को लिपिबद्ध करके ही हो सकता है।

अब इस विषय में कोई संदेह नहीं रहा कि संगीत लिपिबद्ध हो सकता है या नहीं? आपके मन्त्री ने गुजरात के उत्तमोत्तम संगीत को लिपिबद्ध करके दिखा दिया है। मैं आशा करता हूँ कि उनकी यह किताब शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इस विषय में केवल यही सवाल रहा है कि सबके लिए एक ही स्वरांकन-लिपि रक्खी जाय, या सर्वसाधारण के लिए एक स्थूल और विशेषज्ञों के लिए दूसरी सूक्ष्म और संपूर्ण स्वरांकन लिपि रक्खी जाय। निःसन्देह दोनों की पद्धति तो एक ही होगी। इस विषय में मुझे तो गांधर्व महाविद्यालय की पद्धति ही बतौर बुनियाद के शुद्ध ज्ञात होती है।

यदि हम इस उगते राष्ट्र को संगीत की विरासत सौंपना चाहते हैं, तो उसे संगीत की तालीम देना भी परमावश्यक है। जबतक मनुष्य एक विशिष्ट सीमा तक तालीम नहीं पाता है तब तक

न तो उसका कण्ठ और न कान ही तैयार हो सकते हैं और तब तक मनुष्य को संगीत का रहस्य समझने की योग्यता भी प्राप्त नहीं हो सकती। पर तालीम का संगीत और भाव-वाही संगीत ये दोनों हमेशा भिन्न भिन्न रहने चाहिए। संगीत की कसरत अत्यन्त आवश्यक है, पर वह प्रदर्शन योग्य नहीं है। कुश्तीबाज लोग अखाड़े में कुश्ती करते करते डंड और बैठकें लगाकर नहीं दिखाते। इस भेद को न जानने के कारण कितने ही गायक कोई भावपूर्ण गीत गाते समय एकदम बीच ही में उसके 'सारेगम' बोलने लग जाते हैं। इससे भाव-प्रवाह टूट जाता है। उनकी तालीम भी प्रशंसनीय तो ज़रूर होती है पर उसमें यदि भाव का खून होता हो, तब इसे कौन सहन कर सकता है? आलाप करते करते ही जिस प्रकार गायक लोग हर प्रयत्न से सम को साधते हैं उसी प्रकार वे भाव को भी साधने लग जायँ तो श्रोताओं को इतना आनन्द हो जाय कि मानों पृथिवी पर ही स्वर्ग आ गया।

भाववाही संगीत के दो विभाग हैं। संगीत का एक प्रकार स्वर रचना और आलापों के द्वारा ही विकारों को उद्दीपित करता है। यह अशिष्ट होता है तहाँ दूसरी प्रकार का संगीत विकार-शामक और शुभ भावनाओं का पोषक होता है। इस भेद को जानने और उस पर अमल करने को बड़ी भारी आवश्यकता है। इस दिशा में प्रयत्न करने वाले सुरुचि-सम्पन्न विदग्ध लोग बहुत कम पाये जाते हैं। यह जमाना तो क्या जीवन और क्या साहित्य में स्वच्छंद और उच्छृंखलता को प्रतिष्ठा देने वाला है। इसलिए उपर्युक्त काम कठिन है इसमें शक नहीं।

जीवन के दोष फिलासफी में उतरते हैं, समाज-शास्त्र में घुस

आते हैं, और साहित्य में भी प्रवेश पा लेते हैं। फिर वे कला में क्यों न घुसेंगे? साहित्य को ही देखिए। पहले राजा-रानी, वीर पुरुष और देवी देवताओं का साहित्य ही लिखा जाता। प्रजा और सेना तो चित्र को पूरा करने के लिए मात्र कहीं कहीं दिखाई देती। आजकल अवकाश पाने वाले मध्यमवर्ग का ही साहित्य ज्यादहतर लिखा जाता है। उपन्यासों का नायक खासकर कोई डॉक्टर, वकील बैरिस्टर या जागीरदार-जमीदार ही होता है। कई बार महान् महान् विचारक भी ज़माने के दोष से मुक्त नहीं रह सकते। ऍरिस्टॉटल जैसे विश्वव्यापी बुद्धि वाले तत्वज्ञानी को भी गुलामी की प्रथा स्वाभाविक ही दिखाई दी। शंकराचार्य जैसे अद्वैतवादी भी वेद का उच्चारण सुनने वाले अंत्यज को सज़ा का पात्र समझते थे। मनु महाराज भी "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" जैसा ख़्याल रखते थे। भक्त कवि तुलसीदास ने तो ढोर-गँवारों के साथ साथ स्त्री जाति को ताड़ने का भी अधिकार उदारता पूर्वक दे दिया। समाज के दोष साहित्य में अवश्य ही आवेंगे। रोमन और ग्रीक कला भी इसी कारण दुष्टता के संसर्ग से मुक्त नहीं रह सकी। क्योंकि उनका जीवन चाबुक खा-खाकर काम करने वाले गुलामों पर ही निर्भर था। ईजिप्त के पिरामिड कितने ही भव्य हों; पर हैं तो आखिर वे वहां के अल्पजीवी बादशाहों के अपनी पार्थिव काया को शाश्वत बनाने के लिए रचित कब्रस्तान। एक लाख लोग अपने जीवित राजा की कबर बांधने के लिए बीस बरस तक एक सा पसीना बहाते रहे! कैसा होगा यह समाज? ऐसे समाज के द्वारा प्रकट की गई कला यदि आसुरी हो भी, तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है? विजयानगर के भव्य

खंडहर, और फूलों की महान् राशी के समान् ताजमहाल देखकर हम भले ही कितने ही आश्चर्य-चकित क्यों न हो जायँ! पर उनके अन्दर जो गरीबों की हाय छिपी हुई है, उसे देखते ही यदि हममें कुछ भी मनुष्यता है, तो हमारा सारा आश्चर्य और आनंदोन्माद उतर जाना चाहिए। शुद्ध संगीत निष्पाप, तेजस्वी और करुणा-मय जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि संगीत भावना की नैसर्गिकी भाषा है। जैसा जीवन वैसी भावना, जैसी भावना वैसा संगीत।

संगीत के मानी केवल गायन नहीं है। गायन, वादन, नर्तन अभिनय इन सब का संगीत में समावेश होता है। हमारे यहाँ गायन-वादन का तो काफी प्रचार है, परनर्तन कुछ हद तक स्त्रैण समझा जाता है। इसका कारण यही हो सकता है, कि या तो मर्दानी नर्तन भुला दिया गया है, या हमारे शरीर ही अब नर्तन योग्य नहीं रह गये। नर्तन में गायन की अपेक्षा अधिक उद्दीपक होने की सम्भावना है इसीलिए पुराने लोगों की रुचि को वह विपरीत जान पड़ा। कई बार मंदिरों में भक्त नर्तन करते हैं, गुजरात में 'गोप-रास' 'डाँडिया-रास' 'गरबियां' आदि नर्तन के कितने ही प्रकार रूढ़ हैं। कितनी ही जंगली किन्तु निष्पाप जीवन व्यतीत करने वाली जातियों में स्त्री-पुरुषों के मिश्र-रास भी देखे जाते हैं।

गायन, वादन और नर्तन इन तीनों का सम्मेलन संगीत को परिपूर्ण बना देता है। हमारे पूर्वजों ने राग रागिणियों के स्वरूप और ध्यानों की कल्पना की है। ऋतु, समय, चित्रकला, गंध, रूप, तमाम वस्तुओं के साथ उन्होंने संगीत की कल्पना की है।

रेखा, वर्ण और रूप; गंध, रस और समय; रचना औचित्य और तारतम्य, न्याय कारुण्य और प्रेम इन सब का बिना संगीत के साथ अविरोध अथवा बिना सम्वाद उत्पन्न किये संगीत सपूर्ण हो ही नहीं सकता। जीवन के अंग प्रत्यंगों में जब तक लेश मात्र भी विसंवाद होगा तब तक जीवनव्यापी संगीत हमें कहीं सुनाई नहीं दे सकता। मनुष्य का हृदय जब पशु, पत्ती, वनस्पति आदि के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेगा तभी चिर अपेक्षित विश्व संगीत का आरम्भ होगा। शुद्ध नीति, सदाचार और पावित्र्य इस विश्व-संगीत का व्याकरण है, अहिंसा और आत्मौपम्य ये इसके अंतिम रस हैं।

आवश्यक दृष्टि

राष्ट्रीय शिक्षा के सवाल के मानी हैं भारत के साढ़े सात लाख देहात् में बसने वाले गरीब माता-पिताओं के बालकों की शिक्षा का प्रश्न। हम जानते हैं कि इस देश की जन-संख्या के फी सैकड़ा अस्सी आदमियों को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। जाड़े से रक्षा करने के लिए उनके पास काफी कपड़े न होने के कारण वे कीमती खाद घांस और गोबर जला डालते हैं। बीमारी में इलाज करने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते और न काम पर जाना बंद करके एक आध दिन आराम लेने योग्य उनकी आर्थिक स्थिति ही होती है। फलतः बीमारी की हालत में ही बेचारे काम करते रहते हैं। ऐसे लोगों के बच्चों को यदि शिक्षा देना है, तो खर्च और समय का विचार जरूर करना होगा। तरह तरह की किताबें पढ़ा कर हम उनको शिक्षा नहीं दे सकेंगे। महत्वपूर्ण और उपयोगी ज्ञान प्राप्त करा देने वाली थोड़ी से थोड़ी किताबों से हमें काम चलाना होगा। विशेष जानकारी जो आवश्यक हो, शिक्षक स्वयं पाठ्य पुस्तक पढ़ाते समय बच्चों को करा दिया करें।

खर्च का प्रश्न न भी हो तो भी ज्ञान-प्राप्ति के एक प्रधान साधन की हैसियत से ग्रंथ को नहीं रक्खा जा सकता। तमाम इन्द्रियों को शिक्षा दे कर उन्हें जाग्रत रख कर उन्हींके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अकेला ग्रन्थ-वाचन पर ही विशेष निर्भर रहने से

बुद्धि का विकास नहीं होता, और विवेचन-शक्ति पंगु रह जाती है।

ज्यों ज्यों हम किताबों का खर्च बढ़ाते हैं त्यों त्यों जन साधारण की शिक्षा अधिकाधिक संकुचित होती जाती है। शिक्षा-शास्त्री को इस बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए। शिक्षा का ध्येय और दिशा यदि हम निश्चित कर लें तो कम से कम किताबों के द्वारा बढ़िया से बढ़िया शिक्षा भी दी जा सकती है। प्रतिवर्ष यदि किताबों का बदलना बन्द कर दिया जाय तो प्राथमिक शिक्षक के लिए शिक्षण-कला का विकास करना एक आसान बात हो जाय। हां, उनके अनुभव के कारण किताबों में कोई अनायास थोड़ा बहुत फर्क करना पड़े तो बात जुदी है। किताबें यदि छोटी हों, तो परिश्रमी विद्यार्थी अपने हाथों से सुंदर अक्षरों में उसकी नकल भी कर सकें। ज्यों ज्यों पढ़ते जावें त्यों त्यों किताब को लिखते जाने से कितना लाभ होता है, इस बात को अनुभवी शिक्षक भली भांति जानते हैं।

आजकल कितनी ही किताबों में इतनी छोटी छोटी बातें दी जाती हैं, और वे इतनी स्पष्ट रीति से समझायी गई हैं कि विद्यार्थियों को शिक्षक की आवश्यकता ही न रहे। पर इससे शिक्षा एक तो खर्चीली हो जाती है और दूसरे यान्त्रिक हो जाती है। यह बहुत भारी हानि है।

गुरु के द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसमें विद्यार्थी की योग्यता के अनुसार पद्धति में फर्क कर दिया जा सकता है। सच्ची शिक्षा तो यही है।

कितने ही अच्छे अच्छे शिक्षा-शास्त्री इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यदि राष्ट्रीय एकता दृढ़ करना है, तो यह शिक्षा द्वारा देश के

भावी नागरिकों पर निश्चित और एक तरह के संस्कारों के डालते रहने से ही हो सकता है। यदि शिक्षा में अव्यवस्था और नैतिक अराजकता हो, तो समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। मनुष्य को प्रतिवर्ष कोई न कोई नई बात सूझती रहती है। पर इसलिए प्रति वर्ष पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन करना श्रेयस्कर नहीं है। मनुष्य का दिल प्रति दिन कुछ न कुछ नयी बात सोचता और ढूंढता रहता है। नित्य नवीनता से मनुष्य को प्रेम जरूर होता है पर यह मान लेना भूल है कि उसमें प्रगति ही होती है। नित्य नये परिवर्तन करते रहने से शिक्षा का उद्देश भुला दिया जाता है और संस्कारों की गम्भीरता कम हो जाती है।

बेशक, शिक्षकों के लिए विविध सामग्री की आवश्यकता जरूर है। शिक्षा किस तरह दी जाय, विद्यार्थी के चित्त को किस तरह पहचाना जाय, उसको ज्ञान किस तरह दिया जाय? इन बातों पर शिक्षकों में दिन-रात चर्चा होनी चाहिए। शिक्षकों को हमेशा अपने अनुभव और विचारों का विनिमय करते रहना चाहिए। इसलिए वे सम्मेलन कर सकते हैं, और कोई मासिक पत्र भी शुरू कर सकते हैं जो प्रत्येक पाठक को मुफ्त मिलता रहे।

केवल शिक्षा

नेपोलियन बोनापार्ट ने जब ईजिप्त पर चढ़ाई की, तब शास्त्रीय और ऐतिहासिक खोज करने के लिए वह अपने साथ में कितने ही पण्डितों को भी ले गया था। इजिप्त के अरबी घुड-सवारों की युद्ध-नीति कुछ विचित्र ही थी। देश भर में उनके दल के दल घूमते, और जहाँ कहीं शत्रु की सेना जरा भी असावधान दिखी कि वे कहीं से एकदम चढ़ आते और आक्रमण कर देते। इस स्थिति का सामना करने के लिए नेपोलियन ने एक नये तर्ज की व्यूह-रचना की। अपनी सेना में एक पोला चौरस बनाकर वह कूच करता। कूच करते समय सभी एक ही तरफ मुंह करके चलते थे किन्तु शत्रु के आने की खबर मिलते ही सभी सेना ठहर जाती और चारों तरफ के वीर चारों ओर मुंह घुमाकर खड़े हो जाते। अर्थात् किसी भी तरफ शत्रु को इस सेना की बगल या पीठ नहीं दिखाई देती। सेना के साथ पंडित और बोझा उठाने वाले गधे भी रहते थे। अरबी घुड़सवारों के दल को देखते ही नेपोलियन एक दम आज्ञा करता "चौरस बनाओ, गधे और पंडित बीच में" (Form square, Asses and savants in the centre) नेपोलियन के सिपाही कई बार जोर से हंसकर उसके हुक्म का उच्चारण करते "चौरस बनाओ, गधे और पंडित बीच में" कईबार फ्रेंच सैनिक गधों को अर्ध-पण्डित कहते। इस तरह मजाक करते समय सिपाहियों के दिल में पंडितों के प्रति कम आदर नहीं हो

शिक्षा-शास्त्री का कर्तव्य
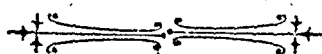
[एक-दो विचार]

लोकमान्य तिलक की एक दो बातें पुनः पुनः याद आती हैं। वे कहते थे कि कवि स्वयंभू होते हैं। उन्हें कोई बनाता नहीं। इसमें जितना सत्य है, उतना ही सत्य इस कथन में भी है कि अध्यापक और सम्पादक भी स्वयंभू होते हैं। उनको हमेशा यह अंतःस्फूर्ति होती रहती है कि संसार को देने के लिए मेरे पास कुछ है। यदि मैं वह संसार को नहीं दे दूंगा तो संसार डूब जायगा। जिसने अपने जीवन का पूरा विचार कर लिया हो, जिसके दिल में यह बात पूरी तरह जम गई हो कि अपने सामाजिक जीवन के लिए मैं जवाबदेह हूं, उसीमें वह वृत्ति उत्पन्न हो सकती है जिसका जिक्र लोकमान्य ने किया है।

वही शिक्षक स्वयंभू हो सकता है जो इस बात को समझ गया है कि शिक्षा जीवन भर के लिए है—वह जीवनव्यापिनी हो सकती है। शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा के विषय और उसकी पद्धतियाँ ये सभी हमारे जीवन का विषय हैं—जीवन को सार्थ समृद्ध और सफल करने के लिए हैं। साथी-वाराती यदि वधू-वर को घर में से निकाल दें तो कैसे काम चले ? उसी प्रकार जीवन के प्रश्न को अलग रखकर यदि कोई शिक्षा देने का प्रयत्न करे तो

वह कैसे काम कर सकता है ? तथापि गत सौ-पचास वर्षों में हम क्या करते आये हैं ? हमारे समाज-सेवकों ने जीवन-चर्या में शिक्षा को प्रधान स्थान नहीं दिया। और हमारे शिक्षा-शास्त्रियों ने अपनी चर्चा में जीवन-रहस्य को कहीं स्थान नहीं दिया। इसीलिए शिक्षा पर अनेक बालकों का जीवन और धन का व्यय होने पर भी समाज शिक्षा में अब तक दिलचस्पी नहीं ले रहा है और न स्वयं शिक्षा ही आनन्ददायक बन पाई है। फिर स्वयंभू शिक्षकों का समय देश में कैसे आ सकता था ?

जिस काल को हम आधुनिक समय कहते हैं उसमें तीन-चार ऐसी हलचलें हो गई हैं जिन्होंने हमारे सामाजिक जीवन को जड़ से हिला दिया। उन हलचलों की धारायें इतने वेग से चढ़-दौड़ीं कि लोगों के पैरों के नीचे किसी प्रकार का आधार नहीं रहा। इसका प्रभाव हमारे जीवन पर भी पड़ा, जिसे हम जीवन पर भली भांति देख सकते हैं। हमारे यहाँ धार्मिक सुधारक पैदा हुए। उन्होंने हमारे धार्मिक विचारों और धर्मजीवन का इतने जोरों से मंथन किया कि समाज को यह शंका हो गई कि हमारे पास हमारा अपना कुछ रहेगा भी या नहीं। पर इस मंथन के परिणाम-स्वरूप स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, घोष, गाँधी जैसे धर्म-सुधारक पैदा हुए और उन्होंने हिन्दूधर्म को नवीन चैतन्य प्रदान किया। इतना ही नहीं बल्कि समाज में अत्यन्त गूढ़ और सूक्ष्म विचारों को फैलाकर उन्हें झेलने की शक्ति उसमें जागृत की। निद्रित समाज जब खड़बड़ा कर जाग उठा तब उन्होंने उसे मार्ग पर लगाने का काम किया।

अब हमारे यहाँ समाज-सुधारकों की फसल आई। उन्होंने

भी जातिव्यवस्था, वैवाहिकरूढियां, स्त्रियों का समाज में स्थान आदि प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति का हल चलाया। इस जोत के फलस्वरूप जाति-परिषदें हुईं, पारस्परिक विरोध बढ़ा; पर अन्त में सामाजिक जीवन जागृत हुआ और ये लोग भी समाज-शास्त्र पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने लगे।

देश में राजनैतिक विचारों की क्रान्ति शुरू हुई और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। समाज-सुधार और राजनैतिक-सुधार के बीच द्वंद्व छिड़ा। महासभा में दलबन्दी हुई। राजनैतिक पुरुष और "लेभग्गू' वक्ता देश के कोने कोने में जा पहुचे—अथवा यह कहना अधिक सार्थक होगा कि दौड़ आये। देश के प्रत्येक मनुष्य को उन्होंने राजनैतिक परस्थिति और राजनैतिक सिद्धान्तों पर विचार करने में लगा दिया। बड़ी बड़ी हलचलें खड़ी हुईं और संसार के राजनैतिक विचारों में हमने भी अपना हिस्सा अर्पित किया।

इन तीनों धाराओं में वीरता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। धर्म-सुधारक धर्म के नाम पर मर मिटे हैं। समाज-सुधारक अपने ही देशबन्धुओं के तिरस्कार और जुल्म के शिकार हो गये और आज मृत्यु से भी अधिक विषम स्थिति में दिन काट रहे हैं। राजनैतिक सुधारकों के आत्म-बलिदान का तो कहना ही क्या? उनका जीवन तो सरकार के गुप्तचरों की शनिदृष्टि, कारावास, स्वदेश-निकाला, फांसी और सामाजिक बहिष्कार का मानों एक दीर्घ महोत्सव ही है। इन तीनों वीरों के दिल में किसी समय यह विचार नहीं आया कि हमारा विषय लोगों को प्रिय होगा या

नहीं ? लोग हमारी बातों को सुनेंगे भी या नहीं ? इस चिंता ने भी इन्हें नहीं सताया कि हमारी हलचल के लिए चन्दा भी मिलेगा या नहीं ?

'लाइफ पॉलिसी' पर विधवा की तरह जीवन व्यतीत करने की इच्छा से स्थायी फंड की व्यवस्था करने के झंझट में भी वे नहीं पड़े। उन्हें तो अपना उत्साह ही लिये जा रहा था। अपने काम के महत्व और स्थायित्व पर उनका पूरा विश्वास था। यह हो ही कैसे सकता है कि लोग हमारी बात नहीं सुनेंगे ? क्या लोगों को जीना ही नहीं है ? वे सो रहे होंगे तो उन्हें जगावेंगे, उठने से इनकार करेंगे तो उनकी चोटी खींचेंगे, नींद गहरी होगी तो अलपीन चुभाकर उठावेंगे। पर जबतक लोग हमारी बात नहीं सुन लेंगे तबतक न हम विश्रान्ति लेंगे न दूसरे को लेने देंगे। यह उनकी मान्यता थी और तदनुसार वे अपना जीवन व्यतीत करते आये हैं। उनकी तुलना में शिक्षा-क्षेत्र में हमने क्या किया है ?—स्वतंत्र रूप से क्या किया है ? प्रार्थना समाज और आर्य-समाज ने शिक्षा को कुछ संचालन दिया। समाज सुधारक शिक्षा को अपना सहायक समझ कर उसकी सहायता करते हैं और राजनैतिक पुरुष अपने आन्दोलन को गम्भीर स्वरूप देने तथा नौजवानों में से नवीन भरती करने के लिए उसे राष्ट्रीय स्वरूप दे कर अपनी सेना में शामिल कर लेते हैं। पर स्वयं शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा के लिए स्वतंत्र रूप से कितना प्रयत्न किया है ? यह तो हम कदापि नहीं कह सकते कि हमारे यहाँ समर्थ शिक्षा-शास्त्री हुए ही नहीं। बात यह है कि समस्त जीवन का विचार करने वाले लोगों ने शिक्षा को अपना प्रधान क्षेत्र ही नहीं समझा अथवा

शिक्षा-शास्त्रियों ने जीवन की दृष्टि से उस पर विचार ही नहीं किया। निःसन्देह शिक्षा-क्षेत्र में नवीन उत्साह, नवीन बलवा अथवा पूरी पूरी नवीन क्रान्ति अभी तक हुई ही नहीं। अभी तक जनता के सामने शिक्षा का सन्देश, शिक्षा की स्मृति और शिक्षा का काव्य पेश ही नहीं हुआ है। हां, सरकारी शिक्षा-पद्धति तथा बेचारे देहाती पाठकों की शिक्षा-शैली पर टीका करने वाले जरूर क़ाफी पैदा हो गये। पर उनकी टीका इतनी ऊपरी और अज्ञान मूलक होती है, कि सिवा मामूली जन-मनरंजन के उसका कुछ उपयोग ही नहीं है। फिर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि लोग शिशा की शक्ति और प्रभाव के विषय में अधिकांशतः अनजान हों। सब से भारी दुःख की बात तो यह है कि शिक्षा का जहाँ तहाँ प्रचार करने वाले शिक्षक तक यह नहीं जानते।

हमें जनता को यह दिखा देना चाहिए कि जहाँ धार्मिक सुधार निष्फल सिद्ध होते हैं, स्मृतियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, औद्योगिक आंदोलन थोथे साबित होते हैं; सामाजिक सुधार निष्प्राण प्रतीत होते हैं, और राजनैतिक आन्दोलन थक जाता है तहाँ अन्त में शिक्षा ही सब की मैया सांझ है।

अप बल तप बल और बाहुबल, चौथा बल है दाम।
सूर किशोर कृपा से, सब बल, हारे हर को नाम॥

इस गीत के अनुसार हमें लोगों के दिल पर इस बात को अंकित कर देना चाहिए कि जहाँ आपके सभी उपाय हार जाते हैं तहाँ सच्ची शिक्षा-राष्ट्रीय शिक्षा ही समाज के लिए संजीवनी रूप सिद्ध होती है।

जब समाज-सुधारक जीवन की गम्भीरता को ही न समझें

समाज की मनोरचना को ही नहीं जानें और जन-समाज अपनी जड़ता के कारण किसी बात पर विचार करने से भी इन्कार करे तब समाज में नवचेतन कैसे उत्पन्न हो सकता है? राजनैतिक आन्दोलन में जब तक स्वार्थ-त्याग नहीं होगा, एकता के लिए जिस प्रेम-भाव की आवश्यकता है वह नहीं विकसित होगा, और जन साधारण कष्ट झेलने के लिए तैयार न होगा तब तक स्वराज्य असंभव है। धार्मिक-सुधार भी तब तक नवीन झगड़े का साधन ही बना रहता है, जब तक प्रजा आत्मा पर श्रद्धा न रखती हो और न हो उसमें पारमार्थिक जीवन की अभिलाषा। इस तरह जब चारों ओर से कठिनाइयां दिखाई देती हैं और यह सवाल खड़ा होता है कि अब क्या किया जाय, तब यही एक मात्र उत्तर मिलता है कि प्रजा को प्राणदायिनी शिक्षा दीजिए। शिक्षा से ही राष्ट्र सञ्जीवित होगा, शिक्षा ही से जनता में नवीन उत्साह आवेगा, शिक्षा से ही जनता जरा की केंचुली उतार कर फेंकेगी और उसमें जवानी का नया जोश आवेगा।

पर यह शिक्षा देने वालों को सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक और राष्ट्रीय हलचलों का रहस्य, इतिहास, उनकी खामियां आदि सब का ज्ञान होना जरूरी है। यह होने पर ही वे पर्वत शिखर-पर खड़े रह कर समाज को जागृत करने के लिए रण-भेरी बजा सकते हैं; तभी वे लोगों के हिताहित के सवाल खड़े करके उनको सचेत कर सकते हैं और उनका ध्यान तथा सहानुभूति अपनी तरफ आकर्षित कर सकते हैं। 'आराम ही आराम हमेशा के लिए हराम है' यह मैज़िनी का वाक्य शिक्षाकार के मुंह से ही समाज को श्रवण करना चाहिए। शिक्षा-शास्त्री ही समाज को सावधान कर

सकता है। वही आत्मोन्नति का सुमुहूर्त जनता को बता सकता है। आज शिक्षा-शास्त्रियों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे उस काम को जान लें कि जो उनके लिए ईश्वर ने निर्माण कर रक्खा है। उसे जान लेने पर अपने को उसके लायक बनाना उनका द्वितीय कर्त्तव्य है। वह योग्यता प्राप्त करने पर उस महाकार्य्य के लिए स्वात्मार्पण कर देना उनका तीसरा कर्त्तव्य है।

वृत्त-विवेचन
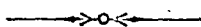
(१)

यथार्थतः देखा जाय तो सम्पादक शिक्षा-शास्त्री और धर्मोपदेशक इन तीनों का कार्य लगभग एक ही होता है। निद्रित प्रजा जब जागना चाहती है तब तो सम्पादक का कार्य असाधारणतया महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्व पूर्ण हो जाता है। संपादक लोक-शिक्षण का आचार्य, ब्राह्मणों का ब्राह्मण, और चारणों का चारण है। जनता जब युयुत्सु बन जाती है तब सम्पादक को योद्धा और सेना-नायक भी बनना पड़ता है, और क्षात्र-धर्म का खूब विकास करना पड़ता है। जहाँ कहीं अन्याय हो रहा हो, दीन, दुर्बल और मूक वर्गों पर जुल्म हो रहा हो, तहाँ तहाँ वह अपने 'क्षतात्किल त्रायते' इस प्रतिज्ञा वाक्य को स्मरण कर दौड़ पड़ता है। जब कहीं ऐसा प्रसङ्ग नहीं होता तब वह किसी एक जगह सुविचार, ज्ञान, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शों की प्याऊ लगाकर समाज सेवा करता रहता है। अज्ञान अथवा अदूर-दृष्टि के कारण जहाँ लोग झगड़ते हों, वहाँ वह अपनी 'ज्ञानांजन शलाकया' उनकी दृष्टि को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। समाज-चक्र के पहिये जब एक राग को भूल कर चीत्कार करते हैं तब वह उचित स्थान पर स्नेह डालकर उस घर्षण-ध्वनि को शांत कर देता है। और जब कभी सरकार वगैरह

से काम पड़ता हैं तब वह जनता का प्रतिनिधि बनकर लोकमत को स्थिर और दृढ़ बनाकर लोक-शक्ति को सचेत कर देता है। इस तरह लोक-सेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोक-नायक और लोक-गुरु की चतुर्विध उपाधि अथवा पदवी का भाजन सम्पादक हो सकता है।

आज कल के वैश्य युग में पत्र सम्पादकों का एक बिलकुल जुदा ही आदर्श निर्माण होता जा रहा है और वह शिष्ट-सम्मत भी होता जा रहा है। "हमारे सामने धर्म की बात न कीजिए, हम तो केवल व्यवहार को जानते हैं; आदर्शों के तार-स्वर में लोगों को गाने के लिए न कहियेगा,मध्यम अथवा मन्द स्वर में जो गीत गाने योग्य हों वही गाने के लिए कहिए। हमसे साधुता अथवा वीरता की अपेक्षा न कीजिए। हानि—लाभ का हिसाब लगाने वाले कुटुम्बी को जो बातें पसन्द हों, अथवा फायदेमन्द हों वही कहिए। वास्तव में संसार तो हमारा है। वीर और साधु तो समाज के लिए केवल शोभारूप हैं। वे तो पगड़ी के सिरों के ज़र के समान हैं, पगड़ी नहीं।" इस आदर्श को स्वीकार करने वाले लोग कहते हैं कि सम्पादक को व्यर्थ ही अपने आदर्श को ऊँचा नहीं बना लेना चाहिए। उसका आदर्श तो यही होना चाहिए कि लोग जिस बात को मांगें वही उनको वह दे। हम जनता के विद्यागुरु नहीं जो उसे मार-पीट कर पढ़ावें। हम तो उसके खिदमतगार हैं।

दुकानदार का आदर्श तो यही है कि ग्राहक जिस चीज़ को मांगे वह दे कर उसे संतुष्ट कर दे। राजा जिस राग को पसंद करे वही गा कर राजा को प्रसन्न कर देना गायक का आदर्श है। लोग हमारे शिष्य नहीं, सेठ हैं। वह गुमाश्ता कैसा जो अपने

सेठ को ही पढ़ाना चाहे ? वह दुकानदार भी कैसा जो ग्राहकों को समय या धर्मशास्त्र का उपदेश देने लग जाय ?

जब यहाँ तक नौबत आती है तब इस दुकानदारी का ही ज्ञान आगे बढ़ता है। दुकानदार हमेशा इस बात का विचार नहीं करता कि ग्राहक को कैसा माल चाहिए। वह तो इस बात का विचार करता है कि अपने पास जो माल पड़ा हुआ है उसे किस तरह ऐसा बना लिया जाय जिससे ग्राहक उसे झट ख़रीद ले। ग्राहक को सेठ मानने के बजाय उसे वह अपना शिकार समझता है और संसार को नीचे की ओर ले जाता है। उत्तर-भारत में आजकल क्या चल रहा है ? कितने ही पत्रकार झगड़ों के दलाल बन गये हैं। उन्होंने झूठे गपोड़ों के कारखाने खोल रक्खे हैं। राष्ट्रीय आपत्ति और क़ौमी झगड़ों पर वे अपना व्यापार बढ़ाना चाहते हैं! लोकवार्ताओं में एक मुख्य बकवादी पात्र होता है। उसी प्रकार ये पत्र-सम्पादक समाज के महा पिशुन बने फिरते हैं। शेक्सपियर के इयागो ने अथेल्लो और डेस्डेमोना की जो दशा कर डाली वही दशा वे इस सीधे सादे राष्ट्र की करने पर उतारु हो गये हैं। फर्क सिर्फ यही है कि इयागो अपने पेशे का स्वरूप और परिणामों को ठीक ठीक जानता था और जान बूझ कर नीचता कर रहा था। सो दशा सब की नहीं है। ये अभागे भाई तो स्वयं भी विकारमत्त हो कर यादवस्थली के यादवों का अनुकरण कर रहे हैं।

संपादक की वृत्ति इतनी उच्छृंखल तो कदापि न होनी चाहिए कि जो कुछ भी खबर आई, उसे प्रकाशित कर दिया। खानदानी पुरुष के पेट में कई बातें भरी रहती हैं। पर कितनी ही बातों को वह जबान तक भी नहीं लाता। संपादक को कार्यानन्द ढूँढना

चाहिए वादानन्द नहीं। नहीं तो इनका लेखनीयुद्ध एकबार शुरू होते ही सारे संसार का संहार ही करके शांत होगा। इङ्गलैंड में जब हलचलों अथवा चर्चाओं का अकाल होता है तब एक दूसरे पर अभद्र टीकायें कर के ही वे अपना परस्पर जीवन-यापन करते हैं। भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वाश्वानवद् गुर गुरायते।

सौभाग्यवश गुजरात के समाचार-पत्र शायद ही कभी सज्जनता की मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। गुजरात के पत्रकार सौम्य हैं, झगड़ालु नहीं। यह कहा जा सकता है कि वे झगड़ों से दूर ही रहना चाहते हैं। इसीलिए समाज एक प्रकार की बुराई से मुक्त है। पर यह कहना कठिन है कि यह वाद-विमुखता गुण-रूप ही है। जब सामाजिक उत्तरदायित्व पहचानने वाली प्रखर समालोचना का अभाव होता है तब राष्ट्रीय हलचलें और साहित्य के उद्यान में कांटों की झाड़ी वगैरह खूब बढ़ जाती है। प्रत्येक सुंदर आदर्श की निर्जीव नकलें होने लगती हैं। रविवर्मा के चित्र जिस तरह दीयासलाई की डिब्बी पर चित्रित किये जा रहे हैं उसी प्रकार ख़राब से ख़राब नकलें फैल कर असली चीज़ का गला घोंट कर उसे मार डालती हैं। तू मुझे 'कालिदास' कह, मैं तुझे 'भवभूति' कहूँगा इस तरह 'अहो रूपम् अहो ध्वनिः' शुरू होता है, और समाज में आदर्श अपने स्थान को प्राप्त ही नहीं ही कर पाता। बस जहाँ देखिए तहाँ अल्पसंतोष। इसके कारण विचार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि और कार्य-शुद्धि तो दूर रही, रचना-शुद्धि तक की रक्षा नहीं होती। यों मतभेद के कारण उत्पन्न होने वाली विविधता न तो अधिक होती और न वाधक ही होती है। पर आज तो जहाँ तहाँ सब दूर अनवस्था ही है।

हमारे पत्र प्रायः समाचार पत्र ही होते हैं। जनता के लाभ का विचार कर समस्त सन्सार की खबरें छापना सम्पादक का सर्व प्रथम कर्तव्य है। पर इस विषय में—और यह अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है—हमें दूसरों की आँखों से देखना पड़ता है। जिस तरह अंक केवल सरकार से ही प्राप्त हो सकते हैं उसी प्रकार खबरें भी केवल 'रूटर', या 'ऐसोशियेटेड' प्रेस से ही प्राप्त हो सकती हैं। वे हमें वे ही खबरें भेजते हैं, जो उनकी दृष्टि में महत्व रखती हैं और शनैः शनैः वे अपनी यह दृष्टि भी हम पर लादते हैं कि किस वस्तु को कितना महत्व दिया जाय। शिक्षा और साहित्य की तरह ❀ वृत्त-विवेचन (Journalism) में भी हम दूसरे के अनुयायी बन गये। इस से हमारे अंदर जो दास-मनोवृत्ति—'परप्रत्ययनेय बुद्धि'—उत्पन्न हो गई है वह अब तक नहीं जाती। आज हमारे यहाँ अनेक पक्ष हो गये हैं और विचार-प्रगति भी रुक गई है इस में इस पर प्रत्ययनेय के अवलंबन का हाथ कम नहीं है। और

❀आश्चर्य का विषय है कि (Journalism) के लिए अभी हिंदी में कोई शब्द रूढ़ नहीं हुआ। इसके लिए ऐसे शब्द की आवश्यकता है जिसमें दैनिक से लेकर साप्ताहिक, मासिक और त्र्यमासिक तथा वार्षिक तक सभी पत्रों का और उनमें छपने वाले अनेक समाचारों से लेकर गंभीर चर्चा तक का समावेश हो जाय। हमारे साहित्य में लोक-वृत्त ही एक ऐसा पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है। इसमें प्रजा-जीवन के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। इसलिए (Journalism) को लोक-वृत्त-विवेचन अथवा संक्षेप में वृत्त-विवेचन कहा जा सकता है। जहाँ जहाँ (Journalism) प्रयोग होता है वहाँ वहाँ इस शब्द का अर्थ ठीक बैठता है।

सब से आश्चर्य की बात तो यह कि दास-मनोवृत्ति के खिलाफ पुकार सभी मचा रहे हैं। वृत्त-विवेचन का आधार है प्रामाणिक खबरें। उनका तन्त्र तो हमने खड़ा ही नहीं किया। अभी तो बुनियाद में ही परावलंबन है।

जब मैं अंगरेज़ी पढ़ रहा था तब मैं चार आने वाला 'टाइम्स ऑफ इन्डिया' पढ़ने का प्रयत्न करता था। उसमें भारत की सभी खबरें पढ़ने के बाद दिल में सवाल उठता 'क्या भारत में केवल अंगरेज़ ही रहते हैं?' सरकारी अधिकारी और गोरों के सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन की खबरें ही अधिकतया उस में आतीं। मार-काट या दुर्घटना की कोई खबर आती तब मालूम होता कि इस सफेद पट के नीचे काला समुद्र है। अंगरेज़ी समाचार-पत्र अपनी दृष्टि से जिन खबरों को महत्वपूर्ण समझते हैं उन्हीं को छापते हैं। इसमें कुछ भी आश्चर्य्य कारक अथवा अनुचित बात नहीं है। यदि हम अपने जीवन का विकाश करना चाहते हैं तो हमें भी ऐसी ही खबरें छापना चाहिए जो हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण हों। बंगाली लोग कुछ कुछ इस कला को जानने लगे हैं।

अपने वृत्त-विवेचन में हम अंगरेजी पढ़ी लिखी जनता का ही प्रायः विचार करते हैं। सरकार और उसके कार्य, विदेशों से व्यापार, अंगरेज़ी शिक्षा, अदालतें, साहित्य-शास्त्रियों का साहित्य, और पढ़े-लिखे लोगों के सुख-दुःख यही हमारे वृत्त-विवेचन के मुख्य विषय होते हैं। भारत की जनता, भारत के उद्यम और कारीगर, किसानों का जीवन तथा देहात् की दशा, धर्म-प्रचार, गरीबों का गृह-जीवन, पिछड़ी हुई जातियों की दयनीय जीवन-

यापन-चेष्टा आदि राष्ट्रीय जीवन के प्रधान प्रश्नों को आवश्यक प्राधान्य हम देते ही नहीं। स्थानीय समाचार पत्र का एक भी सुंदर नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे संवाददाता देहात् में कभी जाते ही नहीं। सच्ची स्थिति तो यह होनी चाहिए कि प्रत्येक समाचार-पत्र देहात् के रहने वालों में से कुछ जिम्मेदार सम्वाद दाता ढूँढ़ लें। उनको उस कक्षा में शांतिपूर्वक तैयार करें, और प्रत्येक समाचार-पत्र ग्रामीण जीवन की चर्चा में दिलचस्पी ले। हमारी सभाओं में जिस तरह शहरवासी उच्चासन पर बैठते हैं और बिचारे ग्रामीण प्रतिनिधि अपने स्वाभाविक विनयानुसार दूर किसी कोने में अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं उसी प्रकार हमारे समाचार-पत्रों में भी लोक-जीवन के लिए कहीं एकाध कोना रहा तो रहा नहीं तो हरीच्छा। ग्रामवासी जब आत्मनिंदा छोड़-कर अपने अन्दर स्वाभिमान और आत्मप्रत्यय का विकास करेंगे तभी यह स्थिति सुधरेगी। पर समाचार-पत्र इस काम को शुरु-आत करके उनकी सहायता तो जरूर कर सकते हैं। रेलवे कम्पनी वाले भले ही तीसरे दर्जे के मुसाफिरों की उपेक्षा करें पर समाचार-पत्र-सम्पादक उन देहातों की उपेक्षा नहीं कर सकते जहाँ उनके पत्र की फ़ी सैकड़ा ४० प्रतियां विकती हैं। प्रतिष्ठित और जिम्मे-दार पत्र इसमें लापरवाही करेंगे तो उनकी कुशल भी नहीं है। प्रजा में अस्मि-ता (आत्म-जागृति) आ रही है यह देखकर कितने ही त्वरित-दृष्टि सम्पादक अपढ़ वर्गों की खुशामद करके उनको मनमाने रास्ते पर ले जावेंगे और अपनी प्रतिष्ठा जमावेंगे तब सच्ची लोक-शक्ति के ये उत्तरदायित्व-शून्य नेता देश में कौन कौन उत्पात नहीं खड़ा करेंगे? फलतः प्रतिष्ठित नेताओं को भी अंत में ऐसे लोगों की बात को

मानना पड़ेगा और उनके साथ समझौता करना होगा । अज्ञान जनता यदि उत्तरदायित्वशून्य लोगों के पीछे हो जाय तो कहना होगा कि हमारे आन्दोलन को मार गिराने के लिए सरकार के हाथ एक रामबाण उपाय लग गया । अंग्रेज-सरकार को लोकमत से परिचित करने और इंग्लैंड की जनता में भारत की स्थिति के विषय में प्रचारान्दोलन करने में हमने जो एक जमाना गँवा दिया यदि उसे ही हम भारत की ग्राम-निवासी जनता को जागृत और शिक्षित करने में लगाते तो हम अब तक स्वराज्य में कभी के पहुंच जाते । सच्चे काम का आरम्भ कष्ट-दायक और धीमा भले ही हो, प्रारंभिक मंदता असह्य भले ही हो, पर यों औसतन देखा जाय, तो मालूम होगा कि सच्चे काम ही जल्दी फूलते-फलते हैं । अब भी यदि हमारी आखें खुल जायँ तो देरी नहीं हुई है । किसान, जुलाहे, मजदूर, स्त्रियां और कारकूनों की स्थिति का महत्व समझ कर, उनकी दुर्दशा दूर करने के लिए, उनको सुशिक्षित करने के ख्याल से, उनकी समस्याओं पर विचार करने का व्रत सम्पादकों को ले लेना चाहिए । समाज-सुधार और धर्म-संस्करण जैसे महत्व-पूर्ण विषयों पर भी हमने अब तक मध्यम-वर्ग को ख्याल में रख-कर ही विवेचन किया है ।

सम्पादक ज्यों ज्यों ग्रामीण जीवन के विषय में अपने पत्रों में अधिकाधिक चर्चा चलावेंगे, त्यों त्यों, प्रचारक, उपदेशक, नेता और विचारक लोग देहात में भ्रमण करना अपना धर्म समझने लगेंगे । पर इसके लिए सम्पादकों के लेख स्थानीयता के रंग से रंगे हुए होने चाहिए। स्थानीय अध्ययन और स्थानीय भाव उनमें पूरा-पूरा होना जरूरी है । सम्पादकीय सिंहासन पर बैठकर गोल-मोल

सर्व सामान्य सिद्धान्तों पर लेख लिखने से काम नहीं चलेगा।

यदि ठीक पूरी तैयारी के साथ इस काम को किया जाय तो इसमें कभी कोई घटी नहीं उठावेगा। कितने ही संपादकों ने लोगों को खुश करने वाले और बोधशून्य मनोरंजन करने वाले लेख लिख लिख कर जनता की अभिरुचि को बिगाड़ रक्खा है। अन्यथा अपने हिताहित की दिलचस्पी के साथ चर्चा और विचार करने वाले वृत्त-विवेचन को जनता अवश्य ही पूरी कीमत दे कर खरीदती। सम्पादक समाचारपत्र-सम्पादन को अपनी जेब गरम करने का पेशा तो कदापि न बनावें। इन्साफ के लिए, धर्म के लिए, लोक-कल्याण के लिए कभी कभी सम्पादकों को लोकमत के विरुद्ध भी जाना पड़ता है। परकीय अत्याचार का वर्णन और निषेध लोकप्रिय हो सकता है पर जब हम सामाजिक अन्याय और कुरीतियों का विरोध करते हैं, तब लोग चिढ़ जाते हैं खुशामद के आदी पाठक और लेखक ऐसा वीर कर्म करने ही क्यों चले? किसी महाअन्याय के विरुद्ध अभिमन्यु जैसा कोई वीर अकेले हाथों लड़ रहा हो तो पत्रकारों को उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ना चाहिए। कई बार एक प्रतिष्ठित वर्ग प्रतिष्ठा रहित किन्तु सुयोग्य पुरुष को दबाने का खूब प्रयत्न करता है। सम्पादक यदि निर्भीक हो वो प्रतिष्ठित वर्ग का बहिष्कार कर उसकी योग्यता की कदर करता है।

जो बात व्यक्ति के विषय में ठीक है वही संस्था के विषय में कही जा सकती है। अतः सम्पादक का यह भी कर्तव्य है कि वह देश की सच्ची सेवा करने वाली संस्थाओं के स्वरूप को पहचान कर उनका परिचय लोगों को करावे तथा उन पर कड़ी नजर रक्खे

जिससे वे काहिल न बन जायँ। वृत्त-विवेचन के सभी कर्तव्य इसी एक बात में समाविष्ट हो जाते हैं कि देश में जहाँ जहाँ कहीं सार्वजनिक प्रत्यक्ष कार्य हो रहा हो उसकी सहायता करें। वृत्त-विवेचन यदि अपने कर्तव्य ठीक ठीक अदा करता चला जाय तो उसकी शक्ति इतनी बढ़ सकती है कि जिस प्रकार सरकार और विद्यापीठ योग्यता की उपाधियां वितरण करते हैं वैसे ही वह भी करने लग जाय। और फिर इस लोकमान्यता के सामने राजधन्यता एक तुच्छ वस्तु हो जाय।

किसी भी विशाल और नवीन प्रश्न को हाथों में लेना हो तो पहले मासिक पत्र उसका विवेचन करें, उसके बाद साप्ताहिक पत्र। ठीक क्रम तो यही है। ऐसा करने से विषय ग़लत रास्ते पर नहीं जाता और काम भी नहीं बिगड़ता। दैनिक पत्र तो प्रचलित हलचल पर ही लिखें। यह मर्यादा आवश्यक है। हमारे यहां दैनिक पत्रों का सम्पादक-मंडल विशाल नहीं होता। कई बार राजा, मंत्री और सेना-नायक सभी एक ही होता है। फिर नित्य नवीन लेख तो पैदा करना ही चाहिए। इस दशा में समाज को यदि अपक्क विचार परोसे जायँ तो हलचल को हानि पहुँचना अवश्यम्भावी है। हमारे यहां के विद्या-व्यासंगी लोगों ने पत्रों को नियमित रूप से सहायता करने की प्रथा अभी शुरू ही नहीं की। प्रत्येक पत्र के लिए भिन्न भिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञता रखने वाले विद्वानों का एक विशाल मंडल हो, जो निरपेक्ष भाव से हमेशा उसकी सेवा करता रहे। तभी हमारा वृत्त-विवेचन समृद्ध हो सकता है। भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु एराड्रूयूज़ जैसे व्यक्ति अनेक पत्रों की सहायता करते थे और अब भी कर रहे हैं। उसी प्रकार हमारे पास ऐसे

कई विद्वान् हैं, जिनके नामों का उल्लेख किया जा सकता है। कितने ही अपने लेखों के द्वारा सहायता तो करते ही हैं। पर इतनी दिलचस्पी लेने वाले लोग तो बहुत थोड़े हैं, जो सूचनायें भी करते रहें।

इस आक्षेप के विपक्ष में यह एक दलील पेश की जा सकती है कि सम्पादकों में इतना विनय कहाँ है जो वे बुजुर्गों के वचनों का सम्मान करें जो हम उन्हें अपनी सलाह दें ? सच देखा जाय तो सलाहकार आग्रही सास बनना चाहें तो इससे भो काम नहीं चल सकता। इधर सम्पादकों का पंडितमन्य होना भी अक्षम्य है। हमारे सामाजिक जीवन की तरह सार्वजनिक जीवन भी बिगड़ गया है। संघ-शक्ति से काम करने के नियम अभी तक हमारे गले नहीं उतरे। नीति के बंधन शिथिल करने, अभिरुचि के आदर्श को नीचे घसीटने, और हर प्रकार के स्वच्छंद को रूढ़ करने में अभी तक समाचारपत्रों ने किसी बात को नहीं उठा रक्खा है। जहाँ देखिए तहाँ नये पत्र शुरू होते हैं। थोड़ी देर जीवन-संघर्ष में झगड़ते हैं और ग्रॅज्यूएट के विद्या-व्यासंग की भांति थोड़े ही दिनों में अस्त हो जाते हैं! स्वतंत्र मौलिक कल्पनाओं का तो अकाल हुई है। पर फिर भी प्रतिभा का दावा करने वाला आडम्बर युक्त साहित्य इतना बढ़ गया है कि "साहित्य संरक्षक मंडल" स्थापन करने का समय आ पहुँचा है।

(३)

सम्पादक दो प्रकार के होते हैं। कितने ही अपने पत्र द्वारा साहित्य की जितनी सेवा होती है उसीमें संतोष मान लेते हैं। मोतीलाल घोष, रामानंद चट्टोपाध्याय और नटराजन इस वर्ग के

नमूने हैं। अन्य प्रत्यक्ष देशकार्य करते समय अपने विचार प्रगट करने के लिए पत्र चलाते हैं। गांधीजी, देश-बन्धु, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक ये इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं। पहले वर्ग के सम्पादक विविधता के उपासक होते हैं। प्रत्येक का कोई खास विषय तो होता ही है पर उसके अतिरिक्त भी वे सर्वांगी विचार-प्रचार के हिमायती होते हैं। दूसरे वर्ग के सम्पादक स्वयं कार्य-परायण होने के कारण एकाग्रता लाने की शक्ति भर कोशिश करते हैं। दोनों का उपयोग है। पर इन दोनों आदर्शों को मिला देना उचित नहीं है। यदि पहले वर्ग के सम्पादक चाहें तो अपने पत्र को संस्कृति का केन्द्र बनाकर एक संप्रदाय अथवा बन्धु-समाज तैयार कर सकते हैं। प्राचीन समय में मंदिरों का जो स्थान था वही स्थान आधुनिक पत्र प्राप्त कर सकते हैं। दूसरे प्रकार के संपादक निश्चल देश-सेवकों की एक विशेष सेना तैयार कर सकते हैं।

सम्पादकों का एक तीसरा वर्ग भी है। उसका काम है तनख्वाह ले कर हर किसी मत का प्रचार करना। अमेरिकन निग्रो लोगों की एक पाठशाला में लड़कों के पालकों ने शिक्षक से पूछा "पृथ्वी गोलाकार है ऐसा आप बच्चों को पढ़ाते हैं या चौरस?" उसने उत्तर दिया इस बात में मेरा कोई आग्रह नहीं है। आपकी टाउन कौन्सिल बहुमत से जो निश्चित कर देगी वही मैं पढ़ाने के लिए मैं तैयार हूं। ऐसे लोगों के हाथ से क्या समाज-सेवा होती होगी सो विधाता ही जाने।

पत्रकारों के अतिरिक्त एक और भी नये वर्ग की समाज में आवश्यकता है। अपने अपने क्षेत्र में जो जो प्रवृत्ति चल रही हो,

साहित्य प्रकट हो रहा हो, नवीन आविष्कार हुए हों, निर्णय हुए हों, वाद उत्पन्न हुए हों, नवीन नवीन नमूने बनाये गये हों, उन सब का वार्षिक संग्रह करने का काम भी किसी को शुरू कर देना चाहिए। सामाजिक जीवन में ऐसे कितने ही उपांग हैं, जिनके लिए साप्ताहिक तो ठीक पर मासिक भी नहीं चलाये जा सकते। तथापि यदि यहाँ वहाँ किसी पत्र में उस विषय पर कुछ खबरें या सामग्री छपे और वह जहाँ तहाँ बिखरी हुई यों ही व्यर्थ पड़ी रहे सो ठीक नहीं। इन बातों का वार्षिक वृत्त-प्रकाशित करने वाला यदि कोई हो तो लेखक-वर्ग उसीके पास अपनी सामग्री भेज दिया करें।

हमारे यहाँ एक ऐसे मासिक की भी जरूरत है जो सभी नये पुराने ग्रन्थों का संक्षेप में परिचय कराता रहे। यह मासिक विद्यार्थी और सामान्य जनता के लिए बड़ा ही उपयोगी साबित होगा। साहित्य का इतिहास लिखने में तो इसका अमूल्य उपयोग हो सकता है। मेजिनी की साहित्य सेवा का आरंभ ऐसे ही प्रयत्न से हुआ था। ऐसे मासिकों में केवल एक ही भाषा के साहित्य का ही परिचय न हो। हाँ, किसी एक भाषा के साहित्य को प्रधानता दे कर भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं के साहित्य को भी यथावकाश स्थान अवश्य ही दिया जाय।

सामान्यतः पाठक यदि समाचार-पत्र और मासिकों को छोड़कर और कोई चीज़ पढ़ते हैं तो केवल उपन्यास। जब तक उनकी यह स्थिति रहेगी तब तक कम से कम लोक-शिक्षा की दृष्टि से सारे संसार की जानकारी उसके पूर्वापर संबंध के साथ पाठकों को देने की व्यवस्था भी कर देना अत्यावश्यक

है। संसार कहाँ कहाँ तक फैला हुआ है, कहाँ क्या हो रहा है, प्रत्येक देश की दशा और दुःख क्या है, और कहाँ तक संसार की प्रगति हुई है, इसकी जानकारी हमारे पाठकों को रहना परमावश्यक है। इसमें भी हम अधिकांश में तो परावलंबी ही रहेंगे। पर यह अपरिहार्य है। इसलिए हमारी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का प्रभाव और महत्त्व निश्चित करके लोक-शिक्षा का काम तो हम को शुरू कर ही देना चाहिए।

तीस करोड़ गुलामों के देश में हमारा वृत्त-विवेचन अधिकांश में अंग्रेज़ी ही में चल रहा है। समर्थ लेखक अंग्रेज़ी की तरफ ही दौड़ते हैं। यह कितनी लज्जा की बात है कि जिसके लिए यह सब प्रयास हो रहा है उसे इस तमाम प्रयास के फल से वंचित रहना पड़ता है। किसी का ध्यान इस बात की तरफ़ आकर्षित नहीं होता। यदि बलात् आकर्षित किया भी जाता है तो जँचती नहीं। इससे भी कहीं अधिक लज्जास्पद दशा हो सकती है ?

देशी भाषाओं में जितने समाचार-पत्र प्रकाशित हो रहे हैं उनमें ऐसे बहुत कम हैं जो पूरी तैयारी के साथ प्रकाशित हो रहे हैं। सम्पादकों के लिए जिन बातों को जानना जरूरी है ऐसी बातों से भरी हुई एक भी किताब हमारी भाषाओं में नहीं दिखाई देती। 'इण्डियन इयर बुक', 'ऐन्यूअल रजिस्टर', 'हू इज़ हू', 'पियर्स सायक्लोपीडिया', 'कमर्शियल ऐटलास' 'हेंडबुक ऑफ कमर्शियल इन्फरमेशन', जैसी सर्वोपयोगी सादी किताबें तक हमारी देशी भाषाओं में तैयार नहीं हुईं। इसलिए तथा अध्ययन के अभाव के कारण देशी भाषाओं के पत्र अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों के निरे स्याहीचट बन गये हैं।

जहां इतनी भी प्राथमिक तैयारी नहीं है, वहाँ फलां विषय पर या फलां बिना पर अधिकारयुक्त जानकारी प्राप्त करने के लिए सम्वाददाता भेजने तथा समाचार-पत्रों की ओर से जांच-समितियां नियुक्त करने की बात भी कैसे की जा सकती है ?

वृत्त-विवेचन पर जीने वाला तथा उसका पोषण करने की डींग हाँकने वाला एक महारोग है—विज्ञापनबाजी। सार्वजनिक नीति को कलुषित करने वाली तथा कौटुम्बिक अर्थ-शास्त्र पर भीषण चोट पहुँचाने वाली यह बुराई इतनी फैल गई है कि गांधीजी के 'नवजीवन' द्वारा उसका इतना सख्त और सक्रिय विरोध होने पर भी अन्य पत्रों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं दृष्टि-गोचर होता। समाचार-पत्रों में हीन विज्ञापनों को देखकर दिल में विचार होता है कि परमात्मा की सेवा के लिए एक उत्तम देवालय बांध कर उसका खर्च चलाने के लिए यदि उसके आहते के कमरे शराब और वैश्याओं की दूकानों के लिए किराये पर उठा दिये जांय तो ठीक होगा ?

(४)

सम्पादन कला अथवा वृत्त-विवेचन हमारे यहाँ यूरोप से आया है। जबतक बालक स्वयं चरित्र-गठन और आदर्शों का निर्माण नहीं कर पाते तब तक जिस तरह वे अपने माता-पिता का ही अनुकरण करते हैं, ठीक उसी तरह हमने भी अब तक यूरोप के 'जर्नीलिज्म' का अनुकरण किया है। अमेरिकन ढंग अख्तियार करने के भी प्रयत्न हो रहे हैं। क्या अभी अनुकरण का जमाना समाप्त नहीं हुआ ? क्या अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करने योग्य हमारे राष्ट्र के पास कुछ हई नहीं ? यदि हमारे पास सांस्का-

रिक व्यक्तित्व हो, यदि हम में अस्मिता जागृत हो गई हो, तो उसे पहचानने, विकास करने और प्रकट करने का समय क्या अब तक नहीं आया ? हमारा प्रश्न केवल राजनैतिक नहीं है। यदि केवल राजनैतिक होता तो कभी का उसे हमने हल कर लिया होता। जिस प्रकार संसार के सभी धर्म इस देश में इकट्ठे हुए हैं उसी प्रकार संसार के सभी जटिल प्रश्न भी यहाँ एकत्र होना चाहते हैं—हो गये हैं। जो कुछ रह गये होंगे वे भी आ मिलेंगे। जब चारों तरफ से पानी का प्रवाह दौड़ता आता है तब लोग अपने को बचाने के लिए किसी ऊँचे टीले की ओर दौड़ते हैं। उसी प्रकार संसार के सभी सवाल—धर्म धर्म के बीच के, जाति जाति के बीच के, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षाविषयक—सभी इस देश में इकट्ठे हो गये हैं, और उनकी चर्चा करने की जिम्मेदारी संपादकों के सिर पर सवार हो गई है। सम्पादक अवश्य ही कोई भारी विचारक होता हो सो नहीं। तथापि उसका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक प्रश्न के स्वरूप और गंभीरता को वह ठीक ठीक समझ ले, श्रेष्ठ श्रेष्ठ विचारकों ने उस पर जो उपाय बताये हों उनका सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करे। उसके बाद यथाशक्ति यथामति उस प्रश्न को देश के सामने पेश करे। हमारे जीवन, इतिहास, धर्म और समाज रचनायें इसी दिशा में जो कुछ उपयोगी हो उसे जाँचकर उसे भी संसार के सामने विचारार्थ पेश कर दे।

ऊपर चढ सकता हो चढ़ जाय। शैतान ने आक्रमण शुरू कर दिया है। उसे पराजित करने के लिए देव सेना को सज्ज हो जाना चाहिए। इस अवस्था में संपादक अपना स्थान कहाँ ग्रहण करेंगे यही विकट सवाल आज उनके सामने है।

विचार-कलिका

कला शौक और मौज की चीज नहीं है। वह मनुष्य के स्वभाव का परिचय देती है। मनुष्य को अपने कार्य में और जीवन में कितना और कैसा आनन्द मिलता है इसका निर्णय उसकी कलाओं पर से होता है।

... ...

कला के मानी हैं प्रेम से, आनन्द से, और प्रसन्नता से किया हुआ काम। विना प्रसन्नता के कला उत्पन्न ही नहीं हो सकती।

... ...

मन्दिर, मसजिद और तालाब आदि पर से सम्पूर्ण समाज की संस्कृति का हमें पता चल जाता है।

... ...

किसी भी समाज की गृह-रचना देख कर उसकी मनोरचना को जान लेना बिलकुल आसान है।

... ...

मनुष्य भाषा द्वारा अपना हृदय छिपा सकता है, परन्तु कला में प्रतारणा (चालाकी) के लिए स्थान ही नहीं है।

... ...

वाणी, तो विचार और भाव का परोक्ष वाहन है पर सङ्गीत और कला तो इनके प्रत्यक्ष सार्वभौम वाहन हैं।

... ...

वर्ण, विचार की भाषा। कला, हृदय की भाषा। आचार, धार्मिकता की भाषा।

... ...

यही समझ लेना बड़ी भारी कला है कि मनुष्य को किस तरह जीना चाहिए।

... ...

मोक्ष प्राप्त कर लेना यह उच्चतम कला है। उच्च कला द्वारा कलातीत होना हमारा ध्येय है।

... ...

एक लेखक ने कहा है, 'मुझे कविता करने की इजाजत दे दीजिए, फिर आप भले ही कानून बनाइए।' इसी तरह यों भी कहा जा सकता है कि, 'लोगों की कला-विषयक अभिरुचि मेरे हाथों में सौंप दीजिए, फिर आप भले ही समाज को नीति के पाठ पढ़ाते रहिए।'

... ...

जिस तरह पैर में काँटा, धोती में चिडचिटा और दाँत में किनका सहे नहीं जाते, उसी तरह भाषा में ग्राम्यता, (भद्दापन) हृदय में शङ्का और जीवन में कला-विहीनता अथवा नीरसता कदापि सहन न होनी चाहिए।

... ...

यदि हम इस बात को मानते हैं कि अनुचित रीति से वर्ताव करने में शिष्ट जनों की अप्रतिष्ठा होती है, तो हमें यह भी मानना चाहिए कि ऐसी वस्तुओं के रखने से भी कुटुम्ब और मिहमानों की अप्रतिष्ठा होती है जो घर में न शोभती हों।

... ...

जिस तरह मनुष्य की पहिचान उसके वर्ताव से होती है उसी तरह बरतन-भांडे, कुर्सियां और चौकी आदि पर से भी होती है।

... ...

दीवान-खाने में कला-कौशल्य की चीजें और घर में एल्युमिनियम के मैले बरतन; सभा में जाते समय सुन्दर पोशाक और घर में तेली का वेष; बोलने में साधु की भाषा और हृदय में हलाहल विष; ये सभी अतृप्त जीवन के लक्षण हैं।

... ...

क्या जर्मनी के रङ्ग और इस्तरी के कपड़े काम में लेने वाले समाज में कभी कोई कवि 'क्षौमं केनचिदिन्दुपांडु तरुणा ...' जैसा श्लोक लिख सकता है ?

... ...

किसी वस्तु को इसलिए मत काम में लाओ कि वह सुन्दर है। वरन काम में लेने की वस्तु सुन्दर देख कर लो अथवा उसे सुन्दर बना लो।

... ...

जीवन में निर्धनता से दुःख या हानि नहीं, परन्तु नीरसता का सहन होना यही महा हानि है।

... ...

कुरुचि के सम्मुख हुल्लड़ मचाने से केवल हमारी कुरुचि प्रकट होती है। स्वारस्य तो इसीमें है कि हम स्वयं सुरुचि का पाठ पढ़ाना शुरू कर दें। संसार में कुरुचि इसीलिए रह सकती है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य थोड़ा बहुत डरता है।

... ...

सहिष्णुता और कायरता इन दोनों में उतना ही अंतर है जितना समाधि और मृत्यु के बीच है। दोनों में समानता केवल बाहर ही से दीखती है।

... ...

बहुतेरे कवि फूल में भी मानवी भावना देख सकते हैं तो कितने ही कवि मनुष्य में फूल का सौन्दर्य देखते हैं।

... ...

कला की उपासना में अहङ्कार का लय करना कला का एक महान् आनन्द है—*विगलितवेद्यान्तरं परमानन्दम्।

... ...

परिचित वस्तु को देख कर होने वाला आनन्द तो सच्चा आनन्द है। अपरिचितपन—विचित्रता का आनन्द प्रौढ़ नहीं होता, चिरस्थायी नहीं होता।

... ...

जैसे कविता के लिए छन्द (वृत्त) है वैसे ही कला के लिए शिष्ट-सङ्केत।

... ...

क्या जीवन में और क्या कला में, अनुकरण मृत्यु के समान ही है ?

... ...

बिना उपासना के किसी कला को अवगत या हस्तगत करने की आशा करना व्यर्थ है।

... ...

कला कहीं अनायास प्राप्त होने वाली चीज़ नहीं है। उसके लिए तपस्या करनी चाहिए, और पवित्रता के साथ उसकी उपासना करनी चाहिए।

---

* जिसमें और कुछ भी जानना बाकी न रह जाय, यही महान् आनन्द है।

श्रद्धा और शुश्रूषा बिना कला का रहस्य समझना और अनुभव करना अशक्य है।

... ...

सौन्दर्योपासना और विलास में स्वर्ग और नरक जितना अन्तर है।

... ...

जिस तरह मोक्ष के मार्ग में सिद्धि विघ्न-रूप है, उसी तरह कला की प्राप्ति में विलासिता है।

... ...

मरोड़दार अक्षर बनाने की कला नष्टप्राय हो गई है। दुख है कि इस यान्त्रिक युग में समाज की एक एक कला का नाश होता जा रहा है।

... ...

कविता और चित्र में भी केवल भाव से काम नहीं चल सकता, बोध भी होना ही चाहिए।

... ...

नीति-शिक्षण और कला का शिक्षण आरम्भ में बचपन से देना इष्ट और हितकारी है। और वह कृति द्वारा परिपूर्ण होना चाहिए। उनके तत्व पीछे से धीरे-धीरे आप ही आप प्रकट होते हैं अथवा प्रकट किये जा सकते हैं।

... ...

जिस तरह पिता कन्या का कन्यादान करने तक प्रेम पूर्वक पालन-पोषण करता है और उसे दे देने के बाद भी उसके भविष्य की चिन्ता रखता है, उसी तरह कलाधर को कलायुक्त वस्तु का निर्माण करके जब तक वह योग्य मनुष्य के हाथ में नहीं सौंपी जाती तब तक उसकी रक्षा तो करनी ही चाहिए, पर इसके बाद

भी उसे उस वस्तु की चिन्ता करनी चाहिए। कलाधर और उस की कृति का सम्बन्ध दूकानदार और ग्राहक का न होना चाहिए।

... ...

यदि कलाधर कलाद्वारा योग-क्षेम (अन्न-वस्त्र) की इच्छा करे तो कोई हर्ज़ नहीं, परन्तु कला को बेच कर धनवान् होने का प्रयत्न करना निन्दनीय है।

... ...

कलाधर को किसी का नौकर न बनना चाहिए।

... ...

जिनका जीवन परस्पर ओत-प्रोत है उन्हीं के साथ सहयोग धर्म-सङ्गत और इष्ट है। दूसरी तरह का सहकार प्राण-घातक है। कला के विषय में यह अक्षरशः सत्य है।

... ...

क्या समाज की उन्नति या अवनति इस पर निर्भर नहीं है कि श्रेय और प्रेय के झगड़े के बीच में हमारे समाज-नेता या कलाधर अपनी शक्ति को किस ओर लगाते हैं?

... ...

कलाधर और कारीगर इन दोनों का विभक्त न करो। यदि वैसा करोगे तो कलाधर की कला विकसित न हो पावेगी और कारीगर की कुशलता का लय हो जायगा।

... ...

चित्रकार, शिल्पकार, गायक अथवा कवि को पुरस्कार मात्र दे देने से कला की उन्नति नहीं होगी। समाज को चाहिए कि वह कला को अपने हृदय में, कुटुम्ब में, समाज में और मन्दिर में स्थान दे। अपने जीवन में, कला की प्रतिष्ठा कीजिए तो कलाधर आप ही उत्पन्न होने लगेंगे।

सच्चा कलाधर कला का सञ्चारक (मिशनरी) होता है। कञ्जूस बन कर योग्य मनुष्य से वह कुछ भी छिपाये नहीं रखता।

... ...

कलाकार मानता है कि दृश्य सृष्टि भासमान है। पर आदर्श-सृष्टि—ध्येय-सृष्टि सत्य है। तत्त्वज्ञान भी यही कहता आया है।

... ...

कल्पना-तरङ्ग दो प्रकार के हैं। प्राणवान् और हत-प्राण अथवा अल्पप्राण। कवि अथवा चित्रकार पवित्र हो तो प्राणवान् भावनायें उसके हृदय में प्रवेश करती हैं, प्राणवान् विचारों के फुव्वारे उसकी क़लम में से या कूंची में से उड़ने लगते हैं, और समाज चैतन्य से हिलने लगता है। यदि चित्रकार या कवि विलासी होगा तो समाज को हतप्राण कल्पनाओं का नशा चढ़ जायगा और समाज विषैला बन जायगा। और यदि कवि या चित्रकार स्वयं ही अल्प-प्राण होगा तो उसकी निर्माल्य कविता अथवा कृति उसी जगह मरण-शरण हो जायगी।

... ...

प्रकृति इन्द्रियातीत आनन्द का विषयोपभोग द्वारा अनुभव करने का प्रयत्न करती है। कला इन्द्रियातीत आनन्द को विषय-वासना से दूषित न करके उसे शुद्ध स्वरूप में अनुभव करने का प्रयत्न करती है।

... ...

यथाथदर्शी कला, कला ही नहीं कही जाती। विषय-मुग्ध हो कर जो विलास एकान्त में किया जाता है यदि वही सर्वसाधारण से प्रकट में होने लगे तो जितनी लज्जा आती है, उतनी ही लज्जा यथार्थदर्शी कला को देखने में आनी [illegible] जिस चित्र को

देखने से मन में उपभोग के विषय की कल्पना आती है वह अपवित्र है। ऐसे चित्र कुछ वर्ष पहले राजवाड़ों के अन्तःपुरों में भी नहीं टांगे जाते थे। संयम-विमुख पाश्चात्य कल्पना के कारण आज कल ऐसे चित्र प्रतिष्ठित गृहस्थों के दीवानखानों में भी दिखाई देने लगे हैं! इससे बढ़कर अधःपात का दूसरा संगीन प्रमाण क्या हो सकता है?

... ...

अरे, यह संसार या तो परदा-नशीन हो गया है या नाटकी बन गया है? जिसको देखा जाय वही बुरका पहन कर या वेश बदल कर घूमता हुआ दिखाई देता है। मानो हर किसी को सत्य की लाज आती है। इनकी भाषा देखिए, इनकी रीति-भाँति देखिए, इनके उत्सव देखिए, इनकी पोशाक देखिए या इनके दीवानखाने देखिए—सत्य तो कहीं खोजने पर भी नहीं मिलता। आज तो सत्य केवल ढँक ही गया है। परन्तु शीघ्र ही वह तो दम घुटकर भी मर जायगा। दौड़ो रे दौड़ो, कोई सत्य की रक्षा करो!

———

'नमो देव्यै' वाली अष्टभुजा 'महिषासुरमर्दिनी' के समान ही यह चित्र था। केवल महिषासुर के बदले हमारे समान दीखने वाले मनुष्य रिपु-दल का संहार करने वाली और काल्पनिक खर-कर-वाल हाथ में धारण करने वाली वह माता थी।

पाश्चात्य देशाभिमान की कल्पनायें ज्यों ज्यों मन में पैठती गई, त्यों त्यों माता की मूर्ति अधिकाधिक उग्र होने लगी। माता के शरीर पर के आभूषण कम होने लगे। माता का वस्त्र लगभग फटा हुआ दीखने लगा। माता मेरा रक्षण करने वाली है, बचपन का यह भाव उड़ गया, और मुझे माता का रक्षण करना चाहिए, इस तरह का प्रौढ़ किन्तु अभिमानी भाव चित्त में आने लगा; और माता की करुणा-दृष्टि से शत्रु का बदला लेने की प्रेरणा मिलने लगी।

आज वह मूर्ति कहाँ गई? वह अष्टभुजा महिषासुरमर्दिनी भी ध्यान में नहीं आती, और न वह रिपु-दल वारिणी दशप्रहरण-धारिणी माता ही रही। आज तो 'आसेतु हिमाचल' बिछी हुई सुजला, सुफला और मलयजशीतला माता ही का मानचित्र दृष्टि के सम्मुख खड़ा होता है। यह माता सुजला है, परन्तु बालकों को उस जल के लिए कर देना पड़ता है, सुफला है, किन्तु वे फल माता के बालकों को नहीं मिलते; और उस 'शीतल मलयज' में प्लेग, इन्फ्ल्युएन्जा के असंख्य जन्तु क्षुधातुर हो कर इधर-उधर दौड़ते और वृद्धि पाते दिखाई देते हैं। आँसुओं के जल से इन माता के चरण धोने को जी चाहता है। शरीर अर्पण कर के इस माता की सेवा करने की आज प्रेरणा होती है। सम्पूर्ण देह का धूप बना कर सर्वत्र शीतल मलयज फैलाने को चित्त चाहता है।

परन्तु *'जाह्नवीयमुनाविगलित-करुणा-पुण्य-पीयूष' से माता नया ही ख़याल देती है। माता कहती है, तुम मुझे अनेक नामों से सम्बोधित करते हो, पर मुझे तो माता यही नाम प्रिय है। क्योंकि माता शब्द में मेरे बालकों का समावेश होता है। देवी कह कर तुम मेरे प्रकाश और प्रताप का स्मरण करते हो, बहुबलधारिणी कह कर तुम मेरा अभिमान धारण करते हो, परन्तु माता कह कर तुम मेरे सभी बच्चों का प्रेम प्राप्त करते हो। वन्देमातरम् इस वचन में जितनी मातृ-भक्ति है उतना ही भ्रातृ-प्रेम है, भगिनी-प्रेम है। तुम मेरी क्या सेवा कर सकते हो? भाई भाई सुख से रहो, प्रेम से रहो, एक दूसरे की सहायता करो, एक दूसरे के सुख-दुःख से सुखी और दुखी होओ। बस, इतने ही में मुझे सब-कुछ मिल गया। यही मेरी श्रेष्ठ पूजा है। वन्देमातरम् का अर्थ है 'सेवे भ्रातरम्' तुम इतना समझ जाओगे तो मेरा वरद हस्त तुम्हें सभी ज्ञान देगा। और तुम देख सकोगे और जान जाओगे कि मैं अकेली ही माता हूँ, मेरा स्वरूप गूढ़ और विशाल है और तुम जितने बालक दिखते हो, वे मेरी ही सन्तानें हैं; तुम सभी सहोदर हो।

अन्त में वन्देमातरम् मन्त्र को प्रथम बार सुन कर जिस मूर्ति का दर्शन हुआ था, वही सच्चा है और माता को प्रिय है। हां, पर वह चित्र आदर्श तभी होगा जब सभी बालक माता को पहँचानेंगे और सहोदर धर्म का पालन करेंगे।

---

* गङ्गा और यमुना के संगम से बहा हुआ दया रूपी पवित्र अमृत।

धर्म-भूमि

भारतवर्ष को हम अभिमान पूर्वक धर्म-भूमि कहते हैं। संसार के तमाम धर्म इस देश में बसते हैं। कितने ही धर्मों को इस भूमि ने जन्म दिया है। अन्य कितनों ही को आश्रय दिया है। और कितनों ही ने तो स्वयं ही अपने लिए इस भूमि में स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिए भारतवर्ष के लिए धर्म-भूमि नाम चरितार्थ हो गया।

परमात्मा ने किस उद्देश्य से इन तमाम धर्मों को इसी देश में इकट्ठा किया है ? इतिहास द्वारा परमात्मा की योजना का पता लगाने से ज्ञात होता है कि इस देश को उसका यही आदेश है कि यह सभी धर्मों का समन्वय करें, सभी धर्मों को एक कौटुम्बिक पाश में बाँध दे। इतिहास से हमें यह भी ज्ञात होता है कि जब जब और जिस अंश में हिन्दुस्तान इस आदेश के प्रति वफादार रहा है तभी तब और उतने ही अंशों में उसकी उन्नति भी हुई है। भारतवर्ष का पुरुषार्थ इसीमें है कि वह सब धर्मों को एकत्र अविरोधी और परस्पर पोषक बना दे। जब जब उसने अपने इस पुरुषार्थ को भुला दिया, तभी तब उसे कष्ट सहने पड़े हैं। कई बार तो अपार शांति के कारण हमने अपने इस कर्तव्य को भुला दिया और कई बार विकारवश होकर हमने उसे छोड़ दिया। धर्मों का और जातियों का सवाल हज़ारों वर्षों से हमारे सामने है। अनेक रीति से उसे हल करने का हमने प्रयत्न

किया है। पर केवल एक ही मार्ग हमें उचित जँचा है। प्रेम-मार्ग। हमने कईबार वैर का सामना वैर से भी किया है। पर प्रत्येक बार क्षमा और प्रेम पर विश्वास रखने वाली आस्तिकता ही सफल साबित हुई है।

मुसलमान यहाँ पर आये उस समय भारतवर्ष की जाति संस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। प्राण क्षीण हो गया था। इसलिए हम उस धर्म का यथार्थ स्वागत नहीं कर सके। वे भी हमें नहीं समझ सके। मुसलमानों का स्वभाव हम से भिन्न था रहन सहन भी भिन्न थे। और आग्रह विलक्षण। केवल यही देख कर हमने यह तय कर लिया कि उनके साथ किस तरह व्यवहार किया जाय? फलतः गलत फहमी हुई, युद्ध छिड़े, और रण-मैदान पर एक दूसरे को हमने पहचाना। कहना होगा कि इस युद्ध में दोनों की भारी हार हुई। आखिरकार परमात्मा की इच्छा के सामने सिर झुकाकर हम दोनों ने एक साथ रहने का निश्चय किया। हिंदू और मुसलमान दोनों इस बात को जान गये कि कोई भी जाति दूसरी जाति का नाश नहीं कर सकती। अतः सवाल यही रहा कि अब दोनों को हमेशा के लिए इसी तरह लड़ते रहना चाहिए, या भाई भाई बनकर और हिलमिलकर। हिंदू-मुसलमानों के बीच भाईचारा करने के प्रयत्न शुरू से होते आ रहे हैं। पर समस्त जनता तक फैलने में उन्हें बड़ी देरी लगी। फलतः अन्त में जो एकता हुई उसमें एक भारी दोष रह गया। एक-दूसरे का पूरा परिचय तो हुआ ही नहीं था। अतः एकता दृढ़ नहीं हो पाई। धर्म तथा सामाजिक कल्याण के विषय में दोनों के बीच भिन्न भिन्न कल्पनायें होते हुए भी हमने इस वृत्ति और शास्त्र

का विकास ही नहीं किया कि एकतापूर्वक किस तरह रहा जाय। इसीलिए आज हमें इतना कष्ट सहना पड़ रहा है और हिंदू-मुसलमान एकता का सवाल जो पहले हल हो चुका था फिर उलझन में पड़ गया है।

राष्ट्र की आत्मा कहती है, एकता का तत्व-एकता का शास्त्र तो अहिंसा है। एक दूसरे के दोषों को सह लेना, आपत्ति में एक दूसरे की सहायता करना और प्रेम-धर्म के लिए सभी प्रकार के स्वार्थों को तिलांजली देना यही एकता का एक मात्र मार्ग है।

आजकल की नास्तिक शिक्षा के युग में, जब कि प्रेम की अपेक्षा अधिकारों का ही अधिक विचार होता है, जब कि समाज-व्यवस्थापक का काम कानून और अदालतों ने अपने हाथों में ले रक्खा है, और वकील जनता के सलाहकार बने बैठे हैं,—इस युग में 'तिलांजलि देना,' 'सहन करना,' 'दिल उदार रखना' आदि शब्द समुच्चय दुर्बलता अथवा लोकोत्तर सद्गुण के द्योतक समझे जाते हैं। पर सच पूछा जाय तो समाज का अस्तित्व स्वार्थ और विग्रह पर स्थित नहीं है।

अगर हम फिर बाहमी मारकाट और युद्ध छेड़ देंगे तो हमें पुनः वही पुराना अनुभव महँगे मोल खरीदना पड़ेगा—दोनों जातियाँ क्षीण होंगी। कौल-करार के द्वारा विग्रह को शान्त करने का प्रयत्न यदि हम करेंगे तो उसमें भी हमारी निश्चित रूप से निष्फलता होगी। संसार का अनुभव तो यह है कि कौल-करार करने के आरंभ के समय की स्थिति इकरार पक्के होने तक भी नहीं टिकती। पारस्परिक विश्वास और प्रेम-भाव से ही एकता की ग्रन्थि बांधी जा सकती है। और वही टिकी रहेगी।

नास्तिकता की निशानी है। इस शंका पर जो समाज-शास्त्र या राजनीति निर्भर है वह विनाश-मार्ग की पथिक है। एक यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि प्रतिपक्षी यदि सीनाजोरी या दुराग्रह करे तब उसके सामने सिर झुकाना क्या दुर्बलता नहीं मानी जायगी? पर प्रेम यह कभी नहीं कहता कि जुल्म के सामने सिर झुकाया जाय। प्रेम-धर्म तो यही कहता है कि जुल्म के साथ प्रेम-पूर्वक जूझो, स्वार्थ और लाभ का जहाँ सवाल हो तहाँ उदारता-पूर्वक त्याग करना सीखो। जहाँ जबरदस्ती हो रही हो वहाँ उसका उत्तर बल प्रयोग-द्वारा मत दो। जिन बातों का डर बताया जा रहा है, उनको शान्ति-पूर्वक सह लो। निर्भय हो कर उनका आह्वान करो। भय छोड़ कर निर्भय बन जाना, और प्रेम से उदारता का विकास करना यही एक मात्र अत्यन्त व्यवहार्य और सरल से सरल तथा तात्कालिक उपाय है।

भारतवर्ष को हम अभिमान-पूर्वक धर्म-भूमि कहते हैं। पर वह केवल हिन्दूधर्म की धर्म-भूमि नहीं है। तमाम धर्मों की—धार्मिकता की भूमि है। यदि परमात्मा की योजना हो कि जिस प्रकार इस भूमि में इन धर्मों को आश्रय मिला है, उसी प्रकार उसी भूमि से उनको पोषण भी मिले तो इस में कोई आश्चर्य नहीं समझना चाहिए।

राष्ट्र-पूजा-धर्म

मनुष्यों में परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ रहती हैं। मनुष्य सन्त भी है और असन्त भी। मनुष्य के जीवन में इन दोनों वृत्तियों का विरोध है। किसी दिन संत-वृत्ति विजयी होती है तो किसी दिन असन्त-वृत्ति बलवती सिद्ध होती है। परन्तु जब असन्त-वृत्ति अपनी सारी चतुराई खर्च करके व्यवस्थित (organised) योजना पूर्वक काम लेती है तब सन्त-वृत्ति के लिए विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता है। एक धनवान् सेठ नीति-अनीति विधि-निषेधों को तलाक देकर केवल कानून न समझे जाने वाले सभी मार्गों का अवलम्बन करता हुआ द्रव्य कमाने की कितनी बड़ी आयोजना (organisation) करता हुआ दिखाई देता है! किन्तु यही मनुष्य अपने सामाजिक-ऋण चुकाने अथवा हृदय में प्रसङ्गोपात्र झांकने वाले दयाभाव को सन्तुष्ट करने के लिए कितनी परवा करता है? वह गरीबों के पास नहीं जाता। इतना ही नहीं, वरन गरीब आवें तो उन्हें रोकने के लिए दरवाजे पर पहरेदार रखता है। हां, चित्त को सन्तुष्ट करने के लिए पींजरा-पोल में कितने ही जानवरों की हड्डी और चमड़े जीते रखने के लिए या अनाथाश्रम के लड़कों को अन्न-वस्त्र देने के लिए हज़ार-दो-हज़ार रुपये खर्च कर जरूर अपने को कृतकृत्य समझ लेता है, और अपनी इस भलाई को संसार की नजर में लाने के लिए सभी तरह की युक्तियों की योजना करता है। यह हुई व्यक्ति

की स्थिति। जब ऐसे व्यक्ति अपना गुट बना लेते हैं तब तो स्वार्थ की आयोजना और भी बढ़ती है और बेचारे परमार्थ को दूर भागकर अपने लिए एक कोना खोजना पड़ता है। देश जब धर्म-पराङ्मुख होता है तब उसकी भी यही दशा होती है। सर्वत्र यही ख्याल फैल जाता है कि न्याय, धर्म अथवा दया तो व्यक्ति के लिए हैं; राष्ट्र को तो हमेशा अपना स्वार्थ—दूर देशी स्वार्थ सिद्ध करने में ही दत्तचित रहना चाहिए। यही उसका धर्म है।

जिस समय संसार में स्वेच्छाचारी राजाओं की तूती बोलती थी उस समय राजा ही इस स्वार्थ का प्रतिनिधि था; और प्रजा तो केवल अपनी बफ़ादारी बताने भर के लिए उसमें शरीक होती थी। आज संसार में प्रजा की तूती बोल रही है इसलिए उसीके लिए स्वार्थ ने प्रजाओं को घेरा है और राष्ट्र-पूजा-धर्म आरम्भ हुआ है। प्रजा की स्वार्थ-वृत्ति सङ्गठित होगई है और न्याय तथा दया की वृत्ति यहाँ-वहाँ मारी मारी फिर रही है। लोगों की स्वाभाविक वृत्ति और सङ्गठित स्वार्थ इन दोनों के बीच में तात्विक भेद दिखा कर कविवर रवीन्द्रनाथ ने प्रजा और राष्ट्र (People और Nation) ऐसे दो भेद कल्पित किये हैं। अपने स्वार्थ को व्यवस्थित रीति से साधने के लिए प्रजा ने पार्लिमेंट या लोक-सभा की सृष्टि की। उसकी आज्ञाओं का पालन करने के लिए एक पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाला कर्मचारीगण उत्पन्न किया। और इसके फल-स्वरूप आज यह योजना इतनी सर्व-भक्षक हो गई है, कि उसके नीचे स्वयं प्रजा ही पीसी जा रही है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं:—"प्रजायें तो सजीव प्राणी हैं, परन्तु राष्ट्र तो एक भारी यन्त्र मात्र है। यन्त्र जिस काम के लिए वनाया जाता है उतना ही काम वह तो

सफाई से कर देता है। यन्त्र के हृदय नहीं होता। प्रजा ने अपनी सत्ता और महत्ता बढ़ाने के लिए यह राष्ट्र-रूपी यंत्र को निर्माण तो किया किन्तु उस यन्त्र के लिए कोई 'ब्रेक' नहीं बनाया। इससे यह निरकुंश यन्त्र प्रजाओं को जहाँ और जिधर खींच ले जाय वहीं वे खींची जा रही हैं। इस यन्त्र की सफाई और काबलियत देखकर यूरोप के लोग उस पर इतने अधिक मोहित हो गये हैं कि उन्होंने उसे ठेठ ईश्वर के स्थान पर स्थापन कर देने में भी आना-कानी नहीं की। इसीलिए आज यूरोप में सर्वत्र 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' फैला हुआ है। 'राष्ट्रात् परतरं नहि' यह आज यूरोप का आचारसूत्र (working faith) हो गया है। न्याय, नीति, दया और धर्म सब राष्ट्र के लाभ की दृष्टि से ही किया जाय। मनुष्य अपने जान-माल सर्वस्व की कुरबानी करे, पर राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए, ईश्वर के नाम पर नहीं।

यूरोप की सभी प्रजायें इस धर्म को मानती हैं, पर उसे साफ-साफ स्वीकार करने की हिम्मत और ढिठाई तो अकेले जर्मनी ही ने दिखाई। जर्मनी में इस 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' का प्रचार करने वाला अध्वर्यु ट्रीट्श्के था। अंग्रेज भले ही उसकी चाहे जितनी निंदा करें परन्तु यही सम्पूर्ण यूरोप का प्रतिनिधि है। वह साफ कहता कि 'ख्रिस्त की नीति केवल व्यक्ति के लिए ठीक है। राष्ट्र समस्त पर कोई नियन्त्रण नहीं लगा सकता। यह सत्ता किसी को नहीं। राष्ट्र सर्वोपरि है। राष्ट्र के चरणों में बलिदान देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।' जिस प्रकार हमारे देश में अहङ्कार का बलिदान देने के बदले में बकरे का बलिदान देने की सुलभ पद्धति मनुष्यों ने खोज निकाली है, उसी प्रकार यूरोपवासियों ने

अपने राष्ट्रदेव को सन्तुष्ट करने के लिए आफ्रिका, अमेरिका और एशियाखण्ड के निवासियों का बलिदान देने की प्रथा का आरम्भ कर दिया है। अमेरिका के ताम्रवर्ण मनुष्यों का तो अक्षरशः बलिदान किया गया, क्योंकि वे दूसरी तरह उनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। आफ्रिका में सिदियों के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का बलिदान देकर यूरोपियनों ने अपने राष्ट्रदेव को संतुष्ट किया। और एशिया में प्रसन्नता-पूर्वक यूरोप की अधीनता का स्वीकार करने वाली प्रजा को देख कर उन्होंने उस पर अपने राष्ट्र की सत्ता को प्रस्थापित किया। राष्ट्रदेव दो प्रकार की पूजा मांगते हैं। व्यापार और अधिकार। इस सर्व भक्ति देव के सामने बलि देने के लिए जब और कुछ बाकी न रह जायगा तब यूरोपियन प्रजा को ही वह खाये विना नहीं रहेगा, यह सिद्ध है। हिन्दुस्तान इस राष्ट्रदेव की भूख का शिकार हो जाने के कारण ही रवीन्द्रनाथ के समान दिव्य दृष्टि वाले भारतीय राष्ट्रदेव का माहात्म्य समझ सके हैं। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' इस सनातन सिद्धांत पर उनकी अटल श्रद्धा है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में यूरोप के भावि विनाश का चित्र इस विश्व-प्रेमी कवि के सम्मुख खड़ा हुआ। यूरोप के भयानक संहार को देख कर कवि-हृदय थर्रा उठा। हिन्दुस्तान की परम्परागत करुणा रवीन्द्रनाथ में मूर्त्तिमती हुई। हिन्दुस्तान को अपना गुरुपद स्मरण हो आया और रवीन्द्रनाथ ने इस ऋषि-वाणी का सन्देश पश्चिम को पहुँचाया कि—

> वर्धत्यधर्मेण नरस्तो भद्राणि पश्यति।
> ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

'अराष्ट्रीय' प्रजाएं यदि आज कुछ अभय हैं तो उसका श्रेय

यूरोप की धर्म-बुद्धि को नहीं, परन्तु यूरोप की राष्ट्रीय प्रजाओं की पारस्परिक ईर्ष्या और असूया को है।

हम अभी तक यूरोप का उत्कर्ष ही देखते आये हैं। यूरोप की विजय की ईर्ष्या और अपने अपमान की जलन के कारण हिन्दुस्थान की धर्म-श्रद्धा आज डगमगाति हुई मालूम होती है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' यह वचन हिन्दुस्थान की दृष्टि से सिद्धान्त मिट कर केवल संसार के आश्वासन का वचन होता जा रहा है। राष्ट्रीय स्वार्थ की आसुरी प्रतिस्पर्धा में हम भी उतरेंगे तभी हम जी सकते हैं, तभी अपने अपमान की क्षति-पूर्ति हो सकती है, ऐसा उन्माद हमारे अंदर संचार करता जा रहा है। 'धर्मो धारयते प्रजाः' इस श्रद्धा का विसर्जन करके हिन्दुस्थान 'राष्ट्रदेवो भव' इस ध्यान मन्त्र को स्वीकार करता जा रहा है। 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'अतिथिदेवो भव' 'आचार्यदेवो भव' आदि पुराने मन्त्रों की भावना ही से यदि यह 'राष्ट्रदेवो भव' का नया मन्त्र स्वीकार किया जा रहा हो तब तो कोई हर्ज नहीं। माता-पिता, गुरु और अतिथि के प्रति आदर-भाव रक्खो। उनकी पूजा करो, उनके सन्मुख अपने स्वार्थ और अभिमान को ज़रा भी न प्रकट करो इत्यादि जिस तरह हमारे धर्म हैं, उसी तरह राष्ट्र-हित के सम्मुख भी किसी भी मनुष्य को अपने स्वार्थ का विचार तक नहीं रखना चाहिए। अपने स्वार्थ का विचार इसी तरह करना चाहिए जिससे राष्ट्र-हित में बाधा न पड़े और जब राष्ट्र को आवश्यकता हो तब अपनी जान और माल को भी कुरबानी करने को तैयार रहना चाहिए, यह भावना हो तो वह अवश्य पवित्र है। यदि राष्ट्रदेवो-भव का यह अर्थ हो कि हम अपने देश में श्रद्धा

रखें, हमारे राष्ट्र की शक्ति और उसके भविष्य में अटल निष्ठा रखें, जाति-जाति के बीच या समूह-समूह के बीच में जब अनबन या कटुता खड़ी हो तब हमारा राज्य-स्वराज्य हमें अवश्य न्याय देगा ऐसा विश्वास रक्खें तो वह यथार्थ है और हमें प्रिय है। देश को देवी स्वरूप मानने की प्रथा बहुत पुरानी है। 'अहं राष्ट्री संगमनी' आदि सूक्त में यही माना गया है। जगन्माता ही राष्ट्र-रूप धारण किये हुए है और इसीलिए हिन्दुओं के खून में यह भावना भरी है कि धर्म के पालन से देश की सेवा अनायास ही हो जाती है। ज्ञाताओं को इसका ख्याल भी होगा, सर्व-साधारण में वह अज्ञात भाव से बसती होगी। आज का युग-धर्म पहचान कर उसे प्रजा के सम्मुख स्पष्ट रूप में रखने के लिए 'राष्ट्रदेवो भव' इस मन्त्र की गर्जना हो रही हो तो वह अभीष्ट ही है। किन्तु इस मन्त्र के पीछे आजकल ऊपर बतलाई हुई शुद्ध स्वदेशी भावना ही है; ऐसा निश्चय नहीं होता। आज हिन्दुस्थान को अश्रद्धा ने घेरा है। लोग यों मानने लग गये हैं कि ईश्वर की अपेक्षा पाश्चात्य नीति बलवत्तरा है। भ्रमरी-कीटकन्याय यदि कहीं सच्चा हुआ तो वह यहीं हमारे देश में। हमलोगों में पाश्चात्यों की शक्ति के सम्बन्ध में जो डर घुस गया है उसीके कारण हम स्वधर्म को छोड़कर उनके समान बनते जा रहे हैं। यदि हमें देश को निर्भय करना है, यदि हमारे प्रयत्नों की दिशा देश के उद्धार की ओर है, धर्म-संस्थापन हमारा लक्ष्य है, तो आज पाश्चात्यों के इस राष्ट्र-पूजा-धर्म के आसुरी स्वरूप से हमें सावधान हो जाना चाहिए। इस राष्ट्र-पूजा-धर्म ने पाश्चात्य प्रजाओं को किस तरह घेरा है; इसके कारण वे किस तरह प्रभु-पराङ्मुख हो गई हैं और किस

तरह खुद विनाश के मुख में घुसी जा रही हैं; इसकी मीमांसा करना और इसका रहस्य जान लेना उन लोगों के लिए समय पर जान लेना बहुत फायदेमन्द है जो अभी उसके प्रवाह में नहीं बह गये हैं।

रामराज्य या साम्राज्य ?

स्वराज्य क्या है ?—वह स्थिति कि जिसके अन्दर दूसरा कोई हम पर अत्याचार न कर सके। इस व्याख्या को तो सभी स्वाकार करेंगे; और ऐसी व्याख्या लोक-प्रिय भी होगी। परन्तु कुछ ही विचार करने पर हम देख सकेंगे कि यही बात हम दूसरी भाषा में भी रख सकते हैं, और वह इस तरह। 'स्वराज्य "वह स्थिति है कि जिसके अन्दर हम दूसरे किसी पर अत्याचार न कर सकें" इस व्याख्या और उपर्युक्त व्याख्या के बीच सिवा शब्द-भेद के और कोई अन्तर नहीं। फिर भी बहुतेरे ऐसे निकलेंगे जो इस दूसरी व्याख्या को उत्साहपूर्वक पसंद नहीं करेंगे; ज्यादा से ज्यादा वे उसे अप्रिय सत्य के समान स्वीकार करेंगे। यदि स्वराज्य इष्ट हो तो वह सभी के लिए इष्ट होना चाहिए। और यदि ऐसा है और यदि हम चाहते हैं कि हम पर कोई अत्याचार न कर सके, तो हमें यह भी ख़्याल रखना चाहिए कि हम दूसरे किसी पर अत्याचार न करें। क्योंकि सच्चा स्वराज्य वही होगा जब कोई क़िसी पर अत्याचार न कर सके।

बहुतेरों का यह कथन है दूसरे किसी में इतनी शक्ति नहीं रहनी चाहिए, कि वे हम पर अत्याचार कर सकें। परन्तु हमें कभी इतना कमजोर नहीं होना चाहिए कि जिससे हम दूसरे पर अत्या-

चार न कर सकें। यही साम्राज्यवाद का मूल है। यह नहीं कि मनुष्य शुरू से ही ऐसी वृत्ति धारण कर लेता है कि वह दूसरे के ऊपर अत्याचार कर सके। परन्तु वह कहता है: 'लोगों को मेरे अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए मेरी धर्म-बुद्धि और न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखना चाहिए। किन्तु मैं स्वयं दूसरे के अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए दूसरे की न्याय-बुद्धि पर नहीं वरन अपनी शक्ति ही पर आधार रक्खूंगा।' यह वृत्ति धर्मिष्ठ नहीं। धर्म के सिद्धांत तो सभी के लिए समान होते हैं

आज तक शक्ति में समानता नहीं हुई और न किसी समय होगी ही। फर्ज कीजिए कि किसी शहर में एक संक्रामक रोग हो गया है और उसमें सभी लोग रोगी हो कर चारपाइयों पर पड़े हुए हैं। जिस तरह उस समय कोई किसी की कुछ हानि नहीं कर सकता, न कोई किसी को लूट सकता है; उसी तरह सार्वत्रिक अशक्ति में एक प्रकार की कुशलता ज़रूर है, किन्तु वह कुशलता मृत्यु के समान ही है। हिन्दुस्तान में हम एक दूसरे की शक्ति से डर कर दूसरे की शक्ति को क्षीण कर के हम एक दूसरे से सुरक्षित हो सकते हैं- परन्तु यह तभी हो सकता है जब सभी को समान रीति से अशक्त कर देने वाले प्लेग की तरह किसी तीसरी शक्ति को ला कर हम यहाँ खड़ी कर दें। पर हाँ-इसका फल क्या होगा ? हम सभी को उस तीसरी शक्ति के शिकार बन कर अपने जीवन से हाथ धोना होगा।

जैसे हम चाहते हैं कि दूसरे हमारी न्याय-बुद्धि पर विश्वास रक्खें उसी तरह हमें भी उचित है कि हम दूसरों की न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखें। इसी का नाम रामराज्य है।

बहुतेरे मनुष्य एक धार्मिक लक्ष्य से प्रेरित हो कर कोई सत्कार्य करने के लिए अपनी इच्छा से एकत्र होते हैं; उस समय जो शक्ति उत्पन्न होती है वह धार्मिक शक्ति है। किन्तु साधारणतया जिसे राजनैतिक सामर्थ्य कहा जाता है वह तो जब अनेक मनुष्यों पर एक मनुष्य सत्ता चलाता है तभी उत्पन्न होता है। जब बहुत मनुष्यों की इच्छा थोड़े मनुष्यों के अधिकार में रहती है, जब अनेक मनुष्यों की शक्ति थोड़े मनुष्यों की आज्ञा में रहती है, अनेक मनुष्यों के द्रव्य को जब थोड़े मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार खर्च कर सकते हैं? अनेक मनुष्यों के सुख-दुःख का जब थोड़े मनुष्यों की मानसिक इच्छा को तृप्त करने लिए त्याग किया जाता है- तब जानना चाहिए कि वह साम्राज्य का वातावरण है। स्वराज्य में जहाँ तक लोगों का एकमत हो वहीं तक शक्ति और सम्पत्ति एकत्र होती है- और इसीसे हरएक मनुष्य स्वतंत्र रहता है। कोई किसी का अत्याचार सहन नहीं करता और कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।

हम जब जन-साधारण से कहते हैं कि किसी का अत्याचार मत सहो- तब वे कहते हैं- 'हां' यह ठीक है; यह स्वराज्य का वातावरण है।' परन्तु जब हम कहते हैं कि किसी पर अत्याचार मत करो, तब वे कहते हैं कि यह तो रामराज्य की बात करते हो। हमें रामराज्य नहीं चाहिए। हमें तो स्वराज्य चाहिए। कहीं मनुष्य का स्वभाव भी बदला जा सकता है? तुम हमें साधु बना देना चाहते हो? हमें तो केवल स्वराज्य ही चाहिए।

ऐसे लोग नहीं जानते कि वे स्वराज्य नहीं साम्राज्य चाहते हैं। ऐसों को ईश्वर कहता है- -मैं तुम्हें साम्राज्य तो अवश्य दूंगा;

पर वह तुम्हारा साम्राज्य नहीं; तुमपर सत्ता चलाने वाला साम्राज्य होगा। ईश्वर मन में हँस कर कहता है, 'देखो' ये मनुष्य कैसे दुर्बुद्धि हैं! स्वराज्य मिलने से पहले ही ये तो साम्राज्य का मनोराज्य करने लग गये!"

स्वराज्य या रामराज्य
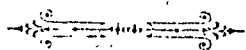
मैंने हिमालय के एक महात्मा को अभिमान पूर्वक कहते हुए सुना था कि भारतवर्ष के तो दो ही राजा हैं—राम और कृष्ण। कर उगाहने वाले और सैन्य पर आज्ञा चलाने वाले 'क्षुद्र राजा' तो बहुतेरे हो गये और होंगे, किन्तु भारतवर्ष के हृदय पर राज्य करने वाले तो दो ही राजा हुए, और उन दोनों को राज्य का मोह नहीं था।

हिमालय के श्रद्धावान् साधु के वचन आज सर्वांश में सत्य नहीं रहे। बलिहारी है अंग्रेज़ी शिक्षा की कि जिसके प्रताप से राम-राज्य से घृणा करने वाले कितने ही भारत-वासी दिखाई देने लगे हैं। वे कहते हैं, 'हमें स्वराज्य चाहिए' 'रामराज्य' नहीं। स्वराज्य और रामराज्य के बीच में ये भाई ऐसा कौन सा भेद देखते हैं कि जिसके कारण उन्हें स्वराज्य तो प्रिय किन्तु रामराज्य कठिनाई देने वाला मालूम होता है? यदि वे लोग इतना ही चाहते हों कि अंग्रेज़ों के बदले भारतीयों के हाथ में राज-सत्ता आ जाय तो वह भारतीय नौकर-शाही होगी। कैनाड़ा या आस्ट्रेलिया में जैसा प्रजातन्त्र है वैसा ही स्वराज्य-तन्त्र हिन्दुस्थान में खड़ा करने की उनको इच्छा हो तो वह भारतीय राज्य होगा, स्वराज्य नहीं। परमात्मा ने हिन्दुस्थान को ऐसी स्थिति में ला कर खड़ा कर दिया कि यहाँ बिना रामराज्य के स्वराज्य हो ही नहीं सकता।

स्वराज्य अर्थात् सभी का राज्य। स्वराज्य वही है जिसमें गरीब किसान, मजदूर, अन्त्यज और दूसरे सभी दलित वर्ग निर्भय हो कर

रहें, दूसरे वर्गों के समान ही राजनैतिक अधिकारों का उपयोग करें, और दूसरे किसी के भी स्वार्थ और सत्ता के शिकार न बनें। वह स्वराज्य नहीं, जिसमें गरीबों को निचोड़ कर उनके पसीने से दूसरे पैसे कमावें। वह स्वराज्य नहीं है, जिसमें देश के करोड़ों रुपये परदेश में भेज कर उनके बदले देश में हमेशा के लिए अन्न का अकाल निमन्त्रित किया जाता है और कमाई करने वाला वर्ग मारा मारा फिरता है। 'हमें रामराज्य की ज़रूरत नहीं स्वराज्य ही चाहिए।' ऐसा कहने वाले बहुशः अपना ही राज्य चाहते हैं सब का नहीं।

ये लोग कई बार यह दलील करते हैं कि, पहले स्वराज्य प्राप्त करो पीछे रामराज्य स्थापन करने का प्रयत्न करेंगे; परन्तु यह दलील तो नाम-मात्र की दलील है। जिनके मन में अधिकार प्राप्त होने के पहले रामराज्य के विषय में आस्था नहीं वे सत्ता-धारी होने पर शायद ही फिर रामराज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करें और आज तो हिन्दुस्थान में उपर्युक्त रामराज्य स्थापन करना जितना आसान है उतना वह नहीं जिसे लोग स्वराज्य कहते हैं।

स्वराज्य के लिए अर्थात् यह कि जैसा अन्य देशों में होता है वैसा प्रजातन्त्र प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने में कोई बुराई नहीं, परन्तु हिन्दुस्थान में रामराज्य को तिरस्कृत करके वह नहीं हो सकता; इतनी बात हमें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये।

स्वराज्य अर्थात् अन्य देशों के समान प्रजातंत्र शासन पद्धति स्थापन करने के लिए प्रयत्न करना बुरा नहीं। परन्तु हमें यह ज़रूर ध्यान में रखना चाहिए कि रामराज्य की निन्दा करके वह भारत में कदापि स्थापित नहीं हो सकता।

शुद्ध स्वराज्य

आज भारत में अनेक तरह के स्वराज्य स्थापन करने की आवश्यकता है। राजनैतिक स्वराज्य तो जिस तरह सरकार के साथ लड़ रहे हैं उस तरह जल्दी या देर से प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु भारत का राष्ट्रीय स्वराज्य इससे बड़ा है। स्वराज्य अर्थात् अपना अपना राज्य। शुद्ध स्वराज्य वही है जब समाज का एक भी हिस्सा या वर्ग दूसरे किसी भी हिस्से या वर्ग से दबा हुआ न रहे, जब समाज़ का प्रत्येक वर्ग अपने तमाम हित-सम्बन्धों को समाज के दूसरे किसी भी वर्ग के हाथ में सुरक्षित समझे।

जब तक हिन्दू और मुसलमान इन दोनों जातियों के बीच अविश्वास रहेगा तब तक स्वराज्य असम्भव है। अन्त्यजों को जब तक यह भय बना रहेगा कि अब तो ब्राह्मणों का राज्य होगा तब तक स्वराज्य न होगा। स्त्रियों को अपनी उन्नति के लिए पुरुषों के मुँह की ओर ताकना पड़ेगा, तब तक स्वराज्य असम्भव है और तब तक भी स्वराज्य भारत में न हो सकेगा जब तक कि मजदूरों को अपनी इच्छा के खिलाफ उनके परिश्रम का अधिक भाग पूँजी-पतियों को जबरदस्ती देना पड़ेगा।

आज हमने ये चारों प्रश्न हाथ में लिये हैं। हिन्दू और मुसलमानों की एकता दिन ब दिन मजबूत होती जाती है। खादी के द्वारा मजदूरों का सवाल हल होता जा रहा है। अस्पृश्यता को अब अपनी मौत की घड़ी की सूचना मिल गई है, और स्त्रियाँ

धीरे धीरे समाज में अपना स्वाभाविक स्थान ले रही हैं। देश में धीरे धीरे आत्मशुद्धि होती जा रही है और जनता में अपने कर्तव्य का भान ज्यों ज्यों बढ़ेगा त्यों त्यों आत्मशुद्धि भी बढ़ेगी ही। लोग व्यसन में जो उत्साह दिखाते हैं वही उत्साह वे आत्मशुद्धि में भी दिखावें। ज्यों ही राष्ट्र में आत्मशुद्धि का उत्साह आ जायगा कि फिर वह कहीं भी नहीं रुकेगा।

हिन्दुस्थान में तीन दल दबे हुए हैं किसान या मजदूर, अन्त्यज और स्त्रियां। कार्यकर्त्ताओं को प्रतिदिन यह अनुभव होता जा रहा है कि समाज में तभी बल का सञ्चार होगा जब इन तीनों का उद्धार होगा। और इन तीनो दलों की उन्नति करना हम स्वराज्यवादियों का कर्तव्य है; यह भी लोग समझने लगे हैं।

× × × ×

जहाँ अत्याचार हुआ है वहाँ उसका नाश दो तरफ से होना चाहिए। अत्याचार का लाभ लेने वाले मनुष्यों को धार्मिक वृत्ति का विकास कर अत्याचार को रोकना चाहिए, और अत्याचार की शिकार बने हुए मनुष्यों को तेजस्विता, सहनशीलता का विकास कर अत्याचार के वश में होना बन्द कर देना चाहिए।

उपर्युक्त तीनों दलों की अवनति का कारण इन तीनों दलों पर सवार होने वाले प्रतिष्ठित लोगों का अभिमान या स्वार्थ है। जो मनुष्य स्वयं शारीरिक परिश्रम नहीं करता, उसे अपने पंगुपन पर तो लज्जा उत्पन्न होनी ही चाहिए। पर इसके बदले वह अपनी पंगुता को ही प्रतिष्ठा का स्वरूप दे कर उस पर अभिमान करता है और फिर जिन दलों से सेवा लिये विना उसका चारा नहीं उनके प्रति कृतज्ञ होने के बदले उन्हें वह नीच समझता है और अपने को

श्रेष्ठ। आज समाज में सफेदपोश और मजूर पेशा ऐसे जो दो भेद हो गये हैं उसका यही कारण है।

स्त्रियों को भी शायद इसी कारण हमने अबला नाम दिया होगा। अन्त्यजों से सेवा ले कर उन्हें अस्पृश्य रखना; किसानों और परिश्रमियों से सेवा ग्रहण करने पर भी उन्हें निर्धन दशा में रख कर चूसना; और स्त्रियों से निरन्तर सेवा ग्रहण कर उन्हें अज्ञान की अज्ञान ही बनाये रखना महान् से भी महान् पाप है। जिसे हम सहधर्मचारिणी कहते हैं, जिसके साथ हम सम्पूर्ण जन्म व्यतीत कर देते हैं, जो हमारी प्रजा को सबसे पहले संस्कारी शिक्षा देती है उसीको यदि हम अज्ञान, वहमी और विलास-प्रिय रहने देंगे तो हमारी दशा कभी नहीं सुधर सकती। सेना की आधी संख्या में कायरों की नियुक्ति करके यदि कोई सेनापति विजय प्राप्त कर सकता हो तो हम भी अपनी स्त्री, बहन, लड़की या माँ को अज्ञान रख कर कौटुम्बिक और—राष्ट्रीय जीवन को उच्च कर सकेंगे।

स्त्रियों को देश की स्थिति समझानी चाहिए। देश के उद्धार में हाथ लगाने का अवसर स्त्रियों को मिलना चाहिए। स्त्रियों पर दया करके यदि हम उन्हें अपनी सार्वजनिक हलचलों की कठिनाइयों से दूर रक्खेंगे तो वे अबला की अबला ही बनी रहेंगी।

पुरुषों का स्त्रियों को अपनी आश्रित समझना उनका भारी से भारी अपमान है। जो दूसरे को आश्रित मानता है उसे कोई तीसरा आश्रित बनाता है। इसका उदाहरण है पण्डित लोग। स्त्रियों के आश्रित होने की प्रशंसा करते करते बेचारे खुद ही दूसरों के आश्रित बन गये।

राजनीति की छुआछूत
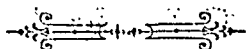
कई लोगों का ख़याल है कि जिन्होंने अपना जीवन धर्म को अर्पण किया है उनका दिल राजनीति में नहीं लग सकता है। एक तरह से यह सच है। अनेकों बार देश देश के बीच या दो पक्षों के बीच जो राजनैतिक विवाद छिड़ते हैं, वे स्वार्थ या मतलब से ही सन्बन्ध रखते हैं। दोनों में एक पक्ष को भी धर्म का ख़याल तक नहीं होता, और विवाद का फल भी कुछ संसारी लाभ ही होता है। ऐसी स्थिति में धार्मिक मनुष्य का स्पष्ट धर्म यही हो सकता है कि ऐसे राजनैतिक झगड़ों से वह अलग ही बना रहे।

परन्तु धार्मिक मनुष्य ऐसे कायर तो नहीं होते कि, विवाद के नाम मात्र से दूर भाग खड़े हों। स्वार्थ के सिवा अन्य विषयों पर भी तो संसार में विवाद खड़े होते देखे जाते हैं। सम्पूर्ण संसार में न्याय और दयाधर्म स्थापन करने के लिए दिन-रात अधर्म से जूझना आवश्यक है और धार्मिक मनुष्य का यदि कोई बड़े से बड़ा कर्तव्य हो तो वह यही हो सकता है कि वह बहादुरी के साथ ऐसे विवादों में कूद पड़े हैं। इस संसार में उसके जीवन की यही एक मात्र विशेषता होती है।

प्रत्येक युग में अधर्म भिन्न भिन्न स्वरूप धारण करता है, क्योंकि शैतान बहुरूपी है, कामरूपी (जब चाहे वैसा रूप लेने वाला)

है। ईसा के समय में शैतान ने धर्माचारियों का रूप धारण किया था, इसीलिए ईसा ने उन्हें देवमन्दिरों से निकालने के लिए उन पर अपना कोड़ा उठाया था। मन्दिर भी तो आखिर सांसारी वस्तु ही हैं न, ऐसा कह कर वह चुप चाप नहीं बैठ रहा।

धर्म विरक्त होने पर भी वीर है। धर्म में आसक्ति नहीं, पर कायरता भी नहीं है। इससे सच्चा धार्मिक पुरुष जहाँ अधर्म देखता है वहाँ वीरोचित युद्ध ठान ही देता है। और धार्मिक पुरुष के छेड़े हुए युद्ध में सदा उसी की विजय होती है।

गाँधीजी के विषय में लिखते हुए प्रो० गिलवर्ट मरे कहते हैं:—

'जिसे इन्द्रियों के भोग की पर्वाह नहीं, जो धन और वैभव को तुच्छ समझता है, जिसे स्तुति प्रफुल्लित नहीं कर सकती, जिसे सांसारिक उन्नति की लालसा नहीं, परन्तु अपने को सूझा हुआ सत्य आचरण करने का जिसका दृढ़ निश्चय है ऐसे त्यागी पुरुष से काम लेते हुए सत्ताधारियों को बहुत ही सावधानी से चलने की आवश्यकता है। यह शत्रु महा भयानक और अत्यन्त असुविधा-जनक होता है। उसके शरीर को तो आप जब चाहें तभी क़ैद में कर सकते हैं, पर आपका सच्चा शत्रु तो है उसकी आत्मा। उसके बदले केवल मट्टी का शरीर ही आपकी क़ैद में आता है। यह तो घटी का सौदा होगा।

एक समय ईसा ने कहा था "सिज़र की मुद्रा सिज़र को लौटा दो" किन्तु यह उन्होंने इसलिए नहीं कहा कि वे बादशाह के साथ कोई राजनैतिक विवाद मोल लेना नहीं चाहते थे, या उससे सदा दूर रहना चाहते थे। इसका अर्थ तो इतना ही था कि उनका वह युद्ध सिज़र से नहीं, बल्कि

अधर्मी धर्माचार्यों से था। ईसा धर्म नष्ट करने को नहीं आये थे, वे तो धर्म के नाम पर अधर्म-आचरण करने वाले धर्माचार्यों को धिक्कार कर उनसे धर्म पालन कराने के लिए आये थे। आज राजनैतिक विषयों में अधर्म ने प्रवेश किया है। बड़ी से बड़ी लूट बड़ी से बड़ी हिंसा, और बड़े से बड़ा तेजोवध क़ानून के नाम पर सरकार द्वारा हो रहे हैं।

सच्चा कानून तो वही है, जो नीतियुक्त हो। सत्य और अहिंसा ही संसार का सनातन क़ानून है। गाँधी जी उसका उल्लंघन नहीं करते। अपने को क़ानून की रक्षक कहलाने वाली सरकार से गाँधीजी उसी क़ानून का पालन कराना चाहते हैं। असहयोगी तो केवल नीतिहीन कानूनों को तोड़कर ही अधर्म द्वारा प्रस्थापित सरकार की प्रतिष्ठा के टुकड़े टुकड़े करने का प्रयत्न करते हैं। 'सिज़र की मुद्रायें सिज़र को लौटा दो' इस वचन में से यदि कुछ भी सनातन धार्मिक सिद्धांत निकाला जा सकता हो तो वह वही हो सकता है जो महाशय पाल रिशार ने निकाला है। वे कहते हैं:—

'सिज़र की मुद्रायें सिज़र को दे दो। इसके मानी हैं उन मुद्राओं को (द्रव्य को) कोई न छुओ; मुद्रा का व्यवहार ही न करो।

ईसा का मन्तव्य था कि धार्मिक मनुष्य पैसे को छू ही नहीं सकता और पैसे वाला—धार्मिक मनुष्य धर्म-प्रदेश में प्रवेश नहीं कर सकता।

ग़रीबों के लिए औषधालय बनवाने और पशुओं के लिए पशुशालायें स्थापन करने ही में कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। आज धर्माचार्यों को—धार्मिक पुरुषों को अधर्म के मुख्य क़िले पर

धार्मिक पद्धति से आक्रमण करना चाहिए। जहाँ आत्म-हनन होता है वहाँ उपदेश देना चाहिए। लोग सर्वस्व को त्यागकर आत्मा की रक्षा करें। धर्म ऐसा कायर नहीं है जो आत्मा के रक्षण के लिए राजनीति में प्रवेश न कर सके। धर्म को राज-नीति की छुआछूत रखने का कोई कारण ही नहीं है। यदि वह राजनीति की छुआछूत पालने लगेगा तो राजनीति अधर्म के लिए एक सुरक्षित द्वीप-दुर्ग बन जायगी; जहाँ अधर्म निर्भय हो कर गर्जना करता रहेगा। कहा जाता है कि चोरों का पीछा करने वाला एक पुलिस का सिपाही कलेक्टर के बंगले के दरवाज़े के सम्मुख पहुँचते ही रुक गया। पर चोर बंगले के आहते में घुसकर दूसरी तरफ़ भाग गया। जब पुलिस को दरवाजे पर रुक जाने का कारण पूछा गया तो उसने कहा, 'यह देखिए न; यहाँ यह साइ-नबोर्ड (पट्टी) लगा है कि "बिना आज्ञा भीतर न आओ।" फिर मैं भीतर कैसे जा सकता हूँ ?

यदि धार्मिक पुरुष राजनीति में प्रवेश करने से डरेंगे तो संसार से अधर्म का नाश करने की आशा ही नहीं रक्खी जा सकती। क्षुद्र स्वार्थमय राजनीति तो धार्मिक मनुष्य का विषय नहीं है, किन्तु धर्म-रक्षण की राजनीति तो धार्मिक मनुष्य ही का विषय है।

गुलामी के मूल

बहुतेरे मनुष्य मानते हैं:—अँगरेज़ों की राज्य-पद्धति अच्छी है, अँगरेज़ों का व्यापार अच्छा है, अँगरेज़ी शिक्षा लाभदायक है, अँगरेज़ी समाज रचना बहुत ही सुधरी हुई है, केवल अँगरेज़ी स्वार्थ खराब है, इस स्वार्थ ही के कारण वे हमारी हानि करते हैं; इसलिए यदि उन्हें किसी तरह मजबूर करके उनमें एक बार इतना परिवर्तन कर दिया जाय कि वे हमें राज्याधिकार दे दें तो और कुछ भी न करना पड़े; फिर तो उन्होंने इन डेढ़ सौ वर्षों तक शिक्षा, समाज-रचना, व्यापार, सम्पत्ति-शास्त्र, कला, विज्ञान और राज्यतन्त्र आदि विषयों में जो रास्ता बतलाया है उसी रास्ते धड़ाके से चले चलें, तो भी कोई आपत्ति नहीं है।" यह देखने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह के विचार रखने वालों की संख्या कितनी है ? वे थोड़े ही क्यों न हों किन्तु आज बहुतेरी हलचलों में उनका भाग है, और जन साधारण इसी विचार-शैली के भ्रम में पड़ जाते हैं, क्यों कि विचार करने का कष्ट न करना यह सामान्यमनुष्यों का सनातन धर्म है।

परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है "अँगरेज़ों के पास हर एक चीज़ अच्छी है। केवल स्वार्थवश हो वे हमें ठगते हैं।' ऐसा मान कर हम अँगरेज़ों को दुष्ट कह डालते हैं। अँगरेज़ों का

साम्राज्य विशाल है, संसार में बहुत जगहों में उनकी सत्ता है, केवल इतने पर से यह न मान लेना चाहिए कि जीवन की सफलता की चावी उनके हाथ में लग गई है। उनकी राज्य-पद्धति अनेक प्रकार से सदोष है, उनकी समाज-व्यवस्था में कितनी ही त्रुटियां हैं, उनकी शिक्षा से वे स्वयं ही बहुत असन्तुष्ट हैं, उनके व्यापार ने भले ही धन के ढेर लगा दिये हों, परन्तु उनमें से समझदार लोग तो यही स्पष्ट पुकार-पुकार कर कह गये हैं कि इससे उनका राष्ट्रीय जीवन बड़ा नीरस हो गया है, क्या हम ऐसे लोगों की नकल करें ? अपने स्वार्थवश अँगरेजों ने हमारी बहुत हानि की है, परन्तु हमारा भला करने की इच्छा से भी उन्होंने हमारी कम हानि नहीं की है। बेवकूफ शराबी अपने लड़कों को मार-पीट कर भी शराब पिलाता है। उसका हेतु तो शुद्ध ही होता है। खुद उसे मिलने वाले 'अलौकिक' आनन्द का अनुभव अपने प्यारे बच्चे को दिये बिना उससे कैसे रहा जा सकता है ? नागपुर में युवराज पधारे थे, उस समय एक अँगरेज़ बैरिस्टर अन्त्यज परिषद् के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण में बहुत ही सद्हेतु पूर्वक कहा—'भाइयों ! ये हल चल करने वाले लोग तुम्हें व्यर्थही शराब से डरा रहे हैं। तुम ज़रा भी न डरो उचित प्रमाण में।तुम शराब अवश्य पीओ।'

और यदि हम मान लें कि अँगरेजों की प्रत्येक वस्तु निर्दोष है तो भी वह उनके लिए निर्दोष होगी। हमारा स्वभाव, हमारी परम्परा, और हमारा आदर्श सभी न्यारा है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं वह केवल इसलिए नहीं कि राज्य-सूत्र हमारे हाथ आ जायँ, वरन इसलिए कि हमारे राष्ट्र की सर्वा-

क्षीण उन्नति हो। हमारी सच्ची उन्नति तभी हो सकेगी जब हम सभी चीजें इस ढङ्ग से चलावेंगे जो राष्ट्र के अनुकूल हों। यह ठीक है कि सरकार को महान् अन्याय करते देख कर हमने उसके साथ असहयोग किया। उसका राज्यतन्त्र, उसकी शिक्षा, उसकी अदालतें और उसके दिये हुए मान-सम्मानों का हमने त्याग दिया। और यदि अब सरकार अपने पापों पर पश्चात्ताप करे, प्रायश्चित्त करे तो हम असहयोग को बन्द कर देंगे इत्यादि भी ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि फिर सरकार पुराने ही ढंग से चल सकेगी और हम उसका अनुकरण करेंगे। हमने अँगरेजी प्रणाली के साथ तो निश्चित रूप से असहयोग किया है। हम अब शिक्षा तो राष्ट्रीय पद्धति से ही लेते रहेंगे। यदि सरकार पश्चात्ताप करके पवित्र होकर हमारे साथ सुलह करेगी तो हम सरकार से कहेंगे कि तुम्हें अब राष्ट्रीय ढंग से ही शिक्षा शुरू करनी होगी। कोर्टों के विषय में कहेंगे कि तुम वही न्याय-पद्धति चला सकोगे जो प्रजा के अनुकूल होगी। जब हम राज्यतन्त्र में भाग लेंगे तब भी ऐसी शासन-पद्धति का विकास करेंगे जो प्रजा की प्रकृति के अनुकूल हो प्रजा को जिस मनुष्य में आर्य-सद्गुण दिखाई देंगे उसीका वह उपाधि आदि द्वारा सन्मान करेगी और मान सन्मान तथा उपाधियों के देने वाले और लेने वाले दोनों एक से ही मान-धनी होंगे।

प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थ के अतिरिक्त अपनी संस्कृति की भी हिमायती होती है। अंगरेज सरकार हमारी धार्मिक विषयों और रीतियों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करती, किन्तु अपनी शिक्षा, अपनी अदालतों, अपने राज्यतंत्र और राजमान्यता द्वारा

हिन्दुस्तान के जीवन पर क्षण-क्षण पर विषैला प्रभाव डालती ही जाती है और हमें जड़ धर्म बतलाती जाती है। अचार के आम या नीबू में जिस प्रकार नमक धीरे-धीरे रँजता जाता है उसी तरह इन चारों वस्तुओं शिक्षा, अदालत, राज्यतंत्र और राजमान्यता--का प्रभाव प्रजाजीवन पर जड़ जमाता ही जाता है। किसी भी जाति या राष्ट्र को खाने के योग्य अचार बनाने के लिए इससे बढ़िया नमक नहीं मिल सकता।

यदि हमें जीना है, हमारे निजी ढँग से बढना है और आत्मोन्नति पूर्वक मानव जाति की सेवा करनी है तो इस खारीपन के साथ शाश्वत असहयोग करना चाहिए। पाश्चात्य संस्कारों के पक्षपाती इस विचार को जङ्गली विचार बतला कर हमारी हँसी उड़ावेंगे, हम अंग्रेज़ जाति के शत्रु हैं, इस तरह का अभियोग हम पर लगावेंगे और यह भी कहेंगे कि हम प्रगति रूपी घड़ी के कांटों को पीछे खिसकाते हैं। टीका कर-कर के बात को उड़ा देने का प्रयत्न भी वे करेंगे, हमें हँस-हँस कर हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा को घटा देंगे। हमारा आत्म विश्वास डिगाने का हर एक प्रयत्न वे करेंगे, हमें भूतकाल के उपासक कहकर पितृलोक में भेजने का प्रयास भी वे करेंगे। परन्तु हमें इन बातों से लेशमात्र भी न डरना चाहिए। हमारा विश्वास ब्रह्मचर्य के समान अजेय होना चाहिए। भविष्यकाल के सच्चे उपासक हमीं हैं। हम अपने प्राणों से जीना चाहते हैं। मंगे हुए प्राणों से आज तक कोई राष्ट्र न जीया और न जी सका। हम प्राणवाही हैं। भविष्यकाल हमारा ही है।

अन्त्यज-सेवा

जिसमें समभाव नहीं वह सेवा नहीं कर सकता। समभाव के मानी दया नहीं, परोपकार करने की वृत्ति नहीं, बुजुर्गी, शिष्टता नहीं, समभाव का अर्थ है प्रेम की समानता, समभाव का अर्थ है आदर; समभाव का अर्थ है जानने की इच्छा; समभाव का अर्थ है भावना और आदर्श की समानता।

अन्त्यजों की या अन्य किसी भी जाति की सेवा कहिए, समभाव ही से होनी चाहिए। अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कार से भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञान से भी सेवा कर सकता है; परन्तु वह सच्ची सेवा नहीं। एक कहानी है। एक स्त्री ने देखा कि अपने सोये हुए पति के गाल पर एक मक्खी बैठी है; उसने सेवा भाव से उस मक्खी को इतने ज़ोर से एक चांटा लगाया कि पति के गाल से खून निकलने लगा।

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य इन सभी के विषय में अपने दिल में असीम तिरस्कार धारण करने पर और कहाने पर भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी मानते हैं और हमें अनुभव भी है कि उनका सेवा हमें कितनी प्यारी और हितकारिणी है, जो परदेश से आ कर अपनी आढ्यता का

सिक्का जमाना चाहते है ! उनकी सेवा से हमें ऐहिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु उससे हमारा आत्म-हनन ही होता है। जो हममें मिल कर हमारे बन कर रहते हैं, हमें समझने की कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्ग से काम करते हैं। वेही हमारे गुण-दोष समझ सकते हैं। हमारे गुणों से वे प्रसन्न होते हैं और उन्हें विकसित करने के लिए सहायता करते हैं। हमारे दोषों से वे लज्जित होते हैं और उन्हें दूर करने के हमारे प्रयत्नों में प्रेम और समभाव से सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक बने रहना चाहते हैं, उनका आदर-सन्मान करने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते।

जो अभिमानी होते हैं, अज्ञानी और लापर्वाह होते हैं, वे अच्छे-बुरे की अपनी कसौटी साथ-साथ लिए घूमते हैं। जो उन्हें अच्छा न लगता हो उसे हमें छोड़ देना चाहिए फिर वह हमें कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। उसी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह कितना ही अनुचित हो तो भी हमें धारण करना चाहिए। चिकनी मिट्टी के घोड़े को तोड़ कर ह म यदि उसका साँप या गणपति बनाना है तो पुरानी आकृति को तोड़ कर हमें उसे बिलकुल नया आकार देना पड़ता है। उसी प्रकार वे हमारे समाज को भी समझते हैं। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नहीं, और यदि हो भी तो परकीयों के लिए कदापि नहीं।

जो नियम हमारे लिए हैं वे ही अन्त्यजों के लिए भी हैं। आराम-कुरसी पर बैठ कर हम निश्चित करते हैं कि, अन्त्यजों के लड़कों को इस तरह की पोशाक पहननी चाहिए। उन्हें इतने विषय जानने चाहिए, इतने उद्योग सीखने चाहिए; और अमुक-अमुक विचारों को छोड़ देना चाहिए, अथवा धारण कर लेना चाहिए।

अन्त्यजों के लड़कों को लेकर चिकनी मिट्टी के समान उन्हें अपनी कल्पना के अनुसार हम बना लेना चाहते हैं।

"अन्त्यजों का और हमारा धर्म एक ही है। हम दोनों एक ही समाज के अंग हैं। हम अनादि काल से अन्त्यजों के प्रत्यक्ष गुरू नहीं तो उनके अगुआ तो जरूर ही हैं। वे हमारे आश्रित, हम उनके मुरब्बी, यह सम्बन्ध चला आता है, और इसीलिए अन्त्यजों के उद्धार का मार्ग निश्चित करने का अधिकार और योग्यता भी हम रखते हैं" इस तरह का यदि कोई दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नहीं। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजों का उद्धार करते करते अपने समाज से भी अलग हो गये हैं। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नहीं किये। हमने अभी यह भी निर्णय नहीं कर लिया कि सामाजिक जीवन में कौन सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है उसे सरलता से तोड़ने में लगे हैं, परन्तु हमने अभी तक इसका विचार नहीं किया कि उसकी जगह पर नया क्या उपस्थित किया जाय, अथवा क्या उपस्थित किया जा सकता है। और अन्त्यजों के सुख दुखों में उनके सहयोगी बनकर उनकी जीवन-यात्रा हलकी कर देने की बात तो हमें अभी तक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह उनके भाग्य-विधाता बनेंगे?

इसका यह अर्थ नहीं कि, हम उनकी सेवा ही नहीं कर सकते। पर सेवा करने के पहले हमें उनका हृदय उनकी ठीक-ठीक स्थिति जान लेना जरूरी है। उनकी शक्ति और अशक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। उनकी मान्यताओं के आधारभूत कारणों को खोजना चाहिए। उनकी धारणाओं और रिवाजों की जड़ में महत्व-

पूर्ण कारण होते हैं। हमें इसका पता लगाना चाहिए कि वे कारण कौनसे हैं, जिन्होंने अन्त्यजों में थोड़ा बहुत काम किया है, उनका अनुभव जान करके अत्यन्त नम्रता से और समभाव से अन्त्यजों की सेवा का श्रीगणेश करना चाहिए।

अन्त्यजों की अस्पृश्यता दूर करते ही उनके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जायंगे। स्पृश्य समाज में मेल मिलाप बढ़ते ही अनायास उन्हें कितने ही संस्कार मिलने लग जावेंगे। उनका उत्तर-दायित्व बढ़ जावेगा, जिसको निबाह लेने के लिए हमें उन्हें समभाव पूर्वक सहायता करनी चाहिए।

और खासकर यह ध्यान में रखना चाहिए कि, जहाँ जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाज में सम्मिलित हों वहाँ वहाँ अन्त्यजों के स्वभाव में इतनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग उनका प्रेम पूर्वक स्वागत करने लग जायँ। अन्त्यज-सेवकों को इसकी खूब चिंता रखनी चाहिए। अन्यजों की जाति के प्रति जो रूढ़ तिरस्कार है उसके स्थान पर यदि पढ़े लिखे अन्त्यजों की उद्धतता के कारण समाज में नया तिरस्कार उत्पन्न हो जायगा तो उसे दूर करना कठिन होगा। कई लोगों के मन में अस्पृश्य भावना का अंश मात्र भी नहीं होता। गन्दे, शराब पीने वाले मेहतरों के साथ भी वे बन्धु-प्रेम से बातें कर सकते हैं। किन्तु ऐसे लोगों के लिए भी कई बार कितने ही पढ़े-लिखे और उद्धत अन्त्यजों की भाषा और उनकी अपेक्षायें-आशायें बरदाश्त करना कठिन हो जाता है। यह दोष है उस शिक्षा का जो हमने उन्हें दी है। हम अन्त्यजों को स्पृश्य समाज में स्थान देना चाहते हैं, वह उनका हक़ भी है। पाप है, अन्याय भी है, परन्तु उस अन्याय को दूर करने के लिए

स्पृश्य समाज का अपमान कर उनके साथ तुच्छता का बर्ताव करके अन्त्यज अपना कल्याण नहीं कर सकते। अभी तक जिस नम्रता को भय या अज्ञान के कारण धारण किया था, उसीको अब उन्हें ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान पूर्वक धारण करना चाहिए। वहम और भय के त्याग की ज़रूरत है, नम्रता के त्याग की नहीं, जिस प्रकार वकील मुअक्किल का पक्ष ले कर उसे लड़ाते हैं; उसी प्रकार यदि हम अन्त्यजों का पक्ष ले कर उन्हें स्पृश्यवर्ग के साथ लड़ा देंगे तो उससे कुछ दिन तक हम अन्त्यजों में भले ही लोकप्रिय हो जायेंगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा; किन्तु यह समाज सेवक का पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्य के लिए यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म कोई वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। उस समाज की व्यवस्था में हम जब कभी हाथ डालेंगे तब हमें वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर भक्ति और नम्रता पूर्वक करना चाहिए। नहीं तो समाज-द्रोह का पाप हमारे सिर पर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष ईश्वर ही का द्रोह है। यदि इसमें भेद भी हो तो ईश्वर की दृष्टि से प्रभु-द्रोह की अपेक्षा समाज-द्रोह ही अधिक ख़राब है। प्रभु-द्रोह पर क्षमा हो सकती है—सदा होती है। परन्तु समाज-द्रोह—बन्धु-द्रोह का प्रायश्चित जमानों तक—शताब्दियों तक करना पड़ता है।

मज़दूर का धर्म
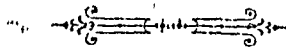
अभी अभी तक हिन्दुस्तान में अधिकांश मजदूरों का वर्ग ही नहीं था। देश का अधिकांश हिस्सा किसानों ही का था। आज भी किसानों का प्रश्न ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार यूरोप में मजदूरों की समस्या जटिल है उसी प्रकार हनारे यहां किसानों की समस्या है। यदि किसी दल पर सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानों ही पर। गुजरात के किसानों की स्थिति से बङ्गाल, महाराष्ट्र या संयुक्त प्रान्त के किसानों की स्थिति ज्याद: खराब मालूम होती है। आज मीलों के कारण जो मजदूर-दल उत्पन्न हुआ है वह अधिकांश में किसानों के दल में से ही उत्पन्न हुआ है। जब किसान को खेती पसन्द न हो, और उसको देहात् की दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती तब वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् एक तरह से मजदूर-दल खेती की निष्फलता की निशानी है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मनुष्य की मुख्य आवश्यकातायें दो हैं—अन्न और वस्त्र। उनमें किसान अन्न उत्पन्न करता है और हरएक मनुष्य उसे पका कर खाता है। हरएक मनुष्य अपने-अपने घर में सूत काते और जुलाहा उसे बुन दे, यही प्राचीन प्रणाली थी। सूत कातना और अन्न राँधना यह हरएक कुटुम्ब का नित्य कर्म था। खेती

और वस्त्र व्यवसाय ये देश में बड़े से बड़े उद्योग थे। इनको छोड़कर जो कुछ भी समाज का काम होता, उसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरों का काम ही न पड़ता था। हरएक कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथ से कर लेता था जो उससे बन सकता था। उससे भी अधिक आ पड़ता तो अपने पड़ौसी की सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाज में विवाह आदि प्रसङ्गों पर एक दूसरे के यहाँ एक ही जाति के पुरुष और स्त्रियाँ इकट्ठी होती हैं और लड्डू या पापड़ बना लेती हैं। एक ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद-वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते हैं। इस तरह हमारी व्यवस्था में परिश्रम भी एक प्रकार का उत्सव बन जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

किसान को प्रकृति के साथ मिलने का आनन्द मिलता ही है। हल या पटहा चलाते समय किसान लोग आनन्द से ललकारें लगा लगा कर गीत गाते हैं। जुलाहा भी ढोटे की ताल पर अपने कण्ठ की तानें छेड़ता रहता है। कारीगरों को कला की उत्तम वस्तु तैयार करने में निर्दोष आनन्द मिलता है। इतना ही नहीं, बरन् खेत में लुनने के समय, या घर में छत या पलस्तर करते समय, टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग सङ्गीत का आनन्द लेते हैं। आज मजदूर-वर्ग को मील में जिस तरह का काम करना पड़ता है वैसा आत्मघातक काम पहले के मजदूरों को कभी न करना पड़ता था। जिसको खुद परिश्रम में आनन्द नहीं मिलता उसे आनन्द-प्राप्ति के बाहरी साधन खोजने पड़ते हैं। और ऐसी मजदूरी करने वालों का समाज यदि संस्कारी न हो तो वह

स्वभावतः चाहे जहाँ से मनमाना आनन्द प्राप्त करने को ललचावेगा।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मजदूरी या शारीरिक परिश्रम ये दोनों पवित्र से पवित्र उद्योग हैं। आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मज़दूरी के आशीर्वाद हैं। मजदूर का जीवन दूसरे सभी उद्योगों की तुलना में अधिक निष्पाप होता है। यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह सुगमता से अस्तेय और अपरिग्रह व्रत का पालन कर सकता है और उसीमें अहिंसा भी वर्तमान है।

मज़दूर का पेशा जितना पवित्र है, उतना ही संमानपूर्ण भी है। हां, हर एक मजदूर को इस बात का विचार जरूर करना चाहिए कि, वह किस कारण वश और किस शर्त्त पर मज़दूरी कर रहा है। मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तु को बना रहा है वह समाज के लिए आवश्यक और धर्म को मान्य होनी चाहिए। मजदूर को मजदूरी करते हुए अपनी स्वतन्त्रता को खो न बैठना चाहिए।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

फीजी अथवा दक्षिण आफ्रिका के मजदूरों को गिरमिटिया कहते हैं। ये अपने सेठ, या अपने काम को पसन्द नहीं कर सकते। वे शर्तों से बंधे हुए होते हैं। इसीलिए उन्हें शर्तबन्द कहते हैं। कुली भी अपमान-जनक नाम है। दैनिक मज़दूरी ले कर कार्य करने वाले को मजदूर कहते है। बम्बई में मजदूरों का नाम है कामदार। यह शब्द मजदूरों में जागे हुए आत्म-सम्मान का सूचक है। अमेरिका में मजदूरों को 'हेल्पर्स' या मददगार

(सहायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परावलंबी है, पङ्गू है और मजदूर अपने काम का पारिश्रमिक लेते हुए भी समाज-सेवा करता है यह भाव इस नाम में समाविष्ट है। मराठी में मजदूरों के लिए पुराना शब्द 'गड़ी' है। गड़ी अर्थात् दोस्त, भिड़ू या साथी। परिश्रम में सब समान हैं, परिश्रम में भ्रातृ-भाव वर्तमान है, और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्ग का समवयस्क है। यह सभी अर्थ-छाया 'गड़ी' शब्द में एकदम आ जाती है।

दूसरे उद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहित का विचार करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझ कर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्यों का पालन करते हैं, उसी तरह मजदूरों को भी करना चाहिए। जिस मनुष्य को परिश्रम करने का अभ्यास है, वह सच पूछा जाय तो समाज का राजा है। वह किसी पर निर्भर नहीं, वल्कि दूसरे लोग ही उसपर निर्भर रहते हैं। हर एक मजदूर इस वात को जानता है कि द्रव्यवान् लोग उसपर अवलम्बित रहते हैं। वह इस वात को भी जानता है कि इसीसे वह कई बार दूसरे की असुविधा देख कर अधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हित को बराबर समझ लें तो वे अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने ही में अपनी शक्ति का व्यय न कर डालेंगे, बरन् अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनता बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। एक मामूली कारिन्दे की अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त होता है और उसकी तुलना में अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी कारिन्दा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को सम्पादन कर सकता है, किन्तु मजदूर से अभी यह नहीं होता।

सच देखा जाय तो मजदूर मालिक का आश्रित नहीं, बल्कि मालिक ही मजदूरों का आश्रित है । मजदूरों की पूंजी उनके शरीर में है और वे उसे अपने साथ में ले कर घूम सकते है। उन्हें इसका बोझ नहीं लगता । मालिक तो पूंजी के पीछे बँधा होता है और इसीसे वह एकता में बंधे हुए मजदूरों के सम्मुख आश्रित के समान ही होता है ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मजदूरों का उद्धार तो तभी होगा जब वे इस बात को जानने लग जावेंगे कि हम समाज की किस तरह विशेष सेवा करते हैं—समाज, व्यवस्था में हमारा स्थान कहां है, तथा समाज के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मजदूरों को शिक्षा की आवश्यकता है। इस बात को मजदूर शिक्षा से ही समझेंगे कि देश की और संसार की स्थिति कैसी है, और उसमें मजदूर अपनी इष्टसिद्धि किस तरह कर सकते हैं । मजदूर वर्ग समाज को आबाद और बरबाद भी कर सकता है ।

श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी

उदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवा के जो अनेक पेशे हैं उनके सामान्यतः दो भाग किये जा सकते हैं। एक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, कुम्हार गुमाश्ता, ये तो श्रमजीवी हैं। पुरानी पूंजी के सूद पर अपना जीवन-निर्वाह करने वाला एक तीसरा वर्ग भी होता है। जो बिना किसी सेवा के समाज में रहना चाहता है। पर न तो उसे पेशाकार न समाज सेवक कहा जा सकता। पेशाकारों के तो केवल दो ही वर्ग हैं—श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशों में इन दो पेशों में से श्रमजीवी पेशे की अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशे को अधिक ऊँचा मानने की मिथ्या प्रथा हो गई है।

हमारे देश में तो श्रमजीवी पेशे को बिलकुल नीचा मानने की प्रथा बहुत पुराने समय से ही चली आई है जिसके कारण हमारे समाज़ को असीम हानि हुई है।

आज भी मनुष्य शिक्षा इसी उद्देश से प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करने की सज़ा से बच जाय। एक दिन मैं सिंध में अपना स्नानगृह साफ कर रहा था। यह देख एक प्रख्यात धर्मोपदेशक मुझे पूछने लगे 'अजी ऐसा काम करना था तो इतनी अङ्ग्रेज़ी क्यों पढ़ी ?' चार इल्म पढ़े हैं, पर फिर भी अपने हाथ से काम कर रहे हैं। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।" भारतवर्ष

की अतीत भव्यता के दिनों में हम लोगों के ये विचार नहीं थे। भारतवर्ष के विद्यार्थी अपने गुरु के मकान पर पशु के जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे ऊबते न थे और न शर्माते थे। उपनिषद् के आचार्य गुरु के गृह पर गौओं को चराते थे। श्रीकृष्ण गुरु-गृह पर रोज जंगल से लकड़ी की मोलियां लाते थे। विद्यापीठ के पण्डित लोग अवकाश मिलने पर पत्तलें बनाते थे। कोई यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करने से बुद्धि का कोई उपयोग नहीं होता या प्रतिष्ठा को हानि पहुंचती है। शारीरिक परिश्रम एक आवश्यक यज्ञ समझा जाता। इसलिए लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम से कम अपने शरीर को सर्व कार्य क्षम बनाये रखने के लिए सभी प्रकार के परिश्रम करने की आदत बनाये रखते। धर्म-शास्त्रकारों की आज्ञा थी कि बंजर जमीन की झाड़ी वगैरा कट जाने पर उसपर पहला हल तो राजा को ही चलाना चाहिए। क्योंकि तब राज्य का आद्य किसान राजा ही समझा जाता था।

इस प्रथा के कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गों के बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता था। बुद्धिमान् और धनवान् लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्ग की क़दर करते और दोनों वर्गों के बीच संस्कारों का विनियम होता रहता था। इसी जमाने में यह कहावत प्रचलित थी कि किसान के शरीर पर लगी हुई मिट्टी को झाड़ दो और उसे राजवस्त्र पहना दो कि बना वह राजा।" राजोचित संस्कारों की न्यूनता उसमें कभी रहती ही नहीं थी। इसीलिए उस जमाने में प्रत्येक जाति में शूर सरदार पैदा होते थे। देश की रक्षा कैसे होगी यह कायर चिंता किसी के चित्त को स्पर्श तक

नहीं कर सकती थी। और जाति जाति के बीच शायद ही वैमनस्य भी कभी होता था।

आज तो अंगरेजी राज्य के कारण अथवा-इसके पहले ही से पढे-लिखे और अपढ़ों का भेद तो चला ही आया है। पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है। बुद्धिजीवी मनुष्यों को शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ता हो अथवा श्रमजीवियों को बुद्धि का प्रयोग नहीं करना पड़ता हो सो बात भी नहीं। पर फिरभी उपर्युक्त-भेद तो स्पष्ट ही है। आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृति के जमाने में एक वर्ग के प्रयास दूसरे वर्ग तक पहुंच ही नहीं पाते। श्रमजीवी लोगों के सुख दुःखों के विषय में बुद्धिजीवी लापर्वाह भले ही नहीं पर अनजान तो जरूर रहते हैं। बुद्धिजीवी लोग अपनी हलचलों का रहस्य श्रमजीवी लोगों को उनकी अपनी भाषा में नहीं समझा सकते। इसलिए स्वराज्य के विषय में भारतवर्ष में इतनी तीव्र उत्कंठा होने पर भी हम अपनी शक्तियों को एकत्र नहीं कर सकते।

इसका तो एक ही उपाय है। श्रमजीवी लोगों में शिक्षा का प्रचार। और बुद्धि जीवी लोगों में परिश्रम की प्रतिष्ठा। श्रमजीवी लोगों में शिक्षा-का प्रचार करना चाहे कितना हो कठिन हो वे तो उसके लिए तैयार ही हैं। तहां बुद्धिजीवी लोग श्रम करने को तैयार हो जायं तो उनके लिए भी कोई काम कठिन नहीं रहेगा। पर उनको यह बात बडी अटपटी मालूम होती है। इन दो वर्गों के बीच जब तक सहयोग नहीं होगा, तब तक स्वराज्य के लिए कहिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए कहिए, राष्ट्र को शक्ति को

एकत्र करना दुष्कर है। शारीरिक परिश्रम के प्रति अरुचि होना बुद्धिजीवी लोगों के लिए एक सार्वत्रिक रोगसा हो गया है। यह अनुमान नहीं, अनुभव की वाणी है।

स्वराज्य की योजनायें तो हम चाहे जितनी बना सकते हैं। भला उर्वर मस्तिष्क में योजनाओं की भी कमी हो सकती है? पर उनपर अमल कौन करेगा? स्वराज्य-स्थापना के लिए आवश्यक मिहनत हम प्रस्ताव पास करके सरकार से तो नहीं करा सकते। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता को उसीको परिश्रम की दीक्षा लेनी चाहिए, श्रमजीवी लोगों का सा जीवन व्यतीत कर उनके प्रति हमें समभाव का विकास करना चाहिए। तभी इन दो वर्गों के बीच का अंतर कम होगा। और स्वराज्य कार्य की कुछ बुनियाद पड़ेगी। जिस तरह दूसरे से कसरत कराकर मैं बलिष्ठ नहीं हो सकता उसी प्रकार अपने ऐवजी या प्रतिनिधि को श्रम-दीक्षा नहीं दी जा सकती। यदि कोई कहता है कि मुझे स्वराज्य चाहिए तो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता जबतक वह स्वयं परिश्रम करने नहीं लग जाता। जिसने स्वराज्य के लिए श्रम-दीक्षा लेली है वही स्वराज्य का भूखा कहा जा सकता है। प्रजा की शक्ति का विकास और संगठन करने का यही एक मात्र उपाय है।

यह बात समझ में आने पर 'महासभा का सभ्य होने के लिए कातना आवश्यक है, इस नियम का अर्थ समझने में किसी को देर नहीं लगेगी। हम गत ३५-४० वर्ष से कहते आये हैं कि स्वदेशी में ही स्वराज्य है। उस स्वदेशी को यदि हम इतने वर्षों में भी सफल नहीं कर बतावेंगे तो कहा जायगा कि हमने अपने देश की बुद्धि और कर्तृत्व शक्ति दोनों को अपमानित किया है।

स्वराज्य-स्थापना में जो विलम्ब हो रहा है उसको दूर करने का यही एक मात्र मार्ग है कि महासभा को सर्व-संग्राहक बनाने के लिए सभी पक्ष स्वेच्छा पूर्वक इस वस्तु का संपूर्ण स्वीकार करें।

बलिदान का शास्त्र

यदि देश को बचाना हो तो सेना को मरने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। यदि सेना कहने लगे कि, 'हम लड़ने को तैयार हैं, परन्तु मरने की हमें कोई जरूरत नहीं मालूम होती है; मर कर देश को हमारी सेवा से हम वंचित क्यों करें? तो जानना चाहिए कि उस सेना में क्षात्रवृत्ति नहीं। देश-सेवा के व्रतधारियों को इसका विचार छोड़ देना चाहिए कि स्वयं कितना कर सकते हैं। उन्हें तो यह लक्ष्य रखना चाहिए आज देश की गम्भीर स्थिति में कितने स्वार्थत्याग की आवश्यकता है। यों ही कुछ करने जाना हो या अपनी शक्ति आजमानी हो तब इसका हिसाब लगाना उचित है कि हमसे कितना दौड़ा जायगा। परन्तु जब महासंकट आ गिरा हो, किसी के प्राण बचाने हों, किसी डूबते हुए प्रेमी को बचाना हो, स्त्री की इज्जत की रक्षा करनी हो या शत्रु के हाथ में से छूट कर भाग जाना हो, ऐसे प्रसङ्गों में अपनी शक्ति का हिसाब लगाने बैठने से काम नहीं चलता। ऐसे प्रसङ्गों में तो ईश्वर पर निष्ठा रख कर शरीर का ख्याल छोड़ कर ही प्रयास करना चाहिए। भले ही प्राण चले जायं! "मुझे इस काम में मरना है, यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो ईश्वर मुझे यश दे कर उसमें से बचा लेगा, इस वृत्ति से मनुष्य को दौड़ पड़ना चाहिए। प्रत्येक सैनिक—सच्चा वीर

इसी निश्चय से रण में कूदता है। सेना में भरती होने के समय सैनिक यही प्रतिज्ञा करता है कि इस देश या इस गद्दी की जो सेवा आज मैंने स्वीकार की है वह मैं अपने जीवन या मृत्यु द्वारा भी पूरी करूंगा।

बहुत बार मनुष्य का शत्रु 'मार' आ कर कान में कहता है, "अरे तू पागल तो नहीं हो गया है? मर कर तेरे हाथ क्या आवेगा? तेरा आत्म-बलिदान व्यर्थ जायगा। व्यर्थ ही क्यों बरबाद हो रहा है? इस समय तो जीने की जरूरत है। ज्यों-त्यों करके जीले। जीता बचेगा तो फिर और लड़ सकता है।" सच्चा क्षत्रिय वीर मार को एक ही उत्तर देता है, 'ऐन वक्त पर यदि मैं पूरी सेवा न करूं तो सौ वर्ष जी कर भी मैं क्या सेवा कर सकूंगा? हम-क्षत्रिय लोग-अपने आत्म-बलिदान का हिसाब लगाने नहीं बैठते। जीवन-मरण ईश्वर के हाथ की बातें हैं। आज मैं जीने का प्रयत्न करूं और फिर किसी बार सेवा का अवसर ही न आवे तो? अथवा कल बिस्तर में पामर के समान पैर घसीट-घसीट कर मरने का समय आ जाय तो? आई हुई घड़ी को धोखा दे कर आने वाली घड़ी का हितचिंतक मैं क्यों बनूं? उसकी चिन्ता तो ईश्वर करेगा?

सच्चा वीर अपने काम का मूल्य गिनता है, अपने त्याग का नहीं। महात्माजी कारावास में गये तब उन्होंने अपने त्याग का हिसाब नहीं लगाया था। जिस स्वराज्य के लिए उन्होंने अपना अपूर्व बलिदान दिया है वह स्वराज्य शीघ्र से शीघ्र किस तरह हस्तगत किया जाय इसीका विचार हमें हमेशा करना चाहिए। यदि किसी ने देश के प्रीत्यर्थ आत्म-बलिदान किया हो तो उसकी कदर इसका विचार करके हम नहीं कर सकते कि उन्हें किस तरह थोड़े

में थोड़ा सहना पड़े। वह कदर तो उनकी त्यागवृत्ति को स्वयं धारण करके और उनके समान स्वराज्य के फकीर बनकर ही हम कर सकते हैं। हरएक मनुष्य के पास त्याग के लिए इतनी चीजें नहीं होंगी, जितनी उनके पास थीं परन्तु सर्वस्व हवन कर देने की वृत्ति तो प्रत्येक मनुष्य उनके जितनी जरूर धारण कर सकता है। स्वराज्य-देवता को उस वृत्ति की आवश्यकता है। परतन्त्रता देवी ने हमारे पास से कम बलिदान नहीं लिया, परन्तु वह खुले दिल से नहीं दिया गया है। स्वतन्त्रता देवी बड़ी मानिनी है। वह उस बलिदान का अंगीकार नहीं करती जो खुले दिल से नहीं दिया गया है। उत्तेजना में आ कर बलिदान दे देने के बाद यदि हम डींगें मारने लगेंगे तो स्वतन्त्रता देवी उस भोग का त्याग करती है। हमारा भोग निकम्मा जाता है और स्वतन्त्रता देवी का अपमान होता है। एक कवि कहते हैं:—"भीख मांगते देखा मैंने शाह आलम के बेटों को" पर वह तो परतन्त्रता देवी का बलिदान था। वही बलिदान यदि हम स्वतन्त्रता देवी को देते तो आज हिन्दुस्थान उन्नति के शिखर पर पहुँच गया होता। स्वतन्त्रता देवी बड़ी नखरीली है। प्रत्येक बलि को परख-परख कर वह लेती है। उसे सन्तुष्ट करना आसान नहीं है। किन्तु उसका प्रसाद भी उतना ही दिव्य होता है। प्रसन्न होने पर वह विचार नहीं करती कि क्या दूं। और क्या न दूं, हां, वह जल्दी नहीं पसीजती। जब तक प्रसन्न नहीं होती तब तक तो वह वज्रहृदया, निर्दयता की मूर्ति होती है। उसे रिझाने के लिए तो बलिदान की झड़ी लग जानी चाहिए। वह इसका विचार नहीं करती कि कौन गिरे और कितने गिरे। वह अपनी बहन 'कीर्ति-देवी' से कहती है, 'गिरे हुओं का

हिसाब तू रख। वह काम तेरा है। बलिदानों से जब मैं छक जाऊँगी तब प्रसाद दूँगी, तब तक मेरे झरने सूखे ही रहेंगे'।

हर एक वीर उस मानिनी के स्वभाव को अच्छी तरह पहचानता है। यदि भक्ति में व्यतिक्रम हो जाय तो वह भी उस मानिनी को सहन नहीं होता। स्वतन्त्रता की उपासना छोड़ कर यदि हम गाँधीजी की उपासना करने लग जायं तो भी वह सहन नहीं कर सकती। वह कहती है, 'गाँधी ने मुझे अपना सर्वस्व दे दिया; और अपने को भी दे दिया। उसपर ममत्व रखने वाले तुम कौन होते हो? यदि उसके विषय में तुम्हें इतनी ममता हो तो उसीके समान तुम भी मेरे समीप आ जाओ, मुझे अर्पण हो जाओ, मेरे लिये कुरबान होजाओ। दूसरा कोई उपाय नहीं।'

कितनी ही श्रेष्ठ वस्तुओं को बलि देना पड़ता है। हिन्दुस्थान को स्वदेश-भक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेम को तिलांजलि देनी पड़ी। चाहे जिसकी ताबेदारी करके उसकी ओर से लड़ने के अधर्म को भी हिन्दुस्थान को स्वीकार करना पड़ा।

हिन्दुस्थान में हर एक जाति का कुछ विशिष्ट चिह्न होता है। धोती, पगड़ी और तिलक पर से मनुष्य की जाति जानी जाती है। उपर्युक्त ताबेदारी के धर्म के लिए खाखी पोशाक पसन्द की गई। खाखी रङ्ग ने कुछ पाप नहीं किया। खाखी रङ्ग परिश्रम का रङ्ग है, जैसे गेरुआ त्याग-वैराग्य का रङ्ग है। परन्तु खाखी का अर्थ यह हुआ कि उसको धारण करने वाला अपने मालिक की आज्ञा शिरोधार्य करके लड़ने को तैयार है।

मनुष्य जिसके लिए लड़ता है उसके विषय में उसके मन में सकारण या अकारण आदर हो तब तक तो खाखी धारण करना बुरा नहीं गिना जाता। परन्तु जब हमने देखा कि खाखी के मानी हैं जालिया वाला, और गुरु-का-बाग, तब हमारे दिल से खाखी की प्रतिष्ठा उठ गई और हमने अपने जीवन को जाँच कर खादी की दीक्षा ली। जैसे खाखी का अर्थ है ताबेदारी वैसे ही खादी के मानी हैं पवित्रता, धार्मिकता और स्वतन्त्रता। खाखी में मैल ढकने का गुण है, खादी मैल को बरदाश्त नहीं कर सकती। मामूली दाग भी पड़ जाय तो खादी चिल्ला उठती है 'मुझे धोओ' मेरी शुद्धि करो, शुद्धि करो।' खादी के मानी हैं धार्मिकता, अद्रोह, अहिंसा, क्षमा और तेजस्विता; खाखी तलवार की प्रतिनिधि है खादी है प्रतिनिधि हल की।

राजनीतिज्ञ जो चाहें सोचते रहें, और सरकार भी जितना

चाहे डर और लालच बतलावे। पर अब तो ईश्वर का आज्ञा पत्र छूट चुका है कि अब से हिन्दुस्थान में खाखी धर्म का लोप होगा और खादी धर्म का उदय होगा। किसकी ताब है कि वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध कर सके।

सच्चा सिपाही
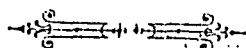
कितने ही मनुष्यों के ख्याल में सैनिक होने के मानी हैं एक साथ कदम कदम उठाना और यह जान लेना कि निशाना ताक कर बन्दूक कैसे चलाई जाती है। परन्तु यह भूल है। सैनिकों को अनेकों प्रकार की कलायें सीखनी पड़ती हैं। खाई खोदना, चुनाई करना, किले बाँधना, पुल बनाना और तोड़ना, भोजन बनाना, रोगियों की शुश्रूषा करना आदि कितनी ही विद्यायें सैनिकों को जाननी अत्यावश्यक होती हैं। उनमें से किसी भी तरकीब में कमी हो, तो विजय के बदले ऐन वक्त पर पराजय मिलने का डर रहता है।

आज का सैनिक यह नहीं कह सकता कि राज का काम लश्करी पेशे को शोभा नहीं देता। देश के लिए एक बार लड़ना पसंद करते ही युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी करना पड़े वह सब उसे सीख लेना चाहिए, फिर वह उसे पसंद हो या नहीं। उसे तो वह करना ही पड़ता है। वह देश-सेवा का व्रती नहीं कहा जा सकता, जो कहता है कि जैसा मैं चाहूँगा उसी तरह देश-सेवा करूँगा; तब तो कहना होगा कि देश-सेवा तो सिर्फ उसका एक शौक है। जिस तरह सिपाही की पोशाक पहन कर, कँधे पर बन्दूक रख कर, पाँच-सात मील कूच कर आने मात्र से ही मनुष्य लड़वैया नहीं बन जाता; इसी तरह शौक के लिए

देश-सेवा करने से किसी को देश-सेवक की पदवी नहीं मिल सकती। देश-सेवा का सच्चा मार्ग तो मनुष्य को तभी मिलता है, या उसके गले उतरता है जब वह इस प्रश्न को छोड़कर कि उसे क्या पसंद है यह देखने लगता है कि इस समय देश को क्या चाहिए। यही शुद्ध दृष्टि है।

वह मनुष्य तो देश-सेवा केवल शौक के लिए करता है जो कहता है कि मुझे वाद-विवाद करना पसंद है, मैं वाद-विवाद कुशल हूँ, शब्द-समर मे मैं प्रतिपत्तियों को परास्त कर सकता हूँ; इसके लिए मैं तो हमेशा सभायें ही करता रहूँगा। मैं तो वही कर सकता हूँ जो धारा-सभा में जा कर मुझसे हो सकेगा। वह मनुष्य भी देश-सेवा का व्रती सिपाही नहीं कहा जा सकता, जो कहता है कि मुझे रचनात्मक कार्य-क्रम में आनन्द नहीं आता, इसलिए मैं रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता; मुझे तो जिस समय युद्ध करना हो उस समय बुला लीजिएगा।

सच्चे सैनिक समाज-द्रोही नहीं होते। समाज-सुधार के कामों से उनके चित्त में अरुचि नहीं होती। युद्ध हमेशा टिकने वाली स्थिति नहीं है; देश में स्वावलम्बन, उद्योग और तेजस्विता की शिक्षा देना ही स्थायी प्रवृत्ति है। कोई भी देश निष्कारण परतन्त्रता में नहीं रहता। समाज में स्वराज्य-विघातक दुर्गुण बढ़ जाते हैं, तभी समाज परतन्त्रता में गिरता है।

कितने ही दुर्गुण तो स्वातन्त्र्य युद्ध के शुरू करते ही नष्ट हो जाते हैं, पर कितने ही दोष ऐसे होते हैं कि वे जब तक न चले जांय तब तक स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। ऐसे दुर्गुणों का नाश स्वार्थी, आरामी अथवा स्त्रैण मनुष्यों से नहीं हो

सकता। उत्साही, शूर, और निस्वार्थी मनुष्य ही उन दुर्गुणों का नाश कर सकते हैं। इसलिए वह काम उन्हींको हाथ में लेना चाहिए जो लड़वैये हों।

इसीका नाम है युद्ध की रचनात्मक तैयारी। रचनात्मक तैयारी तुम करो और युद्ध के समय मुझे बुलाओ, यह कहना और मेरे हाथ में बन्दूक भर कर रख दो, फिर मैं शिकार करूँगा, यह कहना एक सा ही है।

बहनो जागो

बहनो,

तुम जानती हो कि जहां तक हो सकता है, पुरुष-गण व्यवहार का भार तुम्हारे सिर पर नहीं डालता। तुम घर की व्यवस्था में ही मशगूल रहती हो। सगे-सम्बन्धी और बाल-बच्चे यही तुम्हारा संसार। बाहरी संसार तुम्हारे लिए प्रत्यक्ष नहीं। जब कठिन समय आता है तभी पुरुषवर्ग विवश हो तुम्हारे पास आता है, और वस्तुस्थिति का भान तुम्हें कराता है।

जबतक व्यापार-उद्योग ठीक चलता रहता है तब तक व्यापारी अपनी स्त्री के साथ अपने व्यापार सम्बन्धी कोई बात नहीं करता। घर की बातें घर में और बाहर की बातें बाहर ही रहती हैं। परन्तु जब दीवाला निकलने का प्रसङ्ग आ जाता है तब वह दीन बन जाता है और सभी बातें घर में अपनी पत्नी को भी कहने लगता है। और स्त्रियों ने भी अनेक बार ऐसे अवसर पर पुरुषों को हिम्मत और सहायता दे कर आये हुए संकट को टाला है।

आज देश में यही दशा है। देश में फाकेकशी असह्य हो रही है। करोड़ों मनुष्यों को दिन में एक बार भी पेट भर खाने को नहीं मिलता, फिर भी करोड़ों रुपये परदेश जाते हैं। देश के जुलाहों का वर्ग टूट जाने का समय आ लगा है। इज़्ज़तदार किसान कुटुम्ब तहस नहस होते जा रहे हैं, और मीलों में या बाहर

मज़दूरी करने जा रहे हैं। पशु-कुटुम्बादि की रक्षा कठिन होती जाती है। लोग-मामूली सुखी लोग-गरीबों का विचार तक नहीं करते। इतना स्वार्थ ईश्वर के यहाँ कैसे स्वीकार होगा? देश में दया-धर्म का दीवाला निकल गया है। ऐसी स्थिति में बाहर दौड़ कर हम किसे बुलावें? चौबीसों घण्टे स्वार्थ में मशगूल रहने वाले पुरुषों के कानों में तो ढक्कन लगे होते हैं। वे धर्म की बात सुनते ही नहीं। और जिन्होंने उस बात को सुना है वे तो सर्वस्व दे बैठे हैं। किन्तु ऐसों की गिनती ज्यादा नहीं।

पुरुष कहते हैं, तुम्हारी बात सच है, पर यदि यह मान ली जाय तो हम हमारे बच्चों को क्या खिलावें?

क्या सचमुच खिलाने का सवाल खड़ा हो जाता है? नहीं। बेचारे पेट को कितना चाहिए? पेट तो सेर भर धान से भर जाता है। अतृप्त तो रहती है भोग-विलास की लालसा। पेट के बहाने हम सभी कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। पेट के नाम पर लोग कितना अधर्म कर डालते हैं?

इसी तरह हर तरह का अधर्म स्त्री और बच्चों के नाम पर—आपके नाम पर होता है। क्या यह आपका ऐसा वैसा अपमान है? एक मनुष्य झूठी गवाही देने का उद्योग करके धन कमाता और अपनी स्त्री के लिए गहने बनवाता था। उस स्त्री को इस बात का पता लगते ही उसने तुरन्त सब गहने-गाँठे और क़ीमती कपड़े उतार कर पति के सम्मुख रख दिये और एक साधारण वस्त्र पहन कर कहा कि प्रतिष्ठा इसीमें है। हजारों मनुष्यों की हाय से प्राप्त किया हुआ धन हराम है।

आज विदेशी कपड़ों से सजना कुलीनता नहीं है। विदेशी

कपड़े के व्यापार से मिलने वाला धन देश को डुबो देने वाला धन है। उससे हमारा कल्याण नहीं होगा। आप इतना समझ लोगे तो परदेशी कपड़े का आपका वह मोह एक दम उतर जायगा। विषयों का गुलाम पुरुष वर्ग आपको स्वदेशी की दीक्षा देते हुए डरता है। वह अपना अधिकार गँवा बैठा है। अब यह बात आप ही को समझ लेनी चाहिए और खुद स्वदेशी की दीक्षा ले कर पुरुषों को भी स्वदेशी के उपासक बना देना चाहिए।

आप अज्ञानी भले ही होंगी, किन्तु पुरुषों के समान पतित तो कदापि नहीं हो ! शोभा से बढ़कर शील का महत्त्व आपके नजदीक अधिक है। जरा सोचिए तो, कि पुरुष अधर्म द्वारा आपके सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयत्न करें, इसमें आपका कितना अपमान है, अतः और नहीं तो केवल अपने सम्मान ही के लिए ही धर्म की ओर झुककर आप शुद्ध खादी को अपनाइए।

खादी पहनने का निश्चय कर लेने के बाद चरखा कातना आपके लिए ज़रा भी मुश्किल नहीं। वह उद्योग तो एक रानी को भी शोभा दे सकता है। कहानियों में हम सुनते थे कि राजा रानी सोने के चरखे से सूत कातते थे। बढ़िया पूनियों में से दूध की धारा के समान बारीक सूत कातने में कितना आनन्द और विश्राम मालूम होता है। बस यह बात आपके दिल में जमने भर की देरी है।

सहधर्म-चारिणी

हम बच्चों को खेलाते हैं, उनपर प्यार करते हैं दुलारते हैं, उनको प्रसन्न करने का मौका देखते हैं, और उनके साथ क्रीड़ा करते हुए संसार के तमाम दुःखों को क्षण भर के लिए भूल भी जाते हैं। तथापि हम उन्हें अपनी संसार-यात्रा का साथी नहीं गिनते। न उनकी सलाह लेते हैं। अपनी कठिनाइयाँ भी उनके सामने नहीं रखते। उनकी इच्छा अनिच्छा को भी अधिक महत्व नहीं देते। हाँ उनकी हठ के वश भले ही हो जाते हैं, लेकिन प्रसन्नता पूर्वक नहीं; झुंझला कर! क्योंकि बच्चे आखिर बच्चे ही तो होते हैं, लापर्वाह हैं, एक तरह से हमारे खिलौने होते हैं। पर क्या स्त्रियों के प्रति भी हमें इसी वृत्ति को धारण करना चाहिए? हम उनपर प्रेम की वर्षा करते हैं, उनको अच्छे-अच्छे कपड़े देते हैं, गहने देते हैं, । उनका काम हलका करने के लिए नौकर रसोइया, आदि रख लेते हैं; इधर-उधर जाने आने के लिए गाड़ी, घोड़ा रखते हैं, नाटक-सीनेमा आदि देखने के लिए अपने साथ ले जाते हैं। यदि वे लिखना-पढ़ना जानती हों तो उपन्यास खरीद कर उन्हें देते हैं, या पढ़ कर सुनाते हैं। अनायास उन्हें काव्य रस का परिज्ञान हो गया हो तो कवितायें पढ़ कर सुनाते हैं, प्रणय-मीमांसा अथवा परिणय मीमांसा पर मधुर विवाद करते हैं और अवकाश पाने पर कला पर भी बात-चीत या संभाषण करते हैं। पर क्या मनुष्य जीवन में स्त्री के लिए इतना ही स्थान है। देश

की स्थिति, समाज की दशा, धर्म का संशोधन, सामाजिक फेरफार आदि गम्भीर प्रश्नों पर विचार करने के लिए हमें उन्हें निमन्त्रित नहीं करना चाहिए ? ऑफिस अथवा शेअर-बाजार में सिर खपा कर भरसक थक जाने पर हम जब घर को आते हैं तो हमें मंद-मंजुल वार्तालाप श्रवण करने को मिलता है। इसलिए क्या हम उन्हें (स्त्रियों को) जीवन के वास्तविक और यथार्थ स्वरूप से अपरिचित रखें ? शिक्षित स्त्रियाँ चिट्ठी-पत्री लिख लें, सभा में बैठने बोलने की शैली सीख जायँ, कुर्सी पर बैठे-बैठे गोद में यदि कुत्ता या बिल्ली न हो तो रेशम की गेंद ले कर कला-कौशल का काम करना सीख लें तो क्या वह काफ़ी है ?

इस चित्र में शायद अतिशयोक्ति भी हो। पर क्या हम निःसंकोच हो कर यह कह सकते हैं कि ऐसे आदर्श का हमें ख़याल नहीं होता, अथवा धीरे-धीरे उधर हमारी प्रवृत्ति नहीं हो रही है ? वे सीना-पीरोना जानती हैं, पर इस कारण क्या हमारे दर्जी का बिल घट गया है ? यदि कम हुआ भी हो तो कितने कुटुम्बों में ? कितने शिक्षित कुटुम्बों में हम ऐसे उदाहरण देख सकते हैं कि भाई के कुर्ते फटने पर बहन उनकी मरम्मत कर देती है ? कला का ऐसा सदुपयोग कितने कुटुम्बों में हो रहा है ?

पुराने लोगों ने तो अवश्य ही स्त्रियों की दुर्दशा की है, उन्हें भोग-विलास का पशु ही समझा है। पर अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि नवीन लोगों ने उनका उद्धार ही किया है। कहीं-कहीं स्त्रियों को एक-आध उद्यम सिखा कर उनकी आर्थिक स्वाधीनता का रास्ता ज़रूर सुगम कर दिया है, पर केवल इतना कर देने भर से कुटुम्ब और समाज में उन्हें अपना स्वाभाविक स्थान

नहीं मिल सकता। आज तो स्त्रियों को जो पढ़ाया जा रहा है उसका स्पष्ट उद्देश यही होता है कि वे कुटुम्ब को छोड़ कर अपनी आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न हल कर लें। पर कुटुम्ब को साथ में ले कर आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने या प्राप्त कर देने की दृष्टि शायद ही कहीं देखी जाती है।

सहधर्मचारिणी इस शब्द में स्त्री का यथार्थ वर्णन है। आसन पर बैठकर जब पुरुष कोई धार्मिक कृत्य कर रहा हो उस समय उसके पास बैठकर केवल उसके हाथ को हाथ लगा देने भर से कहीं वह सहधर्मचारिणी नहीं हो जाती। ज्ञान में और कर्म में, उत्साह में और चिन्ता में पुरुष को चाहिए कि वह स्त्री को अपने साथ रक्खे। घर में स्त्रियों को अधिक सुख मिले, अथवा उनके प्रति अधिक शिष्टतापूर्वक व्यवहार हो इतने भर से उनकी उन्नति नहीं होगी। यह तो हर कोई संस्कारी पर विषयी मनुष्य भी करने के लिये तैयार हो जायगा। पर इससे यह न कहा जायगा कि वह नारी-प्रतिष्ठा के रहस्य को समझ गया। फ़र्ज कीजिए कि यदि किसी दिन स्त्रियां हमारी सभी हलचलों पर अपना अधिकार जमा लें और आज हम उन्हें जिस तरह रखते हैं उसी तरह वे हमको रखने लगें, तो क्या उस स्थिति में हमारी तमाम आकांक्षायें तृप्त हो जायँगी? क्या हमें आत्मिक संतोष प्राप्त होगा?

स्त्री-पुरुषों की शरीर रचना में भेद है, स्वभाव में भेद है, और संसार-यात्रा के कर्तव्यों में भी भेद है। पर दोनों का उत्तरदायित्व तो एकसा ही होना चाहिए; दोनों का आनन्द एकसा ही होना चाहिए; आशा, आकांक्षा, भय और चिंता भी एकसा ही होनी चाहिए। बिना उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ के प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त

हो सकती, न टिकती ही है। उत्तरदायित्वहीन प्रतिष्ठा व्यर्थ का शिष्टाचार है, खुशामद है, अथवा सभ्य मजाक है। शिक्षा के मानी आलंकारिक संस्कार, या बाह्य आडम्बर नहीं। शिक्षा है उत्तरादायित्व को समझने की शक्ति, उत्तरदायित्व का उत्साह पूर्वक आह्वान कर होशियारी के साथ उसे निबाहने की शक्ति। जब तक स्त्रियों को ऐसी शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल जाती तब तक स्त्री-स्वातंत्र्य अमृत संजीवनी होने के बदले उनको ठगने का एक मोहिनी-मन्त्र ही रहेगा।

याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच बांटकर स्वयं ब्रह्मानंद में लीन होना चाहते थे। इसपर मैत्रेयी ने उन्हें खरी खरी सुना दी। आपको जो खास चीज प्राप्त हुई है, जिसके आनन्द में आप यह सम्पत्ति हमें देने की आयोजना कर रहे हैं, वही मुझे दे दीजिएगा न? आप हमें अपनी संपति दे रहे हैं पर मैं पूछती हूं कि आप समस्त संसार की संपत्ति हमें देदें तब भी क्या हमें वह मिल सकता है जो आपने प्राप्त कर लिया है? आखिर याज्ञवल्क्य को कबूल करना पडा कि मैत्रेयी उससे नीची कोटि की विभूति नहीं थी। सावित्री के प्रति उसके पिता, नारदमुनि, श्वसुर, और पति सब ने दया दिखाई। पर उस मानिनी ने किसी एक की न मानी। अपना स्थान (दरजा) छोड कर वह सुखी रहना नहीं चाहती थी। वनवास के प्रसंग पर श्रीराम ने भी सीता के प्रति खूब दया दिखाई, अरण्य के कष्टों का भयंकर वर्णन कर उसे घर पर रहने का उपदेश किया पर जनक-तनया और राम-पत्नी कहीं दया का पात्र बनने को थी? राम को शर्माते हुए उसने कहा "मैं आपके लिए भार रूप नहीं होऊंगी। जंगल

में कांटे तथा घास के ठूंठ पैर से दबाकर आगे आगे आपका रास्ता साफ करती जाऊंगी। ब्रूटस की पोर्शिया ने भी क्याही कहा है "पत्नी की हैसियत से पति की समस्त चिंताओं में और रहस्यों में उसकी समभागिनी बनने ही में मेरी प्रतिष्ठा है।"

समाज में जब सीता, सावित्री, और दमयंती का स्थान स्त्रियों को प्राप्त होगा, सीता, सावित्री और दमयंती का आदर्श पुनः ताजा होगा तभी स्त्रियों की उन्नति होगी और स्त्रियों की उन्नति होने पर ही क्षीण सत्त्व देश की उन्नति होगी।

भावना की तिजोरी

स्त्री-हृदय राष्ट्र की तिजोरी है। जबतक राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं का स्वीकार स्त्रियों की ओर से न होगा, तब तक वे सुरक्षित नहीं; तिजोरी में किसी भी तरह की चीज रखना सुविधा जनक है। हम उस तिजोरी को दलीलों के हथोड़े से नहीं तोड़ सकते। वहाँ तो श्रद्धा की चाबी ही काम दे सकती है।

जब जब कभी समाज में कोई नया तत्त्व प्रविष्ठ हुआ है तब तब स्त्री-हृदय में भारी क्रान्ति हुई है। गो-रक्षा के लिए पुरुष भले ही जी चाहे उतना लड़े हों, किन्तु हलदी और कुङ्कम से गौ की पूजा करके गाय को हिन्दू धर्म के समान ही सात्विक बनाने का संमान तो स्त्रियों को ही है।

अहिंसा धर्म को स्त्रियों ने जमानों से स्वीकार किया है। धर्म-पालन का उत्साह और पवित्रता सञ्चित करने के आग्रह में स्त्री किसी से हार नहीं सकतीं।

इसीसे राजनैतिक हलचल में कोई स्वाभाविक रुचि न होते हुए भी हरएक प्रान्त की स्त्रियाँ गाँधी जी के आन्दोलन को समझने लगी हैं। स्त्री-हृदय की भावना की कद्र करने जितनी सभ्यता सीखने में सरकारों को अभी देर है। परन्तु अहिंसा धर्म का और गरीबों के प्रेम के धर्म का फैलाव करने में स्त्रियों को बहुत देर न लगेगी।

जिस तरह हिन्दुस्थान की स्त्रियों ने एक बार गो-रक्षा के लिए भारी परिश्रम किया था, उसी तरह अन्त्यजोद्धार और खादी प्रचार के काम को हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ अपना लें तो हिन्दुस्थान में धर्म का पुनरुद्धार होने में अधिक देर न लगे। और यदि स्त्रियाँ इतना काम कर डालें तो कहा जायगा कि उन्होंने हिन्दुस्थान को स्वराज्य दिलाया।

प्रेम की कठोरता

स्त्री और पुरुष का ऐक्य बतलाने के लिए स्त्री को पुरुष का आधा अङ्ग कहा है। समाज को राह लगाने की शक्ति स्त्रियों में देख कर इस अर्ध को उत्तमार्ध नाम भी प्राप्त हुआ है। यदि समाज में यह आधा विभाग जड़ रहे तो उसका अर्थ यही होगा कि समाज को अर्धांङ्ग (वायु) की व्यथा हो गई; यदि पुरुष तो स्वदेशी धर्म की स्थापना करना चाहें, परदेशी से छूछेड़ दें, और स्त्रियां परदेशी ही पहनी फिरें तो समाज की क्या दशा हो।

हम शत्रु के साथ प्राणान्तिक युद्ध करें और हमारी स्त्रियां शत्रु की सहायता करती रहें; ऐसी स्थिति किसी समय इतिहास में आपने देखी है? आज वह दशा हिन्दुस्थान में है। पुरुष शुद्ध खादी पहनते रहें और स्त्रियां विदेशी का आग्रह रक्खें यह दृश्य देखकर हिन्दू संसार के विषय में कौन आशावान् रह सकता है? गृह-संसार में माता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों में यदि निरा स्वार्थी मोह न हो, कुछ भी प्रेम का अंश हो, तो एक को स्वदेशी धर्म में लिपटा देख कर दूसरे को प्रेम की उत्कटता के कारण तो जरूर परदेशी का त्याग सूझे।

हमें स्त्रियों के प्रति कुछ कोमलता अवश्य धारण करनी चाहिए। हमें स्त्रियों की स्वतन्त्रता न छीन लेनी चाहिये और हमें उन्हें आदर की दृष्टि से देखना चाहिए; यह सब योग्य है और

आवश्यक है। परन्तु स्त्रियां तो दुर्बल ही बनी रहेंगी, स्त्रियाँ कभी मोह पर विजय नहीं प्राप्त कर सकतीं, स्त्रियों को समझाना अशक्य है; यह कह कर उनकी उपेक्षा करनी या उनके प्रति दया दिखाना उनके अपमान करने के तुल्य होगा।

स्त्रियों का स्वभाव भावनामय होता है। यह मानने के लिए कोई भी कारण नहीं कि धर्म पालन में वे हमसे पीछे रह जावेंगी। हमने स्त्रियों को समझाने का प्रयत्न ही नहीं किया। जितना काम दबाव से हो सके उतना ही करा लेने को हम ललचाते हैं। हम चाहते हैं कि बिना ही परिश्रम कुटुम्ब में नये संस्कार प्रविष्ट हो जायं। किन्तु यह दुराशा है। बिना परिश्रम तो खराब चीजें ही प्रविष्ट हो सकती हैं। हरएक अच्छी वस्तु कष्टसाध्य होती है। यदि घर-संसार सुधारना है तो स्वयं दुःखी होना पड़ेगा और दूसरों को भी दुखी करना पड़ेगा। एक दूसरे की कमजोरी को उत्तेजना देने से हम कुछ दिन मजे में रहेंगे, परन्तु उसमें प्रेम का खून ही होगा। प्रेम प्रसङ्गोपात्त कठोर हो सकता है; अथवा यों भी कह सकते हैं कि जीवन में केवल प्रेम ही को कठोर बनने का अधिकार है।

जिन लोगों ने वैष्णव धर्म चलाया, मर्यादायें बाँध दीं; उनमें कम कठोरता नहीं थी। उस कठोरता ही के कारण समाज इतना शुद्ध, संस्कारी, और कला-रसिक हुआ है। शुद्ध जीवन बिताने के लिए भारतीय स्त्रियों ने जितनी कठोरता सीखी है उतनी शायद ही दूसरा कोई समुदाय सीख सकेगा। यह मान लेना हमारी दुर्बलता का सूचक है, कि आज स्त्रियाँ न मानेंगी। दमयन्ती को आधा वस्त्र देते और सीता को वल्कल परिधान करते समय एक

क्षण मात्र भी विचार नहीं करना पड़ा था। स्वदेश रक्षा के लिए कार्थेज की स्त्रियों ने अपने बाल भी उतार दिये थे। पुरुषों को शहीद बनाने के लिए उन्होंने अपने बालों की धनुष गुण बना दी थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए अपना और समाज के सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्रियों ने अब तक क्या क्या नहीं कर दिखाया ?

अश्रद्धा छोड़ कर और मिथ्या खुशामद त्याग कर हमें स्त्रियों से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे धर्म-संरक्षणार्थ हमें सहायता दें, हमें प्रेरणा करें। परदेशी कपड़े से हिन्द-माता की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा लुटी जा रही है।

प्रेम का अधिकार

प्रत्येक विद्यार्थी अपने घर का एक प्रिय रत्न होता है। माता-पिता अपने लड़कों को प्रसन्न रखने के लिए उनके अनुचित हठों को भी पूरा करते हैं। एक-दूसरे को सन्तुष्ट रखना यह हर एक घर का मुख्य नियम है। मनुष्य पोशाक की जो इतनी चिन्ता रखता है वह भी दूसरे का सन्तोष और आदर प्राप्त करने ही के लिए। समाज में जो वस्तु प्रतिष्ठित गिनी जाती है उसीका सभी सेवन करते हैं।

अन्तिम बीस पचीस वर्षों का मेरा अनुभव है कि समाज में कौनसी चीज प्रतिष्ठित गिनी जाय और कौनसी नहीं, इसका निर्णय प्रौढ़ विद्यार्थी ही करते आये हैं। कालेज में जा कर अँग्रेजी शिक्षा लेने वाला विद्यार्थी जिस पोशाक को पसंद करता है वही समाज में रूढ़ होता चला आया है। बोलने चालने का जो ढङ्ग वह उपस्थित करता है, सामान्यजन उसीका अनुकरण करते आये हैं।

सामाजिक रीति-रिवाजों का नेतृत्व विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ जरूर, किन्तु वे खुद ही स्वतन्त्र न थे। विलायती ढङ्ग का अनुकरण करने की ओर ही प्रायः उनका झुकाव रहा। अब उनमें राष्ट्रीयता आ गई। वे समझने लग गये हैं कि स्वाभिमान की रक्षा ही में पुरुषार्थ है। स्वदेशी रिवाज, स्वदेशी मान्यतायें, स्वदेशी पोशाक और स्वदेशी रहन-सहन में काव्य और सुन्दरता भी हैं, इसे अब वे मानने लगे हैं। वे घर में और इसी प्रकार समाज

में भी वे एक नया ढङ्ग शुरू कर सकते हैं। यदि वे खादी का ही आग्रह रक्खेंगे तो घर में माता, पिता, भाई, बहन आदि कोई उन्हें अप्रसन्न न करेंगे। जिस बालक या युवक ने अपनी सुशीलता से घर के सभी लोगों का मन चुरा लिया है उसकी सत्ता असाधारण होती है। सुशील लड़के को अप्रसन्न करने का साहस किसी में भी नहीं होता। अपनी पसन्दगी घर वालों पर भी लादना यह उसका प्रेम का अधिकार है। लड़के यदि ऐसी पोशाक का आग्रह करें कि जिससें देश का हित, धर्म की रक्षा, पैसे की बचत, गरीबों की सहातया, हाथ की कारीगरी और कुलीनता का सौंदर्य भी है तो अवश्य ही उसका असर सारे परिवार पर पड़ेगा। अवश्य सम्पूर्ण कुटुम्ब में उसका तात्कालिक प्रभाव पड़ जायगा।

यह केवल तर्क नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। सन् १९०५-०७ की हलचल के अन्तर्गत जो स्वदेशी का वातावरण देश में फैला था, उसमें हमने कितने ही विद्यार्थियों को देखा था कि उन्होंने अपने-अपने घरों में से तमाम विदेशी कपड़े निकाल कर फेंक दिये थे। सरकारी अधिकारियों के लड़कों ने भी अपने अपने घर में स्वदेशी कपड़े और स्वदेशी चीनी का प्रचार किया था। मुझे यह कहते हुए आनन्द होता है कि अब भी उन घरों में देशी चीजें ही बरती जाती हैं। एक बार साफ़ किया हुआ घर प्रायः अधिकांश में फिर कभी अपवित्रता की ओर नहीं झुकता; हाँ, घर के एक-आध मनुष्य को स्वदेशी-विषयक प्रेम और आग्रह जरूर रखना चाहिए।

पर हमारी उन दिनों की स्वदेशी विशुद्ध नहीं थी, तो भी कोई यह न समझ ले कि हमारे घर में उसे प्रस्थापित करने में हमें

कोई प्रयास नहीं करना पड़ा। परन्तु हममें मिशनरी उत्साह था। जो चीज़ गले उतर गई वह सभी के गले उतरनी ही चाहिए, ऐसा हमारा आग्रह था। हमारा हर एक निश्चय संक्रामक था। हमारी उत्कटता के सामने किसी का निरुत्साह या लापर्वाही ठहर नहीं सकती थी। माता-पिता हमारा उत्साह देख कर हमारे वश हो जाते थे। हमारी दलीलें उनके गले उतरें या न उतरें तो भी उन्हें हमारे कथनानुसार इसलिए चलना पड़ता कि कहीं हम अप्रसन्न न हो जायं। वे इतना तो स्पष्ट देख सकते थे कि हमारा सङ्कल्प शुभ है, धर्म्य है और देश के कल्याण का है।

आज विद्यार्थियों में यदि खादी के विषय में यही लगन लग जाय, परदेशी के प्रति घृणा हो और अपने आस पास यही वातावरण फैलाने का उन्हें शौक हो तो वे अपने गांव या शहर के बहुतसे भाग को निष्पाप और निर्मल कर सकते हैं। हमारी उदासीनता ही परदेशी का दल है। जहाँ जहाँ हमारे प्रेम का प्रभाव पड़ सकता हो वहाँ वहाँ हमें स्वदेशी का वायुमण्डल बनाते रहना चाहिए। स्वदेशी विषय का हमारा प्रेम इतना निर्वीर्य तो कदापि नहीं होने पावे कि हमारे वातावरण में भी परदेशी कपड़े सिर ऊँचा करके घुस सकें। हरएक युवक को चाहिए कि वह जहाँ जाय अपना वातावरण ले कर ही जावे। इसके लिए असहिष्णुता सीखने की आवश्यकता नहीं, चिढ़ाने की जरूरत नहीं है, आक्रामक टीका करने का भी कोई प्रयोजन नहीं है। जिस प्रकार मछली पानी में ही रह सकती है उसी प्रकार हमें भी अपने स्वभाव को ऐसा बना लेना चाहिए कि हम केवल स्वदेशी के वायुमण्डल में ही प्रसन्नता पूर्वक रह सकें।

मुक्तावलि

निष्पाप जीवन में जो सुंदरता है वह बिना अनुभव के नहीं मालूम हो सकती।

प्रेम सुंदर है।

जीवन्मुक्त, मुमुक्षु, संसारी अथवा पतित, सभी एक ही संसार में रहते हैं और एक ही सा काम भी करते हैं। परन्तु उनका हेतु भिन्न-भिन्न होने से उन्हें फल भिन्न-भिन्न मिलते हैं।

आत्म निवेदन—गुरु चरणों में आत्म-समर्पण कर देने से निश्चिन्तता का आनन्द प्राप्त होता है।

खूबी तो तब है जब मनुष्य अपनी कल्पना को खुद ही कार्यान्वित करके दिखा दे।

उपादान का यथार्थ ज्ञान प्रतिभा को प्रेरित करता है।

मनुष्य का गुरु काम है।

अपने आसपास मित्र इकट्ठे कीजिए, खुशामदिये अथवा अन्ध भक्तों को नहीं।

नीति-नियमों की अपेक्षा प्रेम, दाक्षिण्य, दया और सहृदयता आदि स्निग्ध भाव कहीं अधिक कीमती हैं।

विस्मृति प्राण क्षीण होने का लक्षण है।

जिस समाज से धर्म का लोप हो जाता है उसकी स्मृति अर्थशास्त्र ही बन जाती है।

आज हमारे समाज को मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की जरूरत है। समाज व्यवस्थापक आचार्य तो अपने आप आ मिलेंगे।

दान की अपेक्षा त्याग का महत्व अधिक है। दान दे कर हम गरीबों के कष्टों को कम करते हैं परन्तु सम्पत्ति का त्याग करने से तो हम गरीबों की गरीबी को ही दूर कर देते हैं। कई बार हम दान द्वारा सामाजिक पाप का प्रायश्चित करते हैं परन्तु त्याग के द्वारा तो हम उस पाप को ही छोड़ देते हैं।

बेगार में पकड़ा हुआ आदमी आवश्यकता से कम काम करता है। साधारण मजूर मजूरी के पैसों के जितना काम कर देता है। परन्तु कारीगर अपने काम के प्रेम के कारण अपनी मजूरी की अपेक्षा भी कुछ अधिक ही काम कर जाता है। कारीगर कृपण नहीं होता।

शहर गावों की सुन्दरता को लूट लाते हैं, परन्तु वे सुन्दर नहीं बन सकते।

जो लड़का अपने समय का सदुपयोग कर सकता हो उसका संपूर्ण विकास तभी होगा, जब आप उसे संपूर्ण स्वाधीनता दे देंगे।

खेती का प्रेम होना प्रभुता का लक्षण है। परन्तु खेती से खूब पैसा कमाने की हौंस का नाम खेती का प्रेम नहीं है।

आप चाहे कितनाही प्रगति का ढोल पीटते रहें परन्तु संसार से जो विश्रान्ति (Repose) चल बसी है वह जबतक लौट करके नहीं आवेगी तबतक संसार की दशा दयनीय ही बनी रहेगी।

यह संसार-चक्र प्रचण्ड वेग से दौड़ा जा रहा है। परन्तु कहां? किसी को पता नहीं है कि कहां! क्यों कि ईश्वर पर श्रद्धा ही किसे है। मनुष्य को तो यही समाधान है कि जो सब का हाल होगा वही मेरा भी होगा।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) ऊपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≶) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १२२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २२६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश-पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [ले० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार-पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड़ एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १३० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ट सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३६६ मू० ॥।=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७९२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं

वर्ष १] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक १

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

(पूर्वार्द्ध)

महात्मा गांधी

त्या
ग
भू
मि

वर्ष १]   सस्ती–साहित्य–माला   [पुस्तक १

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

(पूर्वार्द्ध)

महात्मा गांधी

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

मूल लेखक
महात्मा गांधी

अनुवादक
वैजनाथ जगन्नाथ मोयदे

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मंडल,
अजमेर

मूल्य
स्थायी ग्राहकों से ।≈)
सर्व–साधारण से ।।।)

नवजीवन मुद्रणालय

मुद्रक—वेणीलाल छगनलाल बूच

सारंगपुर, सरखीगरा की वाडी—अहमदाबाद

प्रथम संस्करण]

[२००० प्रति

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल
अजमेर

हिन्दी-संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार के उद्देश से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सर्वसाधारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी। मूल्य लगभग

लागत-मात्र

रहेगा। सालभर में कमसे कम १६०० पृष्ठ की पुस्तकें दी जायंगी

१) में ५०० से ६०० पृष्ठ तक

की पुस्तकें देने का विचार है। यह मूल्य स्थायी ग्राहकों के लिए होगा। प्रत्येक पुस्तक वी. पी. से भेजने में खर्चा बहुत पड़ जाता है। इसलिए यह तजवीज की है कि स्थायी ग्राहकों से एक साल के लिए फ़िलहाल ३॥) पेशगी लिया जाय—३॥) १६०० पृष्ठ की पुस्तकों का और १) डाकखर्च। **स्थायी ग्राहक बनने के लिए कोइ प्रवेश फी नहीं ली जाती।**

यवस्था-समिति

इस मण्डल के सदुद्देश, महत्त्व और भविष्य का अन्दाज पाठकों को होने के लिए हम सिर्फ उसकी व्यवस्था-समिति के सदस्यों के ही नाम यहां दे देते हैं—

१. सेठ जमनालाल जी बजाज, वर्धा
२. सेठ घनश्यामदास जी बिडला, कलकत्ता
३. स्वामी आनन्दानन्द जी (महात्मा गांधी की नवजीवन-संस्था के संचालक)
४. बाबू महावीरप्रसाद जी पोद्दार, गोरखपुर
५. डाक्टर अंबालाल जी दाधीच, अजमेर
६. पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, अहमदाबाद
७. श्री जीतमल लूणिया, अजमेर

कृपया शीघ्र ही स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाइए—और मण्डल के जन्म को सफल बनाने में हमारा हाथ बंटाइए।

मण्डल के अधीन एक

पुस्तक-भण्डार

भी रक्खा गया है। उसमें केवल उपयोगी और उपादेय पुस्तकें ही रक्खी गई हैं। गंदे और चरित्रनाशक उपन्यास आदि ऐसी ही पुस्तकों के लिए फरमाइश करने का कष्ट न करें।

व्यवस्थापक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल—अजमेर

हमारी 'सस्ती-साहित्य-माला' की

दूसरी पुस्तक

अछूतोद्धार

(लेखकः महात्मा गांधी)

तैयार हो रही है।

'दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह' की

लागतका ब्योरा—

छपाई	४७४
कागज	४९४-१२
जिल्द बंधाई	११४
अनुवादक का पारिश्रमिक	११९
फुटकर	४८—४
जोड	१२५०—०

प्रतियां २०००

एक प्रति का मूल्य ।=)

व्यवस्थापक

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मण्डल,

अजमेर

मंगलाचरण

'सस्ती-साहित्य-माला' के लिए यह मंगल की बात है कि महात्माजी की लिखी पुस्तक के द्वारा उसका मंगलाचरण हो रहा है। 'नवजीवन' संस्था, अहमदाबाद इसे प्रकाशित करना चाहती थी। हम उसके कृतज्ञ हैं कि उसने हमें प्रायः छपी-छपाई पुस्तक इस माला के लिए दे दी।

माला की अगली पुस्तकें तैयार हो रही हैं। हम यथासंभव शीघ्र ही अन्य पुस्तकों के नाम आदि प्रकाशित करेंगे।

प्रकाशक

अध्याय-सूची

दक्षिण आफ्रिका कां सत्याग्रह

प्रास्ताविक

दक्षिण आफ्रिका में हिन्दुस्तानियों का सत्याग्रह-संग्राम ८ साल तक चला। उसी संग्राम में 'सत्याग्रह' शब्द का आविष्कार हुआ और प्रयोग किया गया। बहुत समय से मैं यह बात सोच रहा था कि इस संग्राम का इतिहास लिखूं। उसका कितना ही अंश केवल मैं ही लिख सकता हूं। कौन-सी बात किस हेतु से की गई, यह तो युद्ध का संचालक ही जान सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में बडे पैमाने पर पहली ही बार यह प्रयोग किया गया था। इसलिए उस सत्याग्रह के सिद्धान्त के विकास का ज्ञान लोगों को होना हर हालत में आवश्यक है।

परन्तु इस बार तो हिन्दुस्तान सत्याग्रह का विशाल क्षेत्र बना है। विरमगाम वाली चुंगी की एक छोटीसी लडाई के द्वारा उसका अनिवार्य क्रम शुरू हुआ है।

विरमगाम* वाले चुंगी के संग्राम का निमित्त कारण वढवाण* का परोपकारी दरजी मोतीलाल था। मैं विलायत से लौट कर

---

*विरमगाम अहमदाबाद से ४० मील पश्चिम और वढवाण विरमगाम से चालीस मील पश्चिम है।

१९१५ में काठियावाड जा रहा था । तीसरे दरजे में बैठा था। चढवाण स्टेशन पर यह दरजी एक छोटीसी जमात लेकर आया था । उसने विरमगाम की कुछ बातें सुना कर मुझसे कहा कि इस मुसीबत का कुछ इलाज कीजिए । काठियावाड में आपने जन्म लिया है उसे सफल कीजिए । उसकी आंखों में दृढता और करुणा दोनों थीं । मैंने पूछा—'आप जेल जाने को तैयार हैं ?' तुरन्त उत्तर मिला—'हम तो फांसी चढने को तैयार हैं ! ' मैंने कहा—'मुझे जेल ही काफी है । पर देखना, विश्वासघात न हो' मोतीलाल ने कहा—'यह तो अनुभव से मालूम हो जायगा ! ' मैं राजकोट पहुंचा। अधिक ब्योरा जाना। सरकार के साथ लिखा—पढी शुरू की । बगसरा† आदि के व्याख्यानों में कहा कि यदि चुंगी के लिए जरूरत पडे तो सत्याग्रह करने के लिए तैयार रहना। यह व्याख्यान सरकार की खुफिया पुलिस ने सरकार के दफ्तर में पहुंचाया । पहुंचानेवाले ने सरकार की सेवा के साथ ही साथ, अनजान में, देश की भी सेवा की । अन्त को लार्ड चेम्सफर्ड के साथ उसके विषय में बातचीत हुई और उन्होंने अपने वचन का पालन किया । हां, मैं जानता हूं कि औरों को भी इसके लिए प्रयास करना पडा है। परन्तु मेरा यह निश्चित मत है कि सत्याग्रह होने की संभावना ही चुंगी के रद होने का कारण है ।

इसके बाद गिरमिटिया कानून की बारी आई । इस कानून को रद कराने के लिए बहुत प्रयत्न किये गये थे । उसके लिए आम तौर पर आन्दोलन भी खूब किया गया था। बम्बई में सभा हुई और उसमें गिरमिट बन्द करने की तारीख ३१ जुलाई, १९१७ तय की गई थी । वह तारीख क्यों मुकर्रर हुई, इसका इतिहास

† काठियावाड का एक मुकाम

यहां नहीं दिया जा सकता। उस आन्दोलन के सिलसिले में वाइसराय के पास पहले बहनों का एक शिष्ट-मंडल गया। उसमें प्रयत्न किसका था, इसका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। चिरस्मरणीय बहन जायजी पेटिट की यह कोशिश थी। इस लडाई में भी केवल सत्याग्रह की तैयारी से विजय प्राप्त हुई। परन्तु यह फर्क याद रखने लायक है कि उसके संबंध में लोगों की ओर से हलचल करने की जरूरत थी। गिरमिट-प्रथा की बन्दी विरमगाम की चुंगी से अधिक महत्वपूर्ण है। रौलट एक्ट के बाद लार्ड चेम्सफर्ड ने भूलें करने में कसर नहीं की। तो भी मेरा अभीतक यह ख्याल है कि वे एक समझदार वाइसराय थे। सिविल सर्विस के स्थायी हाकिमों के पंजे से अन्त तक कौन वाइसराय बच सकता है?

तीसरी लडाई चंपारन की। उसका सविस्तर इतिहास राजेन्द्र बाबू ने लिखा है। इसमें सत्याग्रह करना पडा था। केवल तैयारी काफी नहीं थी। परन्तु प्रतिपक्षियों का स्वार्थ उसमें कितना था! चंपारन में लोगों ने जो शान्ति कायम रक्खी, वह बात उल्लेख योग्य है। तमाम नेताओं ने तन, मन और वचन से पूर्ण शान्ति का पालन किया था। मैं खुद इसका साक्षी हूं। इसीसे वह सदियों की बुराई छः महीने में दूर हो गई।

चौथी लडाई अहमदाबाद के मिल-मजदूरों की। उसका इतिहास तो गुजरात को अच्छी तरह मालूम है। मजदूरों ने कैसी शान्ति रक्खी थी! और नेताओं की शान्ति के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। इस विजय को मैं सदोष मानता हूं। क्योंकि मजदूरों की टेक रखने के लिए मैंने जो उपवास किया था उससे मिल-मालिकों पर दबाव पडा था। मेरे और उनके

बीच जो स्नेह भाव था उससे उनपर मेरे उपवास का असर पड़े बिना नहीं रह सकता था। यह होते हुए भी लडाई का सार तो स्पष्ट है। मजदूर यदि शान्ति पर दृढ रहें तो उनकी जीत हुए बिना नहीं रह सकती और वे मालिकों का मन हरण कर सकें। पर वे मालिकों का मन हरण न कर सके, क्योंकि मजदूर लोग मन, वचन और काया से निर्दोष—शान्त नहीं कहे जा सकते। वे काया के द्वारा ही शान्त रहे, यह भी बहुत है।

पांचवी लडाई खेडा में हुई। मैं नहीं कह सकता कि इसमें तमाम नेताओं ने पूरी तरह सत्य की रक्षा की। हां, शान्ति की रक्षा अवश्य हुई। प्रजा-जनों की शान्ति, मजदूरों की तरह, केवल कायिक ही थी। इससे अकेले मान की रक्षा हुई। लोगों में बडी जागृति फैली। परन्तु खेडा ने शान्ति का पूरा पाठ नहीं पढा था। मजदूर शान्ति का शुद्ध स्वरूप नहीं समझ पाये थे। इससे रौलट एक्ट के सत्याग्रह के समय लोगों को कष्ट–सहन करना पडा। मुझे अपनी हिमालय के बराबर भूल कुबूल करना पडी और उपवास करने और कराने पडे।

छठी लडाई रौलट कानूनवाली। उसमें वे बुराइयां जो हमारे अन्दर थीं–बाहर उभड उठीं। पर बुनियाद पक्की थी। अपने तमाम दोष हमने स्वीकार किये और प्रायश्चित्त किया। रौलट कानून का व्यवहार कभी न हो पाया और अन्त को वह काला कानून रद भी हो गया। इस संग्राम ने हमें भारी पाठ पढाया।

सातवां खिलाफत, पंजाब और स्वराज्य का युद्ध। वह अभी चल रहा है। उसमें यदि एक भी सत्याग्रही साबित कदम रहे तो विजय निश्चित है। मेरा यह विश्वास ज्यों का त्यों अटल है।

परन्तु वर्तमान युद्ध महाभारत है। उसकी तैयारी अनिच्छापूर्वक किस प्रकार हुई, इसका क्रम मैं ऊपर दे चुका हूं। विरमगाम की चुंगी के समय मुझे क्या पता था कि दूसरी लडाइयां लडनी पडेंगी? दक्षिण आफ्रिका में भी मुझे विरमगाम की क्या खबर थी? सत्याग्रह की यही खूबी है। वह खुद हमारे पास चला आता है। उसे हमें खोजने नहीं जाना पडता। यह गुण उसके सिद्धान्त में ही समाया हुआ है। जिसमें कोई बात छिपाई नहीं जाती, किसी तरह की चालाकी नहीं रहती और जिसमें असत्य की तो गुंजायश ही नहीं, ऐसा धर्म-युद्ध अनायास ही आता है और धर्मनिष्ठ मनुष्य उसके स्वागत के लिए हमेशा तैयार रहता है। पहले से जिसकी रचना करनी पडे वह धर्म-युद्ध नहीं। उसकी रचना करनेवाला और संचालन करने वाला तो ईश्वर है। वह युद्ध ईश्वर के ही नाम पर चल सकता है और जब सत्याग्रही की बुनियाद ढहने लगती है, वह बिलकुल निर्बल हो जाता है, चारों ओर अन्धकार छा जाता है, तभी ईश्वर उसकी सहायता करता है। मनुष्य जब अपनेको एक रजःकण से भी क्षुद्र मानता है, तब ईश्वर उसकी मदद करता है। निर्बल को ही राम बल देता है।

इस सत्य का अनुभव हमें अभी होना बाकी है। इससे मेरा खयाल है कि दक्षिण आफ्रिका का इतिहास हमें सहायक हो सकता है।

इस वर्तमान संग्राम में हमको अबतक जो जो अनुभव हुए हैं वही अनुभव, पाठक देखेंगे कि, दक्षिण आफ्रिका में हुए थे। दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास हमें यह भी बतावेगा कि अबतक हमें इस युद्ध में निराश होने का एक भी कारण नहीं है। विजय

के लिए हमें सिर्फ इसी बात की जरूरत है कि हम अपनी योजना पर दृढता के साथ अटल रहें ।

इस प्रस्तावना को मैं जुहू में बैठा हुआ लिख रहा हूं । इतिहास के ३० अध्याय यरोडा-जेल में लिखे थे । मैं बोलता गया और श्री. इन्दुलाल याज्ञिक लिखते गये । शेष अब फिर लिखना शुरू करता हूं । जेल में मेरे पास आधार के लिए पुस्तकें नहीं थीं । यहां भी मैं उन्हें मंगाना नहीं चाहता । सविस्तर इतिहास लिखने की न तो मुझे फुरसत है, न उत्साह, न इच्छा । यह केवल इसी उद्देश से लिख रहा हूं कि वर्तमान युद्ध में वह सहायक हो और यदि किसी फुरसतवाले साहित्य-विलासी के हाथों किसी दिन सविस्तर इतिहास लिखा जाय तो उनके कार्य में मेरा यह प्रयत्न पतवार-रूप हो सके । यद्यपि यह विना आधार के लिखा गया है तथापि इससे किसीको यह न समझना चाहिए कि इसकी कोई बात ठीक नहीं है अथवा किसी जगह अतिशयोक्ति हुई है ।

जुहू, बुधवार,
फाल्गुन वदी १३, संवत् १९८०,
२ अप्रैल, १९२४ ई.

मोहनदास करमचंद गांधी

अध्याय १

भूगोल

आफ्रिका दुनिया का एक बडे से बडा भू-खण्ड है। हिन्दुस्तान भी एक भू-खण्ड के बराबर देश माना जाता है; पर केवल रकबे के लिहाज से आफ्रिका में चार-पांच हिन्दुस्तान का समावेश हो सकता है। आफ्रिका के बिल्कुल दक्षिणी हिस्से को दक्षिण आफ्रिका कहते हैं। हिन्दुस्तान की तरह आफ्रिका भी प्रायद्वीप है। अर्थात् दक्षिण-आफ्रिका का एक बडा भाग समुद्र से घिरा हुआ है। आफ्रिका के संबंध में आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि वहां सबसे ज्यादह गरमी पडती है। और एक तरह से यह बात सच भी है। भू-मध्य-रेखा आफ्रिका के बीच से गुजरती है। इस रेखा के आसपास की गरमी का खयाल हिन्दुस्तान के रहनेवालों को नहीं हो सकता। हिन्दुस्तान के ठेठ दक्षिण में जिस गरमी का अनुभव हम करते हैं उससे भू-मध्य-रेखा की गरमी का थोडा-बहुत अन्दाज लग सकता है। परन्तु दक्षिण-आफ्रिका में वह गरमी नहीं। क्योंकि यह भाग भू-मध्य-रेखा से बहुत दूर है। वहां के कितने ही भागों की आब-हवा तो इतनी बढिया है और ऐसी सम-शीतोष्ण है कि वहां योरपीय

जातियां खुशी से घर बनाकर रह सकती हैं। हिन्दुस्तान में यह उनके लिए प्रायः असंभव है। फिर दक्षिण–आफ्रिका में तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह बड़े ऊंचे प्रदेश हैं। वे तिब्बत अथवा काश्मीर की तरह दस से चौदह हजार फीट ऊंचे नहीं। इससे वहां की हवा सूखी और बरदाश्त होने लायक ठण्डी होती है। और इसीसे दक्षिण–आफ्रिका का कितना ही प्रदेश क्षय के रोगियों के लिए अत्युत्तम माना जाता है। ऐसा एक हिस्सा है जोहानीस्वर्ग—दक्षिण आफ्रिका की सुवर्णपुरी। जिस जमीन के टुकड़े पर जोहानीस्वर्ग बसा हुआ है वह आज से ५० साल पहले बिल्कुल वीरान था—सूखी घास खड़ी रहती थी। पर जब वहां सोने की खानों का आविष्कार हुआ तब वहां जादू के मुआफिक देखते देखते घर बनने लगे और आज तो वहां विशाल सुशोभित बंगले बने हुए हैं। वहां के धनी लोगों ने, अपने खर्चे से, दक्षिण आफ्रिका के उपजाऊ मुकामों से तथा योरप से भी, एक एक पौधे के पन्द्रह पन्द्रह रुपये देकर वहां लगाये हैं। इस पूर्व इतिहास के न जाननेवाले यात्रियों को आज ऐसा दिखाई देगा मानों ये पेड़ यहां एक जमाने से लगे हुए हैं।

दक्षिण आफ्रिका के तमाम विभागों का वर्णन मैं यहां नहीं करना चाहता। मैं तो सिर्फ उन्हीं विभागों का वर्णन करूंगा जो हमारे विषय से कुछ संबंध रखते हैं। दक्षिण आफ्रिका में दो हुकूमतें हैं—(१) अंगरेजी और (२) पोर्टुगीज। पोर्टुगीज भाग को डेलागोआ वे कहते हैं और हिन्दुस्तान से जाते समय दक्षिण आफ्रिका का पहला बन्दर है। वहां से नीचे आने पर नेटाल, पहली ब्रिटिश रियासत, आती है। उसके बन्दर को पोर्ट नेटाल कहते हैं। पर हम उसे डर्बन के नाम से पहचानते हैं। दक्षिण आफ्रिका में भी वह आम तौर पर इसी नाम से प्रसिद्ध है। नेटाल का यह सब

से बडा शहर है। नेटाल की राजधानी का नाम है पीटरमारित्सवर्ग। वह डर्बन से आगे अन्दर कोई ६० मील दूर है। समुद्र से कोई दो हजार फीटकी ऊंचाई पर वसा है। डर्बन की आबहवा बंबई से कुछ कुछ मिलती है। पर बंबई से वहां की हवा कुछ सर्द जरूर है। नेटाल से आगे और अन्दर वढने पर ट्रान्सवाल आता है। वहां की धरती आज संसार को सब से ज्यादह सोना दे रही है। वहां कुछ साल पहले हीरे की भी खाने निकली थी। उनसे पृथ्वी का सब से बडा हीरा निकला था। कोहिनूर से बडा हीरा रूस के पास समझा जाता है। उसका नाम खान के मालिक के नाम पर रक्खा गया है और वह क़ीनन हीरा कहलाता है।

परन्तु जोहानीस्वर्ग के सुवर्णपुरी होते हुए तथा हीरे की खानें भी उसके नजदीक होते हुए वह ट्रान्सवाल की राजधानी नहीं। ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया है। जोहानीस्वर्ग से ३६ मील दूर है। वहां खास करके राज-दरवारी आदमी तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हैं। इससे वहां के वायु-मण्डल को शान्तिपूर्ण कह सकते हैं। पर जोहानीस्वर्ग का वायुमण्डल बहुत अशान्त है। जिस प्रकार हिन्दुस्तान के किसी शान्तिपूर्ण देहात से अथवा छोटे से शहर से बंबई पहुंचने पर वहां के धूम-धडक्के और अशान्ति से हमारा जी घवडा उठता है इसी प्रकार प्रिटोरिया से जानेवालों को जोहानीस्वर्ग का दृश्य मालूम होता है। यदि यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जोहानीस्वर्ग के लोग चलते नहीं वल्कि दौडते हैं। किसीको किसीकी तरफ देखने भर की फुरसत नहीं रहती और सब लोग इसी फिराक में डूबे रहते हैं कि थोडे से थोडे समय में अधिक से अधिक धन किस तरह कमा लें। ट्रान्सवाल को छोड कर और भी अन्दर पश्चिम में यदि हम जायं तो आरेंज फ्री स्टेट अथवा

आरेंजिया रियासत आती है। उसकी राजधानी ब्लुमफोंटीन है। यह अत्यन्त शान्त और छोटा-सा शहर है। आरेंजिया में खानें-वानें कुछ नहीं हैं। वहां से थोडे घण्टे रेल की यात्रा करके हम केप कालोनी की सरहद पर पहुंच जाते हैं। केप कालोनी यहां सबसे बडा राज्य है। उसकी राजधानी और बडे बन्दर का नाम केप टाउन है। वहीं केप आव् गुड होप नाम का अन्तरीप है। 'गुड होप' के मानी है शुभ आशा। वास्कोडिगामा जब पोर्टुगाल से भारत की खोज में निकला तब उसने यहां आ कर जहाज ठहराया और यहां उसे आशा बंधी कि अब अवश्य अपनी मुराद पूरी होगी। इसीसे उसने इस स्थान का नाम रक्खा शुभ आशा का अन्तरीप। इन चार अंगरेजी रियासतों के अलावा ब्रिटिश सल्तनत की 'रक्षा' के अधीन बहुतेरा प्रदेश है, जहां दक्षिण-आफ्रिका में योरपियनों के आगमन के पहले के बाशिन्दा रहते हैं।

दक्षिण-आफ्रिका का मुख्य पेशा खेती है। खेती के लिए यह देश उत्तम है। कितने ही भाग तो अत्यन्त उपजाऊ और सुहावने हैं। मकई वहां बहुत और आसानी से पैदा होती है। मकई दक्षिण आफ्रिका के हबशियों का प्रधान भोजन है। कितनी ही जगह गेहूं भी पैदा होता है। फलों के विषय में तो दक्षिण आफ्रिका मशहूर है। नेटाल में बीसों किस्मों के और बडे बढिया केले, पपीते और अननस पकते हैं और सो भी इतनी तादाद में कि गरीब से गरीब आदमी उन्हें खा सकता है। नेटाल तथा दूसरी रियासतों में नारंगी, संतरे, 'पीच' और 'एप्रिकाट' (जर्दालू) की तो इतनी इफ़रात वहां है कि हजारों आदमियों को मामूली मिहनत पर देहात में मुफ्त मिल सकते हैं। केप कालोनी तो अंगूर और 'प्लम' (एक तरह का बडा बेर) की भूमि है। वहां

जैसा अंगूर शायद ही दूसरी जगह फलता हो। और मौसिम पर वे इतने सस्ते हो जाते हैं की एक गरीब आदमी भी पेट भर कर के खा सके। जहां हिन्दुस्तानी रहते हों वहां आम के पेड न हों, यह नहीं हो सकता। हिन्दुस्तानियों ने आम की गुठलियां लगाई। इससे वहां आम भी अच्छी तादाद में मिल सकते हैं। कुछ किस्म के आम तो बंवई के 'हापुस पायरी' का जरूर मुकाबला कर सकते हैं। साग–तरकारी भी उस रसीली भूमि में वहुत पैदा होती है। और शौकीन हिन्दुस्तानियों ने तो हिन्दुस्तान की लगभग हर–किस्म की साग—तरकारी वहां तैयार कर रक्खी है।

मवेशियों की तादाद भी खूब है। गाय–बैल हिन्दुस्तान के गाय–वैल से ज्यादह ऊंचे–पूरे और मोटे–ताजे बलवान् होते हैं। गोरक्षा का दावा करनेवाले हिन्दुस्तान में अनेक गायों–बैलों को हिन्दुस्तान के लोगों की तरह दुबला–पतला देख कर मुझे वडी शर्म मालूम होती रहती है और अनेक वार मेरा हृदय रोया है। मुझे याद नहीं पडता कि दक्षिण आफ्रिका में दुबली गाय या बैल मैंने देखे हों—हालां कि मैं प्रायः अपनी आंखें खोल कर सारे देश में घूमा हूं। कुदरत ने अपने अन्य उपहारों के साथ इस भूमि को सृष्टि–सौन्दर्य से सजाने में कोई कसर नहीं रक्खी है। डर्वन का दृश्य बडा ही सुन्दर माना जाता है; परन्तु केप कालोनी उससे वढ जाता है। केप टाउन 'टेवल माउंटन' नाम के एक पहाड की तलहटी पर वसा हुआ है, न वहुत ऊंचा न वहुत नीचा। एक विदुषी ने जो दक्षिण–आफ्रिका की भक्त है, इस पहाड पर एक कविता लिखी है। उसमें वह कहती है कि जो अलौकिकता मैंने 'टेबल माउंटन' में अनुभव की है वह किसी पहाड में नहीं।

इसमें चाहे अत्युक्ति हो—मेरी राय में अत्युक्ति है,—पर इसकी एक बात मुझे जंच गई। वह कहती है कि 'टेबल माउन्टन' केप-टाउन के निवासियों के मित्र का काम देता है। यह बहुत ऊंचा नहीं है जिससे डरावना नहीं मालूम होता। लोगों को दूर ही से उसका पूजन कर के नहीं रह जाना पडता। वे तो उस पहाड में ही अपना घर बना कर रहते हैं। वह बिल्कुल समुद्र के किनारे है। समुद्र अपने निर्मल जल से उसकी पादपूजा करता है और उसका चरणामृत पीता है। क्या बालक, क्या बूढे और क्या स्त्रियां सब निडर हो कर तमाम पहाड में घूम-फिर सकते हैं और हजारों शहरातियों के कोलाहल से सारा पहाड रोज गूंज उठता है। विशाल वृक्ष, सुगंन्धित और रंग-बिरंगे पुष्प सारे पहाड को इस तरह सजाते हैं कि देख कर, घूम कर लोग अघाते ही नहीं।

दक्षिण-आफ्रिका में ऐसी बडी नदियां नहीं हैं जिनकी तुलना गंगा,-यमुना के साथ की जा सके। कुछ हैं, पर वे छोटी हैं। इस देश में कितनी ही जमीन ऐसी है जहां नदी का पानी पहुंचता ही नहीं। ऊंचे प्रदेशों में नहरें भी कैसे कट सकती हैं? जहां समुद्र-सदृश नदियां न हों वहां नहरें कहां से हो सकती हैं? दक्षिण-आफ्रिका में कुदरत ने जहां जहां पानी की तंगी कर रक्खी है वहां पाताल के ऐसे गहरे कुए खोदे गये हैं और हवा-चक्की तथा भाप यन्त्रों के द्वारा पानी खींच कर सिचाई की जाती है। खेती के लिए वहां की सरकार की तरफ से बहुत मदद मिलती है। किसानों को सलाह-मशवरा देने के लिए सरकार खेती के विशेषज्ञों को भेजती है। कितनी ही जगह सरकार प्रजा के लिए खेती के अनेक प्रयोग करती है, नमूने के खेत तैयार करती है,

लोगों को मवेशियों और बीज की सुविधा कर देती है–बहुत कम दाम पर पाताल–ऐसे गहरे कुवों की मिट्टी वगैरह निकलवा देती है और उनका खर्च किश्तों के द्वारा लेने की सहूलियत उन्हें कर देती है। इसी प्रकार खेतों के आस–पास लोहे के कांटेदार तार लगवा देती है।

दक्षिण–आफ्रिका भू–मध्य–रेखा से दक्षिण की ओर है, हिन्दुस्तान उत्तर की ओर। इससे वहां का सारा वायु–मण्डल हिन्दुस्तानियों को अटपटा मालूम होता है। वहां की ऋतुयें भी अटपटी हैं। जब हमारे यहां गरमी की ऋतु होती है तब वहां जाडे की ऋतु होती है। बारिश का कोई खास नियम नहीं। जब चाहे तभी आ जाती है। बारिश आमतौर पर २० इंच से ज्यादह नहीं होती।

अध्याय २

इतिहास

आफ्रिका के भूगोल पर दृष्टिपात करते हुए जिन विभागों को हमने देखा उन्हें आदिम विभाग न समझिएगा। ठेठ पुरातन काल में वहां किन लोगों की आबादी थी, यह ठीक ठीक निश्चित न हो पाया है। जब योरप के लोग दक्षिण-आफ्रिका में आबाद हुए तब वहां हबशी लोग रहते थे। यह माना जाता है कि जब अमरिका में गुलामी-प्रथा का जोरशोर था तब वहां से कितने ही हबशी भाग कर दक्षिण-आफ्रिका में आ बसे थे। उनके जुदी जुदी जातियां होती हैं—जैसे जुलू, स्वाजी, बसूटो, बेकवाना आदि। उनकी भाषा में भी फर्क होता है। इन हबशियों को दक्षिण आफ्रिका के आदिम निवासी कह सकते हैं। परन्तु दक्षिण-आफ्रिका इतना बडा देश है कि जितनी आबादी अभी हबशियों की वहां है उसके २०-३० गुना लोग बा-मिजाज़ समा सकते हैं। डर्बन से केपटाउन रेल के रास्ते कोई १,८०० मील की यात्रा करनी पडती है। समुद्र के रास्ते १००० मील से कम फासला नहीं है। इन चार रियासतों का क्षेत्रफल ४,७३,००० वर्गमील है।

इस विशाल प्रदेश में हबशियों की आबादी १९१४ ई० में कोई ५० लाख थी और गोरों की कोई १२ लाख। हबशियों में जुलू सब से ज्यादह ऊंचा-पूरा और खूबसूरत माना जा सकता है। खूबसूरत विशेषण का प्रयोग मैंने जानबूझ कर किया है। हम लोग गोरे चमडे और तीखी नाक पर खूबसूरती का आरोप करते हैं। इस वहम को जरा देर के लिए ताक पर रख दें तो हमें यह न प्रतीत हो कि जुलू की सृष्टि कर के ब्रह्मा ने किसी बात में कमी रक्खी है। स्त्री पुरुष दोनों ऊंचे होते हैं। और ऊंचाई के ही लिहाज से उनकी छाती विशाल होती है। सारे शरीर की रगें बातरतीब और बहुत मजबूत होती हैं। उनकी पिंडली और भुजा मांसल और गोलाकार दिखाई देती हैं। स्त्री या पुरुष झुक कर या कुब्बड निकाल कर चलते हुए शायद ही दिखाई देंगे। हां, होंठ अलबत्ते बडे और मोटे होते हैं। परन्तु सारे शरीर के आकार को देखते हुए मैं तो उन्हें जरा भी बे-डौल न कहूंगा। आंखें गोल और आबदार होती हैं। नाक चिपटी और मोटे मुंह को फबने लायक ही मोटी होती है। सिर के घुंघराले बाल शीशम के सदृश काले और चमकीले बदन पर खिल उठते हैं। यदि हम किसी जुलू से पूछें कि दक्षिण-आफ्रिका में रहनेवाली जातियों में तुम सब से अधिक सुरूप किसे मानते हो तो वह अपनी ही जाति का नाम पेश करेगा और इसमें मुझे उसका जरा भी अज्ञान नहीं दिखाई देता। योरप में सैंडो वगैरह जिन साधनों का प्रयोग अपने शागिर्दों के बाहु, छाती, इत्यादि अवयवों को सुदृढ बनाने के लिए करते हैं उनके प्रयोग के बिना ही कुदरती तौर पर इस जाति के अंग-प्रत्यंग गठीले और सुडौल दिखाई देते हैं। कुदरत का नियम है कि जो लोग भू-मध्य-रेखा के नजदीक रहते हैं उनका चमडा काला ही

होना चाहिए। और यदि हम यह मानें कि कुदरत जो जो नमूने तैयार करती है उनमें सुन्दरता जरूर होती है तो सौन्दर्य्य-संबंधी अपने संकुचित और एक-देशी विचारों से मुक्त हो जायं। यही नहीं, बल्कि भारत में भी हमें अपने किंचित् काले चमड़े पर जो अनुचित शर्म और ग्लानि मालूम होती है वह भी जाता रहे।

ये हवशी लोग घास-फूस के गोलाकार कुबों (झोंपड़ों) में रहते हैं। इन कुबों के एक ही गोल दीवार होती है। और ऊपर फूस की साया। अन्दर एक खंभे पर फूस का आधार रहता है। उसमें एक ही दरवाजा होता है जिसमें झुक कर जा सकते हैं। यही हवा के आने-जाने का साधन है। उसे किवाड शायद ही होते हैं। हम लोगों की तरह वे भी दिवारों को और नीचे की जमीन को मिट्टी और गोबर से लीपते हैं। ऐसा माना जाता है कि ये लोग किसी चौकोन चीज को नहीं बना सकते। उन्होंने अपनी आंखों को केवल गोल चीजें ही देखने और बनाने का आदी बनाया है। कुदरत भूमिति की सीधी रेखायें, सीधी आकृतियां, बनाती हुई नहीं दिखाई देती। और कुदरत के इन निर्दोष बालकों का ज्ञान उनके कुदरत-संबंधी अनुभव पर ही आधार रखता है।

उनके इस मिट्टी के महल में साज-सामान भी वैसाही होता है। योरप के सुधारों का प्रवेश होने के पहले वे चमडा ओढते, पहनते और बिछाते थे। मेज-कुरसी सन्दूक इत्यादि रखने की जगह इन महलों में न होतीं और बहुतांश में कह सकते हैं कि आज भी नहीं होती। अब वे केवल इस्तेमाल करते हैं। अंगरेजी सत्ता के आने के पहले स्त्री-पुरुष प्रायः नंगे रहा करते थे। अब भी देहात में बहुतेरे लोग उसी तरह रहते हैं। गुह्य अवयवों को एक चमडे से ढंक लेते हैं। कोई नहीं भी ढंकते। पर कोई पाठक इसका

यह अर्थ न करे कि वे अपनी इन्द्रियों को अपने अधीन नहीं रख सकते। जहां एक बडा समुदाय एक रूढी के अनुसार चलता हो तहां दूसरे समुदाय को वह रूढी बेजा मालूम होती हो, तिस पर भी यह बिल्कुल संभवनीय है कि पहले की दृष्टि में वह बिल्कुल दोषार्ह न हो। इन हबशियों को इतनी फुरसत ही नहीं होती कि एक दूसरे की ओर ताका करें। भागवतकार कहते हैं कि शुकदेवजी जब नग्न नहाती स्त्रियों के बीच से हो कर चले गये तब उनके मन में जरा भी विकार उत्पन्न न हुआ और न उन निर्दोष स्त्रियों के भी मन में क्षोभ हुआ और न शर्म मालूम हुई। इसमें मुझे कोई बात अलौकिक नहीं मालूम होती। हिन्दुस्तान में आज ऐसे अवसर पर कोई भी इतनी निर्मलता नहीं अनुभव कर सकता। यह मनुष्य-जाति की पवित्रता की हद नहीं, बल्कि हमारे दुर्भाग्य का चिह्न है। हम जो इन्हें जंगली मानते हैं यह हमारे अभिमान की प्रतिध्वनि है। जैसा हम मानते हैं ऐसे जंगली वे नहीं हैं।

ये हबशी जब शहर में आते हैं तब उनकी स्त्रियों के लिए ऐसा कानून है कि उन्हें छाती से लेकर घुटने तक शरीर ढंक लेना चाहिए। इसलिए उनको मजबूरन् एक कपडा लपेट लेना पडता है। इसके फल-स्वरूप दक्षिण-आफ्रिका में इस नाप के कपडे की बहुत बिक्री होती है और ऐसे लाखों कम्बल और चद्दर हर साल योरप से आती हैं। पुरुषों के लिए कमर से घुटने तक बदन ढांक रखना लाजिमी है। इससे उन्होंने तो योरप के पहने हुए कपडों को पहनने की प्रथा शुरू कर दी है। जो ऐसा नहीं करते वे नाडीदार चड्डियां पहनते हैं। ये तमाम कपडे योरप ही से आते हैं।

इनका मुख्य आहार है मकई और जब मिल जाय तब मांस। खुश-किस्मती से वे अभी मसाले वगैरह से बिल्कुल अनजान हैं।

इनके भोजन में यदि मसाला पड़ा हुआ हो या हलदी का रंग दिखाई दे तो नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे। और जो बिल्कुल जंगली माने जाते हैं वे तो उसे छूवेंगे भी नहीं। एक सेर साबित उबाली हुई मकई को जरा जरा नमक लगा कर खा जाना एक मामूली जुलू के लिए कोई बड़ी बात नहीं है। मकई के आटे को पानी में पका कर खा लेने में सन्तोष मानते हैं। जब कभी मांस मिल जाता है तब कच्चा, या पका अथवा भून कर नमक के साथ खा जाते हैं। किसी भी क़िस्म के प्राणी का मांस खाने में वे नहीं हिचकते।

उनकी भाषा का नाम भी जुलू है। लेखन-कला का प्रवेश वहां गोरों ने ही किया है। हबशियों की कोई वर्णमाला नहीं। हाल में रोमन लिपि में बाइबिल वगैरह हबशियों की भाषा में छापी गई हैं। जुलू-भाषा बड़ी ही मधुर है। बहुतेरे शब्द का उच्चारण आकारान्त होता है। इससे भाषा की ध्वनि कान को हलकी और मीठी लगती है। मैंने पढ़ा और सुना है कि उसके शब्दों में अर्थ और कवित्व दोनों होते हैं। जिन थोड़े शब्दों का ज्ञान मुझे अनायास हो गया है उससे मुझे भाषा-संबंधी पूर्वोक्त मत ठीक मालूम होता है। शहरों आदि के जो नाम मैंने पहले दिये हैं वे योरपियन लोगों के बनाये हुए हैं। उन सब के काव्य-मय हबशी नाम भी हैं। मुझे याद नहीं है। इससे यहां न दे सका।

हबशियों का धर्म ईसाई पादरियों के मत के अनुसार कुछ नहीं था और न है। पर धर्म का व्यापक अर्थ लें तो कह सकते हैं कि वे एक ऐसी अलौकिक शक्ति को जरूर मानते हैं, जिसे वे पहचान नहीं सकते, और उसकी पूजा करते हैं। वे उस शक्ति से डरते भी हैं। उन्हें यह भी धुंधले तौर पर जान पड़ता है कि शरीर के नाश के साथ मनुष्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता। यदि

नीति को हम धर्म की बुनियाद मानें तो वे नीति के कायल हैं और इसलिए हम उन्हें धर्मवान् भी कह सकते हैं। सच और झूठ का उन्हें पूरा खयाल है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में वे जिस हदतक सत्य का पालन करते हैं उस हदतक गोरे अथवा हम लोग पालन करते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है। मन्दिर आदि उनके नहीं होते। दूसरे लोगों की तरह उनमें भी बहुतेरे वहम पाये जाते हैं। शरीर की मजबूती में यह जाति संसार की किसी जाति से कम नहीं। फिर भी पाठकों को आश्चर्य होगा कि यह जाति ऐसी डरपोक है कि एक गोरे बच्चे को देख कर भी डर जाती है। यदि उसके सामने कोई पिस्तोल उठा लेता है तो या तो वे भाग जाते हैं या ऐसे मूढ बन जाते हैं कि उनके पैरों में भागने की भी ताकत नहीं रहती। इसका कारण अवश्य है। उनके दिल में यह बात पैठ गई है कि मुट्ठीभर गोरे जो ऐसी बडी जंगली जाति को अपने अधीन कर पाये हैं उसमें कोई जादू जरूर होना चाहिए। वे भाला फेंकना और तीर चलाना खूब जानते थे। पर अब वे सब छीन लिये गये हैं। बन्दूक उन्होंने न कभी देखी न चलाई। न दियासलाई दिखानी पडती है, न उंगली चलाने के सिवा कोई क्रिया करनी पडती है फिरभी एक छोटी सी नली से एकाएक जोर की आवाज होती है, ज्वालासी दिखाई देती है और गोली लगकर देखते ही देखते आदमी धडाम् से गिर कर मर जाता है—इसका मर्म उनकी समझ में नहीं आता। इससे वे हमेशा इसके चलने के डर से बदहवास रहते हैं। उन्होंने और उनके बापदादों ने देखा है कि ऐसी गोलियों ने आज तक अनेक निराधार और निर्दोष हबशियों के प्राण हरण किये हैं। इसका कारण बहुतेरे हबशी आजतक नहीं जानते।

इस जाति में समाज-सुधार धीरे धीरे घुस रहा है। एक ओर से सज्जन पादरी, अपनी समझ के अनुसार, ईसा-मसीह का सन्देश उन्हें पहुंचाते हैं, उनके लिए मदरसे खोलते हैं और उन्हें मामूली लिखना-पढना सिखाते हैं। इनकी कोशिश से कितने सुशील हवशी तैयार भी हुए हैं। परन्तु ऐसे कितने ही लोग जो अबतक अक्षर-ज्ञान और समाज-सुधार से परिचय न रखते थे ढोंगी भी हो गये हैं। शायद ही कोई ऐसा हवशी शराबखोरी के दुर्व्यसन से बचा हो, जिसका साबका इन सुधारों से पड चुका हो। उन हट्टे-कट्टे मस्त लोगों के सिर जब शराब का नशा सवार होता है तब वे पूरे पागल हो जाते हैं और सब-कुछ कर गुजरते हैं। सुधारों की जहां बढती हुई कि जरूरतें बढीं। यह दो और दो, चार के बराबर सत्य है। अपनी जरूरतें बढाने के लिए कहिए अथवा उन्हें मिहनत की कीमत सिखाने के लिए कहिए, सबको हेड टैक्स, कुबा-टैक्स देना पडता है। यदि ये टैक्स उनपर न लगाये जायँ तो यह खेतों में रहने वाली कौम पृथ्वी के पेट के अन्दर सैंकडों गज गहरी खानों में सोना और हीरे निकालने के लिए क्यों उतरे? और यदि खानों के लिए इनकी मजदूरी सुलभ न हो तो सोना और हीरे पृथ्वी के उदर में ही न रह जायं? इसीप्रकार उनपर कर बैठाये बिना योरपियन लोगों को नौकर मिलना भी मुश्किल हो जाय। फल यह हुआ कि खानों के अन्दर काम करनेवाले हजारों हबशियों को दूसरे रोगों के साथ एक तरह का क्षय रोग भी हो जाता है जिसे 'माइन्डस थाइसिस' कहते हैं। यह रोग प्राणहारक है। उसके चंगुल में फंसे बाद शायद ही कोई बच सकता है। ऐसे हजारों लोग जब एक खान के अन्दर रहते हैं और साथ में उनके बालबच्चे न हों तो पाठक सहज ही कल्पना

कर सकते हैं कि वे संयम का पालन कहांतक कर सकते होंगे? उसके फल स्वरूप पैदा होनेवाले रोगों के भी शिकार वे लोग हो जाते हैं। दक्षिण-आफ्रिका के विचारशील गोरे भी इस प्रश्न का विचार न करते हों सो बात नहीं। ऐसे कितने ही गोरे जरूर मानते हैं कि इन सुधारों का असर समष्टि-रूप से इन लोगों पर अच्छा ही हुआ है, यह दावा शायद ही किया जा सके। इसका बुरा असर तो किसी भी शख्स को दिखाई दे सकता है।

इस महान् देश में जहां ऐसी भोली-भाली जाति बसती थी, कोई चार सौ साल पहले वलन्दा लोगों ने अपना पडाव डाला। वे गुलाम तो रखते ही थे। अपने जावा-राज्य से कितने ही वलंदा अपने मलायी गुलामों को ले कर उस प्रान्त में आये जिसे हम आज केप कालोनी के नाम से जानते हैं। ये मलायी लोग मुसलमान हैं। उनमें वलंदा लोगों का खून है और उसीके अनुसार कितने ही गुण भी हैं। वे सारे दक्षिण-आफ्रिका में इक्के-दुक्के फैले हुए नजर आते हैं। परन्तु उनका मुख्य स्थान केपटाउन है। आज उनमें कितने ही लोग गोरों की नौकरी करते हैं और दूसरे अपना निजी पेशा करते हैं। मलायी स्त्रियां वहुत उद्योगी और होशियार होती हैं। उनकी रहन-सहन वहुत-कुछ साफ-सुथरी दिखाई देती है। औरतें सीना-पिरोना और कपडे-धोना वहुत अच्छा जानती हैं। मर्द कुछ छोटा-बडा रोजगार करते हैं। कितने ही लोग गाडियां हांक कर अपनी गुजर कर लेते हैं। कुछ लोगों ने उच्च शिक्षा भी पाई है। उनमें एक डाक्टर अब्दुल रहमान केपटाउन में विख्यात हैं। वे केपटाउन की पुरानी धारा-सभा में भी पहुंच पाये थे। नवीन विधान के अनुसार मुख्य धारासभा में जाने का यह अधिकार छीन लिया गया है।

वलन्दा लोगों का वर्णन करते हुए बीच में मलायी लोगों का भी कुछ बयान आ गया। अब जरा यह देखें कि वलन्दा लोग किस तरह आगे बढे। यह कहने की जरूरत नहीं कि वलन्दा डच लोगों को कहते हैं। ये लोग बहादुर लडवैया थे और हैं। उतने ही कुशल खेतिहर थे और आज भी हैं। उन्होंने देखा कि हमारे आस-पास का मुल्क खेती के बहुत लायक है। उन्होंने देखा कि वहां के निवासी साल में थोडा ही समय काम कर के अपनी गुजर आसानी से कर सकते हैं। तो फिर उनसे मजदूरी क्यों न करावें? वलन्दा के पास अपना हुनर था, बन्दूक थी, और वे यह भी जान सकते थे कि मनुष्यों तथा दूसरे जीवधारियों पर किस प्रकार अपना काबू करें। उनका यह विश्वास था कि ऐसा करने में धर्म की कोई बाधा नहीं है। अतएव अपने कार्य के औचित्य के विषय में जरा भी शंकाशील हुए बिना उन्होंने दक्षिण-आफ्रिका के निवासियों की मजदूरी के बलपर खेती वगैरह करना शुरू किया। जिस प्रकार वलन्दा दुनिया में अपना फैलाव करने के लिए अच्छी अच्छी जमीनें खोज रहे थे उसी तरह अंगरेज लोग भी जमीन की फिराक में थे। धीरे धीरे अंगरेज भी वहां आये। अंगरेज और डच चचेरे भाई तो हई हैं। दोनों की खासियत एक, लोभ एक। जब एक ही कुम्हार के मटके एक जगह जुट जाते हैं तब किसी वक्त टकराते भी हैं, फूटते भी हैं। इसी प्रकार वे दोनों जातियां अपना पांव पसारते हुए और धीरे धीरे हबशियों पर अपना कब्जा करते हुए आपस में लड पडीं। झगडे हुए—लडाइयां भी हुईं। मजूबा की पहाडी पर अंगरेज लोग हारे भी। यह मजूबा का दाग रह गया और पक कर फोडा बन गया। १८९९ से १९०२ तक जो संसार-प्रसिद्ध बोअर-युद्ध हुआ उसमें वह फोडा

फूटा और जनरल क्रोन्जे को जब लार्ड राबर्टस ने शिकस्त दी तब उन्होंने स्वर्गीया महारानी विक्टोरिया को तार किया—'मजूबा का बदला ले लिया।' परन्तु जब पहली—(बोअर-युद्ध के पहले की) चकमक इन दोनों के बीच हुई तब बहुतेरे वलन्दा लोग अंगरेजों की नाममात्र की सत्ता भी कुबूल करना नहीं चाहते थे। इससे वे दक्षिण आफ्रिका के भीतरी भागों में चले गये। फलतः ट्रान्सवाल और आरेंज फ्री-स्टेट की सृष्टि हुई।

यही वलन्दा अथवा डच लोग दक्षिण-आफ्रिका में 'बोअर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। बच्चा जिस प्रकार माता की सेवा करता है उसी प्रकार उन्होंने अपनी भाषा की सेवा करके उसको सुरक्षित रक्खा है। उनकी नस नस में यह बात पैठ गई है कि आजादी का घनिष्ठ संबंध भाषा से है। कितने ही आक्रमण होने पर भी वे अपनी मातृभाषा की रक्षा कर रहे हैं। अब इस भाषा ने ऐसा नवीन रूप धारण कर लिया है जो वहां के लोगों को अनुकूल पड़े। वे हालैंड के साथ अपना घनिष्ठ संबंध न रख सके। इससे जिस प्रकार संस्कृत से प्राकृत भाषायें निकली हैं उसी प्रकार डच से अपभ्रष्ट डच बोअर लोग बोलने लगे। पर अब वे अपने बच्चों पर गैरजरूरी भार डालना नहीं चाहते। इस लिए उन्होंने इस प्राकृत बोली को स्थायी रूप दे दिया है और उसे 'टाल' कहते हैं। उसी भाषा में उनकी पुस्तकें लिखी जाती हैं। बालकों को शिक्षा उसी भाषा में दी जाती है। और धारासभा में बोअर सभासद टाल-भाषा में ही भाषण करते हैं। युनियन के बाद सारे दक्षिण-आफ्रिका में दोनों भाषायें—टाल अथवा डच और अंगरेजी—एकसी प्रतिष्ठित हैं—यहांतक कि वहां नियम है कि सरकारी गजेट दोनों भाषाओं में प्रकाशित होना चाहिए और धारा-

सभा की कार्रवाई भी दोनों भाषाओं में छापनी चाहिए। बोअर लोग सादगी से रहनेवाले और पक्के धर्मनिष्ठ हैं। विशाल खेतों में बसते हैं। हम वहां के खेतों के विस्तार का अन्दाज तक नहीं कर सकते। हमारे यहां के किसानों के खेत २-३ वीघे से अधिक नहीं होते। इससे भी कम होते हैं। वहां के खेतों का न पूछिए-सैंकडों अथवा हजारों बीघा जमीन एक एक शख्स के कब्जे में होती है। इन किसानों को यह भी लोभ नहीं होता कि तमाम जमीन जोत डालें। और यदि कोई कहे तो कहते हैं-"पडी न रहे। जिसे हम न जोत पावेंगे उसे हमारी औलाद जोतेगी।"

हरएक बोअर युद्ध-कला में पूरा पूरा प्रवीण होता है। वे चाहे अपने आपस में भले ही लड-झगड लें पर उन्हें अपनी आजादी इतनी प्यारी होती है कि जब उनपर किसी का हमला होता है तब तमाम बोअर उसका सामना करने को तैयार हो जाते हैं और एक शरीर की तरह लडते हैं। उन्हें कवायद-परेट की भारी ज़रूरत नहीं होती। क्योंकि लडना तो उनकी सारी जाति का स्वभाव या गुण है। जनरल स्मट्स, जनरल डीवेट, जनरल हर्जोग तीनों बडे वकील हैं, और बडे कृषिकार हैं, और तीनों वैसे ही लडवैया भी हैं। जनरल बोथा के पास ९ हजार एकड का एक खेत था। खेती की तमाम पेचीदगियां वे ज़ानते थे। जब ये सुलह के लिए योरप गये तब उनके संबंध में यह कहा गया था कि भेडों की परीक्षा में उनके जैसा निपुण योरप में भी शायद ही कोई हो। ये जनरल बोथा स्वर्गीय प्रेसिडेंट क्रूगर के स्थानापन्न हुए थे। वे अच्छी अंगरेजी जानते थे। पर जब वे इंग्लैंड में सम्राट् से तथा मन्त्रि-मण्डल से मिले तब उन्होंने हमेशा अपनी ही मातृभाषा में बात-चीत करना पसन्द किया। कौन कह

सकता है कि यह यथार्थ नहीं था ? अंगरेजी-भाषा के ज्ञान का परिचय देने के लिए भूलें कर बैठने के खतरे में क्यों पडें ? मौजूं शब्द की खोज करते हुए अपनी विचार-श्रेणी के भंग करने का साहस किसलिए करें ? मन्त्रि-मण्डल यदि केवल अनजान में कुछ अपरिचित मुहावरों का प्रयोग करें; वे उनका अर्थ न समझ पावें और कुछ का कुछ जवाब निकल जाय, शायद गडबडा भी जायं और उससे अपनी हानि कर बैठें तो ऐसी गहरी भूल वे क्यों करें ?

बोअर पुरुष जिस प्रकार बहादुर है और सादगी से रहते हैं उसी प्रकार उनकी स्त्रियां भी वीर और सादगी-पसन्द हैं। बोअर-युद्ध के समय बोअर लोगोंने जो अपना इतना खून बहाया वह उनकी स्त्रियों की हिम्मत और उत्साह के बल पर । स्त्रियों को न तो विधवा हो जाने का डर था, न भविष्य का डर था । मैं ऊपर कह चुका हूं कि बोअर लोग कट्टर धर्मनिष्ठ हैं, ईसाई हैं । पर यह नहीं कह सकते कि वे ईसा-मसीह के 'न्यू टेस्टामेंट' को मानते हैं । सच पूछिए तो योरप भी 'न्यू टेस्टामेंट' को कहां मानता है ? फिर भी योरप में 'न्यू टेस्टामेंट' को मानने का दावा जरूर किया जाता है—हां, कितने ही योरप-वासी अलबत्ते ईसा-मसीह के शान्ति-धर्म को जानते और पालते हैं। पर बोअर लोग तो न्यू टेस्टामेंट का नाममात्र जानते हैं । हां, ओल्ड टेस्टामेंट को वे बडी भावुकता के साथ पढते हैं और उसकी लडाइयों के वर्णनों को रटते हैं । हजरत-मूसा की 'दांत के बदले दांत और आंख के बदले आंख' की नीति को सोलहों आना मानते हैं । और जैसा मानते हैं वैसा ही करते भी हैं ।

बोअर स्त्रियों ने भी यह समझकर कि अपनी स्वतन्त्रता की

मदद से मैं धारासभा को चमका सकूंगा । एक नाटककार भी मुख्य पात्र के बिना अपने नाटक को सुशोभित नहीं कर सकता । तो इस जटिल और दुर्गम संसार में कारोवार करनेवाला मनुष्य यदि मुख्य पात्र को भूल कर सफल होने की आशा रक्खें तो उसे पागल समझना चाहिए । सचमुच यही दशा लार्ड मिलनर की हुई । और यह भी कहा जाता था कि उन्होंने धमकी दे तो दी परन्तु ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट का कार्य-संचालन जनरल बोथा के बिना करना उन्हें इतना कठिन हो गया कि वे अपने बगीचे में चिन्तातुर और बदहवास नजर आते ! जनरल बोथा ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि फ्रीनिखन कें सुलहनामे का अर्थ मैं तो यही स्पष्ट तौरपर समझता हूं कि बोअर लोगों को अपनी भीतरी व्यवस्था का पूरा पूरा अधिकार तुरंन्त मिलेगा । और उन्होंने कहा यदि ऐसा न होता तो मैं उसपर कभी दस्तखत न करता । लार्ड किचनर ने इसके जवाव में यह कहा कि हमने जनरल बोथा को किसी तरह ऐसा विश्वास नहीं दिलाया था । बोअर लोग ज्यों ज्यों विश्वास-पात्र सावित होते जायंगे त्यों त्यों धीरे धीरे उन्हें स्वतन्त्रता मिलती जायगी ! अब इन दोनों का इन्साफ कौन करे ? यदि कोई पंच की बात कहता तो भी जनरल बोथा क्यों मानने लगे ? उस समय वडी सरकार ने जो इन्साफ किया वह उसे सब तरह से जेवा देने लायक था । उसने मंजूर किया कि प्रतिपक्ष और उसमें भी निर्वल पक्ष-समझौते का जो अर्थ समझा हो वही अर्थ सवल पक्ष को स्वीकार करना चाहिए । न्याय और सत्य की नीति के अनुसार तो हमेशा यही अर्थ सच होता है । अपने कथन का अर्थ मैंने अपने मन में चाहे जो कर रक्खा हो, पर मुझे मानना चहिए कि उसका जो भाव पढनेवाले अथवा सुननेवाले के चित्तपर अंकित हो उसी भाव में

मैंने वह वचन कहा या लेख लिखा था। इस सुनहले नियम का पालन हम व्यवहार में बहुत बार नहीं करते। इसीसे कई झगडे खडे होते हैं और सत्य के नामपर अर्धसत्य–अर्थात् डेढ असत्य–से काम लिया जाता है।

इस प्रकार जब सत्य की अर्थात् यहां जनरल बोथा की, पूरी विजय हुई तब वे काम में जुटे। फलतः तमाम राज्य एकत्र हुए और दक्षिण–आफ्रिका को पूरी पूरी स्वतन्त्रता मिली। झण्डा यूनियन जैक है, नकशे में इस प्रदेश का रंग लाल है, फिर भी यह मानने में जरा भी ज्यादती नहीं कि दक्षिण–आफ्रिका पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। ब्रिटिश–साम्राज्य दक्षिण–आफ्रिका के कार्यकर्त्ताओं की राय के बिना दक्षिण–आफ्रिका से एक पाई नहीं ले जा सकता। इतना ही नहीं बल्कि ब्रिटिश मन्त्रियों ने यह स्वीकार किया है कि यदि दक्षिण–आफ्रिका ब्रिटिश झण्डे को निकाल डालना चाहे और नाम में भी स्वतन्त्र होना चाहे तो उसे कोई नहीं रोक सकता। और यदि आज दक्षिण–आफ्रिका के गोरे ऐसा नहीं करते हैं तो उसका सबल कारण है। एक तो यह कि बोअर लोगों के नेता बुद्धिमान् और समझदार हैं। ब्रिटिश–साम्राज्य के साथ यदि इस प्रकार की मित्रता रक्खी जाय अथवा ऐसा संबंध रक्खा जाय, जिसमें खुद कुछ खोना न पडे तो यह बेजा नहीं। पर इसके अतिरिक्त दूसरा व्यावहारिक कारण भी है। वह यह कि नेटाल में अंगरेजों की संख्या अधिक है, केपकालोनी में अंगरेजों की संख्या अधिक है पर बोअरों से अधिक नहीं और जोहान्सबर्ग में तो अंगरेजों का ही प्रभाव है। अतएव यदि बोअर लोग सारे दक्षिण–आफ्रिका में स्वतन्त्र प्रजासत्ताक राज्य स्थापित करना चाहें तो यह मानों घर में ही झगडा खडा करना है और शायद आपस में लडाई भी

चेत उठे। इससे दक्षिण आफ्रीका ब्रिटिश राज्य कहलाता है।

यह भी जानने लायक बात है कि यूनियन का कानून किस तरह बना। चारों रियासतों की धारासभाओं ने एकमत हो कर यूनियन का संगठन तैयार किया। संगठन ब्रिटिश पार्लामेन्ट को अक्षरशः कुबूल करना पडा। आम-सभा में एक सदस्य ने एक व्याकरण-दोष की ओर ध्यान खींच कर दूषित शब्द निकाल डालने की तजवीज पेश की। स्व० सर हेनरी केम्पबेल बैनरमैन ने उस तजवीज को नामंजूर करते हुए कहा कि राज्य-कार्य शुद्ध व्याकरण के द्वारा नहीं चल सकता। यह संगठन ब्रिटिश कार्यकारी-मण्डल और दक्षिण-आफ्रिका के राजकाजियों के सलाह-मशवरे के बाद तैयार हुआ है। उसके व्याकरण-दोष तक को दूर करने का अधिकार ब्रिटिश पार्लामेन्ट के लिए नहीं रक्खा गया है। अतएव यह संगठन आम और उमराव दोनों सभाओं में ज्यों का त्यों स्वीकार करना पडा।

इस मौके पर एक और बात भी लिखने लायक है। संगठन-पत्र में कितनी ही धारायें ऐसी हैं जो एक तटस्थ मनुष्य को फजूल मालूम होंगी। उससे खर्च भी बहुत बढ गया है। यह बात संगठन की रचना करनेवालों के ध्यान के भी बाहर नहीं थी। फिर भी उनका उद्देश पूर्णता को पहुंचना नहीं था, बल्कि यह था कि कुछ घटा-बढी कर के एकमत हों और अपना प्रयत्न सफल करें। इसीसे आजकल यूनियन की चार राजधानियां मानी जाती हैं; क्योंकि उपरियासतों में से कोई भी अपनी राजधानी का महत्व छोड देने के लिए तैयार नहीं था। चारों रियासतों की स्थानीय धारासभायें भी कायम रक्खी गई हैं। चारों रियासतों को गवर्नर जैसा कोई पदाधिकारी जरूर चाहिए—इसलिए चार हाकिम मंजूर

करना पड़े। सब लोग जानते हैं कि चार स्थानीय धारासभायें, चार राजधानियां और चार हाकिम अजागल-स्तन की तरह फजूल और एक आडम्बर-मात्र है। पर इससे कहीं आफ्रिका के व्यवहार-कुशल राजकाजी लोग डरने वाले थे? आडम्बर होते हुए भी और यदि इससे अधिक खर्च हो तो भी चारों रियासतों की एकता होना वांछनीय था। अतएव उन्होंने बाहर के लोगों की टीका-टिप्पणी की चिन्ता किये बिना वही किया जो उन्हें उचित दिखाई दिया और ब्रिटिश पार्लमेंट से मंजूर कराया।

यह दक्षिण-आफ्रिका का संक्षिप्त इतिहास मैंने पाठकों की जानकारी के लिए यहां देने की चेष्टा की है। उसके बिना सत्याग्रह के महान् संग्राम का रहस्य समझ में न आता। ऐसे प्रदेश में हिन्दुस्तानी लोग किस प्रकार आये और वहां सत्याग्रह-काल के पहले किस तरह अपने ऊपर आई आपत्तियों का मुकाबला किया, यह मूल विषय पर आने के पहले जानना जरूरी है।

अध्याय ३

दक्षिण-आफ्रिका में भारतीयों का आगमन

पिछले अध्याय में हम यह देख चुके कि नेटाल में अंगरेज आ वसे। उन्होंने जुलुओंसे कितने ही हक ले लिये। अनुभव से वे यह भी देख सके कि नेटाल में गन्ना, चाय और काफी की पैदायश भी वडी अच्छी होती है। और वडे पैमाने पर इसकी खेती करने के लिए हजारों मजदूरों की आवश्यकता है। विना उनकी सहायता के केवल पांच-पचीस अंगरेजी-परिवार ऐसी फसल नहीं पैदा कर सकते। उन्होंने हवशियों को यह काम करने के लिए ललचाया, और डराया भी। पर अव वह गुलामीकानून न रहा था। अतः वे सफलता पाने के लिए काफी वलप्रयोग न कर सके। हवशी लोग अधिक मिहनत नहीं करते। छ महीने तक मामूली मिहनत करके भी वे अपनी आजीविका भली भांति प्राप्त कर सकते हैं। फिर किसी मालिक के यहां वे अधिक दिन तक काम करने के लिए अपने आपको क्यों वांध लें? और जव तक स्थायी मजदूर न मिलें तव तक अंगरेज लोग अपने हेतु को पूरा नहीं कर सकते थे। अतः उन लोगों ने भारत-सरकार

से पत्रव्यवहार शुरु किया। और मजदूरों की सहायता मांगी। भारत-सरकार ने नेटाल गोरों की बात को स्वीकार किया। और सन १८४०-५० के लगभग पहला जहाज भारतीय मजदूरों को लेकर निकला।

मेरा खयाल है कि भारतीय सरकारने इस मांग को स्वीकार करते समय अधिक गहराई के साथ विचार नहीं किया। यहां के अंगरेज अधिकारी जाने-बेजाने अपने नेटालनिवासी भाइयों की तरफ झुके। हां, जहां तक हो सका मजदूरों की रक्षा की शर्तें उनके इकरारनामे में दर्ज करके उनके खानपान की व्यवस्था की चिन्ता भी प्रकट की। पर इस बात का किसी को भी पूरा खयाल न रहा कि इस प्रकार इतनी दूर जानेवाले अनपढ मजदूरों पर यदि कोई मुसीबत आ पडे तो वे किस तरह अपने को मुक्त कर सकते हैं। उनके धर्म का क्या हाल होगा? वे अपनी नीति की रक्षा कैसे करेंगे? इसका तो किसीने विचार भी नहीं किया। अधिकारियोंने यह भी नहीं सोचा कि यद्यपि कानून में गुलामी की प्रथा उठ चुकी थी किन्तु वहांके मालिकों के हृदय से दूसरों को गुलाम बनाने का लोभ नष्ट न हो पाया था। अधिकारियों को यह समझना चाहिए था कि बेचारे मजदूर इतनी दूर जाकर एक बडे समय के लिए गुलाम बनेंगे। पर यह बात भी उनके खयाल में नहीं आई। सर विलियम विल्सन हंटर ने, जिन्होंने इस स्थिति का गहन अध्ययन किया था, इसकी तुलना करते हुए दो शब्दों अथवा शब्द-समूह का उपयोग किया था। नेटाल के ही भारतीय मजदूरों के विषय में लिखते समय उन्होंने एक समय लिखा था कि यह तो नीम गुलामी है। दूसरे वक्त अपने पत्र में लिखते समय उन्होंने इस स्थिति को लगभग गुलाम की ही स्थिति बता कर उसका वर्णन

किया था। यही बात वहांके एक बडे से बडे गोरे निवासी, स्वर्गीय श्रीयुत एस्कंबे ने नेटाल के एक शिष्ट-मंडल के सामने गवाही देते हुए कुबूल की थी। यों तो इस बात का सुबूत नेटाल के कई अग्रगण्य अंगरेजों के मुंह से ही दिया जा सकता है और उनमें अधिकांश तो इस विषय में भारतीय सरकार को दी गई दरख्वास्तों में भी शरीक थे। खैर; जो होना था सो हो चुका, पर जो जहाज इन मजदूरों को ले गया वही सत्याग्रह के महान् वृक्ष के वीज भी साथ ही ले गया। मजदूरों को नेटाल-स्थित यहां के भारतीय दलालोंने किस तरह धोखा दिया, बेचारे यह लोग किस तरह उनके जाल में आये, नेटाल पहुंचने पर उनकी आंखें किस तरह खुलीं, आखें खुलकर भी वे नेटाल में क्यों रहे, किस तरह और भी मजदूर उनके पीछे पीछे वहां गये; वहां जाकर उन सबने किस प्रकार धर्म और नीति के बंधनों को तोड डाला या वे ही टूट गये, किस प्रकार विवाहित स्त्री और वेश्या के बीच का भेद भी न रहा, इसकी रामकहानी तो इस छोटीसी पुस्तक में कैसे लिखी जा सकती है?

नेटाल जाते वे मजदूर एग्रीमेंट में आये हुए मजदूर के नाम से जाने जाते हैं। अतः वे अपने को गिरमिटिया कहते हैं। इसलिए अब हम भी एग्रीमेन्ट को गिरमिट और उसमें बंधे हुए मजदूर को गिरमिटिया कहेंगे।

जब यह खबर कि नेटाल में गिरमिटिया लोग गये हैं मोरीशस में पहुंची तब इसके मजदूरों के साथ संबंध रखने वाले वहां के कितने ही भारतीय व्यापारियों का दिल नेटाल जाने के लिए ललचाया, मोरीशस, नेटाल और भारत के बीच में है। मोरीशस टापू में हजारों भारतीय-मजदूर और व्यापारी रहते हैं।

उनमें से एक व्यापारी स्वर्गीय अबूबकर आमद ने नेटालमें एक दूकान खोलने तक का निश्चय भी किया। इस समय नेटाल के अंगरेजों तक को न तो यह सुध ही थी, न परवा ही थी, कि भारतीय व्यापारी क्या क्या कर सकते हैं। वे गिरमिटियाओं की सहायता से गन्ना, चाय, काफी, आदि की खेती करके बहुत फायदा उठा रहे थे। गन्ने से शक्कर बनाकर वे इतने थोडे समय में वहां की आवश्यकताओं को पूरा करने लग गए कि दक्षिण-अफ्रिका में सबको आश्चर्य हुआ। अपने मुनाफे की रकम से उन्हें बडे बडे महल बनाए और 'जंगल में मंगल' कर दिया। ऐसे समय यदि सेठ अबूबकर जैसा चतुर व्यापारी उनके बीच में आ बसे तो उन्हें वह क्यों न खुटके ? फिर इन में तो एक अंगरेज भी आ मिला। अबूबकर सेठ ने अपना व्यापार फैलाया जमीन खरीदी। उनकी जन्मभूमि पोरबंदर और उसके आसपास के गांवों तक यह बात फैल गई कि सेठ साहब आज कल खूब मुनाफा कमा रहे हैं। शीघ्र ही दूसरे मेमन नेटाल पहुंचे। उनके पीछे पीछे सूरत के बहोरा भी चले। बहोराओं के साथ साथ महेता लोग (मुनीम) लोग तो अवश्य होने चाहिए। अतः गुजरात-काठियावाड के हिन्दू महेता भी गये।

इस तरह नेटाल में अब दो श्रेणी के भारतीय हो गए—(१) स्वतन्त्र व्यापारी और उनका स्वतन्त्र अनुचर-समुदाय, और (२) गिरमिटिया। धीरे धीरे गिरमिटियाओं के बाल बच्चे हुए। यद्यपि कानून के अनुसार उनकी संतान मजदूरी करने के लिए बंधी हुई न थी, तथापि इसपर कानून की कितनी ही कठोर धाराओं का अंकुश तो अवश्य था। गुलाम की सन्तति गुलामी के लांछन से कैसे मुक्त रह सकती है ? गिरमिटिया यहांसे पांच साल के इकरार पर जाते थे।

पांच साल के बाद वे मजदूरी करने पर बाध्य न थे। स्वतन्त्ररूप से मजदूरी अथवा व्यापार कर के नेटाल के स्थायी निवासी होने का उन्हें हक था। कितनों ही ने इस हक का उपयोग किया और अन्य कितने ही फिर भारत को लौट आये। जो नेटाल में ही रहे वे "फ्री इण्डियन्स" कहाने लगे। उन्हें हम 'गिरमिट-मुक्त' अथवा संक्षेप में 'मुक्त भारतीय' कहेंगे। यह भेद समझ लेना जरूरी है। क्योंकि जो हक ऊपर बताये स्वतंत्र भारतीयों को थे वे इन्हें (मुक्त भारतीयों) को न थे। जैसे यदि उन्हें एक गांव से दूसरे गांव जाना हो तो इसके लिए उन्हें लेसेन्स लेना जरूरी था। यदि वे विवाह करना चाहें और यह इच्छा हो कि वह कानून के द्वारा मंजूर किया जाय तो ऐसा कराने के लिए उन्हें गिरिमिटियाओं की रक्षा के लिए नियत अधिकारी के दफ्तर में उसे दर्ज करा देना चाहिए, आदि। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही कठोर धाराओं का अंकुश उनपर था। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में १८८०-९० में बोअर लोगों के प्रजासत्ताक राज्य थे। प्रजासत्ताक राज्य का अर्थ भी यहां स्पष्ट कर देना जरूरी है। प्रजासत्ताक यानी गोरासत्ताक। उसमें हबशी लोगों के लिए कहीं स्थान न था। भारतीय व्यापारियों ने देखा कि हम केवल गिरमिटिया और मुक्त भारतीयों के साथ ही नहीं बल्कि हबशियों के साथ भी व्यापार कर सकते हैं। हबशियों के लिए भारतीय व्यापारी तो बडे काम की चीज साबित हुआ। गोरे व्यापारियों से वे बहुत डरते थे। गोरे व्यापारी उनके साथ व्यापार करना चाहते तो जरूर थे, पर हबशी ग्राहक कभी यह आशा नहीं रख सकता था कि गोरा उन्हें मीठी जबान से पुकारेगा। अगर गोरा व्यापारी उसे पैसे का पूरा माल देता तो वह अपने अहो भाग्य

समझता । कभी कभी तो यहां तक कडुआ अनुभव हुआ है कि यदि उसे चार शिलिंग की कोई चीज खरीदना हो और वह दूकानदार के सामने एक पाउण्ड रख दे तो उसे १६ शिलिंग के वदले चार शिलिंग वापिस मिले, अथवा कुछ भी न मिले । यदि बेचारा अधिक मांगता है, तो उसके हिसाव की गलती दिखाता है सो इसके वदले में उसे सीधी सीधी गालियां सुननी पडती । इतने पर ही छूट जाय तो भी गनीमत, नहीं तो गालियों के साथ घूंसा लात भी खानी पडती । इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि सभी अंगरेज व्यापारी ऐसे होते हैं । पर यह तो जरूर कहा जा सकता है कि ऐसे उदाहरण काफी तादाद में मिल सकते हैं । इसके विपरीत भारतीय व्यापारी अपने हवशी ग्राहकों को मीठी जवान से पुकारता है ! हंसकर बात करता है । हवशी भोलेभाले होते हैं । वे दूकान के अन्दर आकर चीजों को हाथ लगाते हैं या उनमें हाथ डाल कर देखते हैं तो वह यह सब सह लेता है । माना कि यह परमार्थ की दृष्टि से नहीं करता, उसमें उसका स्वार्थ तो रहता ही है, और मोका पाते ही उन्हें वह ठग भी लेता है पर हवशी लोग भारतीय व्यापारियों को जो पसंद करते हैं इसका कारण है उनकी मीठी वाणी । फिर भारतीय व्यापारिओं से हवशी डरेगा तो कभी नहीं । इसके विपरीत ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहां यदि किसी भारतीय व्यापारी ने किसी हवशी को ठगने का प्रयत्न किया हो और वह उसके ध्यान में आ गया हो तो वह व्यापारी उसके हाथ पीटा भी गया है। गालियां वह कई वार खाता है। अर्थात् भारतीय और हवशियों के वीच डरने वाला भारतीय होता है। खैर आखिर नतीजा यह निकला है कि भारतीय व्यापारीयों को हवशी ग्राहकों से वडा लाभ हुआ। हवशी तो दक्षिणी अफ्रिका भर

में फैले हुए थे। भारतीयों ने सुना कि ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में बोअर लोगों में भी उनका व्यापार फैल सकता है। बोअर लोग सीधे–सादे, भोले–भाले और आडम्बर–हीन होते हैं। वे भारतीयों के ग्राहक बनने में शरमाऐंगे नहीं। अतः कितने ही व्यापारियों ने ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में कूच किया। वहां दूकानें खोलीं। इस समय वहां रेल नहीं थी। इससे वे खूब नफा कमाते थे। व्यापारियों का खयाल ठीक साबित हुआ। उन्हें बोअर तथा हबशी ग्राहक खूब मिलने लगे। अब रहा कैप कालोनी। वहां भी कितने ही भारतीय व्यापारी जा पहुंचे और खूब धन कमाने लगे। इस प्रकार धीरे धीरे चारों राज्यों में भारतीय जनता फैल गई। इस समय स्वतंत्र भारतीयों की संख्या चालीस पचास हजार और मुक्त भारतीयों की संख्या लगभग एक लाख की आंकी जाती है। यह लिखते समय इस संख्या में कुछ घटी ही हुई होगी, बढती नहीं।

अध्याय ४

मुसीबतों का सिंहावलोकन (नेटाल)

नेटाल के गोरे मालिकों को निरे गुलामों की जरूरत थी। ऐसे मजदूरों को वे नहीं चाहते थे जो नौकरी के वाद स्वतंत्र हो कर कुछ अंशों में भी उनके साथी प्रतिस्पर्धा करने को तैयार हो जायं। ये भारत से ऐसे ही लोग गिरमिटिया वन कर आफ्रिका गये थे जो सफल किसान न थे। किन्तु वे ऐसे अनजान भी न थे कि उन्हें खेती का कुछ ज्ञान ही न हो या जमीन और खेती की कीमत ही न समझते हों। उन्होंने देखा कि यदि हम नेटाल में साग-तरकारी की भी खेती करें तो भी बडी आसानी से अपना पेट भर सकते है। और अगर हमें जमीन का छोटा सा टुकडा भी मिल जाय तो हम और भी अधिक धन कमा सकेंगे। अतः जब बहुत से गिरमिटिया मुक्त हुए तब उन्होंने एक न एक छोटासा धंधा शुरु कर दिया। कुल मिला कर देखा जाय तो इस सें नेटाल जैसे देश में जनता को फायदा ही हुआ। ऐसी अनेक प्रकार की तरकारियां वहां पैदा होने लग गई जो अच्छे किसानों के अभाव के कारण अब तक वहां पैदा न होती थीं।

जहाँ कहीं ये चीजें क्वचित् प्रसंगवश मिलती भी थीं वहां अब काफी तादाद में और अच्छी मिलने लग गई। इस से साग-तरकारीं के भाव एकदम गिर गये। पर धनिक गोरों को यह वात अच्छी न मालूम हुई। उन्होंने सोचा कि आज तक जिस वात का ठीका हमारे पास था अब उसमें नये हिस्सेदार पैदा हो रहे हैं। अतः इन बेचारे गिरमिटियाओं के खिलाफ वहां एक हलचल ही खडी हो गई। पाठकों को आश्चर्य होगा कि एक और तो वे अधिकाधिक मजदूर मांगते जा रहे थे—भारत से जितने मजदूर आते वे एकदम बंट जाते। और दूसरी ओर जो गिरमिट से मुक्त होते जाते थे उन पर अनेक प्रकार के अंकुश रखने के लिए आन्दोलन हो रहे थे। यही बेचारे गिरमिटियाओं की होशियारी और कडी मिहनत का बदला!

आन्दोलन ने अनेक-रूप धारण किये। एक पक्ष का यह कहना था कि गिरमिट-मुक्त भारतीयों को भारत लौटा दिया जायं और नये मजदूर-गिरमिटिये बुलाये जायं और उनसे यह इकरार करा लिया जाय कि गिरमिट की मीयाद खतम होने पर वे या तो फिर भारत लौट जायं या वहीं पर अपने को फिर गिरमिट में वांध लें। दूसरा पक्ष कहता कि यदि वे गिरमिट मुक्त होने के वाद फिर से अपने को गिरमिट में न वांध लें तो उनसे भारी वार्षिक मनुष्य-कर लिया जाय। पर इन दोनों पक्षों का उद्देश तो एक ही—यही था कि किसी भी सूरत से गिरमिटिया नेटाल में कभी स्वतंत्रता-पूर्वक न रह सकें। आखिर यहां तक कोलाहल मचा कि नेटाल की सरकार को एक कमीशन नियुक्त करना पडा। दोनों पक्षों की मांगें अन्याय-मूलक थीं और गिरमिटियाओं की स्वाधीनता आर्थिक दृष्टि से वहां की सारी जनता के लिए लाभ-

दायक ही थीं। अतः कमीशन के पास जो सबूत इकट्ठा हुआ वह इन दोनों पक्षों के खिलाफ था। फलतः तात्कालिक परिणाम तो विरुद्ध पक्ष की दृष्टि से कुछ भी न निकला। पर अग्नि प्रशान्त होने पर भी अपनी कुछ न कुछ निशानी तो छोड ही जाता है, उसी प्रकार इस आन्दोलन ने भी नेटाल सरकार पर कुछ न कुछ असर जरूर डाला। और यह स्वाभाविक भी था। नेटाल की सरकार थी धनिकवर्ग की हिमायती। भारत-सरकार के साथ पत्र–व्यवहार शुरू हुआ, और दोनों पक्षों की सूचनायें वहां पहुंचीं। पर भारत–सरकार भी सहसा ऐसी सूचनाओं को कैसे कबूल कर सकती थी, जिनके कारण गिरमिटियाओं को आजन्म गुलामी में रहना पडे? भारतीयों को गिरमिट में बांध कर इतनी दूर भेजने का एक कारण या बहाना यह था कि वे गिरमिट की मीयाद खतम होने पर स्वतंत्र हो कर अपनी शक्तियों को बढा कर तदनुसार अपनी आर्थिक दशा सुधार लें। इस समय नेटाल क्राऊन कालोनी था। अतः कालोनियल आफिस क्राऊन कालोनी के कार्यों के लिए जिम्मेवार माना जाता था, जिससे नेटाल को अपनी अन्यायपूर्ण इच्छा पूरी करने में उससे कोई सहायता न मिल सकती थी। इस तथा ऐसे ही अन्य कारणों को लेकर अब नेटाल में उत्तरदायित्व–पूर्ण शासन–व्यवस्था की स्थापना के लिए आन्दोलन खडा हुआ। और उसे यह सत्ता १८९३–९४ में प्राप्त भी हो गई। अब उसे जोर आया। अब कालोनियल आफिस को भी नेटाल की मनमानी मांगें स्वीकार करने में कोई कठिनाई न मालूम होती थी। नेटाल की इस नवीन सरकार इस उत्तरदायित्वपूर्ण शासन–द्वारा भारत सरकार के पास उस विषयपर बातचीत करने के लिए राजदूत भेजे गये। उन्होंने यह चाहा कि प्रत्येक मुक्त-

भारतीय पर २५ पौंड अर्थात् ३७५ रुपये वार्षिक कर रक्खा जाय। इसका तो यही मतलब था कि न कोई भारतीय मजदूर इतना भारी कर दे सके और न वह कभी नेटाल में स्वतंत्र हो पावे। उस समय लार्ड हार्डिंग भारत के बडे लाट थे। उन्हें यह कर बहुत भारी मालूम हुआ। आखिर उन्होंने यह कुबूल किया कि मुक्त भारतीय ३ पौंड वार्षिक मनुष्य-कर देंगे। यह मनुष्य कर न केवल मजदूर को ही बल्कि उसकी स्त्री और बारह साल के ऊमर वाली लडकी और सोल वर्ष से अधिक उम्र वाले लडके को भी देना पडता था। शायद ही कोई ऐसा मजदूर होगा जिसे एक स्त्री ओर दो लडके न होंगे। अतः आम तौर पर हर मजदूर पर प्रतिवर्ष १२ पौंड केवल वार्षिक कर देने का भार पडता था। इस बात का पूरा पूरा वर्णन ही नहीं हो सकता कि यह कर कितना कष्टदायी साबित हुआ। केवल अनुभवी जन ही उस दुःख को जानते हैं अथवा कुछ कुछ कल्पना उसे हो सकती है जिसने इन पीडितों को स्वयं देखा हो। नेटाल सरकार की इस करतूत के खिलाफ भारतीय जनता ने खूब झगडा किया था। बडी (ब्रिटिश) सरकार और भारत सरकार को अर्जियां भेजी गईं। पर इसका परिणाम पचीस के तीन पौंड होने के अतिरिक्त कुछ भी न निकला। स्वयं गिरमिटिया तो इस विषय में क्या कर सकते थे? वे जानते भी क्या थे? आन्दोलन तो केवल व्यापारीवर्ग ने देशभक्ति की दृष्टि से कहिए अथवा परमार्थ की दृष्टि से कहिए, चलाया था।

जो हाल गिरमिटियाओं का हुआ वही स्वतंत्र भारतीयों का भी। नेटाल के गोरे व्यापारियोंने उनके खिलाफ भी खास कर इन्हीं कारणों को लेकर एक आन्दोलन शुरू किया। भारतीय व्यापारी

अच्छे जम गये थे। उन्होंने अच्छे अच्छे स्थानों पर ज़मीनें खरीद की थीं। ज्यों ज्यों मुक्त भारतीयों की बस्ती बढती गई त्यों त्यों उनकी आवश्यक वस्तुओं की बिक्री भी बढने लगी। भारत से चावल के हजारों बोरे आने लगे और उनमें खूब नफा मिलने लगा। यह व्यापार खास कर और स्वाभाविकतया भारतीय व्यापारियों के ही हाथों में था। हबशियों में भी उनका व्यापार चल निकला। यह बात छोटे गोरे व्यापारियों से न देखी गई। फिर इन भारतीय व्यापारियों को किसी अंगरेज ने यह भी कह दिया कि उन्हें भी कानून के अनुसार नेटाल की धारासभा के सदस्य होने का तथा अपनी ओर से सदस्य चुनने का अधिकार है। कितने ही नाम मतदाताओं में लिखे गये। नेटाल के राजनैतिक गोरे इस बात को सहन न कर सके। क्यों कि गोरों को यह एक भारी चिंता हो गई कि यदि इस तरह नेटाल में भारतीयों के पैर जम गये, उनकी प्रतिष्ठा बढ गई, तो उनकी प्रतिस्पर्धा में हम कैसे टिक सकेंगे। अत :उस उत्तरदायी सरकार के लिए सबसे आवश्यक बात यह हो गई कि वह एक ऐसा कानून बनावे जिससे अब आगे एक भी नवीन भारतीय मतदाता न बढने पावे। १८९४ ई० में इस विषय का पहला बिल नेटाल की धारासभा में उपस्थित किया गया। इस बिल का यह आशय था कि भारतीय भारतीयों की हैसियत से अपना मत देने से रोके जायं। नेटाल में रंगभेद के आधार पर भारतीयों के विषय में बनाया गया यह पहला ही कानून था। भारतीय जनता चौंक कर खडी हुई। एक रात के अंदर एक दरख्वास्त बनाई गई। चारसौ भारतीयों के हस्ताक्षर उसपर हुए। यह दरखास्त पहुंचते ही धारासभा के कान खडे हुए। पर कानून पास हो ही गया। उस समय लार्ड रिपन इन राज्यों के प्रधान

सचिव थे। उनसे दरख्वास्त की गई। उसपर दस हजार भारतीयों-लगभग नेटाल की सारी स्वतंत्र भारतीय जनता—के हस्ताक्षर थे। लार्ड रिपनने बिल नामंजूर किया और कहा कि ब्रिटिश सल्तनत कानून में रंगभेद को स्थान नहीं दे सकता। पाठकों को आगे चलकर यह अपने आप मालूम हो जायगा कि यह जीत कितने महत्त्व की थी। नेटालकी सरकारने इसके उत्तर में एक नया बिल उपस्थित किया। इसमें रंगभेद न था किन्तु अप्रत्यक्ष-रूपसे हमला था भारतीयों पर ही। भारतीयोंने इसका विरोध भी जोरोंसे किया; पर अबकी बार वे निष्फल हुए। इस कानून के दो मानी होते थे। उसका स्पष्ट अर्थ कराने के लिए यदि भारतीय चाहते तो आखिरी अदालत अर्थात् ठेठ प्रिवी काउन्सल तक लड सकते थे। पर लडना उचित न समझा और अबतक भी मुझे तो यही मालूम होता है कि न झगडना ही उचित था। असली बात कुबूल कर ली गई, यही बडा अनुग्रह हुआ। पर नेटाल के गोरों को अथवा वहांकी सरकार को इतने पर ही संतोष न हुआ। भारतीयों की बढती हुई राजनैतिक सत्ता को तो वे रोकना चाहते ही थे, पर वास्तव में देखा जाय तो उनकी दृष्टि भारतीयों के व्यापार पर और स्वतंत्र भारतीयों के आगमन पर थी। वे इस खयालसे बेचेन हो रहे थे, कि यदि तीस करोड जनसंख्यावाला भारतवर्ष नेटाल की तरफ उलटा तो वहांके गोरोंका क्या हाल होगा। बेचारे वे तो समुद्रमें ही बह जायंगे। नेटाल में चार लाख हबशी और चालीस हजार गोरे, ६० हजार गिरमिटिया (उस समय) और १० हजार मुक्त भारतीय तथा १० हजार स्वतंत्र भारतीय थे। यों तो गोरों को डरने का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कारण न था। पर डरे हुए आदमी दलीलों और मिसालों से नहीं समझ सकते। भारत

की दीन-हीन अवस्थाका तथा यहांकी रीति-नीतियों का उन्हें जरा भी ज्ञान न था। अतः उनके दिलमें यह एक खयाल घुस बैठा था कि जैसे साहसी और शक्तिमान् वे खुद हैं वैसे ही भारतीय भी होंगे। अतः उन्होंने त्रैराशिक के हिसाबसे भारतीयों की शक्ति का अनुमान कर लिया। पर इसमें उनका कौन दोष है? जो हो; पर आखिर यह नतीजा निकला कि नेटालकी धारासभाने दो कानून और बना लिए। उसमें भी, मतविषयक लडाई में जीत मिलने के कारण, रंगभेद को दूर ही रखना पडा। अतः गर्भित भाषा से काम चलाना पडा। और उसी के बदौलत स्थिति में अन्तर न पडा। भारतीय जनता इस बार भी खूब झूझी; पर कानून तो यथाविधि स्वीकृत हो ही गया। एक के द्वारा भारतीयों के व्यापार पर और दूसरे के द्वारा भारतीयों के आगमन पर कठोर अंकुश रख दिया गया। पहले कानून का आशय था कि कानून के द्वारा नियुक्त अधिकारी की आज्ञा के विना किसी को व्यापार का लेसेंस न दिया जाय। व्यवहार में जो गोरा चाहे जा कर व्यापार का लेसेंस आसानीसे ला सकता था। पर यदि कोई भारतीय लेसेंस के लिए प्रार्थना करता तो उसे महान् कष्टों के बाद कहीं मिलता। बेचारे को वकीलोंका खर्च भी देना पडता। दूसरे कानून का आशय यह था कि ऐसा कोई भी भारतीय नेटाल में प्रवेश कर सकता है जो यूरोप के किसी भी एक भाषाभाषियों में शामेल हो सकता हो। फलतः करोडों भारतीयों के लिए तो नेटाल के द्वार बिलकुल बंद हो गये। शायद मुझसे जान या अनजान में नेटाल के साथ कोई अन्याय न होने पावें इस लिए यहां पर यह कह देना जरूरी है कि यह कानून बनने के पहले यहां का नागरिक बना हुआ भारतीय यदि भारत अथवा अन्य किसी देश में जा

कर फिर लौट कर आवे तो वह अपनी पत्नी स्त्री और नाबालिग बालक सहित यूरोप की भाषा बिना ही जाने नेटाल में प्रवेश पा सकता था। इसके अतिरिक्त नेटाल में गिरमिटिया और स्वतंत्र भारतीयों पर कानून की कितनी ही अन्य आपत्तियां थीं और अब तक है। पर मैं पाठकों को इन तफसीली बातों में नहीं ले जाना चाहता। इस पुस्तक का विषय समझने के लिए जिन बातों के समझ लेनेकी आवश्यकता है उन्हीं के लिखने का निश्चय है। पाठक यह जान सकते है कि दक्षिण आफ्रिका के राज्य में रहनेवाले भारतीयों का इतिहास बहुत बडा होगा। पर मेरा हेतु यहां यह नहीं कि उस सबका वर्णन करुं।

अध्याय ५

मुसीबतों का सिंहावलोकन

(ट्रान्सवाल और अन्य राज्य)

नेटाल की तरह न्यूनाधिक परिमाण में दक्षिण आफ्रिका के अन्य राज्यों में भी भारतीयों के प्रति सन १८८० से ही द्वेषभाव फैल रहे थे। केप कालोनी को छोडकर अन्य तमाम राज्य यही समझते थे कि भारतीय लोग मजदूर की हैसियत से तो अच्छे उपयोगी मनुष्य हैं। अनेक गोरों के दिल में यह बात सूत्ररूप से ठंस गई थी कि स्वतंत्र नागरिकों की हैसियत से तो उनको सिवा नुकसान के और कुछ नहीं। ट्रान्सवाल तो प्रजासत्ताक राज्य था। वहां के प्रेसिडेन्ट (अध्यक्ष) के सामने भारतीयों का यह कहना कि हम ब्रिटिश प्रजा हैं मानों अपनी हंसी करा लेना था। भारतीयों को जो कुछ शिकायत करनी हो, वे केवल अंगरेज राजदूत से कर सकते हैं। पर इतने पर आश्चर्य की बात यह थी कि जब ट्रान्सवाल स्वतंत्र था तब अंगरेजी राजदूत भारतीयों की जो सहायता कर सकता था वही सहायता ट्रान्सवाल अंगरेजी साम्राज्य के अंतर्गत होने पर उससे न हो सकती थी। जब लार्ड

मोर्ले भारत-सचिव थे तब ट्रान्सवाल के भारतीयों की ओर से उनके पास एक शिष्ट-मंडल गया था । उन्होंने साफ साफ कहा था कि उत्तरदायी शासन संस्थाओं पर बडी (साम्राज्य) सरकार बहुत कम अंकुश रखती है । स्वतंत्र राज्यों को हम लडाई का डर भी दिखा सकते हैं पर साम्राज्यांतर्गत उत्तरदायी शासन-व्यवस्था रखनेवाले राज्यों से तो केवल सिफारिश भर कर सकते हैं । वे और हम कच्च सूत से बंधे हुए ह । जरा अधिक तानने लगें कि टूटा । बल से तो काम लिया ही नहीं जा सकता । विश्वास रखिए कि, जहां तक युक्ति से काम लिया जा सकता है तहां तक मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न करूंगा । तब लार्ड लन्सडाऊन और लार्ड सेलबर्न आदि अंगरेजी अधिकारियों ने कहा था कि ट्रान्सवाल के साथ जो युद्ध निर्घोषित करना पडा उसके अनेक कारणों में एक वहां के भारतीयों की दुःखद अवस्था भी थी ।

आइए, अब हम इन दुःखों की जांच करें । ट्रान्सवाल में पहले पहल भारतीय १८८१ में दाखिल हुए । स्वर्गीय सेठ अबूबकर ने ट्रान्सवाल की प्रधान नगरी प्रिटोरिया में अपनी दूकान खोली और उसके एक मुख्य मुहल्ले में जमीन भी खरीद ली । अन्य व्यापारी भी एक के बाद एक वहां पहुंचे । उनका व्यापार वहां खूब चल निकला । स्वभावतः गोरे व्यापारियों के दिल में इनके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई । समाचारपत्रों में भारतीयों के खिलाफ लेख लिखे जाने लगे । भारतीयों को निकाल देने और उनका व्यापार बंद करने के लिए धारासभाओं में दरख्वास्तें आने लगीं । इससे नये प्रदेश में गोरों की धनतृष्णा बेहद बढी । नीति-अनीति का खयाल उनके पास न रहा । धारासभाओं में उन्होंने जो दरख्वास्तें भेजी थीं उनमें ऐसे ऐसे वाक्य हैं: "ये लोग (भारतीय व्यापारी) यहां

नहीं जानते कि मानवी सभ्यता क्या चीज है। खराब आदतों के कारण होनेवाले रोगों से वे सड रहे हैं। औरत को अपना शिकार, और उन्हें आत्माहीन मानते हैं। " इन चार वाक्यों में चार सरासर झूठे आक्षेप भी हैं। यों तो और भी कितनी ही असत्य बातें लिखी जाती हैं। जैसी जनता वैसे ही उसके प्रतिनिधि। हमारे व्यापारियों को इस बात का कैसे खयाल हो सकता है कि उनके खिलाफ ऐसे ऐसे बेहूदे तथा अन्याय भरे आन्दोलन किये जा रहे हैं? वे तो समाचार-पत्र भी नहीं पढते थे। समाचार-पत्रों तथा दरख्वास्तें के द्वारा चलायी गई इस हलचल का प्रभाव धारा-सभा पर भी अवश्य ही पडा और उसमें एक बिल पेश किया गया। यह खबर भारतीय नेताओं के पास पहुंची और वे चौंके। वे प्रेसिडेन्ट क्रूगर के पास गये। स्वर्गीय प्रेसिडेन्ट साहब ने तो उन्हें घर में भी न आने दिया। उन्हें घर के बाहर ही खडे कर के उनकी बात कुछ कुछ सुनी और कहा:—आप तो इस्माइल की औलाद है। अतः आप ईसो की औलाद की गुलामी करने ही के लिए पैदा हुए हैं। हम ईसो की औलाद हैं। हमारी बराबरी में आपको कैसे हक मिल सकते हैं? हम जो कुछ दें उसीमें आपको संतोष मानकर रहना चाहिए। हम यह नहीं कह सकते कि इसमें जरा भी द्वेष या रोष था। प्रेसिडेन्ट साहब को शिक्षा ही ऐसी मिली थी। बचपन ही से बाईबल के पुराने इकरार में बताई बातें उन्हें पढाई गई थीं। और उनमें उनका विश्वास बैठ गया था। और यदि कोई मनुष्य जिस बात को वह मानता हो उसे वैसा ही शुद्ध हृदय से स्पष्ट शब्दों में कहे तो इसमें उसका कौन दोष है? पर फिर भी इस निर्दोष अज्ञान का भी खराब असर तो होता ही है। नतीजा यह हुआ कि १८८३ ईसवी में एक बडा ही सख्त

कानून जल्दी जल्दी में स्वीकृत कर लिया गया। मानों हजारों भारतीय ट्रान्सवाल को लूटने ही के लिए तैयार बैठे हों! ब्रिटिश राजदूत को भारतीय नेताओं की प्रेरणा से इस कानून के खिलाफ खडा होना पडा। मामला राज्यों के प्रधान सचिव तक पहुंचा। कानून का आशय था कि प्रत्येक आगन्तुक भारतीय से २५ पौंड प्रवेश कर लिया जाय। उसे एक इंच भर जमीन भी ट्रान्सवाल में न दी जाय, न वह धारासभा का मतदाता हो सकता है। यह कानून इतना अनुचित था कि ट्रान्सवाल सरकार को उसके समर्थन के लिए कोई दलीलें सोचे नहीं सूझती थीं। ट्रान्सवाल सरकार और बडी सरकार के बीच एक सुलहनामा था, जिसका नाम था "लंदन कन्वेन्शन" उसमें अंगरेजी प्रजा के स्वत्वों की रक्षात्मक एक धारा भी थीं। इस धारा के अनुसार बडी सरकार ने उस अन्यायपूर्ण विधान का विरोध किया। ट्रान्सवाल सरकार ने कहा कि इस विधान की रचना में स्वयं बडी सरकार की ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूप से सम्मति मिल चुकी थी।

इस प्रकार दोनों में मतभेद होने के कारण मामला पंचों के पास गया। पर पंचों का फैसला निकला पंगु। उसने दोनों पक्षों को प्रसन्न करने की कोशिश की। परिणाम यह हुआ कि इस बार भी भारतीयों की ही हानि हुई। ज्यादह नहीं, कम हानि हुई। पंचों के फैसले के अनुसार १८८७ में कानून में संशोधन हुआ। रियायत इतनी मिली कि २५ पौण्ड के बदले आगन्तुक भारतीयों पर प्रवेश कर ३ पाण्ड रक्खा जाय। 'इंच भर जमीन भी न दी जाय' इसके बदले यह तय हुआ कि ट्रान्सवाल की सरकार जहां बतावे वहां उन्हें जमीनें भी मिल सकती हैं। इस धारा को व्यवहार में लाने से भी ट्रान्सवाल

सरकार ने जी चुराया। उसने ऐसे जरखरीद जमीन लेने के हक तो दिये ही नहीं। उन्होंने उन शहरों में जहां भारतीयों की वस्ती थी, उन्हें शहर से बहुत दूर ऐसी जगह जमीनें दीं जो गंदी से गंदी थीं। पानी और प्रकाश का प्रवंध भी बिलकुल खराव, टट्टियां साफ़ करने का इन्तजाम भी वैसा ही खराव था। अर्थात् हम ट्रान्सवाल की "पंचम" जाति बन गये। इसीसे यह कहा जा सकता है कि भारत के अंत्यजों के मुहल्ले और ट्रान्सवाल के भारतीय-निवासों में कोई अंतर नहीं है। वहां की स्थिति यहां तक बढ़ गई है कि जैसे यहां पर उच्च हिन्दू अस्पृश्य जाति के मनुष्य के स्पर्श से अपनेको अपवित्र समझता है ठीक उसी प्रकार वहां के गोरे भी भारतीयों के स्पर्श को मानते हैं। फिर ट्रान्सवाल की सरकार ने इस १८८७ के कानून का यह अर्थ किया कि भारतीय व्यापारी व्यापार भी अपने इन्हीं मुहल्लों में कर सकते हैं। ट्रान्सवाल सरकार का ऊपर वताया अर्थ ठीक है या नहीं इस वात पर फैसला देने का अधिकार पंचों ने वहीं की अदालत के अधीन रक्खा। इससे भारतीय व्यापारियों की हालत और भी नाजुक हो गई। इतने पर भी उन्होंने सलाह-मशवरा किया। कहीं कहीं मुकादमे भी चलाये। सिफारिश आदि के द्वारा भी भारतीय व्यापारियों ने अपनी परिस्थिति की रक्षा की। वोअर युद्ध के आरंभ तक ट्रान्सवाल-निवासी भारतीयों की ऐसी दुःखद और अनिश्चित अवस्था थी।

अव हम फ्री-स्टेट को देखें। वहां तो दस पंद्रह दुकानें भी नहीं हो पाई थीं कि वहां के गोरों ने जमीन-आस्मान एक कर दिया। वहां की धारासभा ने दक्षता से काम लिया और मैदान साफ ही कर डाला। एक सख्त कानून वनाया, भारतीयों की

नुकसानी न-कुछ बदला दिया और भारतीय व्यापारियों को फ्री-स्टेट से निकाल बाहर कर दिया। कानून का आशय था कि व्यापारी अथवा किसान की हैसियत से भी भारतीय वहां का स्थायी निवासी नहीं बन सकता। मतदाता तो हो ही नहीं सकता। विशेष आज्ञा प्राप्त करने पर वह मजदूर अथवा होटलों में वेटरों के तौर पर रह सकता है। पर सभी प्रार्थियों को ऐसी आज्ञा मिलती हों सो भी नहीं। हालत यहां तक थी कि कोई प्रतिष्ठित भारतीय फ्री स्टेट में दो चार दिन रहना चाहे तो उसमें भी उसे बड़ी कठिनाइयां सहनी पड़ें। बोअर युद्ध के समय वहां चालीस भारतीय गरीब वेटरों के सिवा और कोई नहीं था।

केप कालोनी में यद्यपि भारतीयों के खिलाफ थोडी-बहुत हलचल हुआ करती, पाठशालाओं में भारतीय बालक नहीं लिये जा सकते थे, भारतीय मुसाफिर होटलों में मुश्किल से उतर सकते,—भारतीयों की इस प्रकार अवगणनायें तो वहां भी बहुत हुआ करती थीं तथापि व्यापार-वाणिज्य अथवा जमीन की मालिकी के विषय में कोई प्रतिरोध वहां अधिक समय तक न था।

इसका कारण बता देना जरूरी है। हम यह देख चुके हैं कि एक तो प्रधानतः केप टाऊन में और सामान्यतः केप कालोनी में मलायी लोगों की वस्ती ठीक तादाद में थीं। मलायी लोग मुसलमान थे। अतः भारतीय मुसलमानों से उनका संबंध फौरन् हो गया और उनके साथ साथ कुछ कुछ हिन्दुओं का भी हो ही गया। फिर कितने ही भारतीय मुसलमानों ने वहां की मलायी स्त्रियों के साथ विवाह-संबंध भी कर लिया। केप कालोनी की सरकार मलाइयों के खिलाफ किसी कानून की रचना कैसे कर सकती थी? केप कालोनी तो उनकी जन्मभूमि ठहरी। उनकी भाषा भी डच

भी डच लोगों के साथ वे पहले से रहे हुए थे। अर्थात् उनकी रहन-सहन भी डच लोगों की सी हो गई थी। इन कारणों से केप कालोनी में रंगद्वेष कम से कम रहा है। फिर केप कालोनी दक्षिण आफ्रिका का प्राचीनतम राज्य और शिक्षा का केन्द्र है इसलिए वहां प्रौढ, विनयी और उदारचेता गोरे भी पदा हुए। मेरा तो खयाल है कि संसार में ऐसा एक भी स्थान और जाति नहीं कि जिससे यथासमय और संस्कृति मिलने पर बढिया से बढिया मनुष्य-पुष्प न पैदा होते हों। दक्षिण-आफ्रिका में सभी स्थानों पर मैं इसके उदाहरण सौभाग्यवश देख चुका हूं। पर केप कालोनी में मुझे इसके उदाहरण अधिक संख्या में मिले। उनमें सबसे अधिक विद्वान् और विख्यात हैं श्री. मेरीमैन। इन्हें लोग दक्षिण आफ्रिका के ग्लैड्स्टन कहते। केप कालोनी में आप अध्यक्ष भी रह चुके हैं। यदि श्री. मेरीमैन के जैसे श्रेष्ठ नहीं तो उनसे दूसरे नंबर में वहां के श्राईनर और मोल्टीनों के परिवार हैं। कानून के विख्यात हिमायती श्री. डब्ल्यू. पी. श्राईनर इसी श्राईनर परिवार में हो गये हैं। केप कालोनी के प्रधान मंडल में भी वे रह चुके ह। उनकी बहन ओलिव श्राईनर दक्षिण आफ्रिका में बडी लोकप्रिय महिला हैं। जहां जहां तक अंगरेजी भाषा बोली जाती ह तहां तहां तक उनका नाम विख्यात है। मनुष्यमात्र पर उनका असीम प्रेम था। जब देखिए तब यही मालूम होता कि उनकी आंखो से अविरल प्रेम की धारा बहा करती है। इसी देवी ने वह "ड्रीम्स" नामक पुस्तक लिखी है। ड्रीम्स की लेखिका के नाम से उनकी कीर्ति चारों ओर तभी से फैली है। उनका स्वभाव इतना सरस और सीधा-सादा था कि इतने बडे खानदान में पैदा होकर तथा इतनी बडी विदुषी होने पर भी घरपर वे अपने बर्तन खुद ही

साफ़ करती। श्री. मेरीमैन और ये दोनों परिवार हमेशा हवशियों का पक्ष लेते और जब जब उनके स्वत्वों पर आक्रमण होता तब तब उनके लिए वे झगडते। और यद्यपि वे सब भारतीयों और हवशी लोगों को भिन्न भिन्न दृष्टि से देखते तथापि उनकी प्रेम-धारा भारतीयों की ओर भी अवश्य बहती। उनकी दलील यह थी कि हवशी लोग गोरों के पहले से यहां रह रहे हैं और उनकी यह मातृभूमि है। अतः उनका स्वाभाविक अधिकार गोरों से नहीं छीना जा सकता। किन्तु प्रतिस्पर्धा के भय से मुक्त होने के लिए यदि भारतीयों के खिलाफ कुछ कानून बनाये जायं तो वह बिल्कुल अन्याय-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। पर इतने पर भी उनका हृदय तो हमेशा भारतीयों की ओर ही झुकता। स्वर्गीय गोपालकृष्ण गोखले जब दक्षिण आफ्रिका पधारे थे तब उनके सन्मानार्थ केप टाऊन के टाऊन हाल में जो सभा निमन्त्रित की गई थी उसके अध्यक्ष श्री श्राईनर ही थे। श्री मेरीमैन ने भी उनसे बडे प्रेम और विनयपूर्वक बातचीत की और भारतीयों के प्रति अपना प्रेम-भाव दर्शाया। केप टाऊन के समाचार-पत्रों में भी पक्षपात की मात्रा इधर-उधर के समाचार पत्रों की अपेक्षा सदा कम रहती।

श्री मेरीमैन के विषय में मैं जो कुछ लिख गया वह अन्य गोरों के विषय में भी कहा जा सकता है। यहां तो बतौर उदाहरण के उपर्युक्त सर्वमान्य नामों का उल्लेख किया है। ऊपर बताये कारणों से केप कालोनी में रंगद्वेष हमेशा बहुत कम परिमाण में रहता। किन्तु यह कैसे हो सकता है कि जो वायु दक्षिण आफ्रिका के उन तीनों राज्यों में बहती उसका असर केप कालोनी में बिल्कुल ही न पहुंचे? इसलिए नेटाल ही की तरह वहां भी भारतीयों के प्रवेश और व्यापार को रोकने के लैसेंस-परवाने देने

के कानून गढे गये। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि अबतक जो दक्षिण आफ्रिका का दरवाजा भारतीयों के लिए खुला था सो बोअर-युद्ध के समय तक करीब करीब बिल्कुल बंद हो गया। ट्रान्सवाल में उन तीन पौण्डों के अतिरिक्त कोई रुकावट न थी। किन्तु ट्रान्सवाल केप कालोनी और नेटाल के बीच में हैं। अतः जब नेटाल और केप के बंदरगाह बंद हो गये तब भारतीय प्रवासी कहां उतर सकते थे? एक रास्ता जरूर रहा। और वह था पोर्चुगीज बंदरगाह डेलागोआ बे। पर वहां भी न्यूनाधिक परिमाण में अंगरेजी राज्यों का अनुकरण होने लगा। तथापि यह कह देना आवश्यक है कि इतने पर भी अनेक रहे-सहे भूले भटके भारतीय असीम कठिनाइयों का सामना करते हुए तथा रिशवतें दे दे कर ट्रान्सवाल में अपना प्रवेश कर लिया करते।

अध्याय ६

भारतीयों ने क्या किया?

भारतीय जनता की स्थिति का विचार करते हुए हम पिछले अध्यायों में कुछ हद तक यह देख चुके हैं कि भारतीयों ने अपनेपर किये गये आक्रमणों को किस तरह झेला। किन्तु सत्याग्रह की पूरी पूरी कल्पना होने के लिए पाठकों को एक आध अध्याय द्वारा यह बता देना जरूरी है कि उनकी सुरक्षितता के लिए और कौन कौन से प्रयत्न किये गये। १८९३ ई० तक दक्षिण-आफ्रिका में ऐसे सुशिक्षित और स्वतंत्र भारतीय बहुत कम थे जो अपने देश-भाइयों के लिए झगड सकें। अंगरेजी पढे लिखों के नाम से अंगरेजी जानने वाले भारतीयों में केवल "महेता" अर्थात् गुमाश्ता वर्ग था। वे तो अपने काम के लायक ही थे। अंगरेजी में दरख्वास्तें वगैरा वे नहीं लिख सकते थे। फिर उनका यह भी कर्त्तव्य था कि अपना सारा समय अपने मालिकों को ही दें। इनके अतिरिक्त एक और भी वर्ग था जो अंगरेजी जानता था—दक्षिण आफ्रिका में ही पैदा हुए भारतीय। अधिकांश म तो ये गिरमिटियाओं की प्रजा थे। उनमें भी अगर किसीने कुछ योग्यता प्राप्त की हो तो वह अदालतों में दु-भाषिये

का काम करके । अतः ऐसे आदमी जवानी हमदर्दी दिखाने के अतिरिक्त अधिक क्या सेवा कर सकते हैं ? फिर गिरमिटिया और मुक्त भारतीय प्रधानतः युक्त प्रान्त और मदरास से आये हुए लोग थे । स्वतंत्र भारतीय थे मुसलमान और उनमें भी अधिकांश व्यापारी और जो हिन्दू थे वे गुमाश्ता लोग थे । यह हम पिछले अध्यायों में देख ही चुके हैं । इसके अतिरिक्त कुछ पारसी व्यापारी और गुमाश्ता भी थे । पर सारे दक्षिण आफ्रिका भर में पारसियों की बस्ती ३०-४० से अधिक न होगी । स्वतंत्र व्यापारियों में एक चौथा विभाग भी था । इनमें सिंध से आये हुए व्यापारी थे । भारत के बाहर वे जहां जहां गये हैं तहां तहां वे एक ही प्रकार का व्यापार करते हैं । वहां वे "फैन्सी गुडस्" के व्यापारी के नाम से जाने जाते हैं । "फैन्सी गुडस्" से मतलब है रेशम जरी आदि का सामान, बम्बई के शीशम, चंदन हाथीदांत आदि की बनी नक्काशीदार संदूकें तथा अनेक प्रकार की शोभा की चीजें । उनके ग्राहक अक्सर गोरे ही होते हैं ।

गिरमिटियाओं को गोरे अक्सर कुली ही कहते हैं । कुली यानी मजदूर । यह नाम वहां पर इतना चल निकला कि स्वयं गिरमिटिया अपने को कुली कहते हुए नहीं शरमाते । बाद यह नाम तमाम भारतीयों तक को वे लगाने लग गये । अर्थात् भारतीय व्यापारी और भारतीय वकील को गोरे क्रमशः कुली व्यापारी और कुली वकील ही कहते । कितने ही गोरों को यह खयाल तक नहीं होता कि इस तरह पुकारने में कोई बुराई है । बल्कि कितने ही तो तिरस्कार प्रदर्शित करने ही के लिए इन शब्दों का प्रयोग करते । फल यह होता कि स्वतंत्र भारतीय अपनेको गिरमिटियाओं से भिन्न बनाने का यत्न करते । इस कारण से तथा जिन कारणों को हम

स्वयं भारत ही से ले जाते हैं उनसे स्वतंत्र भारतीय और गिरमिटिया तथा गिरमिट–मुक्त भारतीयों के बीच दिन ब दिन भेद बढ रहा था ।

दुःख के इस महासागर को बढते हुए रोकने का काम पहले पहल स्वतंत्र भारतीयों ने और खास कर मुसलमान व्यापारियों ने शुरू किया । गिरमिटिया और गिरमिट–मुक्त भारतीय इसमें शामिल नहीं किये गये । न उन्हें इसका खयाल ही रहा होगा । और अगर सूझा भी होता तो उनको शामिल कर लेने से काम सुधरने की अपेक्षा बिगडने ही का अधिक डर था । दूसरे, लोगों ने सोचा कि मुख्य आपत्ति तो स्वतंत्र व्यापारीवर्ग पर ही है । इसीलिए रक्षात्मक आन्दोलन ने इतना संकुचित रूप धारण किया था । इतनी कठिनाइयों के होते हुए, अंगरेजी भाषा के ज्ञान का अभाव होते हुए और सार्वजनिक आन्दोलनों का भारत में अनुभव न होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि यह स्वतंत्र वर्ग अपनी मुसीबतों से खूब झगडा । उन्होंने गोरे वकीलों की सहायता ली, दरख्वास्तें पेश कीं, समय समय पर शिष्ट–मण्डल भी भेजे, और जहां जहां हो सका बलप्रयोग भी किया । १८९३ ई० तक यह हालत थी ।

इस पुस्तक का आशय ठीक ठीक समझने के लिए पाठकों को कुछ कुछ तारीखें याद रखनी होंगी । पुस्तक के अंत में मुख्य घटनाओं का तारीखवार परिशिष्ट दिया गया है । अगर पाठक उसे बार बार देख लिया करेंगे तो उन्हें आन्दोलन का रहस्य और रूप समझने में सहायता होगी । १८९३ ई० तक वहां की परिस्थिति इस प्रकार थी । फ्रीस्टेट से हमारे बोरिये–बंधने बंध चुके थे । ट्रान्सवाल में १८८५ का कानून शुरू था । नेटाल में यह विचार चल रहा था कि किस प्रकार केवल गिरमिटियों को रखकर अन्य

भारतीयों को नेटाल से बाहर निकाला जाय! और इसीलिए उत्तरदायित्वपूर्ण शासन-व्यवस्था भी उसने ले रक्खी थी। अप्रैल १८९३ इ० में म भारत से दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए रवाना हुआ। मुझे वहां के इतिहास का जरा भी ज्ञान न था। मैं तो केवल स्वार्थ-भाव से गया था। पोरबंदर के मेमनों की दादा अबदुल्ला के नाम की एक प्रख्यात दूकान डर्बन में थी। उतनी ही प्रख्यात एक दूसरी दूकान उनके प्रतिस्पर्धी और पोरबंदर के मेमन तैयब हाजी खानमहम्मद की प्रिटोरिया में थी। दुर्भाग्यवश इन दो प्रतिस्पर्धियों के बीच एक मामला चल रहा था। इस समय दादा अबदुल्ला के एक साझी ने, जो पोरबंदर में थे, सोचा कि मेरे जैसा यदि एक नौसिखिया ही सही किन्तु बैरिस्टर वहां जाय तो उन्हें बहुत फायदा हो। उन्हें यह भय न था कि एक अनजान और मूढ वकील की तरह मैं उनके मामले को बिगाड डालूंगा। क्योंकि मुझे अदालत में जा कर काम नहीं करना था। मुझे तो उनके नियुक्त किये बडे बडे वकील बैरिस्टरों को समझाने का अर्थात् दुभाषिये का काम करने के लिए रक्खा था। मुझे नवीन अनुभवों का बडा शौक है। सफर का भी शौक था। बैरिस्टर की हैसियत से कमीशन देना तो विष के समान था। काठियावाड की बन्दिशों से मेरा चित्त सन्तप्त रहता था। मुझे एक ही साल के लिए जाना था। मैंने सोचा कि उसमें मेरी जरा भी असुविधा नहीं। हानि तो तिलभर भी न थी। क्योंकि मेरे जाने आने का और वहां रहने का खर्च तो दादा अबदुल्ला देने वाले थे और इसके अतिरिक्त १०५ पौंड भी। मेरे स्वर्गीय भ्राता से ये सब बातें हुइ थी। मेरे लिए तो वे पिता के स्थान पर ही थे। उनकी अनुकूलता मेरी अनुकूलता थी। दक्षिण आफ्रिका जाने की बात उन्हें

बहुत पसंद हुई, और मैं १८९३ के मई में डर्बन जा पहुंचा।

मैं तो बैरिस्टर ठहरा। फिर क्या पूछना था? जैसा कि मैंने सोच रक्खा था फ्राक कोट आदि बढिया कपडे डांटकर बडे रौब के साथ मैं जहाज से उतरा। पर उतरते ही मेरी आंखें खुल गई। दादा अबदुल्ला के जिन साझी के साथ मेरी बातचीत हुई थी उन्होंने यहां का जो वर्णन सुनाया था वह तो मुझे सब उलटा ही उलटा दिखाई दिया। पर यह उनका दोष न था। उनका भोलापन, सरलता और परिस्थिति का अज्ञान इसका कारण था। उन्हें उन सब मुसीबतों का खयाल न था, जो नेटाल में भारतीयों पर पडती हैं। साथ ही भारी अपमानभरी बातें उनके दिल को अपमानजनक न मालूम हुई। मैंने तो पहले ही दिन देख लिया कि वहां पर गोरे लोग हमारे साथ बडी बुरी तरह पेश आते हैं।

नेटाल में उतरने पर पंद्रह दिन तक मुझपर जो जो मुसीबतें पडीं—अदालतों में जो कडुआ अनुभव हुआ, रेलों में जो तकलीफें उठाईं, रास्तों पर जो पिटाई हुई, होटलों में जो असुविधायें सहीं, लगभग निकाला गया, इन सब का वर्णन मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूंगा कि ये तमाम अनुभव मेरे रगो-रेशे में पैठ गये। मैं तो केवल एक ही मामले के लिए गया था। और सो भी स्वार्थ और कुतूहल की दृष्टि से। अर्थात् इस वर्ष तो मैं इन दु:खों का केवल साक्षी और अनुभवी मात्र रह सका। पर मेरे धर्म ने उसी समय से मेरी आंखें खोल दीं। मैंने देखा कि स्वार्थ की दृष्टि से दक्षिण आफ्रिका मेरे लिए एक बेकार देश है। जहां अपमान हो रहा हो वहां धन कमाने अथवा सफर करने का भी लोभ मुझे तिल-मात्र न था। इतना ही नहीं, बल्कि वहां ठहरना

भी मुझे तो असह्य मालूम हो रहा था। मेरे सामने एक धर्म-संकट आकर उपस्थित हुआ। एक तरफ दिल यह कहता कि जिस स्थिति का मुझे खयाल तक न था वह यहां खडी है, यह कह कर दादा अबदुल्ला के इकरार से मुक्ति प्राप्त कर भारत भाग जाऊं; और दूसरी ओर वह यह कह रहा था कि तमाम मुसीबतों का सामना करके अंगीकृत कार्य को पूरा करूं। भीषण जाडा पढ रहा था। मारित्सबर्ग के स्टेशन पर पुलिस के धक्के खाकर आगे जाना मुल्तवी करके मैं वेटिंग रूम में बैठा था। यह खबर भी न थी कि असबाव कहां पडा है, न किसीसे कुछ पूछने की हिम्मत होती थी। डर यह था कि कहीं ऐसा ही अपमान और न हो जाय—पिटना न पडे। इस हालत में मैं मारे जाडे के काँप रहा था। नींद कहां से नसीब हो सकती है? आखिर चित्त जरा स्थिर हुआ। बडी रात को मैं इस निश्चय पर पहुंचा कि अंगीकृत कार्य को अवश्य पूरा करना चाहिए। व्यक्तिगत अपमान सहन करके यदि पिटना पडे तो पिट कर भी प्रिटोरिया जरूर पहुंचना चाहिए। प्रिटोरिया मेरे लिए केन्द्रस्थान था। मामला वहीं चलता था। अपना काम करते हुए अगर कुछ हो सके तो जरूर करना चाहिए। यह निश्चय करने पर मुझे कुछ कुछ शांति प्राप्त हुई। हृदय में कुछ उत्साह भी आया। पर नींद तो जरा भी न पडी।

दिन निकलते ही फौरन् मैंने एक तार तो दादा अबदुल्ला की दूकान को और दूसरा रेल्वे के जनरल मैनेजर को किया। दोनों स्थानों से उत्तर भी आ गये। दादा अबदुल्ला तथा वहां उस समय रहनेवाले उनके साझी सेठ अबदुल्ला हाजी आदम जौहरी ने फौरन् उचित कार्रवाई स्थान स्थान पर रहनेवाले अपने आढतियों को मेरी खबर लेने के लिए तार कर दिये। और तदनुसार मेरित्सबर्ग के

भारतीय व्यापारी लोग मुझे आकर मिले थे। उन्होंने मेरी खूब दिल्जमई करते हुए कहा कि मेरे जैसे कई कड़ुए अनुभव हम सब को भी हुए हैं। पर हम उनके आदी हो गये हैं। इसलिए उसमें उनको कोई बात विशेष अपमानजनक न मालूम होती थी। व्यापार भी करना और मानापमान का भी विचार करना ये दोनों बातें साथ साथ नहीं हो सकती। अर्थात् धन के साथ साथ अपमान भी हो तो वह उनके लिए एक संग्रहणीय वस्तु थी। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि इसी स्टेशन पर भारतीयों को मुख्य दरवाजे से आने की मुमानियत है और उन्हें टिकट वगैरा लेते समय भी खूब तकलीफ होती है। उसी रोज रात की गाडी से मैं रवाना हुआ मैं अपने निश्चय का पक्का हूं या कच्चा इस बात की परमात्मा ने भी पूरी परीक्षा की। प्रिटोरिया पहुंचने तक मुझे और भी कई वार अपमान सहना पडे और पिटना भी पडा। पर उन सब का मेरे दिल पर ऐसा ही असर हुआ जिससे मेरा निश्चय और भी दृढ होता गया।

इस प्रकार दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति का यथावत ज्ञान अनायास ही हुआ। समय पाकर मैं प्रिटोरिया के भारतीयों से उस विषय में वातचीत करता, उन्हें समझाता। पर इससे ज्यादह मैंने कुछ नहीं किया। मुझे मालूम हुआ कि दादा अवदुल्ला के मामले को चलाना और साथ ही भारतीयों के दुःखों के निवारण की चिंता करना ये दो दो वातें एक साथ नहीं हो सकतीं। मैंने देखा कि दोनों को करने जाऊंगा तो दो में से एक काम भी अच्छा न होगा। इस तरह विचार करते करते १८९४ साल लगा। मामला भी खतम हो गया। मैं डर्वन वापिस लौटा। भारत लौटने के लिए तैयारियां कीं। दादा अवदुल्ला ने मेरी रुखसत के

उपलक्ष्य में एक सभा निमन्त्रित की। वहां किसीने डर्बन का मर्क्यूरी नामक अखवार मेरे हाथों में ला कर रख दिया। उसमें धारासभा की कार्रवाई की रिपोर्ट में 'भारतीयों को मताधिकार–इण्डियन फ्रेंचाइज' आदि शीर्षकों के नीचे मैंने कुछ सतरें पढीं। उसमें मैंने देखा कि भारतीयों के तमाम अधिकार छीनने की यह शुरूवात है। वहांके भाषणों से ही उनका यह उद्देश स्पष्ट मालूम होता था। सभा में आये हुए सेठ–साहूकारों को वह दिखाया और जहांतक मुझसे हो सका उन्हें समझाया। क्योंकि मैं पूरी पूरी कथा तो जानता ही न था मैंने उनसे कहा कि भारतीयों को चाहिए कि इस आक्रमण का यथोचित उत्तर दें। उन्होंने मेरी वात को मंजूर किया। पर साथ ही यह भी कहा कि ऐसे आंदोलन हमसे चलना मुश्किल हैं, और मुझे रह जाने के लिए आग्रह करने लगे। मैंने भी उस लडाई को लड लेने तक अर्थात् एक आध महीना ठहरना मंजूर कर लिया। उसी रात को धारासभा में भेजने के लिए एक दरख्वास्त तैयार की। फौरन् एक कमिटी वना ली गई। कमिटी के अध्यक्ष थे सेठ अवदुल्ला हाजी आदम। उनके नाम से एक तार किया। विल को दो रोज तक रोक रक्खा। और दक्षिण आफ्रिका की धारासभाओं में से नेटाल की धारासभा में भारतीयों की पहली दरखास्त पहुंची। इसका अच्छा असर पडा लेकिन विल पास हुआ। इसका जो नतीजा निकला उसे मैं चौथे अध्याय में लिख चुका हूं। इस प्रकार झगडने का वहांपर यह पहला ही मौका था। इसलिए भारतीयों में खूव उत्साह दिखाई दिया। वार वार सभायें होतीं। वडी वडी तादाद में वहां मनुष्य आते। आवश्यकता से अधिक धन इस काम के लिए इकट्ठा हो गया। नकल करने, दस्तखत लेने

आदि कामों में सहायता करने के लिए बहुत से स्वयंसेवक आ जुटे और वे सब बिना ही तनख्वाह अपनी गांठ का खा कर काम करते। मुक्त भारतीयों की प्रजा भी इस काम में उत्साहपूर्वक आ मिली। ये सब अंगरेजी जानने वाले और खुशखत लिखने वाले नौजवान थे। उन्होंने रात दिन एक करके बडे उत्साह के साथ नकलें कर डालीं। एक महीने के अंदर १०००० आदमियों के दस्तखत की दरख्वास्त लार्ड रिपन के पास रवाना की गई और मेरा उस वक्त का काम पूरा हुआ।

मैंने रुख्सत मांगी। पर जनता में अब इतना उत्साह बढ गया था कि वह मुझे जाने के लिए इजाजत ही नहीं देती थी। उसने कहा आप ही तो यह समझाते हैं कि हमें जडमूल से उखाड फेंकने की यह शुरुवात ही है? कौन कह सकता है कि विलायत से हमारी इस दरख्वास्त का क्या उत्तर आवेगा? हमारा उत्साह आप देख चुके हैं। हम लोग काम करने के लिए तैयार हैं—इच्छा भी खूब है। हमारे पास धन की कोई कमी नहीं। पर यदि अगुआ न हो तो यह किया कराया सब चौपट हो जायगा। इसलिए हमारा तो खयाल है कि अब आपका यही धर्म है कि और भी कुछ रोज आप यहीं ठहरें। मुझे भी मालूम हुआ कि यहां पर कोई स्थायी संस्था की स्थापना हो जाय तो बडा अच्छा हो। पर म रहूं कहां और किस तरह? उन्होंने मुझे तनख्वाह लेने के लिए भी कहा पर मैंने इस बात का साफ इन्कार कर दिया। सार्वजनिक काम बडी बडी तनख्वाहें ले कर नहीं हो सकते। फिर मैं तो केवल नींव डालने वाला था। मेरे तत्कालीन विचारों के अनुसार मुझे इस तरह रहना चाहिए था जो मेरी बैरिस्टरी और जाति दोनों को शोभा दे। अर्थात् रहनसहन भी खर्चीली ही थी। जनत

पर दबाव डाल कर धन इकट्ठा करके आन्दोलन को बढाना और उससे जीविका निर्वाह भी करना यह तो दो परस्पर विरोधी वस्तुओं का संगम होता, और इससे मेरी कार्य-शक्ति भी कम हो जाती। और भी अनेक कारणों से मैंने सार्वजनिक सेवा के लिए तनख्वाह लेने से साफ इन्कार कर दिया। पर एक अन्य सूचना मैंने की। मैंने कहा यदि आपमें से खास खास व्यापारी मुझे अपना वकील बना लें और उसके लिए मुझे पहले ही से रेटिनर दे दिया करें तो मैं रहने के लिए तैयार हूं। एक साल का रेटिनर देना होगा। हम लोग एक साल भर तक ऐसा करें, और सब तरह से अनुभव लेलें, साल आखिर अपने काम का हिसाब कर लेंगे। अगर उचित मालूम हुआ तो काम आगे चलावेंगे। सबने इस बात को पसंद किया। मैंने वकालत करने की इजाजत के लिए दरख्वास्त की। वहां की ला सोसाइटी-वकील मंडल-ने मेरी प्रार्थना का बडा विरोध किया। उनकी दलील एक ही थी। नेटाल के क़ानून की मन्शा के अनुसार काले या गेहुएं लोगों को यहां पर वकालत करने की इजाजत कभी दी ही नहीं जा सकती। वहां के विख्यात वकील स्व० श्री. ऐस्कंब ने वकालत की इजाजत मिलने विषयक मेरी दरख्वास्त की पुष्टि की थी। वे दादा अबदुल्ला के बडे वकील भी थे। बडी अदालत ने वकील मंडल की दलील को रद करके मेरी दरख्वास्त को मंजूर किया। इस प्रकार इच्छा न होते हुए भी वकील-मंडल का विरोध मेरी ख्याति का एक दूसरा कारण हुआ। दक्षिण आफ्रिका के समाचार-पत्रों में से कितनों ही ने तो वकील-मंडल की हंसी उडाई और कितनों ही ने मुझे धन्यवाद दिये।

पहले जो अस्थायी कमिटी बनाई गई थी वही अब स्थायी बना दी गई। मैंने महासभा का एक भी अधिवेशन नहीं देखा

था, किन्तु उसके विषय में कुछ पढ़ा जरूर था। भारत के पितामह के दर्शन भी कर चुका था। उनकी मैं पूजा करता था। सो मैं महासभा का भक्त क्यों न होता? यह भी इच्छा थी कि महासभा को लोकप्रिय बनाया जाय। सो एक नौजवान, नवीन नाम रूप ढूंढने के झगडे में क्यों पडता? इसका भी बडा डर था कि इसमें कहीं भूल हो जाय तो? इसलिए मैंने तो यही सूचना की कि कमिटी का नाम हो "नेटाल इंडियन कांग्रेस"। कांग्रेस का जो कुछ अधूरा ज्ञान मुझे था वह मने लोगों पर प्रकट किया। पर १८९७ के मई या जून में कांग्रेस की स्थापना हुई। भारत की संस्था में और इसमें यही फर्क था कि नेटाल की कांग्रेस हमेशा सम्मिलित हुआ करती। साल में कम से कम जो तीन पौण्ड चन्दा दे सकते थे वही उसके सभासद हो सकते थे। इससे कोई जितना ज्यादह देता वह भी ले लिया जाता। ज्यादह लेने के लिए कौशिश भी खूब की गई। पांच सात सदस्य तो सालाना २४ पौण्ड भी देते थे। सालाना १२ पौण्ड देने वाले तो कितने ही थे। एक महीने के अंदर तीनसौ से अधिक सभासदों के नाम दर्ज हो गये। उसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि जितने धर्म और प्रान्त के लोग थे सभी थे। पहले साल भर काम बडे जोश से चलता रहा। बडे बडे सेठ साहूकार अपनी सवारियों पर बैठ बैठ कर देहात में नवीन सभासद बनाने और चंदा इकट्ठा करने के लिए जाते। लोग मांगते ही चंदा दे देते। समझाने भर की देर थी। इससे जनता को एक प्रकार से राजनैतिक शिक्षा मिलती और वह परिस्थिति से भी परिचित होती रहती। फिर हर महीने में कम से कम एक वार तो कांग्रेस की बैठक जरूर होती। उसमें उस महीने भर का पाई पाई का हिसाब बताया

जाता और वह मंजूर किया जाता था। उस महीने के अंदर जो घटनायें होतीं वे सुनाई-समझाई जातीं और वे कार्रवाई लिख ली जाती। सभासद भिन्न भिन्न सवाल पूछते, नवीन कार्यों पर विचार होता; यह सब करते समय सभा-समाजों में जो कभी न बोलते थे वे खडे हो कर निर्भयतापूर्वक बोलने लग गये थे। भाषण भी बडी सावधानी से किये जाते। ये सब बातें हमारे लिए नवीन थीं। पर जनता इस में बडी दिलचस्पी लेती थी। इसी बीच यह खबर आ धमकी कि लार्ड रिपन ने नेटाल के बिल को नामंजूर कर दिया। जनता को बडा हर्ष हुआ और उसका आत्मविश्वास भी बढ गया।

जिस प्रकार बाहर काम हो रहा था उसी प्रकार लोगों के अंदर काम करने की हलचल भी शुरू थी। हमारे रहनसहन पर दक्षिण आफ्रिका के तमाम गोरे बडी हल-चल मचाते थे। वे कहते "हिंदुस्तानी लोग बडे गंदे और महा कंजूस हैं। उनके मकान आर दूकान एक ही होते हैं। मकान मानों बिल, अपने सुख के लिए भी कभी पैसा खर्च न करें—ऐसे गंदे और कंजूस लोगों के साथ, साफ-सुथरे, गोरे जिनकी जरूरतें बहुत बढी हुई हैं और जो उदार हैं व्यापार में कैसे प्रतिस्पर्धा कर सकते रहे हैं। यही उनकी हमेशा की दलील। इसलिए महासभा की बैठकों में इस बात पर भी भाषण, सूचनाय और वाद विवाद होते कि भारतीय अपने मकानों को अधिक स्वच्छ रक्खें, घर और मकान अलग अलग कर लें और बडे बडे व्यापारी अपनी आय के अनुसार रहन सहन भी उन्नत बनावें। कांग्रेस की तमाम कार्यवाही मातृभाषा में ही होती थी।

पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि इसके द्वारा जनता को अनायास कितनी व्यावहारिक शिक्षा आर राजनतिक आन्दोलनों का अनुभव

प्राप्त हो जाता था। कांग्रेम ने अपने ही खर्च से गिरमिट मुक्त भारतीयों की संतान अर्थात् नेटाल में पैदा हुए अंगरेजी भाषा भाषी भारतीय नौजवानों की शिक्षा के लिए एक शिक्षा मंडल भी संगठित किया था। उसमें फीस नाम मात्र के लिए रक्खी गई थी। उद्देश यही था कि इन नौजवानों को एकत्र कर के उनमें भारत के प्रति प्रेम उत्पन्न कर के उसका सामान्य ज्ञान भी कराया जाय। इसके अतिरिक्त और भी हेतु था। एक तो उन्हें यह बताया जाय कि स्वतंत्र भारतीय व्यापारी उन्हें अपने आत्मीय समझते हैं ओर दूसरे, उन व्यापारीयों के हृदयमें भी इनके प्रति आदर उत्पन्न किया जाय। इतना करते हुए भी कांग्रेस के पास खर्च जाते एक बडी भारी रकम इकट्ठी हो गई थी। इस कोष से कांग्रेस के लिए जमीन खरीदी गई, जिसकी आमदनी आज तक आ रही है।

मैंने जानबूझ कर इतनी तफसीली बातें लिखी हैं। ऊपर लिखी बातें बिना पढे पाठक यह नहीं समझ सकते कि किस तरह सत्याग्रह बिलकुल स्वाभाविक रीति से उत्पन्न हुआ। कांग्रेस पर आपत्तियां भी उमडीं। सरकारी अधिकारीयों ने आक्रमण भी कियें, पर इन सब विपत्तियों को कांग्रेस ने किस बहादुरी के साथ पार किया। ये सब जानने योग्य बातें मुझे लाचारी के साथ छोडना पड रही हैं। पर एक बात कह देना जरूरी है। जनता अत्युक्ति से हमेशा बचती रहती। उससे अपनी गलतियां छुडवाने के लिए सदा प्रयत्न किया जाता था। गोरों की दलीलों में भी जो बातें सही रहतीं वे फौरन स्वीकार कर ली जातीं और हरएक अवसर का फायदा उठा लिया जाता जिसमें गोरों के साथ रहकर भी भारतीय अपने स्वाभिमान और स्वाधीनता की रक्षा कर सकते हों। हमारी हलचल

की जो जो बातें वहां के अखबार ले सकते थे वे छपाई जाती थीं। और आक्षेपो के उत्तर भी दिये जाते थे।

जिस प्रकार नेटाल में नेटाल कांग्रेस थी उसी प्रकार ट्रान्सवाल में भी भारतीयों ने हलचल मचा रक्खी थी। ट्रान्सवाल की संस्था नेटाल से बिल्कुल स्वतंत्र थी। उसके संगठन में भी कुछ फर्क था। पर मैं उसके सूक्ष्म भेद यहां देना नहीं चाहता। केप टाउन में भी ऐसी ही एक संस्था थी। उसकी रचना नेटाल और ट्रान्सवाल की सभा से भिन्न थी। पर तीनों का उद्देश लगभग वही था।

१८९४ का वर्ष खतम हुआ। कांग्रेस का साल भी १८९५ के मध्य में समाप्त हो गया। मेरा काम भी मेरे मुवक्किलों को पसंद हुआ। मेरे रहने की मीयाद और बढ गई। १८९६ में मैं लोगों से इजाजत लेकर छः महीने के लिए स्वदेश को लौटा। मैं पूरे छः महीने भी नहीं रह सका। क्योंकि बीच ही में नेटाल से तार आया और मुझे फौरन् लौट जाना पडा। १८९६–९७ का हाल अगले अध्याय में मिलेगा।

प्रकरण ७

भारतीयों ने क्या किया ?

इस प्रकार नेटाल इंडियन कांग्रेस को स्थिरता प्राप्त हुई । मैंने भी नेटाल में लगभग ढाई साल राजनैतिक क्षेत्र में काम किया और वाद सोचा कि यदि मुझे और भी दक्षिण आफ्रिका में रहना आवश्यक हो तो वाल वच्चों को भी यहां ले आना चाहिए । कुछ समय के लिए मातृभूमि में भी हो आने की दिल में आई । और यह भी विचार हुआ कि साथ ही भारत के नेताओं को नेटाल और दक्षिण आफ्रिका के अन्य प्रान्तों में वसने वाले भारतीयों की हालत का मुख्तसर हाल भी सुना दूंगा । कांग्रेस ने मुझे छः महीने की रजा दी और मेरे स्थान पर नेटाल के सुविख्यात स्वर्गीय व्यापारी आदमजी मीयां खान को सेक्रेटरी वनाया । मेरी अदम मोजूदगी में उन्हों ने वडी ही होशियारो के साथ उस काम को आगे वढाया । स्वर्गीय आदमजी मीयां खान अंगरेजी अच्छी जानते थे । अनुभव से अपने थोडे से कामचलाउ ज्ञान को आपने खूव वढा लिया था । गुजराती का अभ्यास साधारण था । उनका व्यापार ज्यादहतर हवशियों में फैला हुआ था । अतः उनको

जूलु भाषा और उस जाति के रीती-रवाजों से अच्छी वकफियत थी । मिजाज बडा गहरा ओर मिलनसार । उतना ही वोलते जितने की जरूरत रहती । यह सव मैं यह वताने के लिए लिख रहा हूं कि भारी जवावदेही के ओहदे का काम करने के लिए अंगरेजी भाषा की अथवा अन्य प्रकार के अक्षर ज्ञान की जितनी जरूरत होती है, उससे कहीं अधिक जरूरत तो सचाई, शान्ति, सहनशीलता, दृढता, समयसूचकता, हिंमत और व्यवहार वुद्धि की होती है । अगर ये न हों तो अच्छे से अच्छा अक्षरज्ञान भी सामाजिक काम के लिए कोडी मूल्य का भी नहीं होता।

सन १८९६ में मैं भारत लौटा । कलकत्ता होता हुआ आया । क्योंकि उस समय कलकत्ता जाने वाली नेटाल की स्टीमरें आसानी से मिल सकती थीं । गिरमिटिया कलकत्ता से या मद्रास से जहाज पर चढाये जाते थे। कलकत्ता से वम्वई आते समय रास्ते में एक गाडी मेरे हाथ से छूट गई । अतः एक दिन के लिए मुझे इलाहा-वाद में ही ठहरना पडा। वस, वहीं से मैंने अपना काम शुरू कर दिया । पायोनियर के मि. चेझनी से मिला । उन्होंने मेरे साथ वडी सभ्यता और प्रेम से वातचीत की, और प्रामाणिकता-पूर्वक मुझसे साफ साफ कह दिया कि उनका दिल द. आ. के उन संस्थानों की ओर अधिक झुका हुआ है । लेकिन मैं कुछ लिखूं तो उसे पढकर उसपर एक टिप्पणी लिखने का वादा उन्होंने मुझ से जरूर किया । मैंने इसीको वहुत माना । दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की दशा-दर्शक एक ट्रैक्ट मैंने लिखा । करीव करीव सव अखवारों में उसपर टिप्पणियां आईं । मुझे उसके दो दो संस्करण छपाना पडे । पांच हजार प्रतियां देशमें जगह जगह भेज कर बंटवा दीं । इसी समय मैंने वंवई में सर फिरोजशाह महेता,

न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैयबजी, महादेव गोविंद रानडे वगैरा, पूना में लोकमान्य तिलक और उनका मंडल, प्रो. भांडारकर, गोपाल कृष्ण गोखले और उनका मण्डल, आदि भारत के नेताओं के दर्शन किये। और बम्बई से लगाकर पूना और मद्रास में भाषण भी दिये । इनका वर्णन मैं यहां पर नहीं देना चाहता ।

पर पूना का एक पवित्र स्मरण यहां पर लिखे बिना म आगे नहीं बढ सकता, यद्यपि हमारे इस विषय के साथ उसका संबन्ध नहीं । पूना में सार्वजनिक सभा लोकमान्य के हाथों में थी । स्वर्गीय गोखले का संबंध डेक्कन सभा के साथ था । मैं पहले पहल मिला तिलक महाराज से । जब मैंने पूना में सभा करने का अपना हेतु प्रकट किया तब उन्हों ने पूछा—आप गोपालराव से मिले।

मैं उनके कहने का आशय नहीं समझा, इसलिए उन्हों ने फिर पूछा कि आप मि. गोखले से मिल चुके हैं ? उन्ह आप जानते हैं ?

मैंने कहा—अभी उनसे नहीं मिला । केवल नाममात्र से उन्हें जानता हूं । पर मिलना जरूर चाहता हूं ।

लोकमान्य–मालूम होता है आप भारतीय राजनैतिक हलचलोंसे परिचित नहीं है ।

मैंने कहा:—इंग्लेंड से शिक्षा प्राप्त करके लोटने पर मैं भारत में बहुत कम ठहरा । और तब भी राजनैतिक बातों में मैंने जरा भी भाग नहीं लिया । मैं इसे अपनी शक्ति के बाहर की बात मानता था ।

लोकमान :—तो मुझे आपको इन बातों का कुछ परिचय देना होगा। पूना में दो पक्ष हैं। एक सार्वजनिक सभा का और दूसरा डेक्कन सभा का ।

मैंने कहा:—हां, इस विषय में तो मैं कुछ कुछ जानता हूं।

लोकमान्य:—यहां पर सभा भरना तो एक आसान बात है। पर मैं देखता हूं कि आप अपना सवाल सब पक्षों के सामने पेश करना चाहते हैं और सहायता भी सब की चाहते हैं। इसे मैं बहुत पसंद करता हूं। पर यदि आपकी सभामें हममेंसे कोई अध्यक्ष हो तो डेक्कन सभावाले नहीं आवेंगे। और यदि उनमें से कोई अध्यक्ष होगा तो हम कोई न जावेंगे। इसलिए आपको कोई तटस्थ अध्यक्ष ढूंढना चाहिए। मैं तो इस विषय में केवल सूचनाभर कर सकता हुं। दूसरी सहायता मुझसे न हो सकेगी। आप प्रो. भांडारकर को पहचानते हैं। अगर नहीं जानते हों तो भी उनके पास अवश्य जाइएगा। वे तटस्थ माने जाते हैं। राजनैतिक हलचलों में कोई भाग भी नहीं लेते। पर संभव है आप उनको ललचा सकेंगे। मि. गोखले से इस बात का जिक्र कीजिए। उनकी भी सलाह लीजिए। बहुत संभव है वे भी मेरे ही जैसी सलाह देंगे। अगर प्रोफेसर भांडारकर अध्यक्ष हों तो मुझे यकीन है कि सभा के काम को दोनों पक्ष उठा लेंगे। हम तो इसमें आपकी पूरी सहायता करेंगे।

यह सलाह ले कर मैं गोखलेजी के पास पहुंचा। इस पहली मुलाकात ही में उन्होंने मेरे हृदय में जिस प्रकार राज्याधिकार प्राप्त कर लिया—उसे मैं किसी अन्य प्रसंग पर लिख गया हूं। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे 'यंग इंडिया' या 'नवजीवन' की फाइल को देखें।† लोकमान्य की सलाह को गोखलेजीने भी पसंद किया। फौरन मैं डा. भांडारकर के पास पहुंचा। उन

† देखो यं. इं. ता. १३-७--२१ नवजीवन ता. २८-७-२१

विद्वान् बुजुर्ग के दर्शन किये। नाताल का किस्सा ध्यानपूर्वक सुन कर उन्होंने कहा—आपसे यह बात छिपी नहीं है कि मैं सार्वजनिक हलचलों में बहुत कम भाग लेता हूं और अब तो बूढा भी हो गया तथापि आपकी बातोंने मेरे दिल पर गहरा असर किया है। मालूम होता है आप सभी पक्षों की सहायता लेना चाहते हैं। साथ ही आप भारतीय राजनैतिक हलचलों से अपरिचित भी मालूम होते हैं। नौजवान भी हो। इसलिए दोनों पक्षों से कहिए कि मैंने आपकी बात को मान लिया है। सभा भरने पर उसमें से कोई भी मेरे पास अगर बुलाने आ जायगा तो मैं उसी वक्त चला आऊंगा। पूना में सुंदर सभा भरी। दोनों पक्षों के नेता हाजिर थे, और दोनों पक्ष के नेताओंने भाषण दिये।

म मद्रास गया। वहां जस्टिस सुब्रह्मण्यम् आयर से मिला और आनंदाचार्लु, "हिन्दू" के तत्कालीन संपादक। जी. सुब्रह्मण्यम आर "मद्रास" के संपादक परमेश्वर पिल्लै, प्रख्यात वकील भाष्यम् आयंगार। मि. नार्टन वगैरा को भी मिला। वहां भी सभा हुई। वहां से कलकत्ता गया। वहां पर सुरेन्द्रनाथ बैनरजी, महाराजा सत्येन्द्रनाथ टागोर "इंग्लिशमन" के संपादक स्वर्गीय श्री० साण्डर्स आदि को भी मिला। वहां सभा की तैयारियां हो रही थीं कि इतने में—अर्थात् नवम्बर मास में नेटाल का तार मिला कि "एक-दम चले आओ।" म समझ गया कि भारतीयों के खिलाफ कोई नवीन हलचल फिर से खडी हुई है। इसलिए कलकत्ता का काम वैसा ही छोडकर म वापिस लौटा। और बम्बई से मिलने वाली पहली ही स्टीमर में मैं चढ गया। इस स्टीमर को दादा अब्दुल्ला की दुकान ने खरीदी थी। अपने साहसों में नेटाल और पोरबंदर के बीच स्टीमर चलाने का उनका यह पहला साहस था। स्टीमर

का नाम "कुर्लिंड" था। इस स्टीमर के बाद फौरन ही पर्शियन कंपनी की आगबोट "नादरी" भी नेटाल के लिए रवाना हुई। मेरी टिकट "कुर्लिंड" की थी। साथ बालबच्चे भी थे। दोनों स्टीमरों में सब मिलाकर दक्षिण आफ्रिका जाने वाले कोई ८०० मुसाफिर होंगे। भारत में मैंने जो हलचल की उसका असर बहुत भारी हुआ। बहुत से मुख्य मुख्य समाचार पत्रों में उसपर टिप्पणियां भी निकलीं। सो भी इतनी कि रूटर ने इस के अनेक तार भी भेजे। यह बात नेटाल पहुंचने पर मुझे मालूम हुई। इंग्लेंड भेजे गये तारों पर से वहां के रूटर के प्रतिनिधि ने एक छोटा सा तार दक्षिण आफ्रिका में भी भेजा। मैंने भारत में जो कुछ किया था उसे कुछ नमकमिर्च लगाकर इस तार में लिखा गया था। ऐसी अत्युक्तियां हम कई बार देखते हैं। और यह सब जान बूझकर नहीं होता। बहुकामी लोग अखबारों को ऊपर ऊपर देख लेते हैं। कुछ कुछ उनके अपने ख्याल भी होते ही हैं। वे एक ढांचा बनाते हैं, तहां उनका दिमाग कुछ और ही बना लेता हैं। फिर यह जहां जहां पहुंचता है तहां तहां उसका और ही अर्थ लगाया जाता है। और यह सब अनायास ही होता है। सार्वजनिक प्रवृतियों में यह एक खतरा है। एक तरह से यह उसकी एक हद भी है। भारत में मैंने नेटाल के गोरों पर आक्षेप किये थे। गिरमिटियाओं पर लगाये गये ३ पाऊंड के कर पर मैंने बहुत सख्त भापण किया था। सुब्रह्मण्यम् नामक एक गरीब गिरमिटिया पर उसके मालिक ने बडी बेरहमी के साथ हमला किया। उसको जो जखम हुआ था उसे मैंने देखा था। उसका सारा केस मेरे पास था। इसलिए उसका ठीक ठीक वर्णन मैं कर सका। इन सब बातों का सार जब नेटाल वासियों ने देखा तब वे मेरे खिलाफ बहुत उखड गये। खूबी यह थी कि

जितना हो सका उतना कर गुजरे। सरकार ने भी तुम्हारी सहायता की। इन लोगोंको २३ दिन तक अटकाये रक्खा। अपने हृद्गत भावों और उत्साह का जो दृश्य आपने दिखाया यही काफी है। बड़ी सरकार (साम्राज्य सरकार) पर इसका खासा असर पड़ेगा। आपके कार्य से नेटाल सरकार का काम बहुत सरल हो गया है। पर अब यदि आप बल-प्रयोग से एक भी भारतीय मुसाफिर को जहाज से उतरते हुए रोकेंगे तो अब आप अपने ही कार्य की हानि करेंगे। नेटाल सरकार को विकट स्थिति में डाल देंगे। और न आप उस काम में सफलता ही पा सकेंगे। मुसाफिरों का तो इसमें तिलमात्र भी दोष नहीं। उनमें स्त्रियां और बालक भी हैं। वे जब बम्बई से जहाज पर सवार हुए तब उन्हें आपकी मनोदशा का स्वप्न में भी ख्याल न था। इसलिए अब मेरी सलाह तो यह है कि आपको अब अपने अपने घर को चले जाना चाहिए। इन लोगों को आते हुए जरा भी न अटकाना चाहिए। पर मैं आप को यह वचन दिये देता हूं कि अब इसके बाद आनेवालों पर अंकुश रखने के लिए नेटाल सरकार धारासभा से अवश्य प्रवेश-प्रतिबंधक अधिकार प्राप्त कर लेगी" मैंने तो यहां पर भाषण का सारमात्र दिया है। मि. ऐस्कंब के श्रोतागण निराश तो जरूर हुए, पर नेटाल के गोरों पर उनका बहुत भारी प्रभाव था। गोरों ने अपने अपने घर का रास्ता लिया और दोनों जहाज बंदर में आये।

मुझे उन्होंने कहला भेजा कि मुझे दिन को जहाज न छोड़ना चाहिए। शाम को पोर्ट के सुपरिन्टेन्डेन्ट को मुझे लिवा जाने के लिए भेजा जायगा, उनके साथ मुझे घर को जाना चाहिए। हां, मेरी पत्नी वगैरा चाहे जब उतर सकते थे। यह कोई बाजाब्ता हुक्म न था। पर कप्तान से सिफारिश की गई थी

कि वह मुझे अकेला न उतरने दे, और साथ ही मेरे सिर पर मंडरानेवाले खतरे से बचने के लिए यह सूचना मात्र थी। ऐसी कोई बात नहीं थी कि कप्तान मुझे जबरदस्ती से रोक सकता हो। पर मैंने सोचा कि मुझे इस सूचना को मान लेना चाहिए। अपने बाल-बच्चों को मने सीधे घर को नहीं भेजा बल्कि डर्बन के विख्यात व्यापारी और मेरे पुराने मवक्किल तथा मित्र पारसी रुस्तमजी के यहां भेज दिया और उन्हें कहा कि मैं भी वहीं मिलूंगा। मुसाफिर वगैरा सब उतर गये कि इतने ही में मि. लाटन—दादा अबदुल्ला के वकील और मेरे मित्र—आये। उन्होंने पूछा "आप अभी तक क्यों नहीं उतरे?" मैंने मि० ऐस्कंब के पत्र की बात कही। उन्होंने कहा "मुझे तो यह जरा भी पसंद नहीं कि शामतक तक राह देखी जाय और फिर किसी अपराधी या चोर की तरह चुपके चुपके शहर में चला जाय। अगर आप को कुछ भय न मालूम होता हो तो अभी मेरे ही साथ क्यों नहीं चले चलते? हम लोग इसतरह शहर में हो कर पैदल ही चले चलेंगे मानों कुछ भी न हुआ हो।" मैंने कहा—"मैं तो नहीं मानता कि मुझे इसमें किसी प्रकार का भय है। मेरी नजर के सामने तो केवल यही योग्यायोग्य का सवाल है कि मि. ऐस्कंब की सूचना मानी जाय या नहीं। साथ ही यह भी सोच लेना चाहिए कि इसमें कप्तान की जिम्मेदारी का कोई सवाल तो नहीं है?" मि. लाटन ने हंसकर कहा "मि. ऐस्कंब ने आपके साथ अभी तक ऐसी कौन भलाई की है जिससे उनकी सूचना पर आपको कुछ भी विचार करना पड़े? फिर आपके पास यह मान लेने के लिए भी क्या आधार है कि उनकी सूचना में केवल भलमनसाहत ही है; रहस्य नहीं? शहर

में जो कुछ हुआ है और उसमें इन भाई साहव का जो कुछ हिस्सा है उसे आपकी अपेक्षा मैं अधिक अच्छी तरह जानता हूं। (मैंने सिर हिला कर जवाब दिया) पर इतने पर भी हम यह क्षण भर के लिए मान लेते हैं कि उन्होंने भलमनसाहत के साथ ही यह सूचना की होगी। फिर भी इतना तो मैं अवश्य जानता हूं कि उनकी सूचना पर ख्याल करने से आपकी अकीर्ति जरूर होगी। इसलिए मेरी तो सलाह यही है कि यदि आप तैयार हों तो अभी मेरे ही साथ चले चलिए। कप्तान तो अपने ही हैं। अर्थात् उनकी जिम्मेदारी हमारी जिम्मेदारी है। इनको पूछने वाले दादा अवदुल्ला ही तो हैं। वे इस विषय में जो सोचेंगे सो मैं भली भांति जानता हूं। क्योंकि उन्होंने इस मामले में वडी वहादुरी वताई है।" मैंने कहा "तो चलिए, मुझे कुछ भी तैयारी करना नहीं हैं। सिर पर पगडी भर देना है। कप्तान को खवर कर के निकल चलें।" कप्तान की आज्ञा ले कर हम लोग चले।

मि. लाटन डर्वन के वहुत पुराने और वडे ख्यातनामा वकील थे। मैं भारत गया उसके पहले ही उनके साथ मेरा वहुत घनिष्ठ संबंध हो चुका था। अपने महत्वपूर्ण मुकदमों में मैं उन्हींकी सहायता लेता था और कई वार उनको अपने मामलों में वडा वकील भी वनाता था। वे वडे वहादुर आदमी थे। शरीर के ऊंचे-पूरे थे।

हमारा रास्ता डर्वन के वडे से वडे मुहल्लों में से गुजरता था। हम लोग जहाज से उतरे उस वक्त शाम के कोई साढे चार वजे होंगे। आकाश में योंही कुछ मेघ थे, पर सूरज को छिपाने के लिए वे काफी थे। रास्ता इतना लंवा था कि पैदल ही चले जायं तो सेठ रुस्तमजी के वंगले को पहुंचने के लिए कम से कम एक घंटा

तो जरूर लगता । हम उतरे कि कितने ही लडकों ने हमें देखा । बडे आदमी तो उनमें थे ही नहीं । साधारणतया बंदरों पर जितने आदमी होते हैं बस उतने ही मालूम होते थे । कितने ही लडकों ने हमें देखा । मेरे जैसी पगडी पहननेवाला तो अकेला मैं ही था न । लडकों ने मुझे फौरन् पहचान लिया और "गांधी" "गांधी" इसे "मारो" "पीटो" "घेरो" चिल्लाकर हमारी तरफ दौडे । कोई कोई कंकड भी फेंकने लगे । फिर कितने ही अधेड गोरे भी उनमें आ शामिल हुए । कोलाहल धीरे धीरे और बढा । मि. लाटन को मालूम हुआ कि पैदल जाना मानों खतरे को निमन्त्रित करना है । इसलिए उन्होंने रिक्षा मंगाई । रिक्षा मनुष्य द्वारा खींची जानेवाली छोटी टमटम को कहते हैं । मैं तो कभी रिक्षा में बैठा ही न था; क्योंकि मुझे ऐसी सवारी में बैठना बहुत बुरा मालूम होता था कि जिसे मनुष्य खींचता हो । पर आज मुझे मालूम हुआ कि इस समय रिक्षा में सवार होना ही मेरा धर्म है । पर मैंने अपने ही जीवन में पांच सात कठिन अवसरों पर इस बात को प्रत्यक्ष देखा है कि परमात्मा जिसे बचाना चाहता है वह स्वयं भी गिरना चाहे तो वह नहीं गिर सकता । मैं उस समय गिरा नहीं; इसका पूरा श्रेय अकेला मैं कदापि नहीं ले सकता । रिक्षा खींचनेवाले हबशी लोग ही होते हैं । छोटे बडे सभीने रिक्षावाले को डराया कि यदि तू इस आदमी को रिक्षा में बैठावेगा तो हम सब तूझे पीटेंगे और तेरी गाडी को तोड डालेंगे । इसलिए रिक्षावाला तो "खा" (ना) कह कर चलता बना । और मैं रिक्षा में बैठते ही बैठते रह गया ।

अब सिवा पैदल चले जाने के हमारे लिए दूसरा मार्ग ही न था । हमारे पीछे पीछे तो एक खासा जुलूस जुट गया । और

जैसे जसे हम आगे बढते गये वैसे ही वसे वह भी बढता ही गया। आम रास्ते पर आये कि फिर तो छोटे वडे सैंकडों इकठे हो गये। एक वलवान आदमी ने मि. लाटन को अपने दोनों हाथों में पकड कर मुझसे अलग कर दिया। इससे वे मेरे पास न पहुंच सकते थे। अव मुझपर गालियों, पत्थरों ओर जो जो कुछ उन लोगों के हाथ आया उसकी वर्षा होने लगी। मेरी पगडी उडा दी गई। तवतक एक मजवूत ऊंचेपूरे आदमी ने आकर एक चांटा लगा कर पीछे से एक ऐसी लात जमाई कि मुझे चक्कर आ गया। म गिर ही रहा था कि रास्ते के नजदीकवाले किसी मकान के कम्पाउंड की जाली मेरे हाथ में आ गई। मैंने जरा दम लिया और आंखों की अंधियारी कम होते ही फिर चलने लगा। जिंदा घर को पहुंचने की आशा तो लगभग मैं छोड ही बैठा था। पर इतना तो मुझे अब भी याद पडता है कि इस वक्त भी मेरा हृदय उन मारनेवालों को जरा भी दोष न देता था।

इस प्रकार मैं धीरे धीरे अपना रास्ता तय कर रहा था कि इतने ही में डर्बन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट की औरत सामने से जा रही थी। हम एक दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। यह महिला वडी बहादुर थी। यद्यपि आकाश में कुछ कुछ मेघ थे और सूर्य भी अस्त होने ही को था तथापि उसने मेरी रक्षा के लिए अपनी छत्री खोली और मेरे साथ साथ चलने लगी। स्त्री-जाति का अपमान और सो भी डर्बन के पुराने और लोकप्रिय कोतवाल की धर्मपत्नी का अपमान--गोरों से कभी नहीं हो सकता था। वे तो उसे जरा भी हानि नहीं पहुंचा सकते थे। इसलिए उसे बचा कर मुझपर जो प्रहार होता वह तो योंही हलका होता। दरमियान इस हमले की खवर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को पहुंच गई। फौरन् उन्होंने

मेरी रक्षा के लिए पुलिस का एक दल भेज दिया जिसने मुझे अपने बीच में कर लिया। हमारा रास्ता थाने के पास से हो कर गुजरता था। वहां पहुंचे तो देखा कि कोतवाल साहब हमारी राह ही देख रहे थे। उसने मुझे पुलिस चौकी के अंदर जाने की ही सलाह दी। मैंने इस कृपा के लिए अहसानमंदी जाहिर करते हुए कहा कि मुझे तो अपने मुकाम पर ही जाना होगा। डर्बन के लोगों की न्यायवृत्ति पर और अपने सत्य पर मुझे पूरा विश्वास है। आपने मेरे लिए पुलिस-दल भेजा इसके लिए मैं अहसानमन्द हूं। अलावा इसके मिसेस अलेक्झांडर ने भी मेरी रक्षा की है।

आखिर मैं सहीसलामत रुस्तमजी के बंगले पर पहुंचा। लगभग शाम हो गई थी। कुर्लिंड के डाक्टर दाजी बरजोर, रुस्तमजी के यहीं थे। उन्होंने मेरी शुश्रूषा शुरू की। जखमों को जांचा। बहुतसे जखम नहीं थे। एक बंद चोट लग गई थी, वही अधिक तकलीफ दे रही थी। पर अभी मैं शान्ति पानेका अधिकारी नहीं समझा गया था। रुस्तमजी के मकान के सामने हजारों गोरे इकट्ठे हो गये थे। रात पड गई थी सो बहुत से गुंडे भी उनमें शामिल हो गये थे। लोगों ने रुस्तमजी सेठ से कहला भेजा कि यदि तुम गांधी को हमारे सिपुर्द न करोगे तो तुम्हें और उसके साथ ही साथ तुम्हारी दुकान को भी सुलगा देंगे। पर वे किसी के डराये डरनेवाले नहीं थे। तबतक यह खबर सुपरिन्टेन्डन्ट पुलिस के पास भी जा पहुंची। वे फौरन् ही मय अपनी खुफिया पुलिस के एक दल के इस जमघट में आ घुसे और एक मंच मंगाकर उसपर खडे हो गये। इस प्रकार लोगों से बातचीत करने के बहाने पारसी रुस्तमजी के घर के दरवाजे पर आ पहुंचे जिससे कि उसे तोडकर कोई अन्दर न जा

सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपनी खुफिया के जवानों को पहले ही योग्य स्थान पर छिपा रक्खा था। वहां पहुंचते ही अपने एक अधिकारी को हिन्दुस्तानी पोशाक पहना हिन्दुस्तानियों के जैसा चेहरा रंगकर हिन्दी व्यापारी की तरह अपने को दिखाने को कह रक्खा था। और उसे यह हुक्म दे रक्खा था कि वह मुझे मिले और कहे कि यदि आप अपने मित्र की, उनके महमानों की, उनके माल की और अपने बाल-बच्चों की रक्षा करना चाहते हो तो आपको एक हिन्दुस्तानी सिपाही का सा लिवास पहन कर पारसी के गोडाउन म होकर इसी भीड में से मेरे आदमी के साथ पुलिस चौकी पर पहुंच जाना चाहिए। इस गलीं के मुहाने पर आपके लिए गाडीं तैयार रक्खी है। आपको और दूसरों को बचाने का केवल यही उपाय मेरे हाथों में है। लोग इतने उत्तेजित हो गये हैं कि रोक रखने के लिए मेरे पास कुछ भी साधन नहीं है। अगर आप जल्दी न करेंगे तो यह मकान अभी मटियामेट हो जायगा। इतना ही नहीं बल्कि इससे जानोमाल का जो नुकसान होगा उसकी मैं कल्पना तक नहीं कर सकता।

फौरन् सारी परिस्थिति मेरे ख्याल में आ गई। मैंने उसी वक्त सिपाही का लिबास मांगा, उसे पहना और वहां से निकल कर सहीसलामत पुलिस चौकी पर जा पहुंचा। इधर कोतवाल साहब प्रसंगोचित गीतों से और भाषणों से भीड को बातों में लगा रहे थे। जहां उन्ह मालूम हुआ कि मैं सहीसलामत पुलिस चौकी पर पहुंच गया कि उन्होंने अपना सच्चा भाषण शुरू किया।

"आप लोग क्या चाहते हो?"

"हम गांधी को चाहते हैं।"

"उसे क्या करोगे?"

"हम उसे जीता जलावेंगे।"

"उसने आपका क्या बिगाडा?"

"उसने भारत में हमारे विषय म कितनी ही झूठी बातें कही हैं। और नेटाल में हजारों हिन्दुस्तानियों को भर देना चाहता है।"

"पर यदि वह बाहर न आवे तो आप क्या करोगे?"

"तो हम इस मकान को आग लगा देंगे।"

"इसमें तो उसके बालबच्चे हैं, दूसरे भी स्त्री-पुरुष हैं। स्त्रियों और बच्चों को जलाने में तुम्हें कुछ लज्जा नहीं मालूम होती?"

"पर यह तो दोष आपका है। आप हम लाचार ही कर द तो फिर हम भी क्या करें? हम तो दूसरे किसीको चोट पहुंचाना नहीं चाहते। बस गांधी को हमारे सिपुर्द कर दो कि हो चुका। आप अपराधी को भी न दें और यदि उसे पकडते हुए दूसरों को चोट पहुंचे उसका दोष भी हमारे ही सिर मढें, यह कहां का न्याय?"

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने धीरे से हंस कर कहा कि तो उनके बीच होकर कभी का दूसरी जगह सहीसलामत पहुंच चुका हूं। यह सुन कर लोग भी ठठा कर हंस पडे। और कहने लगे 'झूठ' 'झूठ'।

सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा, "अगर आपको अपने वृद्ध कोतवाल की बात पर विश्वास न बैठता हो तो अपने ही में से ३।४ आदमियों की कमिटी बनाइए आर शेष सब यह वचन दीजिए कि अन्य कोई मकान के अन्दर नहीं जावेगा। और यदि कमिटी गांधी को न ढूंढ सके तो आप सब शांतिपूर्वक अपने अपने घर लौट जावेंगे। आज उत्तेजित होकर आपने पुलिस की सत्ता को नहीं माना, इसमें पुलिस की नहीं आपही की बदनामी है। और इससे

पुलिस को आपके साथ चालबाजी से काम लेना पडा। आपकी शिकार को वह आपके बीच में से निकाल ले गई और आपको हरा दिया। इसमें आपको पुलिस को जरा भी दोष न देना चाहिए, जिस पुलिस को आपने बनाई है उसीने इसमें अपने कर्तव्य का पालन किया है।"

यह तमाम बातचीत सुपरिन्टेन्डेन्ट ने इतनी मधुरता, हास्य और दृढता के साथ की कि लोगों ने उसे वह वचन भी दे दिया। कमिटी बनी। उसने पारसी रुस्तमजी के मकान का कोना कोना ढूंढ डाला और लोगों से आकर कह दिया कि सुपरिन्टेन्डेन्ट की बात सच है। उसने हमें हरा दिया। लोग निराश तो हुए। पर अपने वचन पर भी कायम रहे। किसीका कुछ नुकसान न किया। सीधे अपने अपने घरको चले गये। उस दिन १८९७ साल की तेरहवीं जनवरी थी।

उसी दिन सुबह मुसाफिरों पर का प्रतिबन्ध दूर हुआ था कि फौरन् ही डर्बन के एक समाचारपत्र का रिपोर्टर मेरे पास आया। वह सब बातें मुझसे पूछ गया था। मुझपर जो आरोप किया गया था उनका स्पष्टीकरण करना बिलकुल आसान बात थी। तमाम उदाहरण ले ले कर मैंने यह दिखा दिया कि मैंने उसमें तिलमात्र भी अत्युक्ति नहीं की थी। जो कुछ भी मैंने किया वह मेरा धर्म था। अगर मैं वह न करता तो मैं मनुष्य-जाति में गिने जाने लायक न रहता। ये तमाम वर्तमान दूसरे दिन प्रकाशित हो गये। और समझदार गोरों ने अपना अपना दोष कुबूल कर लिया। समाचार पत्रों ने नेटाल की परिस्थिति के विषय में अपने हार्दिक भाव प्रकट किये; पर साथ ही मेरे कार्यों का भी समर्थन ही किया। इससे मेरी और साथ ही भारतीयों की प्रतिष्ठा और भी बढ गई।

गरीब हिन्दुस्तानी भी नामर्द नहीं होते, व्यापारी लोग भी अपने व्यापार की जरा भी पर्वाह न करते हुए स्वाभिमान के लिए स्वदेश के लिए लड सकते हैं यह उन्होंने भली भांति देख लिया।

इससे यद्यपि जाति को तो एक तरह से दुःख सहना पडा, और स्वयं दादा अबदुल्ला को तो बहुत भारी नुकसान भी उठाना पडा तथापि इस दुःख के अन्त में लाभ ही हुआ। कौम को अपनी शक्ति का कुछ अनुमान हुआ और आत्मविश्वास बढा। मुझे अधिक अनुभव हुआ और उस दिन का विचार करते हुए अब तो मालूम होता है कि परमात्मा मुझे सत्याग्रह के लिए धीरे धीरे तैयार कर रहा था।

नेटाल की घटनाओं का असर विलायत पर भी पडा। मि० चेम्बरलेन ने नेटाल की सरकार को तार किया कि जिन लोगों ने मुझपर हमला किया उनपर काम चलाया जाय और मुझे न्याय दिया जाय।

मि० ऐस्कंब न्याय-विभाग के मंत्री थे। उन्होंने मुझे बुलाया। मि० चेम्बरलेन के तार की बात कही। मुझे चोट पहुंची, इसके लिए दुःख प्रकट किया। मैं बच गया, इसलिए संतोष भी व्यक्त किया। और कहा "मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मैं यह जरा भी नहीं चाहता था कि आपको या आपकी कौम के किसी भी आदमी को चोट पहुंचे। मुझे यह डर था कि आपको कहीं चोट न पहुंचे, इसीलिए मैंने आपके पास रात को उतरने की वह सूचना भेजी थी। पर आपको वह सूचना पसंद नहीं आई। मैं इस बात के लिए आपको जरा भी दोष देना नहीं चाहता कि आपने मि० लाटन की बात क्यों मानी। आपको वह पूरा अधिकार था

कि आप वही करें जो आपको योग्य मालूम हो। मि० चेम्बरलेन की मांग से नेटाल सरकार पूरी तरह से सहमत है। हम यह चाहते हैं कि अपराधियों को सजा हो। हमला करनेवालों में से आप किसीको पहचान सकेंगे?" मैंने कहा संभव है एक दो आदमियों को मैं पहचान सकूं। पर यह बात आगे बढे उसके पहले मैं यह कह देना चाहता हूं कि मैंने अपने दिल में कभी से यह निश्चय कर लिया है कि मुझपर हमला करनेवालों में से किसीपर भी मैं अदालत में फर्याद करना नहीं चाहता। मुझे तो आक्रमणकारियों का इसमें जरा भी दोष नहीं दिखाई देता। उन्हें तो जो समाचार मिले वे उनके अगुआओं के दिये हुए थे। उनकी सचाई जांचने के लिए वे लोग थोडे ही बैठ सकते हैं? मेरे विषय में उन्होंने जो कुछ सुना वह अगर सत्य हो तो वे उत्तेजित होकर जोश में कुछ अकार्य भी कर डालें, तो मैं उन्हें इसके लिए जरा भी दोष न दूंगा। उत्तेजित जनता इसी प्रकार न्याय मांगती आई है। अगर इसमें किसी का दोष है तो इस विषय के लिए संगठित की गई कमिटी का और आपका। इसीलिए नेटाल सरकार का। रूटर ने चाहे जो तार किया हो पर जिस हालत में मैं यहां आ रहा हूं वह आपको मालूम था तो आपका और उस कमिटी का यह धर्म था कि आपने और उस कमिटी ने जो जो तर्क किये उसके विषय में मुझे पूछ लें, मेरे उत्तर सुन लें, और फिर जो योग्य मालूम हो सो भले ही करें। अब मुझपर किये गये हमले के लिए मैं आपपर या उस कमिटी पर कोई मुकदमा ही नहीं चला सकता और यदि वैसे हो सकता हो तो भी अदालत के द्वारा न्याय प्राप्त करने की मेरी तिलमात्र भी इच्छा नहीं। जिस प्रकार आपको

उचित मालूम हुआ आपने नेटाल गोरों के स्वत्वों की रक्षा के लिए यत्न किया। यह तो राजनीति है। मुझे भी तो इसी क्षेत्र में आपके साथ जूझना है। और आपको तथा अन्य गोरों को यह बात बता देना है कि हिन्दुस्तानी जनता ब्रिटिश साम्राज्य के एक महान् हिस्से की हैसियत से गोरों को विना कोई नुकसान पहुंचाये केवल अपने स्वाभिमान और स्वत्वों की रक्षा करना चाहती हैं। मि० ऐस्कंब ने कहा आपने जो कुछ कहा मैं सब समझ गया और वह मुझे पसंद भी आया। मैं यह सुनने के लिए तैयार न था कि आप मुकदमा चलाना नहीं चाहते। और अगर तैयार होते भी तो मैं अप्रसन्न न होता। पर जवकि आपने मुकदमा न चलाने का अपना निश्चय प्रकट कर ही दिया है तो मुझे यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि आप विलकुल ठीक निश्चय पर पहुंचे हैं। इतना ही नहीं बल्कि आप अपनी इस सेवा के द्वारा ही अपनी कौम की अधिक सेवा करेंगे। साथ ही मुझे यह भी कुबूल करना चाहिए कि अपने इस कार्य से आप नेटाल सरकार को एक विषम स्थिति से बचा लेंगे। अगर आप चाहें तो हम पकडा-धकडी भी करेंगे पर आपको यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे गोरों का क्रोध फिर भडक उठेगा अनेक प्रकार की टीकायें होंगी। और यह सब किसी भी राज्यसत्ता को पसंद नहीं हो सकता। पर यदि आप उस निश्चय के उपर पहुंच ही चुके हों तो आपको इस आशय की एक चिट्ठी लिखना चाहिए। हमारी वातचीत का सारमात्र लिखकर मैं अपनी सरकार का बचाव चेम्बरलेन के सामने नहीं कर सकता। मुझे तो आपकी चिट्ठी के भावार्थ का ही तार करना होगा। पर मैं यह नहीं कहता कि आप ऐसी चिठ्ठी मुझे अभी लिख दें। अपने मित्रों के साथ सलाह-मशवरा कर लीजिए, मि० लाटन की भी सलाह लें

और इसके वाद भी अगर आप अपने ही विचार पर दृढ रहें तो मुझे लिखें। पर यह भी मुझे अवश्य कह देना चाहिए कि आप स्वयं ही फर्याद नहीं करना चाहते हैं इस बात की जिम्मेदारी आपको अपने पत्र में कुबूल करनी होगी। तभी मैं उसका उपयोग कर सकूंगा। मैंने कहा, इस विषय में मैंने किसी की राय नहीं ली। मैं यह भी नहीं जानता था कि आपने मुझे इसी बात के लिए बुलाया था और न मुझे यह इच्छा ही है कि किसीके साथ इस विषय में सलाह-मशवरा करूं। जिस समय मैंने मि०लाटन के साथ घर पर पैदल जाने का निश्चय किया था उसी समय मैंने दिल में यह तय कर लिया था कि यदि मुझे उसमें जरा भी चोट या हानि पहुंचे त, मुझे अपने दिल में बुरा न मानना चाहिए। फिर फर्याद करने ा तो सवाल ही कहां रहा? मेरेलिए तो यह एक धार्मिक प्रश्न ह। और जैसा कि आप कहते हैं मैं यह भी मानता हूं कि म अपने इस संयम से न केवल अपनी जाति की सेवा कर रहा हूं बल्कि इसमें मेरा व्यक्तिगत लाभ भी है। इसलिए इस निश्चय की तमाम जिम्मेदारी अपने सिर पर ले कर मैं वह चिट्ठी आपको यहीं लिख देना चाहता हूं। और मैंने उनसे कोरा कागज लेकर वह पत्र उन्हें वहीं लिख कर दे दिया।

अध्याय ८

भारतीयों ने क्या किया? (२)

विलायत का सम्वन्ध

पिछले अध्यायों को पढ कर पाठकों को यह ज्ञात हो गया होगा कि भारतीयों ने अपनी स्थिति सुधारने के लिए अपनी ओर से और अनायासतः कितने प्रयत्न किये और किस तरह वहां अपनी प्रतिष्ठा को वढाया। जिस प्रकार उन्होंने दक्षिण आफ्रिका में अपनी सर्वांगीण उन्नति के लिए यत्न किया उसी प्रकार भारत और इंग्लंड से जो कुछ सहायता मिल सकती थी उसे प्राप्त करने के लिए कठिन परिश्रम भी किया। भारत में किये प्रयत्न के विषय में तो मैं कुछ पहले ही लिख चुका हूं। अव यह कहना जरूरी है कि विलायत से सहायता प्राप्त करने के लिए कौम ने क्या क्या किया। कांग्रेस की ब्रिटिश कमिटी के साथ तो अपना संवंध जोडना ही चाहिए था। इसलिए हर सप्ताह हिन्द के दादा और कमिटी के अध्यक्ष सर विलियम वेडरवर्न को भी सविस्तर पत्र लिखे जाते थे। और जव जव अर्जी की नकल वगैरा भेजने का

प्रसंग आता तब तब वहां के डाकव्यय वगैरा तथा अन्य सामान्य खर्च के लिए कम से कम दस पौंड भी भेजे जाते थे।

यहां पर दादाभाई का एक पवित्र और स्मरणीय प्रसंग लिख देना चाहता हूं। दादाभाई कमिटी के अध्यक्ष नहीं थे। तथापि हमें तो यही मालूम हुआ कि रुपये वगैरा इन्हींके द्वारा भेजना ठीक होगा। फिर वे भले ही हमारी ओर से अध्यक्ष को दे दिया करें। पर पहले पहल ही जो रुपये-पैसे उन्हें भेजे गये उन्हें उन्होंने लाटा दिया और लिखा कि रुपये वगैरा भेजने का कमिटी सम्बन्धी काम हमें सर विलियम वेडरबर्न के द्वारा ही करना चाहिए। दादाभाई की सहायता तो थी ही पर कमिटी की प्रतिष्ठा सर विलियम वेडरबर्न के मार्फत काम लेने ही से बढती। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि दादाभाई इतने वयोवृद्ध थे तथापि पत्र वगैरा भेजने के काम में वे बडे ही नियमित थे। अगर उनके पास लिखने के लिए और कुछ न होता तो कम से कम हमारे पत्र की पहुंच तो लौटती डाक से अवश्य ही आ पहुंचती। और उस में आश्वासन के तौर पर दो एक शब्द जरूर रहते। ऐसे कागज भी वे स्वयं ही लिखते और उन पहुंचवाले पत्रों को भी अपने टिस्यू पेपर बुक में छाप लेते।

पिछले अध्याय में म यह भी बता चुका हूं कि यद्यपि हमने कांग्रेस का नाम वगैरा तो रक्खे थे तथापि हमारा यह हेतु कभी था ही नहीं कि हम अपने सवाल को एक पक्षीय बना लें। इसलिए दादाभाई की जानकारी में अन्य पक्षों के साथ भी हमारा पत्रव्यवहार रहता था। इन में दो मुख्य पुरुष थे। एक तो सर मंचेरजी भावनगरी और दूसरे सर विलियम् विल्सन हंटर। सर मंचेरजी भावनगरी उस समय पार्लियामेन्ट में थे। इनकी ओर से अच्छी

सहायता मिलती थी और वे हमेशा सूचनायें भी किया करते थे। पर दक्षिण आफ्रिका के सवाल के महत्त्व को भारतीयों से भी पहले समझनेवाले और वैसी ही कीमती सहायता करनेवाले सज्जन सर विलियम बिल्सन हंटर थे। वे टाइम्स के हिन्दी विभाग के संपादक थे। इनके पास पहला पत्र गया तभी से इन्होंने उसमें दक्षिण आफ्रिका की स्थिति को यथार्थ स्वरूप में जनता के सामने रख दिया। जहां जहां उचित मालूम हुआ तहां तहां खानगी पत्र भी लिखे। जब कोई महत्त्व का प्रश्न छिडा हुआ होता था तब इनकी डाक बराबर नियम से हर सप्ताह आती। अपने पहले ही पत्र में लिखा था—"आपने वहां की स्थिति का जो हाल लिखा है उसे पढ कर मैं दुःखित हूं। आप अपना काम निःसन्देह विनय-पूर्वक, शान्ति के साथ और निरतिशयता से ले रहे हैं। इस प्रश्न में मैं पूरी तरह से आपकी तरफ हूं । और न्याय प्राप्त करने के लिए मुझसे जो कुछ बन पडे सब करना चाहता हूं। मुझे तो निश्चय है कि इस विषय में हम एक इंचभर भी पीछे पैर नहीं रख सकते। आपकी मांग तो ऐसी है कि कोई भी निष्पक्ष मनुष्य उसमें तिलमात्र रद्दो —बदल नहीं कर सकता।" करीब करीब यही शब्द उन्होंने "टाइम्स" के अपने पहले लेख में लिखे थे। और आखिर तक उसी बात पर कायम रहे। लेडी हंटर ने अपने एक पत्र में लिखा था कि जब उनकी मृत्यु का समय आया तब उन दिनों में भी उन्होंने भारतीयों के प्रश्न पर एक लेखमाला लिखने के लिए एक ढांचा तैयार कर रखा था।

मनसुखलाल नाजर का नाम पिछले प्रकरण में लिख चुका हूं। प्रश्न को अधिक अच्छी तरह समझाने के लिए उन्हें विलायत

भेजा गया था और उन्हें यह सूचित कर दिया गया था कि तमाम पक्षों को अपने साथ में ले कर वे वहां काम करें। और वे जबतक वहां रहे तबतक सर विलियम विलसन हन्टर और सर मंचेरजी भावनगरी से मिलकर ही रहते थे। उसी प्रकार भारत में काम किये हुए अन्य महकमों के पेन्शन पानेवाले अधिकारी लोग, भारतीय सचिव-मंडल, तथा उपनिवेश-सचिव-मंडल आदि के भी निकट परिचय में रहते थे। इस प्रकार जहांतक हम पहुंच सकते थे ऐसी एक भी दिशा खाली नहीं रक्खी थी कि जहां कोई प्रयत्न न किया गया हो। इन तमाम प्रयत्नों का निश्चित परिणाम तो यह हुआ कि प्रवासी भारतवासियों का प्रश्न बडी-साम्राज्य सरकार के लिए एक महत्त्वपूर्ण वस्तु हो गई। और इसका अच्छा तथा खराब परिणाम अन्य राज्यों में भी हुआ। अर्थात् जहां जहां भारतीय और अंगरेज बसते थे वहां वहां वे जाग्रत हो गये।

अध्याय ९

बोअर लडाई

पाठकों ने यदि पिछले अध्याय ध्यानपूर्वक पढे होंगे तो उन्हें अवश्य ही इस बात का ख्याल हो गया होगा कि बोअर लडाई के वक्त दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति कैसी थी। तबतक जो कुछ प्रयत्न हुआ उसका वर्णन भी पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। सन १८९९ में डॉ. जेमीसन ने, जैसा कि पहले सोने की कानों के मालिकों के साथ खानगी तौर से तय हो चुका था, जोहान्सबर्ग पर चढाई की। ख्याल तो दोनों का यह था कि जोहान्सबर्ग पर हमारा अधिकार हो जाने के बाद ही यह खबर बोअर सरकार को मालूम होगी।

पर डा. जेमीसन और उनके मित्रो ने अपने अन्दाज में बहुत भारी गलती की। दूसरे, उन्होंने यह भी सोच रक्खा था कि रोडेशिया में शिक्षा पाये हुए निशानबाज सिपाहियों के आगे बिना तालीम पाये हुए बोअर किसान क्या कर सकेंगे? उन्होंने यह भी सोचा था कि जोहान्सबर्ग की अधिकांश जनता तो उनका स्वागत ही करेगी। इन भले डाक्टर साहब का यह अंदाज भी बिल्कुल

गलत साबित हुआ। प्रेसिडेन्ट क्रूगर को इन तमाम बातों की खबर बहुत अच्छे समय पर मिल चुकी थी। उन्होंने बडी शान्ति और कुशलता के साथ छिपकर ही डाक्टर साहब का सामना करने की व्यवस्था कर ली। साथ ही उस षड्यंत्र में जो जो आदमी मिले हुए थे उन सब को पकडने की तैयारी भी कर रक्खी। डाक्टर साहब जोहान्सबर्ग के नजदीक भी न पहुंचे कि उसके पहले ही से बोअर फौज ने अपनी गोलियों से उनका स्वागत करना आरंभ किया। इस फौज के सामने डा. जेमिसन की टुकडी कदापि नहीं टिक सकती थी। प्रे. क्रूगर ने इस बात की भी पूरी व्यवस्था कर दी थी कि जोहान्सबर्ग में कोई अपना सामना न कर सके। अतः बस्ती में तो किसीने भी ऊंचा सिर न किया। प्रेसिडेन्ट क्रूगर की हलचल को देखकर जोहान्सबर्ग के वे करोडपति तो अवाक् रह गये। इतनी बढिया व्यवस्था का फल यह हुआ कि खर्च भी बहुत कम हुआ और जानें भी बहुत कम गईं।

डा. जेमीसन और उनके मित्र—सोने की कानों के मालिक पकडे गये। बहुत तेजी से उनपर मामला चलाया गया। कितनों को फांसी की सजायें सुनाई गईं। इनमें से अधिकांश तो करोडपति ही थे। भला इसमें बडी सरकार क्या कर सकती थी? वह तो दिन-दहाडे की डकैती थी। प्रेसीडेन्ट क्रूगर की कीमत एकदम बढ गई। मि. चेम्बरलेन ने दीनता से भरा हुआ एक तार किया और प्रेसिडेन्ट क्रूगर के दयाभाव को जाग्रत करते हुए उन बडे आदमियों के लिए दया की भीख मांगी। प्रेसिडेन्ट क्रूगर अपने खेल में निपुण था। यह तो किसीको भी डर न था कि कोई भी शक्ति दक्षिण आफ्रिका में से इनकी राज्य-सत्ता छीन सकती है।

बेचारे डा. जेमीसन और उनके मित्र समझते थे कि हमारा षड्यंत्र बहुत अच्छी तरह से रचा गया है। पर प्रे. क्रूगर के लिए तो वह बच्चों का एक खेल-मात्र था। इसलिए उन्होंने चेम्बरलेन की विनति को स्वीकार किया और किसीको फांसी पर नहीं चढाया। इतना ही नहीं बल्कि सबको क्षमा करके छोड दिया।

पर एक बार उलटा हुआ अन्न पेट में कब तक रह सकता है? प्रे. क्रूगर जानते थे कि डा. जेमीसन का षड्यन्त्र एक भीषण रोग का छोटासा चिन्ह है। यह असंभव है कि जोहान्सबर्ग के करोडपति अपनी बदनामी को धो डालने का कभी प्रयत्न न करेंगे। फिर जिन सुधारों के लिए डा. जेमीसन का षड्यन्त्र रचा गया था उनमें से तो एक अंश भी उन्हें नहीं मिला था। इसलिए यह भी असंभव था कि करोडपति चुपचाप बैठे रहें। उनकी मांगों के साथ दक्षिण आफ्रिका के हाइ कमिश्नर—ब्रिटिश सल्तनत के मुख्य प्रतिनिधि लार्ड मिल्नर की पूर्ण सहानुभूति थी। उसी प्रकार ट्रान्सवाल के द्रोही—षड्यंत्रियों के प्रति बताई गई प्रे. क्रूगर की उदारता की तारीफ करते हुए मि. चेम्बरलेन ने सुधारों की आवश्यकता की ओर भी तो उनका ध्यान आकृष्ट किया था। सब कोई जानते थे कि सिवा लडाई के झगडा मिटना असंभव है। कानों के मालिकों की मांगें भी ऐसी ही थीं कि ट्रान्सवाल में बोअर-सत्ता का प्राधान्य जाता रहे। दोनों पक्ष जानते थे कि लडाई अनिवार्य है। इसलिए दोनों पक्ष तैयारी कर रहे थे। तत्कालीन शब्द-युद्ध देखते ही बनता था। प्रे. क्रूगर ने ज्यादह हथियार वगैरा मंगाये कि फौरन् ब्रिटिश राजदूत अपनी सरकार को चेतावनी देता कि अंगरेज सरकार को भी आत्मरक्षा के लिए दक्षिण आफ्रिका में कुछ फौज भेज देनी चाहिए।

और ब्रिटिश फौज दक्षिण आफ्रिका में आई कि प्रे. क्रूगर की ओर से उलहना दिया जाता और अधिकाधिक तैयारी की जाती। इस प्रकार एक पक्ष दूसरे पक्ष पर आरोप करते हुए दोनों तेजी के साथ युद्ध की तैयारी करते जा रहे थे।

जब प्रेसिडेन्ट क्रूगर अपनी ओर से पूरी तैयारी कर चुके, तब उन्होंने देखा कि अब बैठ रहना अपने आप शत्रु के शरण जाने के बराबर है। ब्रिटिश सल्तनत के पास धन और पशुबल का अखूट भांडार है। वह प्रे. क्रूगर को समझाते-बुझाते न्याय के लिए प्रार्थना करते हुए धीरे धीरे तैयारी करती हुई बहुत समय योंही निकाल सकती है। साथ ही संसार को यह भी दिखा सकती है कि जब प्रे. क्रूगर बिल्कुल ही नहीं मानते तब लाचार होकर उसे युद्ध करना पड रहा है। और यह कहते हुए फिर इस तैयारी के साथ युद्ध करे कि प्रे. क्रूगर उसके सामने खडा ही न रह सके। उसे दीन बनकर ब्रिटिश सल्तनत की मांगें कबूल करना ही पडें। पर जिस राष्ट्र में १८ वर्ष की उम्र से लगाकर ६० वर्ष की उम्रतक के पुरुष युद्ध-कुशल हों, जिस राष्ट्र की स्त्रियां भी अगर चाहें तो लड सकती हों, जो राष्ट्र स्वतंत्रता को एक धार्मिक सिद्धान्त समझता हो, वह एक चक्रवर्ती सम्राट् की शक्ति के सामने भी दीन न होगा। बोअर लोग ऐसे ही बहादुर हैं।

आरेंज फ्री स्टेट के साथ प्रे. क्रूगर ने पहले ही से सलाह कर रक्खी थी। इन दोनों बोअर राज्यों की पद्धति एक ही थी। प्रे. क्रूगर जरा भी नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार की मांग को पूरी तरह कबूल किया जाय, या कम से कम यहां तक भी समझौता कर लिया जाय कि कानों के मालिक संतुष्ट हो जायं।

इसलिए दोनों राज्यों ने विचारा कि अब यदि लडाई अनिवार्य ही है तो जितनी देर अपनी ओर से होगी उतना ही अधिक समय ब्रिटिश सरकार को तैयारी के लिए मिलेगा। इसलिए प्रे. क्रूगर ने अपने अंतिम विचार तथा आखिरी मांग लार्ड मिल्नर को लिख भेजी और उसीके साथ साथ ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट की सरहद पर फौज को भी लाकर रख दिया। इसका फल दूसरा हो ही नहीं सकता था। ब्रिटिशों के जैसा चक्रवर्ती राज्य कभी धमकियों के वश भी हो सकता है? आखिरी नोटिस की मीयाद पूरी हुई। और बिजली की गति से बोअर फौज आगे बढी। लेडी स्मिथ; किंबरली, और मेफेकिंग पर घेरा डाल दिया। इस प्रकार १८९९ में महान् युद्ध शुरू हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि लडाई के कारणों में से—अर्थात् ब्रिटिश मांगों में—बोअर राज्यों में भारतीयों की परिस्थिति भी एक थी।

अब दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के सामने यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा हुआ कि उन्हें इस समय क्या करना चाहिए। बोअर लोगों में से तो सारा पुरुषवर्ग लडाई पर चला गया। वकीलों ने वकालत छोड दी, किसानों ने अपने खेत छोड दिये, व्यापारियों ने अपने व्यापार को तिलांजलि दे दी, और नोकरों ने अपने इस्तीफे पेश कर दिये। अंगरेजों की ओर से इस परिमाण में तो नहीं तथापि केप कालोनी, नेटाल और रोडेशिया से मुल्की-वर्ग में से बहुत बडी संख्या में लोग स्वयंसेवक बने। बहुत से अंगरेज वकील और व्यापारी भी शामिल हुए। जिस अदालत में मैं वकालत करता था वहां अब बहुत थोडे वकील रह गये थे। बडे बडे वकील तो तमाम लडाई के काम में भिड गये थे। भारतीयों पर जो अनेक आरोप लगाये जाते थे उनमें एक यह भी था कि ये लोग

तो दक्षिण आफ्रिका में केवल धन इकट्ठा करने के लिए आते हैं। हम अंगरेजों के लिए केवल भाररूप हैं। और जिस तरह दीमक लकडी को कुतर कर बिल्कुल पोला कर डालती है ठीक उसी तरह ये लोग हमारा कलेजा खाने के लिए आये हुए हैं। मुल्क के उपर यदि कोई संकट आवे—घरबार लुट जाने का प्रसंग आवे तो ये हमारे किसी काम में आने वाले नहीं। हमें न केवल शत्रुओं से अपनी रक्षा करनी होगी बल्कि इनको भी बचाना होगा।" इस आरोप पर हम तमाम भारतीयों ने विचार किया। और सब को यही मालूम हुआ कि यह सिद्ध कर दिखाने के लिए कि वह केवल मिथ्या है यही सबसे बढिया अवसर है, पर साथ ही हमें नीचे लिखी बातों पर भी विचार करना पडा।

"हमें तो क्या अंगरेज और क्या बोअर दोनों एकसा लेखते हैं। यह तो हुई नहीं कि ट्रान्सवाल में दुःख है और नेटाल-केप में नहीं। अगर कोई फर्क है तो केवल परिमाण में। फिर हम तो गुलाम जैसे माने जाते हैं। हम जानते हैं कि बोअर जैसी मुट्ठीभर जाति भी अपने स्वत्वों के लिए लड रही है फिर हम उसके विनाश में सहायक क्यों कर हों? और परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो यह भी निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि बोअरों की ही हार होगी। अगर वे विजयी हो जायं तो क्या हमसे बदला न लेंगे?"

हममें से एक बलवान् पक्ष इस दलील को जोरों के साथ पेश कर रहा था। स्वयं मैं भी इस दलील को समझ सकता था, और आवश्यक महत्त्व भी उसे जरूर देता था। तथापि मुझे वह बिल्कुल ठीक न मालूम हुई। अतः मैंने इस दलील के रहस्य का उत्तर अपने दिल को और अपने लोगों को इस तरह दिया:—

"दक्षिण आफ्रिका में हमारी हस्ती केवल ब्रिटिश प्रजा की हैसियत से ही है। हरएक दरख्वास्त में जो हक मांगे हैं वे भी इसी हैसियत से मांगे गये हैं। ब्रिटिश प्रजा कहलाने में अपना गौरव समझा है, अथवा कम से कम ऐसा राज्याधिकारियों को दिखाया है कि हम ऐसा मानते हैं। राज्याधिकारियों ने भी हमारे स्वत्वों की रक्षा इसीलिए की है कि हम ब्रिटिश राज्य की प्रजा हैं। और जो जो कुछ कर सके हैं सब इसी हैसियत के बल पर। दक्षिण आफ्रिका में अंगरेज हमें दुःख देते हैं इसलिए हमें —हमारे मनुष्यत्वको भी—यह शोभा नहीं देता कि उनके और हमारे घरबार लुट जाने का प्रसंग आवे तब हम तमाशबीन की तरह यह सब तमाशा दूर से देखते रहें। इतना ही नहीं बल्कि अपने इस कार्य से हम अपना दुःख और भी बढ़ा लेंगे। जिस आरोप को हम असत्य मानते हैं और जिसे असत्य सिद्ध कर दिखाने का मौका अनायास मिला है उसे अपने हाथ से खो देना मानों उसे स्वयं ही सच्चा साबित कर देना है। फिर यदि हमपर अधिक आफतें मुसीबतें आवें और अंगरेज तानें मारें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न समझनी चाहिए। यह तो हमारा ही दोष कहा जायगा। फिर यह कहना कि अंगरेज लोग जितने आरोप हमपर लगाते हैं वे सब निर्मूल हैं, वे ध्यान देने योग्य भी नहीं, मानों अपने आपको ठगने के बराबर है। यह सच है कि हम अंगरेजी राज्य में गुलामों के जैसे हैं पर हमारा अबतक का बर्ताव ब्रिटिज साम्राज्य में रहते हुए गुलामी मिटाने का प्रयत्न करने की ओर ही रहा है। भारत के तमाम नेता भी ऐसा ही कर रहे हैं। हम भी वही कर रहे हैं। और यदि हम चाहते हों कि ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर रहकर ही हम अपनी स्वाधीनता

और उन्नति प्राप्त करें तो उसके लिए इस समय लडाई में तन मन धन से सहायता करना ही बढिया मौका है। यह तो हम अधिकांश में कबूल कर सकते हैं कि बोअरों की तरफ न्याय है। पर राज्य के अंदर रहकर हरएक प्रजाजन अपने व्यक्तिगत विचारों पर पूरी तरह अमल नहीं कर सकता। यह बात नहीं कि राज्याधिकारी जितने कार्य करते हैं वे सब योग्य ही होते हैं। तथापि जहांतक प्रजाजन किसी शासन–तंत्र को कुबूल करते हैं तहांतक उनका यही स्पष्ट धर्म है कि उसके कार्यों से वे सामान्यतः अनुकूल ही रहें।

फिर यदि प्रजा का कोई हिस्सा राज्य के किसी भी काम को यदि धार्मिक दृष्टि से अनीतिमय माने तो उस समय उस कार्य में विघ्न डालने या सहायता करने के पहले उसका पहला कर्तव्य यह होगा कि वह राज्य को उस अनीति से बचाने का पूरा प्रयत्न करे और यदि यह कर्तव्य करते हुए अपनी जान को भी जोखिम में डालना पडे तो भी पीछे न हटे। पर हमने इसमें से कुछ भी नहीं किया। न हमारे सामने ऐसा कोई सवाल ही उपस्थित हुआ और न हममें से किसीने यह कहा या माना कि अमुक सार्वजनिक और संपूर्ण कारण का विचार करते हुए हम लडाई में कोई भाग लेना नहीं चाहते। इसलिए प्रजाजन की हैसियत से तो हमारा यही धर्म है कि इस समय लडाई के गुणदोषों का विचार छोड कर लडाई छिड ही गई है तो उसमें यथाशक्ति सहायता करें। इस समय यह कहना कि यदि आखिर में बोअरो की विजय हुई—और यह मानने के लिए हमारे पास कोई कारण नहीं कि वे नहीं जीतेंगे—तो हम कढाई से निकल कर भट्टी में गिरेंगे, वे हमसे मनमाना बदला लेंगे, बहादुर बोअरों के साथ तथा स्वयं

हमारे साथ भी अन्याय करना है। यह तो हमारी कायरता की निशानी कही जायगी। इस बात का ख्याल तक करना हमारी वफादारी पर कलंक लगाना है। क्या कोई अंगरेज कभी क्षण भर के लिए भी ऐसा विचार कर सकता है कि यदि अंगरेजों की हार हुई तो उसकी क्या हालत होगी। रणांगण में डंड फटकार कर कूदनेवाला कोई भी मर्द ऐसी बेहूदा बातें नहीं कर सकता—वे तो सरासर मनुष्यत्व के खिलाफ हैं।"

यह दलील मैंने १८९९ में पेश की थी। और आज भी मुझे उसमें रद्दोबदल करने लायक कोई बात नहीं मालूम होती। अर्थात् ब्रिटिश राज्यतंत्र पर उस समय मेरा जितना मोह था, अपनी स्वाधीनता की आशा का जो सुंदर दृश्य मैं उस समय इस राज्यतंत्र के अन्दर देखता था—वह मोह और वही आशा यदि आज भी कायम हो तो मैं अक्षरशः यही दलील दक्षिण आफ्रिका में और ऐसे ही प्रसंगों पर यहां भी अवश्य करूं। इस दलील के विपक्ष में बहुत सी दलीलें मैंने दक्षिण आफ्रिका में और उसके बाद विलायत में भी सुनीं। तथापि अपने विचारों को बदलने लायक कोई कारण मैं उनमें न देख सका। मैं जानता हूं कि प्रस्तुत प्रसंग से मेरे आज के विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं। पर उपर्युक्त भेद स्पष्ट करने के दो प्रधान कारण हैं। पहला तो यह कि मुझे यह मान लेने का कोई अधिकार नहीं कि इस पुस्तक को जल्दी जल्दी से हाथमें उठा लेने वाला पाठक धीरज और शान्ति के साथ इसे पढ़ेगा, और दूसरा यह कि इस विचार-श्रेणी के अंदर भी सत्य का आग्रह है। हम जैसे हैं वैसे ही दिखाना यह धर्माचरण की यद्यपि आखिरी सीढी न हो तो भी पहली जरूर है। बगैर इस नींव के धर्म-भित्ति की रचना ही असंभव है।

आइए, अब हम फिर इतिहास के सूत्र को आगे बढावें। मेरी दलील को बहुत से लोगों ने पसंद किया। मैं पाठकों के दिल में यह भी भर देना नहीं चाहता कि वह केवल मेरी ही थी। इसके पेश करने के पहले भी लडाई में भाग लेने का विचार रखनेवाले बहुत से भारतीय थे ही। पर अब यह व्यावहारिक प्रश्न उपस्थित हुआ कि इन नक्कारों की आवाज में भारतीयों की तूती कौन सुनेगा। हथियार तो हममें से किसीने कभी हाथ में ही न लिये थे। पर लडाई में बिन हथियारी काम के लिए भी तो तालीम की आवश्यकता होती है। हमें तो एक साथ 'क्विकमार्च' करना भी याद न था। फिर फौज के साथ लंबी लंबी मंजिलें तय करने, अपना अपना सामान असबाब उठा कर चलने की तो बात ही कौन कहे? दूसरे, गोरे लोग तो हम सबको 'कुली' ही मानते थे। वे यदि हमारा अपमान करें, तिरस्कार की दृष्टि से देखें, तो यह सब हम कैसे बरदाश्त करेंगे। फौज में भरती होने के लिए इजाजत मांगेंगे। पर उसको मंजूर कैसे करावेंगे? आखिर हम सब इसी नतीजे पर पहुंचे कि कुछ भी हो उसे मंजूर करवाने के लिए प्रयत्न तो खूब करें। काम को करने लगे कि अपने आप नवीन रास्ते सूझते जावेंगे। अगर इच्छा होगी तो परमात्मा अवश्यमेव शक्ति भी देगा। यह चिंता ही न करना चाहिए कि हमें जो काम मिलेगा उसे हम कैसे करेंगे? दिल को मजबूत कर लें, सेवाधर्म स्वीकारने का निश्चय कर लें, तो मान-अपमान का विचार छोड ही देना चाहिए। अपमान सहन करके भी हम सेवा करें।

पर हमारी मांग को स्वीकृत कराने में हमें बेहद मुश्किलों का सामना करना पडा। उसका इतिहास बडा ही दिलचस्प है, पर उसे लिखने के लिए यहां स्थान नहीं है। इसलिए यहांपर सिर्फ यही

कह देना चाहता हूं कि हममें से मुख्य मुख्य पुरुषों ने घायल तथा दर्दियों की शुश्रूषा-परिचर्या करने की शिक्षा ग्रहण की । अपनी शारीरिक स्थिति के विषय में डाक्टरों से प्रमाणपत्र प्राप्त किये, और लडाई पर जाने के लिए की गई मांग को सरकार ने मंजूर कर लिया । इस पत्र और उसके साथ की गई प्रार्थना स्वीकार करने के आग्रह का वहुत अच्छा असर पडा । पत्र के उत्तर में सरकार ने अहसानमंदी जाहिर की । पर उस समय उसे स्वीकार करने से इन्कार कर दिया । इस वीच वोअरों का वल वढता जा रहा था । उनका फैलाव तो एक वडी रेलवे लाईन का सा हो गया । यह भय होने लगा कि वे नेटाल की राजधानी तक कहीं न चले आवें । हताहतों की संख्या वहुत वढ गई । आखिर ऐंम्व्युलन्स कोर (घायलों को उठा ले जाकर उनकी सेवा सुश्रूषा करने वाला दल) के वतौर हम रख लिये गये । हमने तो यहांतक लिख भेजा था कि दवाखानों में पाखाना साफ करने, झाडू वुहारा करने के लिए भी हम तैयार हैं । फिर सरकार ने जव एम्व्युलन्स कोर में हमे काम करने के लिए रख लिया, यह वात हमें स्वागत करने योग्य मालूम हो तो कौन वडे आश्चर्य की वात है । हमारा जो कुछ कहना था वह स्वतंत्र और गिरमिट-मुक्त भारतीयों के विषय में था । हमने तो यह भी सूचना की थी कि यदि गिरमिटियाओं को भी इसमें शामिल कर दिया जाय तो अच्छा होगा । इस समय तो सरकार को जितने आदमी मिलते उतने ही थोडे थे । इसलिए तमाम कोठियों में निमन्त्रण भेजे गये । फल यह हुआ कि भारतीयों को शोभने योग्य ११०० आदमियों की विशाल टुकडी डर्वन से रवाना हुई । वह जव रवाना हुई तव मि. ऐस्कंव ने, जिनके नाम से पाठक परिचित हैं और जो नेटाल के गोरे स्वयंसेवकों के अधिकारी थे

हमें धन्यवाद और आशीर्वाद दिये ।

अंगरेजी अखबारों को तो यह एक चमत्कार जैसा ही मालूम हुआ। वे यह आशा रखते ही न थे कि भारतीय लोग भी लडाई में कोई काम करेंगे। किसी अंगरेज ने वहां के एक अखबार में एक स्तुति-काव्य लिखा था जिसकी टेक की एक लाइन का अर्थ है "आखिर हम सब एक ही राज्य के तो बालक हैं।"

इस दल में लगभग ३०० से ४०० तक गिरमिट-मुक्त भारतीय थे जो स्वतंत्र भारतीयों की हलचल से एकत्र हुए थे। उनमें ३७ नायक माने जाते थे। क्योंकि इन लोगों के दस्तखत की दरख्वास्त सरकार के पास गई थी। और दूसरे को इकट्ठा करनेवाले भी ये ही थे। नायकों में बैरिस्टर मेहता वगैरा थे। दल में कारीगर लोग मस्लन् मिस्त्री, बढई राच वगैरा थे। इनमें हिन्दू, मुसलमान मद्रासी, उत्तरीय भारत के निवासी आदि सब वर्ग के लोग थे। हां, यह कह सकते हैं कि व्यापारियों में से कोई न था। पर उन्होंने आर्थिक सहायता जरूर अच्छी की थी।

इतने बडे दल को फौजी भत्ते के अतिरिक्त भी तो कई प्रकार की आवश्यकतायें होती हैं। और अगर वे पूरी हो जायं तो इस कष्ट कर फौजी जीवन में भी कुछ आराम मिल सकता है, उनको दूर करने का काम व्यापारीवर्ग ने अपने सिर ले लिया। और इसके साथही साथ जिन आहतों की हमें सेवा-शुश्रूषा करना पडती थी उनके लिए भी मिठाई, बीडी वगैरा दे कर उन्होंने अच्छी सहायता की। जिन जिन शहरों के पास हमने अपने मुकाम किये थे वहां वहां के व्यापारीवर्ग ने हमारी इसी तरह पूरी सहायता की थी।

हमारी टुकडी में जितने गिरमिटिया आये थे उनके लिए

उनकी कोठियों से अंगरेज नायक भेजे गये थे। पर सब का काम तो एक ही था। सब को एक साथ ही रहना पडता था। इसलिए ये गिरमिटिया हमें देख कर वडे खुश हुए। आर एक पूरे दल की व्यवस्था अनायास हमारे ही हाथों में आ गई। इसलिए वह सारी टुकडी भारतीयों की ही कहलाने लगी। और उसका यश भी उन्हींको प्राप्त हुआ। सच पूछा जाय तो गिरमिटियाओं के उसमें शामिल होने का श्रेय केवल भारतीयों को ही नहीं प्राप्त होता। वह तो कोठीवालों को ही मिलेगा। हां, यह बात जरूर सच है कि दल संगठित होने पर उसकी सुव्यवस्था का यश अवश्य स्वतंत्र भारतवासियों को मिलेगा और तदनुसार जनरल बूलर ने अपने खरीतों में इस बात का उल्लेख भी किया है। आहतों की शुश्रूषा की हमें शिक्षा देने वाले डाक्टर बूथ भी हमारे ही साथ में थे। ये वडे अच्छे पादरी सज्जन थे। और भारतीय ईसाइयों में काम करते समय सबमें मिलकर रहते थे। ऊपर मैंने जो ३७ नाम बताये उनमें से बहुत से इनके शिष्य थे। भारतीयों के शुश्रूषा–दल के ही जैसा एक यूरोपियनों का दल भी बनाया गया था। दोनों को एक ही स्थान पर काम करना पडता था।

हमने अपनी ओर से कोई शर्त नहीं लगाई थी। पर स्वीकृति पत्र में यह लिखा हुआ था कि बंदूक और तोप के मारे की हद में हमें न जाना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि रणक्षेत्र पर जो सिपाही आहत हों उनको फौज के साथ में रहनेवाला कायमी शुश्रूषा–दल उठा कर फौज के पीछे ले जा कर रख दिया करे। गोरों का और हमारा यह तात्कालिक दल इसलिए बनाया गया था कि जनरल बूलर लेडी स्मिथ में घिरे हुए जनरल व्हाइट

को छुडाने के लिए महाप्रयत्न करने वाले थे। और उन्हें यह भय था कि वहां इतने लोग आहत होंगे कि कायमी दल से वह काम नहीं संभलेगा। लडाई ऐसे क्षेत्र में चल रही थी कि जहांपर युद्ध क्षेत्र और छावनी के दरम्यान जाने आने के लिए पक्के रास्ते भी नहीं थे। इसलिए आहतों को इक्का घोडा-गाडी वगैरा में भी नहीं ले जाया जा सकता था। छावनी अक्सर किसी न किसी रेलवे स्टेशन के नजदीक रक्खी जाती था और यह साधारणतया युद्ध क्षेत्र से सात आठ मील और कभी कभी तो २५ मील तक दूर रहती था।

हमें काम तो शीघ्र ही मिल गया और सो भी हमने सोच रक्खा था उससे कठिन। सात सात आठ आठ मील तक आहतों को उठा ले जाना यह तो कोई विशेष कठिन बात नहीं थी। पर हमें तो पचीस पचीस मील तक और सो भी भयंकररूप से आहत सैनिकों और सेनाधिकारियों को उठाकर ले जाना पडता था। रास्ते में उन्हें दवा भी देना पडती थी। सुबह ८ बजे से कूच करके शाम के पांच बजे तक छावनी में पहुंच जाना पडता था। यह कोई आसान बात नहीं थी। एक ही दिन में घायल को पचीस मील तक उठाकर ले जाने का मौका तो एक ही बार आया। फिर पहले पहल सरकार की हार पर हार होती गई। घायलों की संख्या खूब वढ गई। इसलिए हमें युद्धक्षेत्र में न ले जाने की बात को अधिकारियों को भूल जाना पडा। पर मुझे यहांपर यह जरूर कह देना चाहिए कि जब ऐसा प्रसंग आया तब हम सबको बुलाकर कह दिया गया था कि आपके साथ जो शर्तें की गई हैं, उनमें यह लिखा गया है कि आपको ऐसी जगह नहीं जाना पडेगा जहांपर तोप और बंदूकों के गोले गिर रहे हों। इसलिए यदि

आप अपने को ऐसे खतरे में न डालना चाहते हों तो जनरल बूलर यह बिल्कुल नहीं चाहते कि आपको उसके लिए मजबूर किया जाय। पर यदि आप इस समय इस बात से न डर कर उसका सामना करने के लिए तैयार हो जायं तो सरकार आपका बहुत अहसान मानेगी। हम तो खतरे का सामना करना ही चाहते थे। बाहर रहना तो हमें पहले ही से नापसंद था। इसलिए इस प्रसंग का सबने स्वागत किया। किसीको न तो गोली लगी, और न अन्य किसी प्रकार की चोट पहुंची।

हमारे दल के अनेक अनुभव रसमय और मनोरंजक हैं। पर उन सबको लिखने के लिए यहां पर स्थान कहां? तथापि इतना तो कह देना जरूरी है कि अनघड माने जानेवाले गिरमिटिया भी जिस दल में थे उसे तात्कालिक गोरे दल के तथा काली फौज के गोरे सिपाइयों के साथ रहने का प्रसंग कई बार आता था। तथापि हमें कभी ऐसा नहीं मालूम हुआ कि गोरे हमारे साथ असभ्यता-पूर्वक पेश आ रहे हैं अथवा हमें तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। गोरे के तात्कालिक दल में तो दक्षिण आफ्रिका में बसे हुए गोरे लोग ही थे। लडाई के पहले वे भारतीयों के खिलाफ चलनेवाली हलचल में भाग ले रहे थे। पर इस समय तो इस कल्पना ने कि इस आपत्काल में भारतीय लोग अपने जातीय दुखों को भूल कर भी हमारी सहायता के लिए दौड पडे हैं, उनके हृदय को पानी पानी कर दिया था। मैं पहले यह कही चुका हूं कि जनरल बूलर ने अपनी विलायती डाक में हमारे काम की तारिफ की थी। दल के उन ३७ नायकों को लडाई के चांद भी दिये गये थे।

लेडी स्मिथ पर अधिकार करने के लिए जनरल बूलर ने जो आक्रमण किया था वह पूरा होते ही—अर्थात् दो महीने के अंदर ही हमारे तथा गोरों के दल को छुट्टी दे दी गई। इसके बाद भी

लडाई बहुत दिन तक चलती रही। हम तो चाहते थे कि हमें और मौका दिया जाय और छुट्टी देते समय हमें यह कहा भी गया था कि अगर फिर ऐसी ही जबरदस्त हलचल करने का मौका आवेगा तो सरकार आपका उपयोग अवश्य करेगी।

दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों ने इस लडाई में जो सहायता की थी वह यों देखा जाय तो बहुत अल्प मालूम होगी। उसमें जान का खतरा तो जरा भी न था। तथापि शुद्ध इच्छा का असर जरूर होता है। फिर यदि वह ऐसे समय अनुभूत हो जब किसीने उसकी अपेक्षा भी न की हो और न आशा, तब तो उसकी कीमत दूनी मानी जाती है। लडाई के वक्त भारतीयों के विषय में उसी सद्भावना का वायुमण्डल चारों ओर पाया जाता था।

यह अध्याय पूरा करने के पहले मुझे एक जानने योग्य बात जरूर कह देनी चाहिए। लेडी स्मिथ में घिरे हुए आदमियों में अंगरेजों के साथ साथ वहींके रहनेवाले कुछ रहेसहे भारतीय भी थे। इनमें व्यापारी, गिरमिटिया, रेल्वे में काम करनेवाले अथवा गोरे गृहस्थों के यहां काम करनेवाले नोकर वगैरा भी थे। उनमें परभूसिंग नामक गिरमिटिया भी था। घिरे हुए आदमियों को ऊपर के अधिकारी कोई न कोई काम तो जरूर देते ही हैं। ऐसा ही एक बडा ही खतरनाक और उतना ही महत्त्वपूर्ण काम कुली कहे जानेवाले परभूसिंग को भी सौंपा गया। लेडी स्मिथ के नजदीक की एक टेकडी पर बोअरों की पौम पौम नाम की एक तोप रक्खी हुई थी। उसके गोलों से बहुत से मकान नष्ट हो चुके थे और कितनी ही जानें भी चली गई थीं। तोप से गोला छूटे और अपने लक्ष्य पर पहुंचे इतने में कम से कम एक दो मिनट तो अवश्य ही निकल जाते हैं। अगर घिरे हुए लोगों को इतने समय का उपयोग

करने का मौका मिल सके तब तो वे उसमें कुछ न कुछ छिपने के लिए आड ढूंढ लें और अपनी जान बचा सकें। परभूसिंग को एक झाड के नीचे बैठने के लिए कहा गया था। तोप चलना शुरू होती तब से ले कर जबतक वह चला करती तबतक उसे वहां बैठना पडता था। उसका काम था उस तोपवाली टेकरी पर नजर रखना और जहां गोला छूटने का भडका देखा कि अपना घंट बजा देना। बस इसे सुनते ही जिस तरह चूहे बिल्ली को देख कर अपने अपने बिल में भाग जाते हैं ठीक उसी तरह बेचारे नगरवासी उस मारक गोले के आगमन की सूचना पाते ही अपनी छिपने की जगह में छिप जाते और अपनी जान बचाते।

परभूसिंग की इस अमूल्य सेवा की तारीफ करते हुए लेडी स्मिथ के अधिकारी लिखते हैं कि उसने वह काम इतनी निष्ठापूर्वक किया कि वह एक बार भी घंट बजाना नहीं भूला। कहने की आवश्यकता नहीं कि स्वयं परभूसिंग को तो हमेशा खतरे में ही रहना पडता था। न केवल यह बात नेटाल में प्रकाशित की गई बल्कि ठेठ लार्ड कर्जन के कानों तक भी वह पहुंच गई। उन्होंने परभूसिंग की इस बहादुरी के उपलक्ष्य में उसे भेट करने के लिए एक कश्मीरी जभ्भा भेजा और नेटाल सरकार को लिखा कि हो सके उतने जाहिरा तौर से इसका कारण जनता को बता कर यह वस्तु परभूसिंग को भेट की जाय। यह काम डर्बन के मेयर के जिम्मे किया गया था। डर्बन के टाउन हाल के कोन्सिल चेम्बर में एक सार्वजनिक सभा निमंत्रित की गई और उसमें परभूसिंग को वह वस्तु भेट की गई। यह दृष्टांत हमें दो शिक्षायें देता है, एक तो यह कि किसी भी मनुष्य को हम तुच्छ न समझें और दूसरा यह कि भीरू से भीरू आदमी भी अवसर प्राप्त होते ही वीर बन सकता है।

अध्याय १०

युद्ध के बाद

मुख्य लडाई तो सन १९०० में पूरी हो गई थी। इस बीच लेडीस्मिथ, किंबरली और मेफेकिंग आदि छुडा लिये गये थे। बोअरों ने संस्थानों से जितना कुछ मुल्क जीता था वह फिर वापिस ले लिया गया। अब तो केवल वानरयुद्ध (गोरीला वार फेअर) ही बच रहा था। ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट पर भी लार्ड किचनर ने अपना कब्जा कर लिया था।

मैंने सोचा कि अब यह कहा जा सकता है कि दक्षिण आफ्रिका में मेरा काम समाप्त हो गया। एक महीने के बदले मैं छः वरस रह चुका। कार्य की रूपरेखा भी बंध गई। तथापि बिला अपनी कौम की इजाजत के मैं कदापि नहीं जा सकता था। मैंने अपने साथियों से भारत में सेवा करने का अपना हेतु प्रकट किया। स्वार्थ के बदले सेवा-धर्म का पाठ मैं दक्षिण आफ्रिका में पढ चुका था। वस, अब उसीकी लगी थी। मनसुखलाल नाजर दक्षिण आफ्रिका में थे ही। खान भी वहीं थे। खास दक्षिण आफ्रिका से शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लेंड गये हुए कितने ही

नौजवान बेरिस्टर होकर वापिस भी लोट आये थे। अर्थात् इस समय मेरा स्वदेश को लोट जाना किसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता था। ये सब दलीलें पेश करने पर भी मुझे केवल इस शर्त पर वहां से छुट्टी मिली कि आफ्रिका में यदि कोई अकल्पित आपत्ति आ गिरे और मेरी वहां आवश्यकता हो तो कौम मुझे जिस समय वह चाहे वापिस बुला सकती है और मुझे भी उसी वक्त लौट जाना चाहिए। मुसाफरी और वहां रहने का खर्च मात्र कौम को जमा कर देना चाहिए। इस शर्त पर मैं वापिस लौटा।

स्वर्गीय गोखले की सलाह से और उनकी छत्र छाया में सार्वजनिक काम करने के हेतु से, पर साथ ही आजीविका भी प्राप्त करने की इच्छा से मैंने यह तय किया कि मैं बम्बई में ही बैरीस्टरी करूं। चेम्बर भी लिये। कुछ कुछ वकालत चलने लगी। दक्षिण आफ्रिका से मेरा इतना घनिष्ट संबंध हो चुका था कि सीर्फ दक्षिण आफ्रिका से लौटे हुए मवक्किल ही मुझे इतना दे सकते थे जिससे मैं अपना खर्चा भली भांति चला सकता था। पर मेरे भाग्य में यह कहां लिखा था कि मैं एक जगह शान्ति के साथ बैठ सकूं। मुश्किल से मैं बंबई में शांति के साथ तीन चार महीने रहा हूंगा कि आफ्रिका से तार आया—"परिस्थिति गम्भीर है। मि. चेम्बरलेन शीघ्र ही आ रहे हैं। आपकी उपस्थिति की आवश्यकता है।"

बम्बई के आफिस और घर को बटोरा और पहली ही स्टीमर से मैं रवाना हुआ। सन १९०२ का आखिर था। १९०१ के आखिर में मैं भारत लौटा था। १९०२ के मार्च-अपरैल में बम्बई में मैंने अपना आफिस खोला था। केवल तार पर से मैं अधिक नहीं जान सकता था। मैंने यह अंदाज किया

कि गडबडी है कहीं ट्रान्सवाल में ही। पर इस ख्याल से कि चार छः महीने के अंदर ही लौट आऊंगा मैं बालबच्चों को यहीं छोड कर अकेला ही रवाना हो गया। डर्वन पहुंचते ही सारे वर्तमान सुन कर मैं तो स्तब्ध सा हो गया। हम सबका यही खयाल था कि लडाई के बाद दक्षिण आफ्रिका भर में भारतीयों की स्थिति अच्छी हो जायगी; ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। क्योंकि लार्ड लैन्सडाऊन, लार्ड शेल्वर्न, वगैरा बडे बडे अधिकारी कहा करते थे कि भारतीयों की दुर्दशा भी लडाई का एक कारण है। प्रिटोरिया का ब्रिटिश राजदूत भी मुझसे कंई बार कह चुका था कि ट्रान्सवाल ब्रिटिश कालोनी हुवा नहीं कि भारतीयों के तमाम दुःख दूर हुए नहीं। गोरे लोग भी यही मानते थे कि राज्यसत्ता यदि बदल गई तो वहांके पुराने कानून भारतीयों को कभी नहीं लगाये जा सकते। यह बात यहांतक सर्वमान्य हो चुकी थी कि लडाई के पहले जमीन का नीलाम पुकारने वाले जो गोरे लोग भारतीयों की बोली स्वीकार ही नहीं करते थे वे भी उसे अब स्वीकार करने लग गये थे। और कितने ही भारतीयों ने तदनुसार नीलाम में जमीनें खरीदीं भी। पर जब वे महसूली कचेरी में जमीन का दस्तावेज रजिस्टर कराने के लिए गये कि फौरन् १८८५ का कानून महसूली अधिकारी ने उनके सामने खडा कर दिया और जमीन का रजिस्टर करने से इन्कार कर दिया। डर्वन उतरते ही मैंने यह सुना। नेताओं ने मुझसे कहा कि आपको ट्रान्सवाल जाना होगा। पहले तो मि. चेम्बरलेन यहां आवेंगे। यहांकी परिस्थिति से भी उन्हें परिचित कर देना आवश्यक है। बस, यहां का काम समाप्त हुआ कि उनके ही पीछे पीछे आपको ट्रान्सवाल जाना होगा।

नेटाल में मि. चेम्बरलैन से एक डेप्यूटेशन (शिष्ट-मंडल) मिला। उन्होंने तमाम हकीकत विनयपूर्वक सुन ली और यह वचन दिया कि मैं नेटाल के सचिव-मंडल से इस विषय में बातचीत करूंगा। लडाई के पहले नेटाल में बने हुए कानून में किसी परिवर्तन होने की मैंने कोई आशा न की थी। इन कानूनो का वर्णन तो पिछले अध्यायों में पाठक पढ ही चुके हैं।

पाठकों को अवश्य याद होगा कि लडाई के पहले ट्रान्सवाल में हरएक हिन्दी, जिस समय वह चाहे, जा सकता था। पर अब मैंने देखा कि वैसे न था। तथापि उस समय जो प्रतिबंध-रुकावट थी वह गोरे और हिन्दू सबके लिए एकसी थी। अभीतक यह स्थिति थी कि अगर बहुत से आदमी ट्रान्सवाल में घुस जायं तो सबको पूरे अन्नवस्त्र भी नहीं मिलें। क्योंकि लडाई के कारण दूकानें बंद थीं। दूसरे, दूकानों में का अधिकतर माल बोअर सरकार ही समाप्त कर गई थी। इसलिए मैंने अपने दिल में यह सोचा कि यदि यह रुकावट कुछ थोडे ही दिनों के लिए हो तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं। पर गोरों और भारतीयों को ट्रान्सवाल में जाने के लिए जो परवाना दिया जाता था उसकी रीति-नीति में कुछ भेद था। और इसी बात ने मुझे शंका और संशय में डाल दिया। परवाना देने के आफिस दक्षिण आफ्रिका के भिन्न भिन्न बंदरों में खोले गये थे। गोरों को तो मांगते ही परवाना मिल सकता था। पर भारतीयों के लिए मात्र ट्रान्सवाल में एक ऐशियाटिक महकमा खोल दिया गया था।

यह महकमा एक बिल्कुल नयी बात थी। इस महकमे के अधिकारी को भारतीयों को अर्जी देना पडती थी। इस अर्जी के मंजूर होने पर डर्बन अथवा अन्य बंदरों से वह साधारण परवाना

मिल सकता था। अगर मैं भी इसी प्रकार वढता तव तो मि. चेम्बरलेन के ट्रान्सवाल छोड कर चले जाने के पहले मुझे परवाना मिलने की आशा न करनी चाहिए थी। न ट्रान्सवाल के भारतवासी मेरे लिए ऐसा परवाना लेकर भेज सके थे। यह उनकी शक्ति के वाहर की बात थी। मेरे परवाने के लिए तो वे पूर्णतः मेरी डर्वन की पहचानों के ऊपर निर्भर थे। परवाना देने वाले अधिकारी को मैं नहीं जानता था। पर डर्वन के पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट को मैं अवश्य जानता था। इसलिए उनको मैं साथ ले गया और उनके द्वारा उन्हें अपनी पहचान दे दी। ट्रान्सवाल में मैं १८९३ में एक साल तक रह चुका हूं यह वता कर परवाना लेकर मैं प्रिटोरिया पहुंचा।

यहांपर मैंने एक बिल्कुल भिन्न वायुमण्डल देखा। मैंने यह देखा कि ऐशियाटिक विभाग एक भयंकर विभाग है और वह केवल भारतीयों को दवाने के लिए ही खोला गया है। उसके अधिकारी वे लोग थे जो लडाई के समय भारत से फौज के साथ आये थे, और लडाई समाप्त होने पर दक्षिण आफ्रिका में अपनी किस्मत आजमाने के लिए रह गये थे। उनमें से अधिकांश रिश्वतखोर थे। विशेषतः दो पर तो इस अपराध के लिए काम भी चलाया गया था। पंचों ने तो उन्हें छोड दिया था। पर चूंकि उनके रिश्वत लेने के विषय में कोई सन्देह नहीं था वे डिसमिस कर दिये गये थे। पक्षपात की कोई हद ही नहीं थी। फिर जहांपर एक ऐसा महकमा बिलकुल नया नया खोला गया हो, और सो भी किसी जाति के स्वत्वों पर प्रहार करने के लिए, वहां तो अपनी सत्ता कायम रखने के लिए और उसके साथ ही साथ दूसरी जाति के हकों को कुचलने के अपने कर्तव्य में कुशलता दिखाने के लिए,

मनुष्य अन्यायपूर्ण अधिकार के नित्य नये नये शस्त्र ही ढूंढता है। ठीक यही हाल यहां भी हुए।

मैंने देखा कि मुझे फिर से नई स्लेट पर श्री गणेश करने होंगे। एशियाटिक विभाग को इस बात का जल्दी पता न लगा कि मैं ट्रान्सवाल में किस प्रकार प्रवेश पा सका। यह बात मुझे पूछने की सहसा किसीको हिम्मत ही नहीं पडी। मैं मानता हूं कि उन्हें यह जरूर विश्वास होगा कि मैं छिप कर तो हरगिज न आया हूंगा। आखिर अप्रत्यक्ष रीति से उन्होंने यह पता लगा लिया कि मैं किसतरह परवाना प्राप्त कर सका। प्रिटोरिया का डेप्यूटेशन (शिष्ट-मंडल) भी मि. चेम्बरलेन से मिलने के लिए तैयार हो गया। उनके सामने पेश करने के लिए एक अर्जी भी लिख ली गई। पर एशियाटिक विभाग ने मेरा उनसे मिलना बंद करवा दिया। भारतीय नेताओं ने सोचा कि इस हालत में उनको भी न जाना चाहिए। मुझे यह विचार पसंद नहीं आया। मैंने उन्हें कहा कि मेरे इस अपमान को मुझे और उन्हें भी बरदाश्त कर लेना चाहिए। मैंने यह भी कहा कि कौम की अर्जी तो हई है। बस, इसे ही मि. चेम्बरलेन को सुना दीजिए। एक भारतीय बैरिस्टर ज्योर्ज गाड फ्रे वहीं हाजिर थे। उन्हें मैंने अर्जी पढने के लिए तैयार किया। डेप्यूटेशन गया। मेरे विषय में भी बात निकली। मि० चेम्बरलेन ने कहा कि "मि० गांधी को तो मैं डर्बन में एक बार मिल चुका था। इसलिए मैंने यही उचित समझा कि यहां की स्थिति यहीं के लोगों के मुंह से सुननी चाहिए और इसीलिए मैंने उन्हें मिलने से इनकार कर दिया था"। मेरी दृष्टि से इसने आग में घी का काम किया। मि० चेम्बरलेन वही बोले जो ऐशियाटिक विभाग ने उन्हें पढा रक्खा

था। जो हवा भारत में बह रही है वही एशियाटिक विभाग ने ट्रान्सवाल में बहाई। गुजराती लोग इस बात को तो अवश्य ही जानते होंगें कि चम्पारन में रहनेवाले अंगरेज बम्बई के निवासियों को परदेशी समझते हैं। इसी प्रकार ऐशियाटिक विभाग ने मि० चेम्बरलेन को पढाया कि मैं डर्बन का निवासी—ट्रान्सवाल की बीती कैसे जान सकता हूं ? उसे यह कब पता था कि मैं ट्रान्सवाल में रह चुका हूं और अगर वहां न भी रहा होता तो भी ट्रान्सवाल की परिस्थिति से मैं पूरी तरह परिचित था। पर सवाल तो केवल यही था कि ट्रान्सवाल की परिस्थिति से सबसे अधिक परिचित कौन था ? इस बात का उत्तर भारतियों ने मुझे ठेठ भारत से बुला कर दे दिया था। किन्तु हमारे लिए यह कोई नवीन बात नहीं कि शासकों के आगे न्याय की दृष्टि कोई काम नहीं देती। मि० चेम्बरलेन इस समय इसतरह स्थानीय ब्रिटिश सचिवों के पंजे के नीचे थे, और गोरों को संतुष्ट करने के लिए इतने आतुर थे कि इनसे न्याय मिलने की आशा लेश भर भी हमें नहीं थी—अथवा बहुत थोडी थी, पर फिर भी उनके पास डेप्पूटेशन इसलिए भेजा था कि भूल कर भी या स्वाभिमान के कारण न्याय प्राप्त करने में एक भी योग्य कदम लेने में कहीं गफलत न हो।

पर मेरेलिए तो इसबार १८९४ की अपेक्षा भी अधिक विषम प्रसंग उपस्थित हो गया। एक तरफ से विचार करते हुए मुझे मालूम हुआ कि मि०चेम्बरलेन ने इधर पीठ की नहीं कि मैं भारत वापिस लौटा नहीं। दूसरी दृष्टि से विचार करते हुए मैंने अच्छी तरह से यह देख लिया कि यह जानते हुए भी कि कौम भयंकर स्थिति में है, मैं भारत में सेवा करने के अभिमान से अगर वापिस लौट जाऊंगा तो जिस सेवा-धर्म की झांकी मैंने देखी थी

उसे मैं अवश्य दूषित कर दूंगा। आखिर मैंने यह सोचा कि परवा नहीं यदि जीवनभर यहीं दक्षिणी अफ्रिका में रहना पडे, पर या तो जबतक आकाश में मंडराते हुए विपत्ति के बादल छिन्न भिन्न नहीं हो जाते या हमारे हजार प्रयत्न करने पर भी वे और भी अधिक संख्या में एकत्र होकर कौम पर नहीं टूट पडते और हम सब उसमें नहीं मर मिटते तबतक मुझे ट्रान्सवाल में ही रहना चाहिए। भारतीय नेताओं से मैंने इसी तरह कहा। १८९४ की तरह वकालत करके अपना निर्वाह करने का अपना निश्चय भी मैंने उन्हें कह सुनाया। कौम तो यही चाहती थी।

फौरन् मैंने ट्रान्सवाल में वकालत के लिए अर्जी पेश की थी। मुझे यह जरूर शक था कि शायद यहां भी वकीलमंडल मेरी अर्जी का विरोध करेगा पर वह निर्मूल सावित हुआ। मुझे सनद दी गई और जोहान्सवर्ग में मैंने अपना आफिस खोल दिया। ट्रान्सवाल भर में भारतीय सबसे अधिक संख्या में जोहान्सवर्ग में ही बसते थे। इसलिए मेरी आजीविका और समाजसेवा इन दोनों दृष्टियों से जोहान्सवर्ग ही अनुकूल केन्द्र था। दिन ब दिन एशियाटिक आफिस की गंदगी का अधिकाधिक कटु अनुभव मैं ले रहा था और वहांके तमाम भारतीय समाज का पूरा बल इस गंदगी को दूर करने ही की ओर लगाया जा रहा था। अब १८८५ के कानून को रद करना तो दूर की बात हो गई थी। इस समय तो सबसे अधिक महत्व की बात यही थी कि एशियाटिक आफिस रूपी भयंकर बाढ से अपनेको कैसे बचावें। लार्ड मिल्नर, लार्ड शेल्बर्न जो वहां आये थे, सर आर्थर लाली जो ट्रान्सवाल में लेफ्टेन्ट गवर्नर थे और बाद मदरास के गवर्नर भी हो गये थे, उनके पास और उनसे नीचे की श्रेणी के अधिकारियों के पास भी

डेप्यूटेशन गये और उनसे मिले। स्वयं मैं भी कई बार मिलता। कुछ कुछ रियायत भी मिलती। पर यह सब तुच्छ था। डाकू जिस प्रकार अपना सर्वस्व हरण कर लेते हैं और हमारे गिडगिडाने पर ही केवल उसमें से कुछ अंश हमें लौटा देते हैं और हम उसमें संतोष मान लेते हैं, ठीक ठीक वैसा ही संतोष कई वार मान लेना पडता था। इस हलचल के कारण जिन अधिकारियों के डिसमिस होने के विषय में मैं लिख गया हूं उनपर काम भी चलाया गया। भारतीयों के प्रवेश के विषय में जो भय या शंका मुझे उस समय हुई थी वह भी सच्ची सावित हुई। गोरों को परवाने लेने का अव कोई काम न रहा। पर भारतीयों के लिए तो वह कानून वैसे ही जारी रहा। ट्रान्सवाल की भूतपूर्व सरकार ने इस विषय में जितना सख्त कानून वनाया था उतनी ही सख्ती के साथ उस समय उसपर अमल नहीं किया जाता था पर इसका कारण न तो उसकी उदारता थी और न भलमनसाहत। यथार्थ में कारण अमली विभाग की ही लापरवाही थी। पर अगर वे अधिकारी भले होते तो भूतपूर्व सरकार की अधीनता में उन्हें भलमनसाहत दिखाने का जितना अवकाश मिल सकता था उतना ब्रिटिश सरकार की अधीनता में कभी नहीं मिल सकता था। ब्रिटिश-तंत्र पुराना है अतएव दृढ है, व्यवस्थित है, और उसके अधिकारियों को यंत्र की तरह काम करना पडता है। क्योंकि उनपर एक के वाद एक चढते और उतरते हुए अंकुश रहते हैं। इसलिए यदि ब्रिटिश शासनाधीन पद्धति उदार हो तो जनता को एक उदार पद्धति का अधिक से अधिक लाभ मिल सकता है। यदि वह जुल्मी या कंजूस हो तो इस नियंत्रित सत्ता की अधीनता में वह प्रजा पूरी तरह दव कर पिस जाती है। ठीक इसके विपरीत स्थिति ट्रान्सवाल की

भूतपूर्व शासन संस्था जैसी सत्ता की अधीनता में होती है। उदार कानून के लाभ का मिलना न मिलना हर विभाग के अधिकारियों के ऊपर अवलंबित है। इसी कारण को लेकर जब ट्रान्सवाल में ब्रिटिश सत्ता कायम हुई तब भारतियों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने कानून थे उन सबका प्रयोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक सख्त होने लग गया। पहले जहां दोष थे वे सब अब दूर कर दिये गये। हम यह तो पहले ही देख चुके हैं कि एशियाटिक विभाग का उद्देश सख्त ही हो सकता है इसलिए यह विचार तो एक ओर रहा कि पुराने कानूनों को किस प्रकार रद किया जाय। बेचारे भारतियों के नसीब में तो अभी यही सोचना बदा था कि कानून की सख्तियों को सौम्य बनाने के लिए किस प्रकार उद्योग किया जाय।

आगे पीछे हमें एक सिद्धान्त की चर्चा जरूर ही करनी होगी। और यदि वह यहीं कर लें तो इससे आगे की परिस्थिति और भारतीयों का दृष्टि-बिन्दु आसानी से ख्याल में आ जायगा। ज्योंही ब्रिटिश-झण्डा ट्रान्सवाल और फ्री स्टेट में फहराने लगा त्योंही लार्ड मिल्नर ने एक कमिटि बनाई। उसका उद्देश था दोनों राज्यों के पुराने कानूनों को जांच कर उनमें से जो कानून प्रजा की स्वाधीनता को हानिकर हो अथवा ब्रिटिश शासन रहस्य के विपरीत हो उनको नोट कर लेना। इसमें स्पष्ट रूप से भारतीयों की स्वाधीनता पर आक्रमण करनेवाले कानूनों का समावेश भी हो सकता था। पर यह कमिटि बनाते हुए लार्ड मिल्नर का उद्देश भारतीयों के दुःखों का निवारण नहीं किन्तु अंगरेजों के दुःखों का निवारण था। उनका यह हेतु था कि जिन कानूनों से अंगरेजों को अप्रत्यक्ष रूप से भी हानि होती हो उनको जितनी शीघ्रता से

हो सके निकाल डालें। कमिटि का रिपोर्ट वहुत ही थोडे समय में तैयार हो गया। और छोटेवडे वहुत से कानून जो अंगरेजों के विरोधी थे सब एक ही हुक्म के द्वारा प्रायः रद कर दिये गये।

इसी कमिटि ने वे कानून भी छांट लिए जो भारतीयों के खिलाफ थे। और वे एक पुस्तक के रूप में छाप दिये, और एशियाटिक विभाग ने उनका उपयोग अथवा हमारी दृष्टि से कहे तो आसानी से दुरुपयोग करना शुरू भी कर दिया।

अव भारतीयों के विरोधी कानूनों में उनका नाम निर्देश करके केवल उन्हींके खिलाफ कानून न बनाते हुए यदि इस तरह उनकी रचना की जाती कि वे सबके लिए एकसा लागू किये जा सकें, सिर्फ उनपर अमल करना न करना अधिकारियों की पसंदगी पर ही छोड दिया जाता, अथवा वे इस तरह वनाये जाते कि उनका सार्वजनिक अर्थ तो सवके लिए लागू होता पर कटाक्ष भारतीयों पर अधिक होता, तो ऐसे कानूनों से भी उनके रचयिता की अभिष्ट सिद्धि हो सकती थी। और इतना होते हुए भी वे सार्वजनिक कहे जाते। इससे किसीका अपमान भी न होता। फिर आगे चल कर यदि विरोधी–भाव मंद होता तो विना कानून में किसी प्रकार के रद्दोवदल के केवल उसके उदार उपयोग से जिस किसीके खिलाफ वह वनाया गया हो वह वच जाता। जिस प्रकार दूसरी श्रेणी के कानूनों को मैंने सार्वजनिक कहा उसी प्रकार पहली श्रेणी के कानूनों को एकदेशी, कौमी अथवा जातिगत कानून कह सकते हैं। दक्षिण आफ्रिका में उसे 'रंगभेदी' कानून कहा जाता है। क्योंकि उसमें रंग–भेद को याद रखते हुए काले अथवा गेंहुए रंग की जातियों पर गोरों की अपेक्षा अधिक सख्ती वताई गई है। इसी का नाम 'कलर–वार' अथव रंगभेद या रंग–द्वेष है।

पहले के बने हुए कानून में से ही एक उदाहरण लीजिए। पाठकों को यह याद होगा कि नाताल में मताधिकार का जो पहला कानून बनाया गया और आखिर रद हुआ, उसमें एक इस आशय की धारा भी थी कि एशियाटिक मात्र को भविष्य में मताधिकार न दिया जाय। अब यदि इस कानून को रद करना हो तो लोकमत को यहांतक तैयार करना पडे कि वहांके अधिकांश लोग एशिया-वासियों का द्वेष छोड कर उनसे मित्र-भाव रखने लग जायं। जब वह अवसर आवे तभी नवीन कानून की रचना द्वारा वह रंग का कलंक दूर किया जा सके। यह हुआ एकदेशी अथवा रंगभेदी कानून का दृष्टान्त। अब वह कानून रद हो कर जो दूसरा कानून बनाया गया उसमें भी तो वह मूल हेतु (रंगभेद का) लगभग समाविष्ट हो ही गया था। तथापि उसकी शब्द रचना इस प्रकार की गई कि आपत्तिजनक शब्द निकाल कर उसे सार्वजनिक बना दिया गया। उस कानून की धारा का भावार्थ इस तरह है; जिस जाति को पार्लियामेंटरी फ्रेंचाइज—अर्थात इगलैंड की मुख्य जनसभा के लिए सभासद चुनने का जो मताधिकार है वैसा मताधिकार न हो उसे नाताल में मताधिकार नहीं दिया जा सकता। अब इसमें न कहीं भारतियों का नाम है और न एशिया-निवासियों का। कानून के पंडित इस बात पर अपनी अपनी राय भिन्न भिन्न देंगे कि भारत में इंग्लैंड के जैसा मताधिकार है या नहीं। पर उदाहरण के लिए हम जरा मान लेते हैं कि भारत में उस समय अर्थात १८९४ में मताधिकार न था या आज भी नहीं है, तथापि यदि मताधिकारियों के नाम दर्ज करनेवाला अधिकारी भारतियों के नाम भी लिख ले तो कोई इसपर सहसा यह आक्षेप नहीं कर सकता कि यह "गैर कानून कार्रवाई है।" सामान्यतः हमेशा प्रजा के अनुकूल ही

अनुमान किया जाता है । इसलिए यदि वहां की सरकार भारतीयों का विरोध न करना चाहे तो उपर्युक्त कानून के होते हुए भी मताधिकार पुस्तक में भारतीयों के नाम लिखे जा सकते हैं । इसलिए मान लीजिए कि यदि नाताल में भारतीयों के प्रति जो विरोध है वह आगे चल कर कभी मंद हो गया, अथवा वहां की सरकार ही को भारतीयों का विरोध न करना हो तो कानून में बिना किसी परिवर्तन के भारतीयों के नाम मत-पुस्तक में लिखे जा सकते हैं । सार्वजनिक कानून में यही विशेषता है । इसी प्रकार अन्य भी कई उदाहरण उन कानूनों से लेकर दिखाये जा सकते हैं जिन्हें पाठक पूर्व अध्यायों में पढ गये हैं । इसलिए चतुर राजनीति तो यही मानी जाती है जो एकदेशी कानून कम से कम बनावे । वह राजनीति तो सर्व श्रेष्ठ है जो बिलकुल ही ऐसे कानून न बनावे । यदि एक बार कोई कानून बन जाता है तो उसे बदलना बहुत मुश्किल है । लोकमत अधिक तैयार होता है तभी कोई कानून बदला जा सकता है । जिस प्रजातंत्र को बार बार अपने कानूनों को बदलना पडता है वह राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता ।

अब ट्रान्सवाल में बताये गये एशियाटिक कानून के कालकूट की भयंकरता का नाप हम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे । वे तो तमाम एकदेशी कानून थे । एशिया-निवासियों को मत देने का अधिकार नहीं, सरकार की बताई सीमा के बाहर वे जमीन नहीं खरीद सकते । जबतक ये कानून रद न हो जायं तबतक वहां के अधिकारीगण भारतीयों की कोई सहायता नहीं कर सकते थे ।

निवासियों के खिलाफ कोई प्रत्यक्ष कटाक्ष न थे पर उनके प्रतिकूल उनका उपयोग जरूर किया जा रहा था, रद हो जाते। अधिकारी लोग भी उस हालत में ऐसा न कह सकते थे कि "हम क्या कर सकते हैं, लाचार हैं। जबतक धारासभा इन कानूनों को रद नहीं कर डालती तवतक तो उनपर हमें अमल करना ही होगा।"

अब ज्योंही ये कानून ऐशियाटिक आफिस के हाथ लगे त्योंही उसने उनपर पूरा अमल करना शुरू कर दिया। इतना ही नहीं बल्कि यदि सचिव-मंडल सोचे कि ये कानून असल करने लायक हैं तो उसमें जो त्रुटियां हों या रह गई हों उनको भी सचिव-मंडल को दूर कर देना चाहिए। दलील तो सीधी सादी मालूम होती है। यदि ये कानून खराव हों तो रद कर दिये जायँ, और यदि उचित हों तो इनमें जो दोष रह गये हों उनको दूर कर दिये जायं। सचिव-मंडल ने तो उन कानून पर अमल करने की नीति धारण कर ली थी। भारतीयों ने अंगरेजों के साथ युद्ध में खडा रह कर अपनी जान को खतरे में डाल कर भी काम किया था। यह तो अव तीन चार साल की पुरानी वात हो गई थी। इस वात को भी पुराना राजतंत्र जाने कि भारतीयों के लिए ब्रिटिश राजदूत ने ट्रान्सवाल के साथ लडाई की थी। लडाई के कारणों में ट्रान्सवाल में भारतीयों की खराव स्थिति भी एक कारण था। इस वात को तो उन अधिकारियों ने कहा था जिन्हें न तो स्थानीय अनुभव था और न जिन्होंने दूर दृष्टि से ही काम लिया था। स्थानीय अधिकारियों ने अपने नीजी स्थानीय अनुभव से यह साफ साफ वता दिया कि वोअर राज्य के समय भारतीयों के खिलाफ जो जो कानून वनाये गये थे वे न तो पूर्ण थे और न पद्धति-

अनुमान किया जाता है। इसलिए यदि वहां की सरकार भारतीयों का विरोध न करना चाहे तो उपर्युक्त कानून के होते हुए भी मताधिकार पुस्तक में भारतीयों के नाम लिखे जा सकते हैं। इसलिए मान लीजिए कि यदि नाताल में भारतीयों के प्रति जो विरोध है वह आगे चल कर कभी मंद हो गया, अथवा वहां की सरकार ही को भारतीयों का विरोध न करना हो तो कानून में बिना किसी परिवर्तन के भारतीयों के नाम मत-पुस्तक में लिखे जा सकते हैं। सार्वजनिक कानून में यही विशेषता है। इसी प्रकार अन्य भी कई उदाहरण उन कानूनों से लेकर दिखाये जा सकते हैं जिन्हें पाठक पूर्व अध्यायों में पढ गये हैं। इसलिए चतुर राजनीति तो यही मानी जाती है जो एकदेशी कानून कम से कम बनावे। वह राजनीति तो सर्व श्रेष्ठ है जो बिलकुल ही ऐसे कानून न बनावे। यदि एक बार कोई कानून बन जाता है तो उसे बदलना बहुत मुश्किल है। लोकमत अधिक तैयार होता है तभी कोई कानून बदला जा सकता है। जिस प्रजातंत्र को बार बार अपने कानूनों को बदलना पडता है वह राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

अब ट्रान्सवाल में बताये गये एशियाटिक कानून के कालकूट की भयंकरता का नाप हम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। वे तो तमाम एकदेशी कानून थे। एशिया-निवासियों को मत देने का अधिकार नहीं, सरकार की बताई सीमा के बाहर वे जमीन नहीं खरीद सकते। जबतक ये कानून रद न हो जायं तबतक वहां के अधिकारीगण भारतीयों की कोई सहायता नहीं कर सकते थे। वे सार्वजनिक न थे इसीलिए तो लार्ड मिलनर की कमीटी उन्हें अलग छांट सकी। पर इसके विपरीत यदि वे सार्वजनिक होते तो अन्य कानूनों के साथ साथ वे कानून भी, जिनमें एशिया-

प्रयत्न भी किया है। खून की नदियां बहाई हैं। अनेक प्रकार के अन्य दुःखों को सहन किया है। अर्थात् अभी यह संभव नहीं कि पश्चिम की जातियां दूसरे किसी मार्ग का अवलंबन कर लें। इस दृष्टि से देखा जाय तो न तो यहां गोरों और भारतीयों का सवाल है, न व्यापार-द्वेष का, और न वर्ण-विद्वेष का ही। यहां तो केवल अपनी सभ्यता की रक्षा का, अर्थात उच्चतम आत्मरक्षा के अधिकार का उपभोग लेने और उसके लिए अपना कर्तव्य पूर्ण करने मात्र का सवाल है। भारतीयों के जो दोष बताये जाते हैं उसका उपयोग भाषणकर्ता जनता को उभाडने के लिए भले ही कर लिया करें पर राजनैतिक दृष्टि से विचार करनेवाला तो यही मानता और कहता है कि भारतीयों के गुण ही दक्षिण आफ्रिका में दोषरूप माने जाते हैं। भारतीयों की सादगी, बहुत समय एकसी मिहनत करने की शक्ति, उनकी मितव्ययता, उनकी परलोक-परायणता और सहनशीलता आदि गुणों के कारण ही दक्षिण आफ्रिका में वे अप्रिय हो गये हैं। पश्चिम की जातियां साहसी अधीर, सांसारिक आवश्यकताओं को बढाने और उन्हें पूर्ण करने के प्रयत्न में निमग्न, खाने पीने के शौकीन, शरीर को मिहनत से बचाने के लिए आतुर, और खर्चीली है। इसलिए उनको यह भय बना रहता है कि यदि पूर्वी सभ्यता के हजारों प्रतिनिधि दक्षिण अफ्रिका में घुस आवें तो पश्चिम के लोगों को अवश्य ही पीछे हट जाना पडे। दक्षिण आफ्रिका में बसनेवाली गोरी जातियां आत्म-हत्या करने के लिए तो कभी तैयार ही न होंगी। और न इन जातियों के हिमायती इन्हें इस खतरे में पडने देंगे।

मुझे विश्वास है कि अच्छे से अच्छे और चारित्रवान् गोरों ने जिस प्रकार इस दलील को पेश किया है ठीक उसीतरह निष्पक्ष

युक्त । सचमुच ब्रिटिश व्यापारी के लिए यह बडी हानिकर बात है कि भारतीय लोग जी चाहे उधर से घुस आवें और उनके दिल में आवे वहां वे अपना मनमाना व्यापार करें । इन सब दलीलों का और ऐसी ही अन्य दलीलों का गोरों और उनके प्रतिनिधियों पर बडा गहरा असर पडा । वे सब यह चाहते थे कि कम से कम समय में अधिक से अधिक जितना धन इकट्ठा कर सकें उतना कर लें । तब वे यह कैसे बरदाश्त कर सकते हैं कि भारतीय भी इसमें अपना हिस्सा बंटा लें । साथ ही उसके, तत्वज्ञान का आडंबर भी शुरू हुआ । दक्षिण आफ्रिका के बुद्धिमान् मनुष्यों को केवल व्यापारी दलील से कैसे संतोष हो सकता है । अन्याय करने के लिए भी बुद्धि हमेशा ऐसी ही दलीलें ढूंढती है जो उसे युक्तियुक्त मालूम हो । यही दक्षिण आफ्रिका में भी हुआ । जनरल स्मट्स वगैरा ने जो दलीलें पेश कीं वे ये हैं:—

"दक्षिण आफ्रिका पश्चिमी सभ्यता का प्रतिनिधि है । भारत पूर्वी सभ्यता का केन्द्र है । इस जमाने के तत्वज्ञानी तो इस बात को कुबूल नहीं करते कि दोनों का कभी मेल हो सकता है । अर्थात् न्यूनाधिक परिमाण में भी यदि इन दो भिन्न भिन्न विरोधी सभ्यताओं की प्रतिनिधि जातियों का संगम हो तो उसका परिणाम सिवा स्फोट अर्थात् लडाई के और कुछ हो ही नहीं सकता । पश्चिम सादगी का विरोध करता है । पूर्व की जातियां सादगी को ही प्राधान्य देती हैं । फिर इन दोनों का मेल ही कैसे हो सकता है । फिर यह देखने का काम राजपुरुषों का अर्थात् व्यावहारिक आदमियों का नहीं कि इन दो सभ्यताओं में कौन सी श्रेष्ठ है । पश्चिम की सभ्यता भली हो या बुरी—पश्चिमी जातियां तो उसे छोडना नहीं चाहती और उसे बचाने के लिए उन्होंने

कि जो जातियां अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढावेंगी उनका आखिर नाश ही होगा। इन्हीं सिद्धान्तों को ले कर पश्चिमी जातियां दक्षिण आफ्रिका में बसी हैं। और उनकी संख्या के परिमाण से देखा जाय तो असंख्य हबसियों को उन्होंने अपने अधीन कर रक्खा है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वे दीन हीन भारतीयों से डरें। और सभ्यता की दृष्टि से उन्हें जरा भी भय नहीं है इसका सब से वढिया सबूत तो यह है कि यदि भारतीय हमेशा के लिए मजदूर बन कर ही रहे होते तब तो उनके खिलाफ कोई आन्दोलन ही न हुआ होता।

अतः जो मुख्य वस्तु शेष रह जाती है वह तो है व्यापार और वर्ण। इस बात को तो हजारों गोरों ने लिखा है और कुबूल किया है कि भारतीयों का व्यापार छोटे छोटे अंगरेज व्यापारियों के लिए हानिकर है, और गेहुंए रंग की अरुचि अभी हाल तो अंगरेजों के खून में व्याप्त हो गई है। उत्तरी अमेरिका में, जहां कि कानून में सबके लिए एकसा हक रखे गये हैं, बुकर टी वाशिंगटन् जैसा ऊंची से ऊंचीं शिक्षा पाया हुआ तथा अतिशय चारित्रवान् ईसाई पुरुष जिसने पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से अपना लिया है, प्रेसिडेन्ट रुझवेल्ट के दरबार में नहीं जा सका और न आज भी जा सकता है। वहांके हबसियों ने पश्चिमी सभ्यता के आगे सिर झुका दिया है, वे ईसाई भी हो गये हैं। पर उनकी काली चमडी उनका एक महान् अपराध है, और उत्तर में यदि दैनिक व्यवहार में उनका तिरस्कार ही होता है तो दक्षिण अमेरिका में गोरे लोग उन्हें किसी अपराध के संदेह मात्र से जिंदे जला डालते हैं। दक्षिण आफ्रिका में इस दंड-नीति का एक खास नाम भी है जो आजकल की अंगरेजी भाषा में

बुद्धि से मैंने भी उसे यहां लिख दिया है। मैं ऊपर यह जरूर कह गया हूं कि यह तत्त्वज्ञान का आडम्बर मात्र है, पर इससे मेरा यह मतलब हरगिज नहीं कि यह विलकुल निःसार है। व्यावहारिक दृष्टि से तो–अर्थात् तात्कालिक स्वार्थ दृष्टि से–देखा जाय तो उसमें वहुत कुछ सार है। पर तात्विक दृष्टि से अगर इसपर विचार करें तो वह अवश्य आडम्बर ही है। मेरी छोटी वुद्धि के अनुसार तो कम से कम मुझे यही मालूम होता है कि तटस्थ मनुष्य की वुद्धि उनके निर्णय को कुवूल न करेगी। उपर्युक्त दलील करनेवालों ने अपनी सभ्यता को जितनी लाचार स्थिति में रक्खा है उतनी लाचार स्थिति में कोई भी सुधारक अपनी सभ्यता को न रक्खेगा, कम से कम मैं तो नहीं जानता कि किसी भी पूर्वी तत्त्वज्ञानी को ऐसा भय हो कि पश्चिमी जातियां पूर्वी जातियों के संपर्क में स्वतंत्रतापूर्वक आवें तो पूर्व की सभ्यता पश्चिमी सभ्यता की वाढ में वालू की तरह वह सकती है। इस पूर्वी तत्त्वज्ञान का मुझे जो कुछ भी परिचय है उसके वल पर मुझे तो यही मालूम होता है कि पूर्वी सभ्यता पश्चिम के स्वतंत्र संपर्क से न केवल निर्भय रहती है वलिक उसका वह उलटा स्वागत भी करती है। इसके विपरीत उदाहरण अगर पूर्व में दृष्टिगोचर भी हो रहे हों तो उनसे मेरे उपर्युक्त सिद्धान्त को वाधा नहीं आ सकती। क्योंकि मुझे विश्वास है कि उस (सिद्धान्त) के समर्थन में अनेक उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। पर यह जो कुछ भी हो, पश्चिम के तत्त्वज्ञानियों का तो यही दावा है कि पश्चिमी सभ्यता का मूलमंत्र यही है कि "पशुवल सर्वोपरि है"। और इसीलिए इस सभ्यता के हिमायती पशुवल को कायम रखने के लिए अपने समय का अधिक से अधिक वडा हिस्सा लगाते हैं। फिर इनका तो एक यह भी सिद्धान्त है

कि जो जातियां अपनी आवश्यकताओं को नहीं बढावेंगी उनका आखिर नाश ही होगा। इन्हीं सिद्धान्तों को ले कर पश्चिमी जातियां दक्षिण आफ्रिका में बसी हैं। और उनकी संख्या के परिमाण से देखा जाय तो असंख्य हवसियों को उन्होंने अपने अधीन कर रक्खा है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वे दीन हीन भारतीयों से डरें। और सभ्यता की दृष्टि से उन्हें जरा भी भय नहीं है इसका सब से बढिया सबूत तो यह है कि यदि भारतीय हमेशा के लिए मजदूर बन कर ही रहे होते तब तो उनके खिलाफ कोई आन्दोलन ही न हुआ होता।

अतः जो मुख्य वस्तु शेष रह जाती है वह तो है व्यापार और वर्ण। इस बात को तो हजारों गोरों ने लिखा है और कुबूल किया है कि भारतीयों का व्यापार छोटे छोटे अंगरेज व्यापारियों के लिए हानिकर है, और गेहुंए रंग की अरुचि अभी हाल तो अंगरेजों के खून में व्याप्त हो गई है। उत्तरी अमेरिका में, जहां कि कानून में सबके लिए एकसा हक रखे गये हैं, बुकर टी वाशिंगटन् जैसा ऊंची से ऊंचीं शिक्षा पाया हुआ तथा अतिशय चारित्रवान् ईसाई पुरुष जिसने पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से अपना लिया है, प्रेसिडेन्ट रुझवेल्ट के दरबार में नहीं जा सका और न आज भी जा सकता है। वहांके हबसियों ने पश्चिमी सभ्यता के आगे सिर झुका दिया है, वे ईसाई भी हो गये हैं। पर उनकी काली चमडी उनका एक महान् अपराध है, और उत्तर में यदि दैनिक व्यवहार में उनका तिरस्कार ही होता है तो दक्षिण अमेरिका में गोरे लोग उन्हें किसी अपराध के संदेह मात्र से जिंदे जला डालते हैं। दक्षिण आफ्रिका में इस दंड-नीति का एक खास नाम भी है जो आजकल की अंगरेजी भाषा में

एक प्रचलित शब्द हो रहा है। वह शब्द है "लीन्च लॉ"। "लीन्च लॉ" अर्थात् वह दण्डनीति जिसकी रू से पहले दण्ड-सजा हो जाती है और फिर तहकीकात होती रहती है। लीन्च नामक पुरुष ने पहले इस प्रथा को शुरू किया था। इसीलिए इसका नाम "लीन्च लॉ" पड़ा।

इस विवेचन पर से पाठक भली भांति समझ गये होंगे कि उपर्युक्त तात्त्विक कही जानेवाली दलील में कोई सार नहीं। पर पाठक इसपर से यह न समझ बैठें कि तमाम इस दलील के पेश करनेवालों ने दूसरा खयाल रखते हुए भी यह दलील पेश की है। उनमें से बहुत से इस बात को प्रामाणिकतया मानते हैं कि उनकी दलील सारयुक्त और तात्त्विक है। संभव है कि यदि हम भी ऐसी परिस्थिति में हों तो शायद ऐसी ही दलीलें पेश करें। शायद इन्हीं कारणों से "बुद्धिः कर्मानुसारिणी" वाली कहावत निकली होगी। यह अनुभव किसे नहीं कि जैसी हमारी अंतर्वृत्ति बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझती रहती हैं। और अगर वे दूसरे की समझ में न आवें, उसे उनसे संतोष न हो तो हमें भी असंतोष, अधीरता और आखिर क्रोध हो आता है।

मैंने जानबूझ कर इतना बारीक विचार किया है। मैं चाहता हूं कि पाठक भिन्न भिन्न दृष्टियों को समझ लें और आजतक जो ऐसा न करते आये हों वे उन्हें आदर की दृष्टि से देखने और समझने की आदतें डालें। सत्याग्रह का रहस्य जानने के लिए और विशेषतः उसको आजमाने के लिए ऐसी उदारता और सहन-शक्ति की बहुत आवश्यकता होती है। इसके सिवा सत्याग्रह असंभव है। इस पुस्तक को लिखने का हेतु महज पुस्तक लिखना नहीं है। मेरा हेतु यह भी नहीं कि जनता के सामने दक्षिण आफ्रिका के

इतिहास का एक अध्याय रक्खूं । मेरा हेतु तो यह है कि जिस वस्तु के लिए मैं जिन्दा हूं, जिन्दा रहना चाहता हूं, और जिसके लिए यह मानता हूं कि मैं मरने के लिए भी तैयार हूं, वह कैसे उत्पन्न हुई, उसका सामुदायिक प्रयोग किसतरह किया गया यह सब जनता जाने, समझे, और जहांतक पसंद करे अपनी शक्ति के अनुसार उसपर अमल करे ।

अव हम फिर कथा प्रसंग की तरफ झुकें । हम यह देख चुके हैं कि विटिश सत्ताधिकारियों ने यह निर्णय कर लिया था कि ट्रान्सवाल में नवीन भारतीयों को न आने दिया जाय, और वहांके पुराने भारतीयों की स्थिति ऐसी दीनहीन कर दी जाय कि या तो वे घवडा कर, कायर वन कर ट्रान्सवाल छोड कर भाग जायं और अगर न भी छोडें तो लगभग मजदूर जैसे वन कर ही रह सकें । दक्षिण आफ्रिका के कितने ही वडे माने जानेवाले राजनैतिक पुरुषों ने कई वार कहा है कि भारतीय इस देश में केवल कठियारे और पानी भरनेवाले वनकर ही जीवन व्यतीत कर सकते हैं । ऊपर जिस एशियाटिक महकमें का जिक्र आया है उसमें दूसरे अधिकारियों के साथ साथ भारत में रहे हुए तथा विभक्त-उत्तर-दायित्त्व (डायर्की) के आविष्कर्ता तथा प्रचारक की हैसियत से नामवरी कमानेवाले मि. लायनल कर्टिस भी थे । वे एक अच्छे खानदानी नौजवान हैं या कम से कम सन १९०५-६ में तो जरूर ही नौजवान थे । लार्ड मिल्नर के विश्वास-पात्र थे । सव काम शास्त्रीय पद्धति के अनुसार ही करने का दावा रखते थे । पर उनसे भी वडी वडी गलतियां हो सकती थीं । एक समय अपनी एक ऐसी ही भूल से आपने जोहान्सवर्ग की म्युनिसीपालिटी को १४००० पाऊण्ड के घाटे में डाल दिया था । उन्होंने यह

आविष्कार किया कि यदि नवीन भारतीयों को ट्रान्सवाल में आने से रोकना है तो हरएक पुराने भारतीय को दर्ज करने की कोई ऐसी तरकीब निकाली जाय जिससे एक के बदले दूसरा प्रवेश पा न सके और अगर आ भी जाय तो फौरन् पकड़ा जाय। अंगरेजी सत्ता की स्थापना के बाद जो परवाने निकाले गये थे उनमें भारतीयों के दस्तखत या अंगूठे की निशानी ली जाती थी। बाद किसीने सूचित किया कि ठीक तो यह होगा कि हरएक भारतीय की तस्वीर ही खींच ली जाय। इसलिए यों ही दस्तखत, अंगूठे की निशानी और तस्वीरें खिचना भी शुरू हो गया। इसके लिए किसी कानून की आवश्यकता तो थी ही नहीं, नहीं तो नेताओं को फौरन् खबर न हो जाती? धीरे धीरे इन नवीन योजनाओं के समाचार फैले। कौम के तरफ से सत्ताधिकारियों के पास पत्र गये। डेप्यूटेशन भी पहुंचे। अधिकारियों की तो यही दलील थी कि हम इस बात को तो बरदाश्त नहीं कर सकते कि चाहे जो आदमी जिसतरह चाहे, यहां घुस आवे। इसलिए तमाम भारतीयों के पास यहां रहने के परवाने एक ही किस्म के होना चाहिए और उनमें इतनी बातें लिखी होना चाहिए कि उसके आधार पर केवल उनका मालिक ही यहां आने पावे अन्य कोई नहीं। मैंने सलाह दी कि यह कानून तो यहां नहीं कि जिसके बल पर ये हमें ऐसे परवाने रखने के लिए बाध्य कर सकते हों, तथापि जहांतक सुलह को संरक्षित रखने का कानून मौजूद है तबतक तो वे हमसे परवाने जरूर मांग सकते हैं। भारत के "डिफेन्स ऑफ इण्डिया" ऐक्ट—भारत रक्षा विधान के ही जैसा कानून दक्षिण आफ्रिका में सुलह-रक्षा के लिए भी बनाया गया था। और जिस प्रकार भारत में वह भारत-रक्षा-विधान बहुत ज्यादह समय तक केवल

प्रजा-पीडन के लिए ही रक्खा गया था ठीक वैसे ही आफ्रिका में उस सुलह रक्षा-विधान को महज भारतीयो को सताने के लिए अधिक समय तक रख छोडा था। गोरों पर तो प्रायः उसका अमल होता ही न था। अब अगर यही निश्चित हुआ कि परवाने लेना ही चाहिए तो उनमें पहचानने के लिए भी तो कोई निशानी चाहिए न? इसलिए यह बराबर है कि जो दस्तखत न कर सकते हों उन्हें अपने अंगूठे की निशानी लगानी चाहिए। पुलिसवालों ने एक यह आविष्कार किया है कि किसी भी दो आदमियों के अंगूठों की रेखायें कभी एकसी नहीं होती। उनके स्वरूप और संख्या का उन लोगों ने वर्गीकरण भी किया है। इस शास्त्र का जाननेवाला दो अंगूठों के छाप की तुलना कर के एक ही दो मिनट के अंदर कह सकता है कि वे दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के हैं या एक ही के। तस्वीरें खींचने देने की कल्पना मुझे तो जरा भी पसंद नहीं थी। और मुसलमानों की दृष्टि से तो उसमें धार्मिक बाधा भी थी। आखिर हम इस निश्चय पर पहुंचे कि हरएक भारतीय अपने पुराने परवाने लौटा कर नवीन योजना के अनुसार बनाये परवाने ले लें और नवीन आनेवाले भारतीय नवीन परवाने ही लें। भारतीय इस बात के लिए कानून की दृष्टि से जरा भी बाध्य नहीं किये जा सकते थे। किन्तु उन्होंने अपनी स्वेच्छापूर्वक यह करना इसलिए ठीक समझा कि उनपर कहीं दूसरे अंकुश न रक्खे जावें, दूसरे, वे कपटपूर्वक किसीको वहां बुलाना नहीं चाहते इसे वे सिद्ध कर सकें और तीसरे रक्षा-विधान का उपयोग नवीन आनेवाले भारतीयों को सताने के लिए न होने पावे। यह कहा जा सकता है कि लगभग तमाम भारतीयों ने ये परवाने ले लिये थे। यह कोई ऐसी वैसी बात न थी। जिस बात के लिए कानून

में कोई सजा न थी उसे यदि कौम ने एकतापूर्वक और शीघ्रता से कर दिखाया तो इससे उसकी सच्चाई, व्यवहारकुशलता, दानापन, समझदारी और नम्रता ही प्रकट होती है। अपने इस कार्य द्वारा उसने यह भी सिद्ध कर बताया कि यह ट्रान्सवाल के किसी कानून का किसी भी प्रकार उल्लंघन करना नहीं चाहती थी। भारतीयों का ख्याल था कि जो जाति इतने विवेक के साथ आचरण करती है उसको सरकार भी अवश्य प्यार से रक्खेगी, उसका आदर करेगी और उसे दूसरे हक भी देगी। इस महाविवेक का बदला ट्रान्सवाल की ब्रिटिश सरकार ने किस प्रकार दिया यह हम अगले प्रकरण में देख सकेंगे।

अध्याय ११

विवेक का बदला- खूनी कानून

परवानों में उपर्युक्त रद्दोबदल हुई तबतक हम सन् १९०६ तक पहुंच गये थे। सन् १९०३ में मैंने फिर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया था। इस वर्ष के करीब मध्य में मैंने जोहान्सवर्ग में अपना आफिस खोला था अर्थात् दो साल एशियाटिक आफिस के आक्रमणों से बचाव करते करते ही बीत गये। हम सब यही सोचते थे कि परवानों का झगडा तय होते ही सरकार पूरी तरह से संतुष्ट हो जायगी, और कौम को भी कुछ शांति प्राप्त होगी। पर उसके नसीब में शांति थी ही नहीं। मि. लायनल कर्टिस का परिचय मैं पिछले अध्याय में दे चुका हूं। उन्हें मालूम हुआ कि गोरों का हेतु केवल इतनी बात से सिद्ध नहीं होता, कि भारतीय सिर्फ नवीन परवाने ले लें। उनकी दृष्टि से यह बात काफी न थी कि ऐसे महान् कार्य परस्पर स्वेच्छापूर्वक हो जायं। इन कार्यों के पीछे कानून का बल भी अवश्य होना चाहिए। तभी वह शोभा दे सकता है, और उनके महत्त्वपूर्ण अंगों तथा सिद्धान्तों की रक्षा

में कोई सजा न थी उसे यदि कौम ने एकतापूर्वक और शीघ्रता से कर दिखाया तो इससे उसकी सच्चाई, व्यवहारकुशलता, दानापन, समझदारी और नम्रता ही प्रकट होती है। अपने इस कार्य द्वारा उसने यह भी सिद्ध कर बताया कि यह ट्रान्सवाल के किसी कानून का किसी भी प्रकार उल्लंघन करना नहीं चाहती थी। भारतीयों का ख्याल था कि जो जाति इतने विवेक के साथ आचरण करती है उसको सरकार भी अवश्य प्यार से रक्खेगी, उसका आदर करेगी और उसे दूसरे हक भी देगी। इस महाविवेक का बदला ट्रान्सवाल की ब्रिटिश सरकार ने किस प्रकार दिया यह हम अगले प्रकरण में देख सकेंगे।

अध्याय ११

विवेक का बदला- खूनी कानून

परवानों में उपर्युक्त रद्दोवदल हुई तवतक हम सन् १९०६ तक पहुंच गये थे। सन् १९०३ में मैंने फिर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया था। इस वर्ष के करीब मध्य में मैंने जोहान्सवर्ग में अपना आफिस खोला था अर्थात् दो साल एशियाटिक आफिस के आक्रमणों से बचाव करते करते ही वीत गये। हम सव यही सोचते थे कि परवानों का झगडा तय होते ही सरकार पूरी तरह से संतुष्ट हो जायगी, और कौम को भी कुछ शांति प्राप्त होगी। पर उसके नसीव में शांति थी ही नहीं। मि. लायनल कर्टिस का परिचय मैं पिछले अध्याय में दे चुका हूं। उन्हें मालूम हुआ कि गोरों का हेतु केवल इतनी वात से सिद्ध नहीं होता, कि भारतीय सिर्फ नवीन परवाने ले लें। उनकी दृष्टि से यह वात काफी न थी कि ऐसे महान् कार्य परस्पर स्वेच्छापूर्वक हो जायं। इन कार्यों के पीछे कानून का वल भी अवश्य होना चाहिए। तभी वह शोभा दे सकता है, और उनके महत्त्वपूर्ण अंगों तथा सिद्धान्तों की रक्षा

हो सकती है। मि. कर्टिस का हेतु यह था कि भारतीयों को किसी कानून के द्वारा इस प्रकार जकड दिया जाय कि जिसका असर सारे दक्षिण आफ्रिका भर में हो, और आखिर दूसरे उपनिवेश उसका अनुकरण करें। जबतक दक्षिण आफ्रिका भर में कहीं जरा भी जगह रहेगी तबतक ट्रान्सवाल सुरक्षित नहीं कहा जा सकता। फिर उनकी दृष्टि से सरकार और भारतीयों के बीच इस प्रकार सुलह होने से तो उलटी उनकी—कौम की मानों प्रतिष्ठा बढ गई। मि. कर्टिस उनकी इस प्रतिष्ठा को बढाना नहीं, घटाना चाहते थे। उन्हें भारतीयों की सम्मति की आवश्यकता न थी। वे तो बाह्य नियन्त्रण द्वारा कौम को कंपायमान कर देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने एशियाटिक कानून का मसौदा तैयार किया और सरकार को यह सलाह दी कि जबतक इस मसौदे के अनुसार कानून बन कर स्वीकृत नहीं हो जाता तबतक बाहर से दब छिप कर भारतीय आते ही रहेंगे। और इसतरह आनेवालों को बाहर निकालने के लिए कानून में कोई व्यवस्था नहीं है। मि. कर्टिस का मसौदा और उनकी सलाह भी सरकार को बहुत पसंद हुई। उस मसौदे के अनुसार वहां की धारासभा में पेश करने के लिए एक बिल बना कर उसे सरकारी गझट में प्रकाशित कर दिया गया।

इस बिल के विषय में मैं अधिक कहूं इसके पहले एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग को, जो वहां घटित हुआ, कुछ शब्दों में कह देना अधिक आवश्यक है। चूंकि मैं सत्याग्रह का प्रेरक हूं, इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि पाठक मेरी स्थिति-परिस्थितियों को पूरी तरह समझ लें। उपर्युक्त तरीकों से ट्रान्सवाल के भारतीयों को सताने के प्रयत्न हो रहे थे कि उसी समय इधर नेटाल में वहांके हबसी-झुलुओं में बलवा हो गया। मुझे उस समय और

अभीतक भी संदेह है कि उस झगडे को हम बलवा कह भी सकते हैं या नहीं। तथापि नेटाल में उस घटना का परिचय इसी नाम से हमेशा दिया गया है। इस बार भी नेटाल में रहनेवाले बहुत से गोरे उस बलवे को शान्त करने के लिए सेवक बने। मैं नेटाल का ही निवासी माना जाता था। इसलिए मुझे मालूम हुआ कि मुझे भी उसमें नौकरी करना चाहिए। इसलिए कौम की आज्ञा ले कर सरकार के पास मैंने एक संदेश भेजा कि वह मुझे घायलों की सेवा करने के लिए स्वयंसेवक दल बनाने की इजाजत दे। सरकार ने इसे मंजूर कर लिया। इसलिए ट्रान्सवाल का मकान मैंने छोडा। बालबच्चों को मैंने नेटाल में खेत पर जहां से "इण्डियन ओपीनियन" नामक समाचार पत्र प्रकाशित होता था, और जहां पर मेरे सहायक लोग रहते थे भेज दिया। आफिस खुली ही रखी थी। क्योंकि मैं मानता था कि मुझे इसमें बहुत दिन नहीं लगेंगे।

२०-२५ आदमियों का एक छोटासा दल खडा कर के मैं फौज के साथ शामिल हो गया। इस छोटे से दल में भी लगभग तमाम जाति के भारतीय थे। इस दल ने एक महीना भर सेवा की। हमें जो जो काम दिया गया उसे मैंने हमेशा परमात्मा का अनुग्रह माना। हमने यह देखा कि जो हबसी घायल होते उन्हें अगर हम न उठा लेते तो यों ही बेचारे सडा करते। उन घायलों की शुश्रूषा करने में गोरे कभी सहायता न करते थे। जिस शस्त्रवैद्य के पास हमें काम करना पडता था वह स्वयं बडा दयालु पुरुष था। घायलों को उठा कर दवाखाने में लाने पर उनकी शुश्रूषा करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात थी। पर हम तो यह निश्चय कर के गये थे कि वे जिस किसी काम को कहें उसे हम अपने क्षेत्र

के भीतर ही समझें। इसलिए उस भले डाक्टर ने हमें कहा "मुझे एक भी गोरा शुश्रुषा करने के लिए नहीं मिलता। न मेरे पास ऐसी कोई सत्ता है कि जिसके द्वारा मैं उन्हें यह काम करने के लिए बाध्य कर सकूं। इसलिए अगर आप यह परोपकार करो तो मैं आपका अहसान मानूंगा। हमने इसका स्वागत किया। कितने ही हबसियों के जखम पांच पांच छः छः दिन से दुरुस्त ही नहीं किये गये थे। इसलिए उनमें से दुर्गन्ध आ रही थी। उन्हें साफ करने का काम हमारे जिम्मे हुआ। और हमें यह बहुत पसंद भी आया। बेचारे हबसी हमारे साथ बोल तो सकते ही न थे। किन्तु उनकी चेष्टाओं और आंखों पर से हम यह देख सकते थे कि उन्हें यह मालूम हो रहा था कि उनकी शुश्रुषा करने के लिए हमें परमात्मा ही ने तो न भेजा हो? इस काम में कभी कभी दिन में चालीस चालीस मील भी हमें चलना पडता था।

एक महीने के अंदर हमारा काम समाप्त हो गया। अधिकारियों को भी उससे संतोष हुआ। गवर्नर ने हमारा अहसान मानते हुए हमें एक पत्र लिखा। इस दल में तीन गुजरातियों को सार्जन्ट का अधिकार दिया गया था। गुजरातियों को उनके नाम जान कर अवश्य हर्ष होगा। उनमें एक तो थे उमियाशंकर शेलत, दूसरे सुरेन्द्रराय मढे और तीसरे हरिशंकर जोशी। तीनों कसे हुए बदन के थे और तीनों ने बडी सख्त मिहनत की थी। अन्य भाइयों के नाम इस समय मुझे याद नहीं आते। पर इतना जरूर याद है कि उनमें एक पठान भी था। मुझे यह भी याद आ रहा है कि उसके जितना ही वजन उठा कर उसके साथ साथ कूच करते हुए हम सबको देख कर उसे बड़ा आश्चर्य होता था।

इस टुकडी में काम करते हुए मेरे दो विचार जो धीरे धीरे पक्व हो रहे थे, परिपक्व होकर बाहर निकले। एक तो यह कि सेवा-धर्म को प्रधानपद देनेवाले को ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यावश्यक है। और दूसरा यह कि जिसने सेवा-धर्म धारण किया है उसे हमेशा के लिए गरीबी का व्रत लेना चाहिए। वह कभी ऐसे व्यवसाय में न पडे जिससे सेवा करने में उसे कभी संकोच मालूम होने का मौका आवे या जरा हिचापिचाहट भी हो।

इस टुकडी में काम करते हुए भी मुझे ट्रान्सवाल फौरन लौट आने के लिए पत्र और तार बराबर आ रहे थे। इसलिए फिनिक्स में सबको मिलकर मैं फौरन जोहान्सबर्ग पहुंचा। और वहां उपर्युक्त बिल पढा। बिलवाला गजट मैं आफिस से घर पर ले गया था। घर के पास एक छोटी सी टेकडी थी। वहां अपने साथी को लेकर मैं "इण्डियन ओपीनियन" के लिए उस बिल का अनुवाद कर रहा था। जैसे जैसे मैं उस बिल की धारायें पढता आ रहा था वैसे वैसे मेरा बदन कांपता जाता था। मैं उसमें सिवा भारतीयों के द्वेष के और कुछ भी न देख सका। मुझे उस समय यह मालूम हुआ कि अगर यह बिल पास हो जाय और भारतीय उसे कुबूल कर लें तो दक्षिण आफ्रिका से भारतीयों के पैर जडमूल से उखड जावे। मैं स्पष्ट रूप से यह देख सका कि भारतीयों के लिए वह जीवन-मरण का प्रश्न था। मुझे यह भी भास होने लगा कि यदि अर्जियां दे कर कौम को सफलता प्राप्त न हुई तो वह चुपचाप भी नहीं बैठ सकती। इस कानून के आगे सिर झुकाने की अपेक्षा तो मरना भला है। पर मरें कैसे? ऐसा कौन मार्ग है जिसके अवलंबन से अथवा अवलंबन का साहस करने से कौम के सामने केवल दो ही बातें रहें—जीत या मौत?

तीसरी बात ही न दिखे ? मेरी आंखों के सामने तो ऐसी भयंकर दीवाल खडी हो गई कि मुझे तो कोई मार्ग ही नहीं सूझा। जिस कागज ने मुझे इतना दहला दिया उसे तो पाठकों को अवश्य जान लेना चाहिए । उसका सार नीचे लिखे अनुसार है ।

" ट्रान्सवाल में रहने का हक रखने की इच्छा रखनेवाले हरएक भारतीय पुरुष, स्त्री और आठ आठ वर्ष या आठ वर्ष से अधिक उम्रवाले बालक या बालिका को एशियाई दफ्तर में अपना नाम लिखा कर परवाना प्राप्त कर लेना चाहिए । ये परवाने लेते वक्त पुराने परवाने अधिकारी को सौंप दिये जायं । नाम लिखाने की अर्जी में अपना नाम, स्थान, जाती, उम्र वगैरा लिखे जायं । नाम लिखनेवाले अधिकारी को चाहिए कि अर्जदार के शरीर पर की मुख्य निशानियों को नोट कर लें। अर्जदार की तमाम उंगलियों की और दोनों अंगूठों की छाप ले लें । उन भारतीय स्त्री-पुरुषों का ट्रान्सवाल में रहने का हक रद समझा जाय जो नियत समय के भीतर इस प्रकार अर्जी न करेंगे। अर्जी न करना भी एक कानूनन अपराध माना जायगा, जिसके लिए वह व्यक्ति जेल में भेज दिया जा सकता है या उसका जुर्माना हो सकता है और अगर अदालत चाहे तो उसे देशनिकाले की सजा भी हो सकती है । बच्चों के लिए माता पिता को अर्जी करना चाहिए । निशानियां तथा उंगलियों की छाप देने के लिए बच्चों को अधिकारियों के पास पेश करने की जिम्मेदारी भी उनके माता-पिता के सिर पर ही रहेगी । यदि माता-पिताओं ने इस जिम्मेदारी को अदा न किया हो तो बच्चों को चाहिए कि उनकी सोलह वर्ष की उम्र होते ही वे स्वयं उसे अदा करें । और उन उपर्युक्त अपराध के लिए, जिन जिन सजाओं के

पात्र वे माता–पिता समझे जावेंगे उन्हीं सजाओं के पात्र वे बच्चे भी सोलह वर्ष की उम्र प्राप्त करने पर समझे जावेंगे। अर्जदार को जो परवाने दिये जायं, उन्हें अर्जदार को चाहिए कि वह हर किसी पुलिस अधिकारी को जहां और जिस वक्त वह मांगे वहीं और उसी वक्त हाजिर कर दे। अगर वह ऐसा न कर सकेगा तो वह भी एक जुर्म समझा जायगा; और कोर्ट इसकेलिए उसका या तो जुर्माना कर सकती है या उसे कैद की सजा दे सकती है। यह परवाना राहगिर मुसाफिर से भी मांगा जा सकता है। परवाना ढूंढने के लिए अधिकारी लोग भारतीयों के मकान में भी घुस सकते हैं। ट्रान्सवाल के बाहर से आनेवाले स्त्री–पुरुषों को चाहिए कि वे अपने परवाने उन नियुक्त अधिकारियों को जरूर बता दें जो उन्हें देखना चाहें। अगर भारतीय कहीं अदालत में किसी काम के लिए जावें या महसूली नाके पर व्यापार के लिए या बायसिकल रखने की इजाजत लेने के लिए जावें तो वहां भी उनसे परवाना मांगा जा सकता है। अर्थात् किसी भी सरकारी दफ्तर में उस दफ्तर से संबंध रखनेवाले अपने काम के लिए अगर कोई भारतीय जाय तो उसकी बात सुनने के पहले वहांका अधिकारी उससे परवाना मांग सकता है। परवाना पेश करने से या उस विषय की कोई भी जानकारी अधिकारी के पूछने पर बताने से इनकार करना भी एक अपराध माना गया है। और इसके लिए भी कोर्ट उसे कैद की सजा दे सकती है या उसका जुर्माना कर सकती है।

मुझे जरा भी ख्याल न था कि संसार के किसी भी हिस्से में स्वतंत्र मनुष्यों के लिए इस प्रकार का कोई कानून हो सकता है। मैं जानता हूं कि नेटाल के गिरमिटिया भाइयों के विषय में

परवाने के कानून बहुत सख्त हैं। पर वे तो बेचारे स्वतंत्र ही नहीं माने जाते। तथापि यह कहा जा सकता है कि इस कानून के मुकाबले में तो उनके कानून भी सौम्य हैं। और उसे तोडने के अपराध में मिलनेवाली सजाओं के मुकाबले में उनकी सजायें तो कुछ भी नहीं। लाखों का व्यापार करनेवाला व्यापारी इस कानून के आधार पर ट्रान्सवाल से बाहर निकाल दिया जा सकता है। अर्थात् उसकी आर्थिक स्थिति का सत्यानाश हो सकता है। इस कानून के भंग से हालत यहांतक नाज़ुक हो जा सकती है। और अगर पाठक अधीर न हों तो वे यह भी पढेंगे कि इस अपराध के लिए भारतीयों को ऐसी सजायें हो भी चुकी हैं। गुन्हा करनेवाली कौमों के लिए भारत में कितने ही सख्त कानून हैं। बस उनसे इस कानून की तुलना आसानी से की जा सकती है। और उस तुलना में आप यह न कह सकेंगे कि यह कानून किसी प्रकार भी कम सख्त है।

दसों उंगलियों की छाप लेने की बात तो आफ्रिका में बिलकुल नई थी। एक बार इस विषय का साहित्य पढने की इच्छा से किसी पुलिस अधिकारी की लिखी "उंगलियों की छाप" (फिंगर इम्प्रेशन्स) नाम की पुस्तक मैंने पढी। उसमें मैंने यह पढा कि इस तरह क़ानून के अनुसार उंगलियों की छाप केवल जुर्म करनेवालों से ही ली जाती है। इसलिए जबरदस्ती उंगलियों की छाप लेने की बात मुझे बडी ही भयंकर मालूम हुई। स्त्रियों के तथा सोलह वर्ष के भीतर के बच्चों के परवाने लेने की प्रथा भी कानून में पहले पहल ही दर्ज हुई थी।

दूसरे दिन कुछ गण्यमान्य भारतीयों को इकट्ठा करके मैंने उन्हें इस कानून का अक्षर अक्षर समझाया। उसका असर उनपर

भी वही हुआ जो मुझपर हुआ था। उनमें से एक तो आवेश में बोल उठे "मेरी औरत से अगर कोई परवाना मांगने के लिए आवेगा तो मैं तो उसे वहींका वहीं मार डालूंगा, फिर मेरा जो कुछ होना होगा होता रहेगा।" मैंने उन्हें शान्त किया और सबसे कहा "यह मामला बहुत गंभीर है। अगर यह विल पास हो जाय और हम उसे कुबूल कर लें तो सारे दक्षिण आफ्रिका में उसका अनुकरण होगा। मुझे तो इस विल का यही हेतु मालूम होता है कि यहां से हमारा अस्तित्व ही मिटा दिया जाय। यह कानून कोई आखिरी सीढी नहीं है। बल्कि हमें कष्ट दे कर भगा देने की पहली सीढी है। इसलिए हमारे सिर पर केवल ट्रान्सवाल में बसनेवाले १०-१५ हजार भारतीयों की ही नहीं बल्कि दक्षिण आफ्रिका भर के तमाम भारतीयों की जिम्मेदारी है। और अगर हम इस विल का रहस्य अच्छी तरह समझ लें तब तो सारे भारतवर्ष की प्रतिष्ठा की जवाबदारी भी हमारे सिर पर आती है। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि इस विल से केवल हमारा ही अपमान होगा बल्कि इसमें तो सारे भारतवर्ष का अपमान है। अपमान का मतलब ही यह है कि निर्दोष मनुष्य का मान-भंग। यह तो कोई नहीं कह सकता कि हम ऐसे कानून के पात्र हैं। हम तो निर्दोप हैं और राष्ट्र के एक भी निर्दोष हिस्से का अपमान सारे राष्ट्र का अपमान है। इसलिए इस कठिन प्रसंग पर अगर हम जल्दबाजी करेंगे, अधीरता दिखावेंगे, क्रुद्ध हो जावेंगे तो हम उसके द्वारा इस हमले से अपनी रक्षा न कर सकेंगे। पर यदि शांतिपूर्वक उसका उपाय ढूढेंगे, वक्त पर उसका अवलंबन करेंगे, एकतापूर्वक रहेंगे और अप-मान का प्रतिकार करते हुए जो मुसीबतें आवें उनका स्वागत करेंगे तो मुझे तो विश्वास है कि स्वयं परमात्मा ही हमारी सहायता करेगा।"

सभी बिल का गांभीर्य समझ गये थे। सबने यह निश्चय किया कि एक विराट सभा निमन्त्रित की जाय और उसमें कितने ही प्रस्ताव पेश करके उन्हें स्वीकृत किया जाय। यहूदियों की एक नाट्यशाला किराये पर ली गई। वहीं सभा भी निमन्त्रित की गई।

अब पाठक समझ सकेंगे कि इस अध्याय के शीर्षक में इस कानून को "खूनी कानून" क्यों लिखा है। उस विशेषण का प्रयोग मैंने इस अध्याय के लिए नहीं किया। वह तो दक्षिण आफ्रिका में इस कानून के लिए प्रचलित हो गया था।

अध्याय १२ वां

सत्याग्रह का जन्म

उस नाट्य-शाला में सभा तो भरी। ट्रान्सवाल के भिन्न भिन्न शहरों से प्रतिनिधि भी बुलाये गये। पर मुझे कुबूल करना चाहिए कि जो प्रस्ताव मैंने बनाये थे उनका पूरा अर्थ स्वयं मैं ही न समझ सका था। उसीप्रकार यह अंदाज भी न लगा सका था कि इनका दूरवर्ती परिणाम क्या होगा। सभा भरी। नाट्य-शाला में कहीं भी खाली जगह नहीं बची। सबके चेहरे मानों यही कह रहे थे कि कुछ नवीन बात आज हमें करना है, कुछ तो भी अपूर्व होनेवाला है। ट्रान्सवाल ब्रिटिश इण्डियन ऐसोसियेशन के अधिपति मि. अबदुल गनी अध्यक्ष-स्थान पर विराजे। आप ट्रान्सवाल के बहुत ही पुराने निवासियों में से एक थे। महमद कासम कमरुद्दीन नामक प्रख्यात दूकान के आप भागीदार थे और उसीकी जोहान्सवर्ग शाखा के व्यवस्थापक थे। सभा में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे उनमें महत्व का प्रस्ताव तो एक ही था। उसका आशय यह था। इस बिल का विरोध करने के लिए तमाम उपायों का अवलंबन किया जाय पर यदि इतने

पर भी वह पास हो ही जाय तो भारतीयों को उसके आगे अपना सिर न झुकाना चाहिए। और इस अवज्ञा के फलस्वरूप जो जो दुःख सहना पड़ें वे सब सहें।

यह प्रस्ताव मैंने सभा को पूरी तरह समझा दिया। सभा ने उसे शांतिपूर्वक सुन लिया। कार्यवाही तो तमाम हिन्दी और गुजराती में ही हो रही थी, अर्थात् यह तो संभव नहीं था कि कोई समझता न होगा। जो तामिल और तेलगू भाई हिन्दी नहीं समझ सकते थे उन्हें उन्हींकी भाषा में सब बातें समझा दी गई। नियमानुसार एक दरख्वास्त भी बनाई गई। अनेक आदमियों ने उसका समर्थन किया। वक्ताओं में एक सेठ हाजी हबीब भी थे। वे भी दक्षिण आफ्रिका के बहुत पुराने और अनुभवी बाशिन्दे थे। उनका भाषण बड़ा जोशीला था। आवेश में आपने यह भी कह दिया कि "परमात्मा को साक्षी करके इस प्रस्ताव को हमें स्वीकृत करना है। हम नामर्द बनकर कभी इस कानून के वश नहीं हो सकते। इसलिए मैं तो अल्लाहपाक की कसम खा कर प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं कभी इस कानून के वश नहीं होऊंगा। मैं इस मजलिस से भी यही सिफारिश करता हूं कि वह भी अल्लाह को साक्षी करके इसी प्रकार प्रतिज्ञा ले।"

इसके समर्थन में और भी कई जोशीले भाषण हुए थे। पर जब सेठ हाजी हबीब बोलते बोलते कसम खाने पर आये तब मैं एकदम सावधान हो गया। बस, उसी समय मुझे अपनी और कौम की जिम्मेदारी का पूरा पूरा ख्याल हुआ। आजतक कौम ने कितने ही प्रस्ताव पास किये थे। अधिक विचार करने पर तथा नवीन अनुभव प्राप्त होने पर उसमें यथा समय परिवर्तन भी किया था। यह भी होता था कि एसे प्रस्तावों पर सब अमल

नहीं करते थे। प्रस्ताव में परिवर्तन, और सहमत होनेवालों का भी पीछे से इनकार करना आदि वस्तुएं संसार में सार्वजनिक जीवन का स्वाभाविक अनुभव है। पर ऐसे प्रस्तावों के बीच कोई ईश्वर का नाम नहीं देता था। सात्विक दृष्टि से देखा जाय तो निश्चय और ईश्वर का नाम लेकर प्रतिज्ञा करने में कोई भेद न होना चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्य जिस किसी बात का विचारपूर्वक निश्चय कर लेता है उससे वह विचलित नहीं होता। उसके लिए वह ईश्वर को साक्षी बनाकर की गई प्रतिज्ञा के बराबर ही है। पर संसार सात्विक निर्णयों से नहीं चलता। ईश्वर को साक्षी बनाकर की हुई प्रतिज्ञा और सामान्य निश्चय में वह जमीन आसमान का भेद मानता है। सामान्य निश्चय को बदलते हुए मनुष्य को लज्जा नहीं मालूम होती। पर प्रतिज्ञाबद्ध मनुष्य से अगर अपनी प्रतिज्ञा का भंग हो जाता है तो वह स्वयं शरमाता है और समाज उसे फिटकार देता है—पापी समझता है। यह बात इतनी गंभीर है कि वह कानून में भी समाविष्ट हो गई है। क्योंकि यदि किसी बात की कसम खा कर आदमी उसका भंग करे तो वह एक अपराध माना गया है और कानून में उसके लिए सख्त सजा रक्खी गई है।

इन विचारों का रखनेवाला प्रतिज्ञाओं का अनुभवी, प्रतिज्ञाओं के मीठे फल खानेवाला मैं भी उपर्युक्त प्रतिज्ञा की बात सुन कर स्तब्ध हो गया। एक क्षणभर के अंदर मैंने उसके तमाम परिणामों को देख लिया। उन घबड़ाहटों में से शक्ति का जन्म हुआ। और यद्यपि मैं वहांपर न तो स्वयं प्रतिज्ञा करने तथा न लोगों से प्रतिज्ञा करवाने के लिए गया था तथापि सेठ हाजी हबीब की बात मुझे बहुत ही पसंद आई। पर साथ ही मुझे यह भी [illegible]

मालूम हुआ कि जनता को उसके तमाम परिणामों से परिचित कर देना चाहिए, प्रतिज्ञा का अर्थ स्पष्टरूप से उसे समझा देना चाहिए और इतने पर भी यदि वह प्रतिज्ञा करे तो उसका सहर्ष स्वागत करना चाहिए। और अगर न करे तो मुझे समझ लेना चाहिए कि लोग अभी अंतिम कसोटी पर चढने के लिए तैयार नहीं हुए। इसलिए मैंने अध्यक्ष महाशय से इस बात की इजाजत मांगी कि वे मुझे सेठ हाजी हबीब के भाषण का रहस्य समझाने दें। मुझे आज्ञा मिल गई। मैं उठा। और उस समय मैंने जो कुछ कहा उसका सार मुझे जिस प्रकार याद है, मैं नीचे दे रहा हूं।

"मैं सभा को अभी यह बात समझा देना चाहता हूं कि आजतक हमने जो प्रस्ताव जिस प्रकार स्वीकृत किये हैं उनमें, उनकी रीति में और आज के प्रस्ताव और उनकी रीति में जमीन आस्मान का फर्क है। प्रस्ताव वडा गंभीर है क्योंकि उसका पूरा पूरा अमल करने पर ही दक्षिण आफ्रिका में हमारा अस्तित्व निर्भर है। इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की जो नवीन रीति हमारे इन भाई ने बताई है वह जितनी नवीन है उतनी ही गम्भीर भी है। मैं स्वयं प्रस्ताव को इस प्रकार स्वीकार करने के विचार से नहीं आया था। इसका पूरा श्रेय तो सेठ हाजी हबीब को ही है। और इसकी जिम्मेदारी भी उन्हींके ऊपर है। उनको मैं धन्यवाद देता हूं। उनकी सूचना मुझे वडी ही अच्छी लगी। पर अगर आप उनकी सूचना का स्वीकार कर लें तो आप भी उनकी गम्भीर जिम्मेदारी के हिस्सेदार हो सकते हैं। पर आपको पहले यह समझ लेना चाहिए कि वह जिम्मेदारी क्या है। और कौम के सलाहकार और सेवक की हैसियत से मेरा यह धर्म है कि मैं आपको वह पूरी तरह समझा दूं।

हम सब एक ही सरजनहार को मानते हैं। उसे मुसलमान भले ही खुदा कह कर पुकारें, हिन्दू भले ही ईश्वर कह कर उसका भजन करें। पर वह है एक ही स्वरूप। उसको साक्षी बनाकर— उसे हमारा मध्यस्थ बनाकर हम प्रतिज्ञा लें या कसम खावें यह कोई ऐसी वैसी बात नहीं। ऐसी कसम खा कर यदि हम उससे विचलित हो जायं तो कौम के, संसार के और परमात्मा के अपराधी होंगे। स्वयं मैं तो यह मानता हूं कि यदि मनुष्य सावधानी और निर्मल-बुद्धिपूर्वक कोई प्रतिज्ञा करके बाद उसे तोड दे तो वह अपनी मनुष्यता खो बैठता है और जिसतरह यह मालूम होते ही कि पारा चढाया हुआ तांबे का सिक्का रुपया नहीं है, उसे कोई नहीं पूछता, इतना ही नहीं बल्कि उस खोटे सिक्के का रखनेवाला सजापात्र माना जाता है, ठीक उसीतरह झूठी कसम खानेवाला आदमी भी कौडी कीमत का हो जाता है, बल्कि लोक परलोक में दोनों जगह वह सजा का पात्र हो जाता है। सेठ हाजी हबीब आपको इतनी ही गम्भीर कसम खाने के लिए कह रहे हैं। इस सभा में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है जो बच्चा या अज्ञानी कहा जा सकता हो। आप सब प्रौढ हैं, संसार को देखे हुए हैं, अधिकांश तो प्रतिनिधि हैं। आपमें से कई भाइयों ने छोटे या बडे परिमाण में जिम्मेदारियां भी उठाई हैं। अर्थात् इस सभा में से एक भी आदमी यह कह कर नहीं छूट सकता कि बगैर समझे-बूझे ही मैंने प्रतिज्ञा ले ली थी।"

"मैं जानता हूं कि प्रतिज्ञायें, व्रत वगैरा किसी असाधारण प्रसंग पर ही लिए जाते हैं और लिए भी जाने चाहिए। उठते बैठते प्रतिज्ञा लेनेवाला आदमी जरूर पछितावेगा। पर यदि हमारे सामाजिक जीवन में इस देश में प्रतिज्ञा लेने लायक किसी प्रसंग

की मैं कल्पना कर सकता हूं तो वह अवश्य यही है । होशियारी इसीमें है कि ऐसे समय पर बहुत सोच समझ कर आगे कदम रक्खा जाय । पर भय और सावधानी की भी हद होती है । इस हद को हम पहुंच चुके हैं । सरकार सभ्यता की मर्यादा को कूद गई है, हमारी चारों ओर उसने जब दावानल लगा दिया है तब फिर भी हम यदि न झुकावें और गफलत में पडे रहें तो नालायक और नामर्द साबित होंगे । इसलिए इसमें तिलमात्र भी संदेह नहीं कि यह अवसर शपथ लेने का है । पर यह बात तो हरएक आदमी को अपने आप सोचना होगा कि उसे लेने की शक्ति हममें है या नहीं । ऐसे प्रस्ताव बहुमति से नहीं पास किये जाते । जितने आदमी कसम खावेंगे वेही उसके द्वारा बांधे जावेंगे । न ये कसमें महज दिखावे के लिए ही खाई जाती हैं। कोई इस बात का भी तिलमात्र विचार न करे कि इसका असर यहांकी सरकार, बडी सरकार या भारत सरकार पर क्या होगा । हरएक आदमी केवल अपने हृदय पर हाथ रख के उसे ही टटोले और यदि इतना करने पर उसकी अंतरात्मा आज्ञा दे कि मुझमें कसम खाने की शक्ति है तभी कसम ले और वही सफल भी होगी ।

अब कुछ शब्द इसके परिणाम के विषय में कहता हूं । अच्छी से अच्छी आशा रखते हुए यह कहा जा सकता है कि यदि सभी अपनी अपनी कसम पर कायम रहें, भारतीयों में से अधिकांश यह कसम खा सकें तो यह कानून पास भी न हो और यदि हो भी जाय तो जरूर फ़ौरन् रद हो जाय । कौम को अधिक कष्ट भी न हो । यह भी हो सकता है कि कुछ भी कष्ट न हो । पर जिस प्रकार प्रतिज्ञा लेनेवाले का धर्म एक प्रकार से श्रद्धा-पूर्वक आशा रखना है उसी प्रकार दूसरी तरफ़ से केवल निराशावादी

वनकर कसम खाने के लिए भी उसे तैयार रहना चाहिए। इसीलिए हमारे युद्ध के जो कडुवे से कडुवे परिणाम हो सकते हैं उनका चित्र मैं इस सभा के सामने खींच देना चाहता हूं। यहांपर हम जितने मनुष्य उपस्थित हैं वे सब शपथ ले लें। अधिक से अधिक यहांपर ३००० की उपस्थिति होगी। हो सकता है कि शेष १०००० कसम न खावें। आरंभ में तो अवश्य ही हमारी हंसी होगी। तथापि इतनी चेतावनी देनेपर भी वहुत संभव है कि कसम खानेवालों में से भी कितने ही पहली कसौटी पर ही कमजोर साबित हों। हमें जेल में जाना होगा; वहां अपमान सहन करना होगा; भूख प्यास, और धूप भी झेलना पडेगा; सख्त मज्दूरी करनी पडेगी; उद्धत दरोगाओं के हाथ की मार भी खानी पडे तो आश्चर्य नहीं। जुर्माना होगा और कुर्की में माल असवाव भी विक जा सकता है। अगर लडनेवाले वहुत थोडे रह जायं तो आज हमारे पास वहुत सा धन होते हुए भी हम कंगाल हो जावेंगे। देश के बाहर भी निकाल दिये जा सकते हैं, और भूख और जेल के अन्य दुःखों को सहते हुए हममें से कितने ही वीमार होंगे और कोई कोई मर भी जायं तो हमें आश्चर्य न मानना चाहिए। अर्थात् संक्षेप में कहना चाहें तो आश्चर्य नहीं कि आप जितने दुःखों की कल्पना कर सकते हो वे सभी हमें सहना पडें और समझदारी तो इसीमें है कि हरएक आदमी को यही सोच कर प्रतिज्ञा लेना चाहिए कि यह सब अकेले मुझी को सहना पडेगा। अगर कोई मुझे यह पूछे कि इस लडाई का अंत कव और क्या होगा तो मैं कह सकता हूं कि यदि सारी कौम इस परीक्षा में से पूरी तरह उत्तीर्ण हो जाय तव तो शीघ्र ही इस लडाई का अंत हो जाय। पर अगर हममें से वहुत से आदमी

मुसीबत आने पर फिसल जायं तब तो वह बहुत दिन तक चलेगी। पर फिर भी यह तो मैं हिंमत और निश्चय के साथ कह सकता हूं कि — जबतक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहनेवाले मुट्ठीभर आदमी भी बने रहेंगे तबतक इस युद्ध का अंत एक ही प्रकार से हो सकता है — अर्थात् हमारी जीत ही होगी।

"अब मैं अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी के विषय में एक दो शब्द कहना चाहता हूं। यद्यपि मैं आपको प्रतिज्ञा लेने से सामने आनेवाली कठिनाइयां दिखा रहा हूं तथापि मैं आपको प्रतिज्ञा लेने के लिए प्रेरित भी कर रहा हूं। इसमें मैं अपनी जिम्मेदारी बराबर समझता हूं। हो सकता है कि आवेश या रोष के कारण इस सभा का बहुत बडा हिस्सा यह प्रतिज्ञा करे, पर मुसीबत के समय कमजोर साबित हो और आखिरी ताप सहन करने के लिए केवल मुट्ठीभर आदमी ही रह जावें। पर मेरे जैसे आदमी के लिए तो केवल एक ही रास्ता बचा है—मर मिटना पर इस कानून के वश न होना। मैं तो यह भी मानता हूं कि फर्ज कीजिए—यद्यपि ऐसा होने की जरा भी संभावना नहीं तथापि मान लीजिए—कि सभी फिसल पडें, और अकेला मैं ही रह जाऊं तथापि मुझे यह पूरा विश्वास है कि उस हालत में भी मुझसे प्रतिज्ञा का भंग कदापि नहीं हो सकता। जिस उद्देश से मैं यह कह रहा हूं उसे समझ लीजिए। यह घमण्ड की बात नहीं। पर इस मंच पर बैठे हुए नेताओं को सावधान करने के लिए यह कही गई है। अपना उदाहरण लेकर नेताओं को मैं विनयपूर्वक यह कहना चाहता हूं कि अगर आपमें यह शक्ति न हो कि आपके केवल अकेले रह जाने पर आप उसपर दृढ न रह सकेंगे तो वह प्रतिज्ञा मत कीजिए। इतना ही नहीं बल्कि इस प्रस्ताव पर प्रतिज्ञा की जावें उसके पहले

अपना विरोध प्रकट कर दीजिएगा और उसमें अपनी सम्मति मत दीजिए। यद्यपि हम सब इस प्रतिज्ञा को एक साथ ही करना चाहते हैं तथापि कोई इसका यह अर्थ न करे कि यदि एक अथवा अनेक आदमी अपनी प्रतिज्ञा का भंग करे तो शेष भी अनायास इस बंधन से मुक्त हो सकते हैं। हरएक आदमी अपनी पूरी जिम्मेदारी के साथ स्वतंत्ररूप से प्रतिज्ञा ले। और साथ ही प्रतिज्ञा लेने के पहले यह भी निश्चय कर ले कि दूसरे चाहे जो करें तथापि मैं तो जबतक शरीर में प्राण रहेंगे तबतक उसपर दृढ ही रहूंगा।"

इस प्रकार बोल कर मैं बैठ गया। जनता बडी शांति के साथ एक एक शब्द सुन रही थी। अन्य नेता भी बोले। सबने अपनी अपनी तथा श्रोताओं की जिम्मेदारी का विवेचन किया। अध्यक्ष उठे। उन्होंने भी वही समझाया, और अंत में सारी सभा ने खडे रहकर परमात्मा को साक्षी रख कर यह प्रतिज्ञा की कि यदि कानून पास हो जाय तो हम उसके आगे सिर न झुकावेंगे। वह दृश्य ऐसा था कि मैं उसे कभी भूल नहीं सकता। जनता में बेहद उत्साह था। दूसरे ही दिन उस नाट्यशाला में अकस्मात आग लगी और वह जलकर भस्म हो गई। तीसरे दिन लोग मेरे पास आये और कौम को मुबारिकबादी देते हुए कहने लगे कि नाट्यशाला का जलना कौम के लिए एक शुभ शकुन है। नाट्यशाला की तरह वह कानून भी एक दिन जल जायगा। पर ऐसी बातों का मुझपर कभी कोई असर नहीं हुआ। इसलिए मैंने उसे कोई महत्त्व नहीं दिया। यहां तो इस बात का उल्लेख केवल यह बताने के लिए किया है कि जनता में कितनी श्रद्धा और शौर्य था। और इन दोनों बातों के बहुत से लक्षण पाठक आगामी प्रकरणों में पढेंगे।

अध्याय १३

सत्याग्रह बनाम पैसिव रिझिस्टन्स

जैसे जैसे आन्दोलन आगे बढता चला वैसे वैसे अंगरेज भी उसमें रस लेने लगे। मुझे यह कह देना चाहिए कि यद्यपि ट्रान्सवाल के अंगरेजी अखबार अक्सर उस खूनी कानून के पक्ष में ही लिखते और गोरों के विरोध का समर्थन करते थे, तथापि अगर कोई प्रख्यात भारतीय उनमें कोई लेख भेजते तो उसे वे खुशी से छापते थे। सरकार के पास भारतीयों की जो दरख्वास्तें जाती थी उन्हें भी वे या तो पूरी छापते थे या अखिर उनका सार दे देते थे। बडी बडी सभायें होती थीं। उनमें कभी कभी वे अपने रिपोर्टर भी भेजते थे। और जहां ऐसा न हो सकता हो तहां यदि सभा का रिपार्ट हम लिखकर भेज देते और वह छोटा होता— तो उसे ही छाप देते थे।

गोरों का यह विवेक भारतीयों के लिए बहुत उपयोगी साबित हुआ। आन्दोलन के बढते ही कितने ही गोरों का भी मन उसने आकर्षित कर लिया। इस श्रेणी के ऐसे गोरे अगुआ जोहान्सबर्ग के एक लखपति मि. हास्किन थे। उनमें रंगद्वेष का

तो पहले ही से अभाव था। पर आन्दोलन शुरु होने पर भारतीयों की हलचल में उन्होंने अधिक दिलचस्पी दिखाई। जर्मीस्टन नामक एक जोहान्सबर्ग का उपनगर है। वहांके गोरों ने मेरा भाषण सुनने के लिए अपनी उत्सुकता प्रकट की। सभा भरी गई। हास्किन अध्यक्ष थे। और मैंने भाषण दिया था। मि. हास्किन ने आन्दोलन की ओर मेरा परिचय देते हुए कहा था:— "ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने न्यायप्राप्ति के अन्य साधनों के निष्फल सिद्ध होने पर पैसिव रिझिस्टन्स को अखत्यार किया है। उन्हें मत देने का अधिकार नहीं है। उनकी संख्या छोटी है। वे कमजोर हैं। न उनके पास हथियार है। इसलिए उन्होंने पैसिव रिझिस्टन्स को–जोकि कमजोरों का हथियार है, ग्रहण किया है।" मैं यह सुनकर चौंक पडा। जो भाषण करने के लिए मैं गया था उसका स्वरुप बिल्कुल पलट गया। वहां मिस्टर हास्किन की दलीलों का विरोध करते हुए मैंने पैसिव रिझिस्टन्स को 'सोल फोर्स' अर्थात् आत्मबल' का नाम दिया। इस सभा में मैंने यह देखा कि पैसिव रिझिस्टन्स शब्द के प्रयोग से भयंकर गलतफहमी होने का अंदेशा है। उस सभा में मैंने जो दलीलें की थी उनमें उपर्युक्त भेद समझने के लिए जो कुछ अधिक कहने की आवश्यकता है उसे भी जोड कर उन दोनों शक्तियों के अंतर्गत विरोध को समझाने का प्रयत्न करूंगा।

मैं यह तो नहीं जानता कि पैसिव रिझिस्टन्स इन दो शब्दों का अंगरेजी भाषा में पहले पहल प्रयोग किसने और कब किया। पर अंगरेजी राष्ट्र में जब किसी छोटे समाज को कोई कानून पसंद न होता था तब वह उस कानून के खिलाफ बलवा करने के बदले उसका स्वीकार ही न करता और इस कार्य के लिए उसे जो जो

सजायें होतीं उन्हें सह लेता था। अंगरेजी में इसीको पैसिव रिझिस्टन्स अर्थात् सौम्य प्रतिकार कहा है। कुछ वर्ष पहले जब अंगरेजी धारासभा ने शिक्षा कानून पास किया था उस समय डॉ. क्लिफर्ड के नेतृत्व में इंग्लैंड के 'नान्‌कन्फामिस्ट' नामक ईसाई पक्ष ने पैसिव रिझिस्टन्स को अख्त्यार किया था। इंग्लैंड की औरतों ने मताधिकार के लिए जो जबरदस्त आन्दोलन किया था उसे भी पैसिव रिझिस्टन्स ही कहा जाता था। इन दो हलचलों को ध्यान में रखते हुए ही मि. हास्किन ने कहा था कि पैसिव रिझिस्टन्स कमजोरों का अथवा उन लोगों का शस्त्र है जिन्हें मताधिकार न हो। डॉ. क्लिफर्ड के पक्ष को मताधिकार था पर उनकी संख्या सभा में इतनी कम थी कि वह उस कानून को रोकने में सफल न हुई। अर्थात् वह पक्ष संख्या में कमजोर साबित हुआ। यह बात नहीं थी कि अपने उद्देश की पूर्ति के लिए वह पक्ष शस्त्र ग्रहण कदापि न करे। पर ऐसे कामों में अगर वह शस्त्र ग्रहण करता भी तो उससे कार्यसिद्धि नहीं हो सकती थी। सुव्यवस्थित राजतंत्र में इस प्रकार एकदम बलवा करके हमेशा हक प्राप्त नहीं किये जा सकते। फिर डॉ. क्लिफर्ड के पक्ष के कितने ही ईसाई ऐसे थे जो सामान्य परिस्थिति में शस्त्रास्त्रों का उपयोग हो भी सकता होता तो उसका विरोध करते। औरतों के आन्दोलन में मताधिकार तो था ही नहीं। संख्या और शारीरिक दृष्टि से भी वे आखिर कमजोर थीं। अर्थात् यह उदाहरण भी मि. हाकिन्स की दलील का समर्थन ही कर रहा था। औरतों के आन्दोलन में शस्त्रों का त्याग नहीं किया गया था। उनमें से एक पक्ष ने तो कितने ही मकान जला दिये थे—पुरुषों पर हमले तक किये थे। मैं यह नहीं जानता कि उन्होंने किसीका खून करने का भी निश्चय किया था या नहीं

पर उनका हेतु यह तो जरूर था कि मौका मिलने पर मारपीट करना और इस तरह कुछ न कुछ उपद्रव खडे करते रहना। इसके विपरीत भारतीयों के आन्दोलन में हथियारों के लिए तो कहीं भी और किसी भी परिस्थिति में स्थान् न था। और जैसे जैसे हम आगे बढेंगे वैसे वैसे पाठक भी देखेंगे कि वडे वडे दुःख सत्याग्रहियों पर पडे किन्तु उन्होंने कभी शरीरवल का उपयोग नहीं किया, और वह भी ऐसे समय कि जब उसका सफलतापूर्वक उपयोग करने की उनमें शक्ति थी। दूसरे यद्यपि यह सत्य है कि भारतीयों को मताकिकार न था और वह कौम कमजोर भी थी तथापि आन्दोलन की योजना के साथ इन दोनों वातों का कोई संवन्ध न था। इससे मेरे कहने का यह मतलव नहीं कि यदि भारतीयों को मताधिकार होता और उनके पास शस्त्रवल होता तो भी वे सत्याग्रह ही करते। मताधिकार होता तो प्रायः सत्याग्रह की कोई आवश्यकता ही न थी। केवल शस्त्रवल होता तो भी प्रतिपक्षी संभल कर चलता। अर्थात् यह भी समझ में आने लायक वात है कि शस्त्रवल के होते हुए भी किसी समाज को ऐसे प्रसंग आ सकते हैं जव सत्याग्रह से काम लेना पडे। मेरे कहने का तात्पर्य तो केवल यही है मैं निश्चयपूर्वक यह कह सकता हूं कि भारतीयों के आन्दोलन की योजना करते हुए मेरे दिल में यह सवाल ही खडा न हुआ था कि हम शस्त्रवल का उपयोग कर सकते हैं या नहीं। सत्याग्रह केवल आत्मा का वल है। अतः जहां जितने अंश में शरीरवल या शस्त्रवल का उपयोग होता हो या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती हो वहां और उतने ही अंश में आत्मवल का उपयोग कम होता है। मेरे मत में तो ये दोनों विरोधी शक्तियां

है। यह विचार उस आन्दोलन के जन्म के समय भी मेरे हृदय में पूरी तरह पक्का हो गया था।

पर इस स्थान पर हमें यह निर्णय नहीं करना है कि ये विचार योग्य थे या अयोग्य। हमें तो यहां सिर्फ सत्याग्रह और पैसिव रिझिस्टन्स के वीच का भेद मात्र जान लेना है। हम यह भी देख चुके हैं कि मूलतः ही इन दो शक्तियों में भारी भेद है। इसलिए इस भेद को वगैर समझे बूझे ही अपनेको पैसिव रिझिस्टर और सत्याग्रही वतानेवाले दोनों एक-दूसरे को आपस में एक ही मानें तो दोनों के प्रति अन्याय होगा। हम स्वयं दक्षिण आफ्रिका में जब पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का उपयोग करते थे तब ऐसे लोग तो बहुत थोडे मिलते जो मताधिकार के लिए लडनेवाली औरतों की वहादुरी और स्वार्थत्याग का हमपर आरोपण करके हमें धन्यवाद देते, पर ऐसे बहुत थे जो हमें भी उन औरतों के जैसे जानोमाल की हानि करनेवाले समझते। और मि. हाकिन्स जैसे उदार और निस्पृह मित्रों तक ने हमें कमजोर समझ लिया। विचारशक्ति का इतना भारी असर होता है कि आदमी अपनेको जैसे मानता है वैसा वह हो भी जाता है। हम तो कमजोर हैं, इसलिए दूसरे उपाय के अभाव में हम पैसिव रिझिस्टन्स का उपयोग कर रहे हैं इस तरह अगर हम मानते रहें और दूसरों को भी समझाते रहें तो हम कभी पैसिव रिझिस्टन्स करते करते वलवान् नहीं हो सकते। वल्कि मौका मिलते ही हम इस कमजोरों के शस्त्र को छोड भी देंगे। इसके विपरीत यदि हम सत्याग्रही वनें और अपनेको वलवान् मान कर उस शक्ति का उपयोग करें तो उसके दो उत्तम फल होंगे। वल के ही विचार को पुष्ट करते करते हम अधिकाधिक वलवान् होते हैं। और जैसे जैसे हमारा वल वढेगा वैसे ही

वैसे हमारे सत्याग्रह का तेज भी बढेगा। उस शक्ति को छोडने का मौका तो हमें कभी आवेगा ही नहीं। दूसरे, पैसिव रिझिस्टन्स में प्रेमभाव के लिए स्थान नहीं, इसके विपरीत सत्याग्रह में वेरभाव के लिए स्थान नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वैरभाव अधर्म माना जायगा। पैसिव रिझिस्टन्स में मौका मिलने पर शस्त्र का उपयोग किया जा सकता है। सत्याग्रह में शस्त्रबल के लिए बढिया से बढिया अवसर प्राप्त हो तो भी वह केवल त्याँज्य ही है। पैसिव रिझिस्टन्स को कई वार सशस्त्र बलवे की पूर्व तैयारी कहा जाता है। सत्याग्रह का उपयोग कभी इसतरह नहीं किया जा सकता। पैसिव रिझिस्टन्स शस्त्रबल के साथ साथ चल सकता है। सत्याग्रह तो शस्त्रबल का कट्टर विरोधी है, अतएव इसका उसका कभी मेल ही नहीं हो सकता और इसीलिए साथ साथ नहीं चल सकते। सत्याग्रह का उपयोग अपने प्रियजनों के साथ भी हो सकता है और होता है। पर पैसिव रिझिस्टन्स का उपयोग सच पूछा जाय तो प्रियजनों के साथ हो ही नहीं सकता। अर्थात् प्रियजनों को वैरी समझें तभी उनके साथ पैसिव रिझिस्टन्स हो सकता है। पैसिव रिझिस्टन्स में प्रतिपक्षी को दुःख देने की, उसे सताने की कल्पना हमेशा मौजूद रहती है। और साथ ही यह करते हुए हमें जो कष्ट हो उन्हें सहने की तैयारी होती है। इसके विपरीत सत्याग्रह में विरोधी को दुःख पहुंचाने का ख्याल तक न होना चाहिए। उसमें तो स्वयं कष्ट उठाकर, दुःख सहकर विरोधी को वश करने का ख्याल ही रहता है।

इस प्रकार इन दो शक्तियों के बीच जो भेद है वह मैंने दिखा दिया। मेरे कहने का मतलब यह हरगिज नहीं कि पैसिव रिझिस्टन्स के जो गुण—अथवा दोष कहिए—मैं गिना चुका वे हर

प्रकार के पैसिव रिझिस्टन्स में अवश्य ही रहते हैं। पर पैसिव रिझिस्टन्स के अनेक उदाहरणों में वे बताये जा सकते हैं। पाठकों को मुझे यहांपर यह भी कह देना चाहिए कि कई ईसाई लोग ईसा को पैसिव रिझिस्टन्स का आद्य नेता बताते हैं। पर वहां तो पैसिव रिझिस्टन्स का अर्थ शुद्ध सत्याग्रह ही समझना चाहिए। इस अर्थ में ऐतिहासिक पैसिव रिझिस्टन्स के बहुत से उदाहरण नहीं मिलेंगे। रूस के जिस दूखोबोर का उल्लेख टालस्टाय ने किया है वह जरूर इसी प्रकार के पैसिव रिझिस्टन्स का अर्थात् सत्याग्रह का उदाहरण है। ईसा के बाद हजारों ईसाइयों ने जुल्म को बरदाश्त किया उस समय पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का प्रयोग तो नहीं होता था पर उनके जैसे जितने निर्मल उदाहरण उपलब्ध हैं उन्हें तो मैं सत्याग्रह ही कहूंगा। पर अगर इन्हें भी पैसिव रिझिस्टन्स के नमूने ही हम समझें तब तो पैसिव रिझिस्टन्स और सत्याग्रह के बीच कोई भेद नहीं।

इस प्रकरण का हेतु तो केवल यह बता देना है कि अंगरेजी में सामान्यतः पैसिव रिझिस्टन्स शब्द का प्रयोग जिसतरह होता है उससे सत्याग्रह की कल्पना बिल्कुल भिन्न है।

जिस प्रकार पैसिव रिझिस्टन्स के लक्षण दिखाते समय उस शक्ति का उपयोग करनेवाले किसी भी व्यक्ति के साथ अन्याय न होने पावे इस ख्याल से मुझे उपर्युक्त चेतावनी देना पडी ठीक उसी प्रकार सत्याग्रह के गुणों को गिनाते समय मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैं यह दावा नहीं करता कि जितने व्यक्ति अपनेको सत्याग्रही बताते हैं उन सबमें उपर्युक्त सत्याग्रही के गुण अवश्य ही हैं। यह बात मेरे ख्याल से बाहर नहीं है कि कितने ही सत्याग्रही सत्याग्रह के उपर्युक्त गुणों से बिल्कुल अपरिचित हैं।

कितने ही यह मानते हैं कि सत्याग्रह कमजोर मनुष्यों का हथियार है। कितने ही मनुष्यों के मुंह से मैंने यह भी सुना है कि सत्याग्रह शस्त्रबल की पूर्व तैयारी है। पर मुझे फिर से यह कह देना चाहिए कि मैंने यह नहीं बताया कि सत्याग्रहियों में कौन कौन से गुण पाये जाते हैं बल्कि यह बताने का प्रयत्न किया है कि सत्याग्रह की कल्पना में क्या क्या है, और तदनुसार सत्याग्रहियों को कैसे होना चाहिए। संक्षेप में कहना चाहूं तो इस अध्याय के लिखने का हेतु यह है कि ट्रान्सवाल के भारतवासियों ने जिस शक्ति का उपयोग किया उसका पाठकों को यथार्थ ज्ञान हो, दूसरे; वह शक्ति पैसिव रिझिस्टन्स के नाम से परिचित दूसरी शक्ति के साथ न मिला दी जाय इसलिए इस शक्ति का अर्थसूचक एक शब्द ढूंढना पडा ताकि यह मालूम हो जाय कि उसमें उस समय किन किन वस्तुओं का समावेश किया गया था।

अध्याय १४

विलायत को डेप्यूटेशन

ट्रान्सवाल में 'खूनी कानून' के प्रतिकार के लिए जो जो प्रयत्न करना थे वे सब कर चुके। धारासभा ने औरतों से संबंध रखनेवाली धारा कानून से हटा दी। शेष कानून प्रायः वैसा ही पास कर दिया गया जैसा कि प्रकाशित हुआ था। इस समय तो कौम में बहुत हिंमत थी और उतना ही एका तथा मतैक्य भी था। इसलिए कोई निराश न हुआ। साथ ही यह निश्चय भी कायम रहा कि जितने वैध प्रयत्न हैं वे सब आजमा लिए जायं। इस समय ट्रान्सवाल क्राउन .कालोनी था। क्राउन कालोनी से मतलब है सल्तनती संस्थान। अर्थात् वह संस्थान कि जिसके कानून और व्यवहार के लिए बडी सरकार उत्तरदायी है। मतलब यह कि जिन कानूनों को सल्तनती संस्थान की धारासभा पास करती है उनके लिए वादशाही संमति केवल आदर और व्यवहार के पालन के लिए ही नहीं ली जाती किन्तु अपने सचिव मंडल की सलाह से वादशाह उन कानूनों के लिए जो ब्रिटिशतंत्र के सिद्धान्त के खिलाफ हो अपनी संमति देने से इन्कार कर सकता है। ऐसा

कई बार हो भी चुका है। इसके विपरीत उत्तरदायित्वपूर्ण शासन (रिस्पान्सिबल गवर्मेंट) रखनेवाले संस्थानों की धारासभा जो जो कानून पास करती है उनके लिए बादशाही संमति केवल विवेक दिखाने के लिए ही ली जाती है।

यह बताने का भार मेरे सिर आया कि यदि डेप्यूटेशन इंग्लैंड भेजा जाय तो कौम अपनी जिम्मेदारी को और भी अधिक अच्छीतरह समझ लेगी। इसलिए मैंने अपने मण्डल के सामने तीन चार सूचनायें पेश की। एक तो यह कि यद्यपि उस नाट्यशालावाली सभा में प्रतिज्ञायें ले ली गई थीं तथापि एक बार और प्रधान प्रधान भारतवासियों की व्यक्तिगत प्रतिज्ञायें ले ली जायं। जिससे जनता में जरा भी कोई शंका उपस्थित हुई हो या कहीं कमजोरी ने घर किया हो तो फौरन मालूम हो जाय। यह सूचना मैंने एक तो इसलिए की थी कि यदि डेप्यूटेशन सत्याग्रह के बल को लेकर जायगा तब तो निर्भय बन कर जावेगा। और इंग्लैंड में भी कौम का निश्चय भारत के और अन्य संस्थानों के सचिवों के सामने निर्भयतापूर्वक प्रकट कर दिया जाय। दूसरे, डेप्यूटेशन के खर्च का प्रबंध पहले ही से हो जाना उचित है। और तीसरे, डेप्यूटेशन में कम से कम आदमी जावें। कई बार यह देखा गया है कि लोग यह समझते हैं कि जितने अधिक आदमी जायं उतना ही अधिक काम होता है। इसी बात को याद रखते हुए मैंने यह सूचना की थी। दूसरे मैंने इसके द्वारा यह बताना चाहा था कि डेप्यूटेशन में जानेवाले केवल अपने सन्मान के लिए नहीं बल्कि सेवा के लिए जावें। साथ ही खर्च भी बचाया जाय। यह व्यवहार दृष्टि भी याद रहे। मेरी तीनों सूचनाये मंजूर हो गई। दस्तखत भी ले लिए गये। बहुत से

दस्तखत हुए। पर उनमें भी मैं यह देख सका कि सभा में प्रतिज्ञा लेनेवालों में से कितने ही ऐसे थे जो अपने दस्तखत देते हुए सकुचाते थे। एक बार प्रतिज्ञा लेने पर यदि पचास बार भी वही करना पडे तो इसमें तो कदापि संकोच न होना चाहिए। यह होते हुए भी यह किसे अनुभव नहीं है कि मनुष्य प्रतिज्ञायें करने पर भी ढीले पड जाते हैं। अथवा मुंह से की हुई प्रतिज्ञा को कागज पर लिखते हुए हिचपिचाते हैं। रुपये भी हमारे अन्दाज के मुआफिक इकट्ठे हो गये। सबसे अधिक कठिनाई तो प्रतिनिधिओं के चुनाव के बीच खडी हुई। मेरा नाम तो था ही। पर मेरे साथ कौन कौन जावे। इस विचार में कमिटि को बहुत सा समय लग गया। कितनी ही रातें व्यर्थ नष्ट हुईं। और समाजों में जो जो बुराइयां देखी जाती हैं सबका पूरा पूरा अनुभव हुआ। कोई मुझे अकेला ही जाने के लिए कहते थे। वे कहते कि इसमें सबको सन्तोष रहेगा। पर मैंने इसके लिए साफ इन्कार कर दिया। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दू-मुसलमानों का सवाल दक्षिण आफ्रिका में नहीं था। तथापि यह दावा तो कदापि नहीं किया जा सकता था कि दोनों कौमों के बीच जरा भी भेद न था और इस भेद ने कभी जहरीला स्वरूप धारण नहीं किया। इसका कारण कुछ अंश में वहांके विचित्र संयोग हो सकते हैं। पर इसका खास कारण तो यही था कि नेताओं ने एकनिष्ठा से और निस्पृहतापूर्वक अपना काम करते हुए कौम को आगे बढाया था। मेरी सलाह यह थी कि मेरे साथ साथ एक मुसल्मान गृहस्थ तो होना ही चाहिए। और दो से अधिक आदमियों की आवश्यकता नहीं। पर हिन्दुओं की ओर से फौरन कहा गया कि मैं तो सारी कौम का प्रतिनिधि माना जाता हूं

अर्थात् हिन्दुओं की ओर से तो एक और प्रतिनिधि अवश्य होना चाहिए। कोई कोई यह भी कहता कि एक कोंकनी मुसलमानों की ओर से, एक मेमनों की तरफ से, और हिन्दुओं में से एक किसानों की ओर से, एक अनाविलों की तरफ से प्रतिनिधि भेजे जावें। इस प्रकार हर एक जाति अपना अपना दावा पेश कर रहीं थी पर आखिर सभीं समझ गये और मि० हाजी वजीर अली और मैं एक मन से चुने गये।

हाजी वजीर आधे मलायी कहे जा सकते हैं। उनके पिता भारतीय मुसलमान थे और माता मलायन थी। उनकी मादरी जबान को डच कह सकते हैं पर उन्होंने अंगरेजी शिक्षा भी यहांतक प्राप्त की थी कि वे अंगरेजी और डच दोनों अच्छी तरह बोल सकते थे। अंगरेजी में भाषण करते वक्त उन्हें कहीं भी ठहरना नहीं पडता था। अखबारों में पत्र वगैरा लिखने की आदत भी उन्होंने कर ली थी। ट्रान्सवाल ब्रिटिश ऐसोसिएशन के वे मेम्बर थे। और बहुत दिन से सार्वजनिक हलचलों में भाग लेते आये थे। हिन्दुस्तानी भी अच्छी तरह बोल सकते थे। एक मलायी महिला के साथ उनका विवाह हुआ था और उससे उनकी प्रजा का बडा विस्तार था। विलायत पहुंचते ही हम अपने काम में लगे। सचिव को जो अर्जी देना थी वह तो हमने स्टिमर में ही लिख डाली थी। उसे अब छपा ली। लार्ड एल्गिन संस्थानों के सचिव थे। हम हिन्द के दादा से मिले। उनके द्वारा ब्रिटिश कमिटी को मिले। उन्हें हमने अपना सारा वर्तमान सुनाया और कहा कि हम तो सब पक्षों को अपने साथ लेकर काम करना चाहते हैं। यही सलाह दादाभाई की भी थी। और कमिटी को भी यही ठीक मालूम हुआ। इसी प्रकार हम मंचेरजी भावनगरी से मिले।

उन्होंने भी खूब सहायता की। इनकी तथा दादाभाई की यह सलाह थी कि लार्ड एल्गिन को मिलने के लिए डेप्यूटेशन आवे उस वक्त उसमें कोई तटस्थ तथा विख्यात एंग्लो इंडियन भी शामिल हो जाय तो बड़ा अच्छा हो। सर मैंचेरजी ने कितने ही नाम भी सुझाये। उनमें सर लेपल ग्रीफीन का भी नाम था। पाठकों को याद होगा कि इस समय सर विल्यम विल्सन हंटर जीवित न थे। अगर वे होते तो दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की स्थिति का जो प्रगाढ ज्ञान उन्हें था उसके कारण वे ही हमारे अगुआ होते, अथवा वे ही उमरावों में से किसी महान् नेता को हमारे लिए ढूंढ निकालते।

हम सर लेपल ग्रीफीन से मिले। उनकी राज्यनीति तो भारत की सार्वजनिक हलचलों की विरोधी ही थी। तथापि इस मसले के साथ उनको बड़ी दिलचस्पी हुई और केवल शिष्टाचार के लिए नहीं बल्कि न्यायदृष्टि से ही उन्होंने अगुआ होना कुबूल किया। सब कागज पढे और इस प्रश्न से पूरा परिचय कर लिया। हम अन्य ऐंग्लो इंडियनों से भी मिले, पार्लियामेन्ट के अनेक सभ्यों से मिले और उन तमाम लोगों से मिले जिनका कुछ भी वहां प्रभाव था और जिन्हें हम मिल सकते थे। लार्ड एल्गिन के पास डेप्यूटेशन गया। उन्होंने सभी बातें ध्यानपूर्वक सुन ली। अपनी हमदर्दी जाहिर की और साथ ही यह वचन भी दिया कि मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा मैं अवश्य करूंगा। वही डेप्यूटेशन लार्ड मोर्ले से भी मिला, उन्होंने भी अपनी सहानुभूति प्रकट की। उनके उद्गारों का सार मैं पीछे दे चुका हूं। सर विलियम वेडरबर्न के प्रयत्नों के फलस्वरुप पार्लियामेन्ट के उन सभ्यों की जोकि भारत के शासन से संबंध रखते थे एक सभा भी हुई था।

एक दीवानखाने में भरी गई। उसमें भी हमने अपना मामला यथाशक्ति पेश किया। उस समय आयरिश पक्ष के मुखिया मिस्टर रेडमंड थे। इसलिए हम उनसे खासकर मिलने के लिए गये थे। संक्षेप में पार्लियामेन्ट के भी तमाम पक्ष के सभ्यों में से जिन्हें जिन्हें हम मिल सकते थे उन्हें मिले। इग्लैंड में हमें कांग्रेस की ब्रिटिश कमिटी तो अवश्य ही बहुत सहायता कर रही थी। तथापि वहांके रीतिरिवाज के मुआफिक उसमें तो खास खास मत और पक्ष के मनुष्य ही आ सकते थे। इसके अतिरिक्त ऐसे कितने ही लोग थे जो उसमें नहीं आये थे पर फिर भी हमें पूरी सहायता करते थे। हमे यह मालूम हुआ कि यदि इन सबको एकत्र करके इस काम में उन्हें लगा दिया जाय तो बहुत काम हो जाय। इसलिए इस उद्देश से हमने एक स्थायी समिति स्थापन करने का निश्चय किया। यह बात तमाम पक्ष के लोगों को बहुत पसंद आई।

हर एक संस्था का उत्कर्ष या अपकर्ष प्रायः उसके मंत्री के ऊपर ही निर्भर रहता है। मंत्री ऐसा होना चाहिए जिसका उस संस्था के हेतु पर न केवल पूरा पूरा विश्वास हो बल्कि उसमें इतनी शक्ति भी होनी चाहिए कि वह उसकी सफलता के लिए अपना बहुत सा समय दे सके और उसका काम करने की उसमें पूरी योग्यता हो। मि. रिच जो दक्षिण आफ्रिका में थे और जो मेरे आफिस में गुमास्ती का काम कर चुके थे, और जो लंडन में उस समय बैरिस्टरी का अभ्यास कर रहे थे, ऐसे ही योग्य पुरुष थे उन में ये सब गुण थे। वे वहीं इंग्लैंड में थे और यह काम भी करना चाहते थे। इसलिए एक कमिटी बनाने की हम लोग हिम्मत भी कर सके।

इंग्लैंड में अथवा पश्चिम में कहिए मेरी समझ से यह एक असभ्य रिवाज चला आया है कि अच्छे अच्छे कामों का मुहूर्त खाना खाते समय निश्चय किया जाता है। इंग्लैंड का प्रधान सचिव अपने वार्षिक शासन कार्य का व्योरा तथा आगामी वर्ष में किये जानेवाले कार्यों का विवरणयुक्त समस्त संसार का ध्यान आकर्षित करनेवाला भाषण हर नवम्बर की नवीं तारीख के दिन बडे बडे व्यापारियों के केन्द्र में स्मिथ मैंन्शन हाऊस नामक भवन में देता है। लार्ड मेयर की ओर से सचिव-मंडल वगैरा को निमन्त्रण भेजा जाता है और वहां भोजन के उपरांत शराब की बोतलें खुलती हैं और अतिथि की तन्दुरस्ती की इच्छा करते हुए वह पी जाती है। और इस शुभ अथवा अशुभ (सब अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार उचित विशेषण ढूंढ लेंगे) कार्य के बीच भाषण भी होते हैं। इसमें बादशाही सचिव-मंडल का (तन्दुरस्ती का आशीर्वाद) टोस्ट भी शामिल होता है। इस टोस्ट के उत्तर में मैंने ऊपर प्रधान सचिव के जिस भाषण का जिक्र किया वह भाषण होता है। और सार्वजनिक कामों की ही तरह खानगी कामों में भी किसीके साथ कोई सलाह मशविरा करना हो तो उसे भोजन के लिए निमन्त्रण देने का रिवाज है और कभी भोजन करते समय अथवा कभी भोजनोपरांत उस विषय को छेडा जाता है। हमें भी कई बार इस रिवाज के वश होना पडा था। पर कोई भी पाठक यह कल्पना न कर बैठें कि हमने कहीं अपेय पीया हो या अखाद्य खाया हो। इस प्रकार हमने एक दिन सुबह भोजन समारंभ के निमंत्रण भेजे और उसमें तमाम मुख्य सहायकों को निमंत्रित किया। लगभग सौ निमन्त्रण भेजे गये थे। इस भोजन का मुख्य हेतु था सभी सहायकों का उपकार मानना और उनसे

रुखसत मांगना । साथ ही स्थायी कमिटी भी बना लेना चाहते थे । उस अवसर पर भी रिवाज के मुआफिक भोजन के बाद भाषण वगैरा हुए । कमिटी की स्थापना भी हुई । इससे भी हमारे आन्दोलन का अधिक प्रचार हुआ ।

इस प्रकार पांच छः सप्ताह वहां रह कर हम लोग दक्षिण आफ्रिका वापिस लौटे । मदिरा पहुंचते ही हमें मि० रिच का तार मिला कि ला. एल्गिन ने यह प्रकट किया है कि ट्रान्सवाल का एशियाटिक एक्ट नामंजूर करने के लिए सचिव-मंडल ने बादशाह से सिफारिश की है । फिर हमारे हर्ष का क्या ठिकाना ? मदिरा से केपटाऊन पहुंचते पहुंचते १४-१५ दिन लग जाते है । वह समय हमने बहुत आनंद के साथ बिताया । और भविष्य में अन्य दुःखों को दूर करने के लिए शेखचिल्ली के से हवाई महल बांधते रहे । पर दैवगति विचित्र है । हमारे महल कैसे गिरे—चूर चूर हो गये इसका वृतांत हम अगले अध्यायों में देखेंगे ।

पर यह अध्याय पूरा करने के पहले एक दो पवित्र स्मरणों को बगैर कहे नहीं रहा जा सकता । मुझे इतना तो जरूर ही कह देना चाहिए कि विलायत में हमने एक क्षण भी बेकाम नहीं जाने दिया । बहुत से सरक्यूलर्स भेजना वगैरा सब काम एक आदमी से कभी नहीं बन सकते । उसमें बडी मदद की जरूरत होती है । बहुत सी सहायता तो ऐसी है जो पैसे खर्च करने पर भी मिल सकती है पर मेरा ४० साल का अनुभव यह है कि वह इतनी गहरी और फलशील नहीं होती जैसी कि शुद्ध स्वयंसेवकों की होती है । सौभाग्य-वश हमें वहां ऐसी ही सहायता मिली थी । बहुत से भारतीय नौजवान जो वहां अध्ययन कर रहे थे वे हमारी आसपास बने रहते । और उनमें से कितने ही बिना किसी प्रकार के लोभ के

सुबह-शाम हमें एक सी सहायता करते रहते। पते लिखना, नकलें करना, टिकट चिपकाना; या डाक घर में जाना किसी भी काम के लिए मुझे यह याद नहीं आता कि उन्होंने यह कहा हो कि यह काम हमारे दर्जे को शोभा नहीं देता इसलिए हम नहीं कर सकते। पर इन सबको एक तरफ बैठा देनेवाला और मदद करनेवाला एक अंगरेज मित्र दक्षिण आफ्रिका में था। वह भारत में रह चुका था। इसका नाम था सिमंडझ। अंगरेजी में एक कहावत है जिसका अर्थ यह है कि जिन्हें परमात्मा चाहता है उन्हें वह जल्दी उठा लेता है। भरजवानी में इस परदुःखभंजन अंगरेज को यमदूत ले गये। 'परदुःखभंजन' विशेषण किसी खास उद्देश से ही लगाया गया है। यह भला भाई जब बम्बई में था तब अर्थात् सन १८९७ में प्लेग के भारतीय बीमारों के बीच बेधडक होकर उन्होंने काम किया था और उनकी उसने सहायता की थी। उडनेवाले रोग के रोगियों की सहायता करते समय मृत्यु से जरा भी न डरना यह भाव तो मानों उसके खून में भर दिया गया था। जाति अथवा रंगद्वेष उसे छू तक न गया था। उसका स्वभाव बडा ही स्वतंत्र था। उसने अपना एक सिद्धान्त बना रखा था कि माइनारिटी अर्थात अल्पसंख्या के साथ ही हमेशा सत्य रहता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप वह जोहान्सबर्ग में मेरी ओर आकर्षित हुआ। वह कई बार विनोद में कहता कि याद रखिए आपका पक्ष बडा हुआ नहीं कि मैंने इसे छोडा नहीं। क्योंकि मैं यह माननेवाला हूं कि मेजोरिटी के हाथ में सत्य भी असत्य का रूप धारण कर लेता है। उसने बहुत कुछ पढा था। जोहान्सबर्ग के एक करोडपति सर ज्यार्ज फेरर के वे खास विश्वस्त मन्त्री थे। शॉर्टहैंड लिखने में बांका था। विलायत में हम पहुंचे तब वह अनायास कहीं

आ मिला। मुझे तो उसके घरबार की कोई मालूम नहीं थी। पर हम तो जनता के सेवक अर्थात अखबारों की चर्चा का विषय ठहरे। इसलिए उस भले अंगरेज ने हमें फौरन् ढूंढ लिया और जो कुछ सहायता हो सकती थी वह करने की तैयारी बताई। उसने कहा "अगर चपरासी का काम भी कहोगे तो जरूर करूंगा। पर यदि शार्टहँड की आवश्यकता हो तो आप जानते ही हैं कि मेरे जैसा कुशल लेखक आपको कभी नहीं मिल सकता।" हमें तो दोनों सहायताओं की आवश्यकता थी। और इस अंगरेज ने रात-दिन एक भी पैसा न लेते हुए हमारा काम कर दिया यह कहते हुए मैं लेश मात्र भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। रात के बारह बारह और एक एक बजे तक तो वह हमेशा टाइप-रायटर पर ही डंटा रहता। समाचार पहुंचाना, डाक घर जाना यह सब सिमंडझ करता और सब हंसते मुंह से। मुझे याद है कि इसकी मासिक आय लगभग ४५ पौंड थी। पर यह सब वह अपने मित्रों वगैरा की सहायता में लगा देता। उसकी उम्र उस समय करीब ३० साल की होगी। पर अबतक अविवाहित ही था। और आमरणान्त वैसे ही रहना चाहता भी था। मैंने इसे कुछ तो लेने के लिए बहुत आग्रह किया। पर उसने साफ इन्कार कर दिया। वह कहता कि "यदि मैं इस सेवा के लिए मजदूरी लूं तो अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाऊं।" मुझे याद है कि आखिरी रात को हमारा काम आटोपते, असबाब बांधते करते सुबह के तीन बज गये थे। पर तबतक वह भी जगता ही रहा। हमें दूसरे दिन स्टीमर पर बैठाकर ही वह हमसे जुदा हुआ। वह वियोग बड़ा दुःखदायी था। मैंने तो यह कई बार अनुभव किया है कि 'परोपकार' केवल गेहुंए रंग के लोगों की ही विरासत नहीं है।

अध्याय १५

वक्र राजनीति अथवा क्षणिक हर्ष

केपटाऊन में उतरते ही और खासकर जोहान्सबर्ग पहुंचकर हमने देखा कि मदिरा में मिले हुए तार को हम जितना महत्त्व देते थे वास्तव में उतना वह महत्त्वपूर्ण नहीं था। उसके भेजनेवाले मि. रिच का उसमें कोई दोष न था। उन्होंने तो कानून नामंजूर होने के विषय में जो कुछ सुना था वही तार से लिख भेजा था। हम ऊपर देख चुके हैं कि उस समय ट्रान्सवाल सल्तनती संस्थान था। ऐसे संस्थानों के राजदूत सचिवों को अपने संस्थान की हालत से हमेशा परिचित रखने के लिए इंग्लैंड में रहते हैं। ट्रान्सवाल की ओर से सर रिचर्ड सालोमन दक्षिण आफ्रिका के ख्यातनामा वकील – राजदूत थे। उस 'खूनी कानून' को नामंजूर करने का प्रस्ताव लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन की सलाह से ही किया था। सन १९०७ की जनवरी की पहली तारीख से ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जानेवाला था। इसलिए लार्ड एल्गिन ने सर रिचर्ड सालोमन को यह आश्वासन दिया कि यदि यही कानून उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की धारा-सभा में स्वीकृत हो जाय तो बड़ी सरकार उसे नामंजूर नहीं करेगी। पर जबतक ट्रान्सवाल सल्तनती संस्थान रहेगा, तबतक

ऐसे भेदभरे कानून के लिए ठेठ बडी सरकार जिम्मेदार मानी जाती है। और बडी सरकार के शासन-विधान में ऐसे भेदमूलक कानूनों को स्थान नहीं दिया जाता। इसलिए इस सिद्धान्त के ख्याल से फिलहाल तो मुझे बादशाह को यही सलाह देनी चाहिए कि वह उसे नामंजूर कर दे।"

सर रिचर्ड सालोमन को इस बात के लिए तिलमात्र भी अपत्ति नहीं थी, कि अभी नाम मात्र के लिए कानून रद्द हो जाय और आगे चल कर गोरों का भी काम अनायास बन जाय। और हो भी कैसे सकती है? इस राज्यनीति के लिए ऊपर मैंने वक्र विशेषण लगाया है पर यदि यथार्थतः इससे भी तीव्र विशेषण लगाया जाता तो मेरे ख्याल से उस राज्यनीति के ,लकों के प्रति कोई अन्याय न होता। सल्तनती संस्थान के क ूनों के लिए ठेठ बडी सरकार जिम्मेदार रहती है। उसके विधान में रंग और जातिभेद को स्थान नहीं है। ये दोनों बातें हैं तो बडी सुंदर। यह बात भी समझ में आनेयोग्य है कि जवाबदेह-उत्तर दायित्वपूर्ण राज्यसत्ता रखनेवाले संस्थान जिन कानूनों को बनावे उन्हें बडी सरकार एकाएक रद नहीं कर सकती। पर संस्थानों के राजदूतों के साथ छिपकर सलाह मशविरा करना, उन्हें पहले ही से बडी सरकार के शासन-विधान के प्रतिकूल कानूनों को नामंजूर न करने का वचन देना, क्या इसमें जिनके सत्वों का अपहरण हो रहा हो, उनके साथ दगा और अन्याय नहीं होता है। सच पूछा जाय तो लार्ड एलिगन ने अपने इस वचन द्वारा ट्रान्सवाल के गोरों को भारतीयों के खिलाफ अपनी हलचल शुरु रखने के लिए मानों उत्साहित ही किया। अगर ऐसा ही उन्हें करना था तो भारतीय प्रतिनिधियों को वैसा साफ साफ कह देना था। यथार्थतः देखा

जाय तो उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रखनेवाले संस्थानों के कानून के लिए भी बडी सरकार अवश्य ही जिम्मेदार है। ब्रिटिश शासन-विधान के मूल सिद्धान्तों को उत्तरदायित्वपूर्ण शासनयुक्त संस्थानों को भी अवश्य ही मंजूर करना पडते हैं, जैसे कि किसी भी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन रखनेवाले संस्थान की तरफ से कानूनन् गुलामी की प्रथा का पुनरुद्धार नहीं किया जा सकता है। अगर लार्ड एल्गिन ने खूनी कानून को अयोग्य समझकर ही रद किया हो — और वैसे समझकर ही रद किया जा सकता है — तो उनका यह स्पष्ट कर्तव्य था कि वे सर रिचर्ड सालोमन् को एकान्त में बुला कर यह कह देते कि ट्रान्सवाल को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन मिलने पर वह कभी ऐसा अन्यायपूर्ण कानून न बनावे, और अगर उसका यही विचार हो कि वह तो ऐसे कानून बनावेगा तब तो उसको वह शासनसत्ता सौंपी जाय या नहीं इस बातका बडी सरकार को विचार करना पडेगा या उसे वह सत्ता केवल इसी शर्त पर दी जाय कि वह भारतीयों के स्वत्वों की रक्षा करे। यह न करते हुए लार्ड एल्गिन ने ऊपर से तो भारतियों की हिमायत करने का ढोंग रचा और उसी समय भीतर से सच्ची सच्ची सहायता ट्रान्सवाल सरकार की की। और जो कानून स्वयं रद किया उसीको फिर पास करने के लिए उन्हें उत्तेजित किया। ऐसी वक्र राजनीति का यह पहला ही या एकमात्र उदाहरण नहीं। जिसने ब्रिटिश शासन प्रणाली का साधारण भी अध्ययन किया है वह और भी कितने ही ऐसे कानून बता सकता है।

में निराशा हुई। तथापि इस वक्रता का तात्कालिक परिणाम तो यह हुआ कि कौम में और भी जोश उत्पन्न हो गया। अब सभी कहने लग गये कि हमें क्या परवाह है? हम कब बडी सरकार की सहायता के लिए झगडनेवाले हैं? हमें तो अपने वल पर और जिसके लिए प्रतिज्ञा की उस परमात्मा के आधार पर लडना है। और अगर हम सच्चे बने रहे तो वह टेढी राजनीति भी सीधी हो जायगी।

ट्रान्सवाल में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना हो गई। उसका पहला कदम था बजट और दूसरा वह "खूनी कानून"। एक दो शब्दों को यहां वहां छोडकर वह वैसा ही पास हुआ जैसा कि पहले बनाया गया था और पास हुआ था। इन शब्दों के रद्दोवदल का कानून की सख्ती के साथ कोई संबंध नहीं था। वह तो जैसी थी वैसी ही कायम रही। अर्थात् कानून का रद्द होना तो मात्र स्वप्नसृष्टि की वात रह गई। भारतीयों ने रवाज के अनुसार अर्जियां वगैरा तो कीं पर इनकी तूती की आवाज कौन सुनता। उस कानून के अनुसार नवीन परवाने लेने के लिए उसी साल के (१९०७) अगस्त की पहली तारीख का दिन निश्चित किया गया। इतनी लंबी मीयाद रखने का कारण यह नहीं था कि भारतीयों के साथ कोई रियायत की जाय, बल्कि यह था कि शासन-विधान के अनुसार बडी सरकार की भी सम्मति लेना वाकी था। उसके लिए अवश्य ही कुछ समय लगता। दूसरे उसके परिशिष्ट के अनुसार कई पत्रक, किताबें, परवाने वगैरा कई चीजें तैयार करवाना थीं। स्थान स्थान पर परवानों के दफ्तर खोलना, वगैरा काम के लिए भी कुछ समय की आवश्यकता थी। इन पांच छः महीनों का समय ट्रान्सवाल सरकार ने अपनी ही सुविधा के लिए दिया था।

अध्याय १६

अहमद महम्मद काछलिया

डेप्यूटेशन जब विलायत जा रहा था तब दक्षिण अफ्रिका में रहे हुए एक अंगरेज ने मेरे मुंह से ट्रान्सवाल के कानून की बात सुनी और साथ ही जब हमारा विलायत जाने का कारण भी सुना तब वह बोल उठा "आप कुत्ते का पट्टा (डॉग्स कॉलर) पहनने से इन्कार करना चाहते हैं।" उस अंगरेज ने ट्रान्सवाल के परवाने को यह नाम रक्खा था। यह बात तो मैं उस समय और उस घटना का उल्लेख करते समय अभीतक भी नहीं समझा कि उसने ये वचन अपने पट्टे के लिए खुश होकर तथा भारतीयों के प्रति तिरस्कार बताते हुए कहा था या उनकी अवस्था के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए कहा था। तथापि इस सुनीति का अनुसरण करते हुए कि किसी भी मनुष्य के कहने का अर्थ इस तरह नहीं कल्पना चाहिए कि जिससे उसके साथ कोई अन्याय हो, मैं उस अंगरेज के शब्दों का अर्थ यही बताता हूं कि उसने वे हमारी स्थिति का यथार्थ बोध देनेवाले शब्द हमारे साथ हमदर्दी दिखाने के लिए ही कहे थे। एक ओर से ट्रान्सवाल सरकार हमें यह पट्टा पहनाने की

कोशिश कर रही थी, तहां दूसरी ओर से कौम इस बात की तैयारियां कर रही थी कि वह अपने निश्चय पर किस प्रकार कायम रह सकती है तथा वहांकी सरकार की कुनीति का सामना कैसे किया जा सकता है। इंग्लैंड और भारत के मित्रों को पत्र वगैरा लिखकर वर्तमान परिस्थिति से परिचित रखने का काम तो शुरू ही था। पर सत्याग्रह का युद्ध बाह्योपचारों पर बहुत कम निर्भर रहता है। भीतरी उपचारों पर ही उसकी विजय निर्भर रहती है। इससे कौम के तमाम अंग ताजे और तेजतर्रार रहते हैं। नेताओं का समय इन उपायों में ही नष्ट होता था।

अब कौम के सामने यह महत्त्व का प्रश्न खडा हुआ कि सत्याग्रह का काम किस मंडल के द्वारा लिया जाय। ट्रान्सवाल ब्रिटिश एसोसिएशन में तो बहुत से सदस्य थे। उसकी स्थापना के समय सत्याग्रह का जन्म भी न हुआ था। उस मंडल को एक नहीं अनेक कानूनों के साथ झगडना पडता था और अब भी झगडना था। इसके आतिरिक्त भी उसे कई सामाजिक और राजनैतिक काम करना थे। दूसरे, यह बात भी नहीं थी कि उस मण्डल के तमाम सभासदों ने प्रतिज्ञा ली हो। साथ ही उस मण्डल को अन्य बाहरी जिम्मेदारियों का भी ख्याल रखना था। सत्याग्रह के आन्दोलन को ट्रान्सवाल सरकार राज्यद्रोही माने तो ? और साथ ही इस आन्दोलन को संचालित करनेवाली संस्थाओं को भी राजद्रोही ठहरा दे तो? इस संस्था के जो सदस्य सत्याग्रही न हों उनका क्या हो? सत्याग्रह के पहले से जिन्होंने उस संस्था को पैसे दे रक्खे हों उनके पैसे का क्या किया जायगा ? ये बातें भी अवश्य ही विचारणीय थीं। अन्त में सत्याग्रही का यह दृढ निश्चय था कि जो लोग अश्रद्धा, कमजोरी या अन्य किसी कारण से सत्या-

ग्रह में सम्मिलत न हो सकें उनके प्रति द्वेषभाव नहीं रक्खा जाय इतना ही नहीं बल्कि उनके साथ जिस स्नेहभाव से अभीतक रहते आये हैं उसमें कोई भी परिवर्तन न होने दिया जाय और सत्याग्रह को छोडकर अन्य हलचलों में उनसे मिलजुल कर ही काम काज किया जाय।

इन विचारों के कारण कौम इस निश्चय पर पहुंची कि किसी भी वर्तमान मंडल के द्वारा सत्याग्रह का संचालन न किया जाय। अन्य मंडलों से जितनी सहायता हो सके वे करें, और सत्याग्रह को छोडकर इस खूनी कानून के खिलाफ जितने उपायों का अवलंबन किया जा सके वे करें। इसलिए "पैसिव रिझिस्टन्स ऐसोसिएशन" अथवा सत्याग्रह-मंडल नामक ए नवीन मंडल की स्थापना सत्याग्रहियों ने की। अंगरेजी नाम पर से पाठक इस बात का पता लगा सकते हैं कि जिस समय उपर्युक्त मंडल की स्थापना हुई उस समय तक 'सत्याग्रह' शब्द का जन्म नहीं हुआ था। जैसे जैसे समय बीतता गया वैसे वैसे कौम को यह अनुभव होने लगा कि नवीन मंडल की स्थापना द्वारा हर प्रकार से उसे फायदा ही हुआ है और अगर ऐसा हम न करते तो शायद उस आन्दोलन को हानि ही पहुंचती। इस नवीन मंडल के सदस्य भी बहुतसे लोग हुए और खुले हाथों से उन्होंने आर्थिक सहायता भी की।

इसके विपरीत मेरा यह भी अनुभव है कि जिस संस्था को खूब धन मिल जाता है उसकी अवनति उसी समय से शुरू हो जाती है इसलिए मेरे अनुभव से मैंने यह एक सिद्धान्त भी स्थिर कर लिया है कि बहुत सा धन इकट्ठा करके उसके सूद से किसी सार्वजनिक संस्था का संचालन करना — पाप है यह कहते हुए मेरी हिम्मत नहीं पडती इसलिए — अयोग्य है यही कह देता हूं। सार्वजनिक संस्था का कोश तो जनता ही है। जहांतक वह उन्हें चाहे तभी तक ऐसी संस्थाओं को जीवित रहना चाहिए। कोश इकट्ठा करके उसके सूद पर चलनेवाली संस्थायें सार्वजनिक नहीं रहती। वे स्वतन्त्र और स्वामी बन जाती ह। सार्वजनिक टीका टिप्पणी के आगे वे सिर नहीं झुकातीं। सूद पर चलनेवाली कितनी ही सांसारिक तथा परमार्थिक संस्थाओं में जो बुराइयां घुस बैठी हैं उन्हें यहां पर लिखने की आवश्यकता नहीं। वह तो लगभग स्वयंसिद्ध जैसी ही बात है।

फिर हम मूल विषय को लें। वारीक वारीक दलीलें तथा छोटी छोटी बातों पर नुक्ताचीनी करने का ठीका केवल वकीलों ने या अंगरेजी पढे लिखे सुधारको ने नहीं ले रक्खा है। मैंने तो यह देखा है कि दक्षिण आफ्रिका के अपढ भारतीय भी बहुत वारीक दलील कर सकते हैं। कितनों ही ने यह दलील ढूंढी कि पहले खूनी कानून के रद्द होते ही नाट्यशाला में की गई प्रतिज्ञायें भी रद्द हो गई। कमजोरी के मारे कितनों ही ने इस दलील की छाया का आश्रय लिया। यह नहीं कहा जा सकता कि दलील बिल्कुल ही व्यर्थ थी। तथापि जो लोग उस कानून का प्रतिकार समझ कर नहीं बल्कि उसके अन्दर छिपे हुए तत्व के खिलाफ लड रहे थे उनपर तो यह दलील कोई असर न कर सकती थी। तथापि

बतौर सावधानी के और जनता में अधिक जाग्रति के लिए और यह देखने के लिए कि जनता में अगर कुछ कमजोरी घुस गई हो तो वह कहांतक गई है फिर से प्रतिज्ञा लिवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसीलिए स्थान स्थान पर सभायें भरकर लोगों को परिस्थिति समझाई गई और फिरसे प्रतिज्ञा लिवाई गई। पर यह कहीं देखने में नहीं आया कि जनता का उत्साह जरा भी कम हुआ है।

इधर जुलाई का महीना नजदीक आता जा रहा था। इसी समय ट्रान्सवाल की राजधानी प्रिटोरिया में एक विराट सभा भरने का निश्चय हुआ था। अन्य शहरों से भी प्रतिनिधि निमन्त्रित किये गये थे। सभा प्रिटोरिया की मस्जिद के सामने के चौगान में भरने का निश्चय हुआ था। सत्याग्रह शुरू होने पर तो इतने आदमी उसमें आने लगे कि मकानों के अन्दर सभा भरना हमारे लिए असम्भव हो गया। ट्रान्सवाल भर में भारतीयों की संख्या १३,००० से अधिक न होगी। उसमें से १०,००० तो जोहान्सबर्ग और प्रिटोरिया में ही बंट गये थे। इनमें से भी पांच छः हजार लोगों का सभा में आना यह परिमाण संसार के किसी भी हिस्से में बहुत बड़ा और अत्यन्त सन्तोष-जनक कहा जा सकता है। सार्वजनिक सत्याग्रह का युद्ध अन्य किसी शर्त पर लड़ा भी नहीं जा सकता। जिस युद्ध का प्रधान आधार केवल अपनी ही शक्ति पर है उसमें अगर उस विषय की सार्वजनिक तालीम न दी जा सके तब तो वह युद्ध चल ही नहीं सकता।

लगता था और दूसरे स्थानाभाव के कारण किसी भी मनुष्य को निराश हो कर वापिस नहीं लौटना पडता था। यहांपर यह भी कह देना आवश्यक है कि ये सभी सभायें प्रायः अत्यन्त शान्ति-पूर्वक होती थी। आनेवाले सभी ध्यान से सुनते रहते थे। अगर कोई कोई बहुत दूर खडे रहते और उन्हें भाषण सुनाई न पडता तो वे जोर से बोलने के लिए सूचना कर देते थे। पाठकों को यह कहने की आवश्यकता तो नहीं होगी कि इन सभाओं में कुर्सी वगैरा की व्यवस्था बिल्कुल नहीं रक्खी जाती थी। सभी जमीन पर बैठ जाते थे। केवल अध्यक्ष, वक्ता और दो-चार अन्य आदमी अध्यक्ष के आसपास बैठ सकें इतना बडा मंच रक्खा जाता था। उसपर एक छोटी सी मेज और दो चार कुर्सियां या स्टूल्स।

प्रिटोरिया की इस सभा के अध्यक्ष एसोशिएशन की प्रिटोरिया शाखा के अधिपति सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद थे। खूनी कानून के अनुसार परवाना निकालने के दिन ज्यों ज्यों नजदीक आते जा रहे थे वैसे वैसे, जिस प्रकार भारतीय खूब उत्साह के होते हुए भी चिंतातुर थे उसी प्रकार उधर जनरल बोथा और स्मट्स उनकी सरकार के पास अमोघ बल के होते हुए भी चिंताग्रस्त हो रहे थे। एक सारी कौम पर बलप्रयोग कर के उसे झुकाना इसे तो कोई भी अच्छी बात नहीं समझ सकता। इसलिए जनरल बोथा ने मि० हास्किन को हमें समझाने के लिए इस सभा में भेजा। मि० हास्किन का परिचय मैं अध्याय ७ में दे चुका हूं। सभा ने उनका स्वागत किया। उन्होंने अपने भाषण में कहा:—

"मैं आपका मित्र हूं। आप यह जानते भी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि आपके साथ मेरी सहानुभूति है। अगर मुझसे हो सकता तो मैं आपकी मांग को मंजूर करा देता। पर यहांके

सर्वसाधारण गोरे समाज के विरोध के विषय में आपको आज नवीन चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं है। आज मैं आपके पास जनरल बोथा का भेजा आ रहा हूं। उन्होंने मुझे इस सभा में आपको उनका संदेश सुनाने की आज्ञा की है। वे भारतीयों का सन्मान करते हैं। कौम के भावों को समझते हैं। पर वे कहते हैं 'मैं लाचार हूं। ट्रान्सवाल के सभी गोरे उस कानून को मांगते हैं। स्वयं मैं भी उसकी आवश्यकता देखता हूं। ट्रान्सवाल सरकार की शक्ति से भारतीय भलीभांति परिचित हैं। इस कानून में बडी सरकार की भी सम्मति है। भारतियों को जितना करना चाहिए था वे कर गुजरे और उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। पर जिस हालत में कौम का विरोध सफल नहीं हुआ और कानून पास हो गया उस हालत में अब कौम को चाहिए कि वह अब उसे माने और अपनी वफादारी तथा शांतिप्रियता का परिचय दे। इस कानून के अनुसार जो धारायें बनाई गई हैं उनमें अगर कोई छोटा सा फेरफार कराना हो और उसके विषय में कुछ कहना हो तो जनरल स्मट्स आपका कहना ध्यानपूर्वक सुनेंगे।" इस प्रकार संदेश सुना कर मि. हास्किन ने कहा कि मैं भी आपको यही सलाह दूंगा कि आप जनरल बोथा के संदेश को मान लें। मैं जानता हूं कि ट्रान्सवाल की सरकार इस कानून के विषय में बडी दृढ है, उसका सामना करना मानों दीवाल से अपना सिर फोडना है।

भारतीयों के भाषण शुरू हुए। इस प्रकरण के और सच पूछा जाय तो इस इतिहास के नायक का परिचय तो मुझे अभी देना ही बाकी है। जो वक्ता खडे हुए उनमें स्वर्गीय अहमद महम्मद काछलिया भी थे। उन्हें तो मैं एक मवक्किल और दुभाषिये की हैसियत से जानता था। वे अभीतक किसी हलचल में आगे हो कर भाग नहीं लेते थे। उनका अंगरेजी भाषा का ज्ञान कामचलाऊ था। पर अनुभव से उन्होंने उसे यहांतक बढा लिया कि अपने मित्रों को जब वे अंगरेज वकीलों के यहां ले जाते तब दुभाषिये का काम वे स्वयं ही करते थे। कोई उनका पेशा दुभाषिये का नहीं था। यह काम तो वे बतौर मित्र के ही करते थे। पहले पहल वे कपडे की फेरी लगाते थे। बाद उन्होंने अपने भाई के हिस्से में छोटे पैमाने पर व्यापार शुरू किया था। वे सूरती मेमन थे। उनका जन्म सूरत जिले में ही हुआ था। सूरती मेमनों में उनकी खासी प्रतिष्ठा थी। गुजराती का ज्ञान भी वैसा ही था। अनुभव से उसे खूब बढा लिया था। पर उनकी बुद्धि इतनी तेज थी कि वे चाहे जिस बात को बडी आसानी से समझ लेते थे। केसों की उलझन इसप्रकार स्पष्ट करते कि मैं तो कई बार चकित हो जाता। वकीलों के साथ कानूनी दलीलें करने में भी जरा न डरते थे। और कई बार उनकी दलीलें एसी होतीं कि वकीलों को भी विचार करना पडता।

बहादुरी और एकनिष्ठा में उनसे बढकर आदमी मुझे न तो दक्षिण आफ्रिका में मिला और न भारत में मिला। कौम के लिए उन्होंने अपने सर्वस्व की आहूति दे दी थी। उनके साथ जितनी बार मुझे काम पडा उन सब प्रसंगो पर मैंने उन्हें एक-वचनी ही पाया। स्वयं चुस्त मुसलमान थे। सूरती मेमन मसजीद के

सर्वसाधारण गोरे समाज के विरोध के विषय में आपको आज नवीन चेतावनी देने की आवश्यकता नहीं है। आज मैं आपके पास जनरल बोथा का भेजा आ रहा हूं। उन्होंने मुझे इस सभा में आपको उनका संदेश सुनाने की आज्ञा की है। वे भारतीयों का सन्मान करते हैं। कौम के भावों को समझते हैं। पर वे कहते हैं 'मैं लाचार हूं। ट्रान्सवाल के सभी गोरे उस कानून को मांगते हैं। स्वयं मैं भी उसकी आवश्यकता देखता हूं। ट्रान्सवाल सरकार की शक्ति से भारतीय भलीभांति परिचित हैं। इस कानून में बडी सरकार की भी सम्मति है। भारतियों को जितना करना चाहिए था वे कर गुजरे और उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा की। पर जिस हालत में कौम का विरोध सफल नहीं हुआ और कानून पास हो गया उस हालत में अब कौम को चाहिए कि वह अब उसे माने और अपनी वफादारी तथा शांतिप्रियता का परिचय दे। इस कानून के अनुसार जो धारायें बनाई गई हैं उनमें अगर कोई छोटा सा फेरफार कराना हो और उसके विषय में कुछ कहना हो तो जनरल स्मट्स आपका कहना ध्यानपूर्वक सुनेंगे।" इस प्रकार संदेश सुना कर मि. हास्किन ने कहा कि मैं भी आपको यही सलाह दूंगा कि आप जनरल बोथा के संदेश को मान लें। मैं जानता हूं कि ट्रान्सवाल की सरकार इस कानून के विषय में बडी दृढ है, उसका सामना करना मानों दीवाल से अपना सिर फोडना है। मैं चाहता हूं कि आपकी कौम उसका सामना करके बरबाद न हो और व्यर्थ के कष्टों को निमन्त्रण न दे। इस भाषण के एक एक अक्षर का अनुवाद करके कौम को समझा दिया गया। मैंने अपनी ओर से भी चेतावनी दे दी, और मि. हास्किन करतल ध्वनि के बीच वहांसे विदा हो गये।

खुदा की कसम खाकर कहता हूं कि मैं कत्ल हो जाऊंगा पर इस कानून को नहीं मान सकता। और मैं चाहता हूं कि यह सभा भी यही निश्चय करे।" यह कह कर वे बैठ गये। जब उन्होंने गर्दन पर हाथ रक्खा तब मंच पर बैठे हुए कितनें ही लोगों के मुंह पर स्मित दिखाई दिया। मुझे याद है कि मैं भी उसमें था। जितने जोर के साथ काछलिया सेठ ने ये शब्द कहे थे उतना जोर अपनी कृति में वे दिखा सकेंगे या नहीं इस बात का मुझे जरा संदेह था। पर संदेहवाली बात का जब विचार करता हूं तब और यहां लिखते समय भी मुझे शर्म आती है। इस महान् युद्ध में जिन बहुत से आदमियों ने अपनी प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन किया था, काछलिया सेठ उनमें अग्रगण्य थे। मैंने कभी उन्हें अपना रंग पलटते हुए नहीं देखा।

सभा ने तो इस भाषण का करतलध्वनि से स्वागत किया। मेरी अपेक्षा अन्य सभासद उन्हें इस समय बहुत अधिक जानते थे। क्योंकि उनमें से अधिकांश को तो इस गूदडी के लाल से व्यक्तिगत परिचय था। वे जानते थे कि काछलिया जो करना चाहते हैं वही करते हैं। और जो कहते हैं उसे अवश्य ही पूरा करते हैं। और भी कई जोशीले भाषण हुए। काछलिया सेठ के भाषण को उनमें से इसीलिए छांट लिया क्योंकि उनकी बाद की कृति से उनका यह भाषण भविष्यवाणी रूप साबित हुआ। जोशीले भाषणों के करनेवाले सभी आखिर तक नहीं टिक सके। इस पुरुषसिंह की मृत्यु कौम का बोझ उठाने में ही सन १९१८ में अर्थात् यह युद्ध खतम होने पर चार साल बाद हुई।

उनका एक और स्मरण है। उसे और कहीं नहीं दिया जा सकता, इसलिए यहीं पर लिख देता हूं। पाठक आगे चलकर

मुतवल्लियों में वे भी एक थे। पर साथ ही वे हिन्दू और मुसल्मानों के लिए समदर्शी थे। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता कि जब उन्होंने धर्मान्ध बनकर हिन्दुओं के खिलाफ किसी बात की खींचातानी की हो। वे बिलकुल निडर और निष्पक्ष थे इसलिए मौकेपर हिन्दू और मुसलमानों को भी उनका दोष दिखाते समय उन्हें जरा-भी संकोच न होता था। उनकी सादगी और निरभिमानता अनुकरणीय थी। उनके साथ मेरा जो बरसों का संबंध रहा उसपर से मुझे यह दृढ विश्वास हो चुका है कि स्वर्गीय अहमद महम्मद काछलिया जैसा पुरुष कौम को फिर मिलना कठिन है।

प्रिटोरिया की सभा में बोलनेवालों में एक यह पुरुष भी था। उसने बहुत ही छोटा भाषण किया। वे बोले इस खूनी कानून को हरएक हिन्दुस्तानी जानता है। उसका अर्थ हम सब जानते हैं। मि. हास्किन का भाषण मैंने खूब ध्यान लगाकर सुना। आपने भी सुना। मुझपर तो उसका एक ही असर हुआ है। मैं तो अपनी प्रतिज्ञा पर और भी दृढ हो गया हूं। ट्रान्सवाल सरकार की ताकत को हम जानते हैं। पर इस खूनी कानून से अधिक किस बात का डर हमें वह सरकार बता सकती है? जेल भेजेगी, जायदाद बेंच देगी, हमें देश से बाहर कर देगी—फांसी पर लटका देगी। यह सब हम बरदाश्त कर सकते हैं। पर इस कानून के आगे सिर झुकाना असंभव है। मैं देखता था कि यह सब बोलते हुए अहमद महम्मद काछलिया अधिकाधिक उत्तेजित होते जा रहे थे। उनका चेहरा लाल हो रहा था। सिर और गर्दन की रगें खून के जोर के मारे बाहर उठ आई थीं। बदन कांप रहा था। अपने दाहिने हाथ की उंगलियां गर्दन पर रखकर वे गरजे "मैं

खुदा की कसम खाकर कहता हूं कि मैं कत्ल हो जाऊंगा पर इस कानून को नहीं मान सकता। और मैं चाहता हूं कि यह सभा भी यही निश्चय करे।" यह कह कर वे बैठ गये। जब उन्होंने गर्दन पर हाथ रक्खा तब मंच पर बैठे हुए कितने ही लोगों के मुंह पर स्मित दिखाई दिया। मुझे याद है कि मैं भी उसमें था। जितने जोर के साथ काछलिया सेठ ने ये शब्द कहे थे उतना जोर अपनी कृति में वे दिखा सकेंगे या नहीं इस बात का मुझे जरा संदेह था। पर संदेहवाली बात का जब विचार करता हूं तब और यहां लिखते समय भी मुझे शर्म आती है। इस महान् युद्ध में जिन बहुत से आदमियों ने अपनी प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन किया था, काछलिया सेठ उनमें अग्रगण्य थे। मैंने कभी उन्हें अपना रंग पलटते हुए नहीं देखा।

सभा ने तो इस भाषण का करतलध्वनि से स्वागत किया। मेरी अपेक्षा अन्य सभासद उन्हें इस समय बहुत अधिक जानते थे। क्योंकि उनमें से अधिकांश को तो इस गूदडी के लाल से व्यक्तिगत परिचय था। वे जानते थे कि काछलिया जो करना चाहते हैं वही करते हैं। और जो कहते हैं उसे अवश्य ही पूरा करते हैं। और भी कई जोशीले भाषण हुए। काछलिया सेठ के भाषण को उनमें से इसीलिए छांट लिया क्योंकि उनकी बाद की कृति से उनका यह भाषण भविष्यवाणी रूप साबित हुआ। जोशीले भाषणों के करनेवाले सभी आखिर तक नहीं टिक सके। इस पुरुषसिंह की मृत्यु कौम का बोझ उठाने में ही सन १९१८ में अर्थात् यह युद्ध खतम होने पर चार साल बाद हुई।

उनका एक और स्मरण है। उसे और कहीं नहीं दिया जा सकता, इसलिए यहीं पर लिख देता हूं। पाठक आगे चलकर

टाल्स्टाय फार्म का किस्सा पढेंगे। उसमें सत्याग्रहिओं के कुटुम्ब रहते थे। वहां आपने अपने पुत्र को भी मिशाल पेश करने तथा सादगी और जाति सेवा का पाठ पढाने के लिए रक्खा था। और इसीको देखकर अन्य मुसलमान माता पिताओं ने भी अपने बच्चों को इस फार्म पर भेजे थे। जवान काछलिया का नाम अली था। उम्र १०-१२ साल की होगी। अली नम्र, चपल, सत्यवादी और सरल लडका था। लडाई के बाद, पर काछलिया सेठ के पहले उसे भी फिरिश्ते खुदा के दरबार में ले गये। पर मेरा विश्वास है कि वह जीता रहता तो अपने पिता को जरुर शोभारुप होता।

अध्याय १७

पहली फूट

१९०७ का जुलाई महीना बीत चला। परवाने लेने के दफ्तर खुले। कौमी हुक्म था कि हरएक दफ्तर पर खुले तौर पर पहरा लगाना, अर्थात् दफ्तरों पर जानेवाले रास्तों पर स्वयंसेवक खडे रहें और वे दफ्तरों में जानेवाले लोगों को सावधान करें। हरएक स्वयंसेवक को एक खास चिह्न अपने पास रखना चाहिए। हरएक स्वयंसेवक को यह खास शिक्षा दी गई थी कि परवाना लेनेवाले किसी भी भारतीय के साथ वह असभ्यता का वर्ताव न करे। वह उसका नाम पूछे। अगर वह न बतावे तो स्वयंसेवक किसी प्रकार का बल प्रयोग या अविनयपूर्ण व्यवहार न करे। कानून से होने-वाली हानियों का छपा कागज एशियाटिक आफिस में जानेवाले हरएक भारतीय को दे दिया जाय। उसमें लिखी बातें भी समझा दें। स्वयंसेवक पुलिस के साथ भी अदब के साथ वर्ताव करें। पुलिस गालियां दें, मारे, पीटे तो उसे भी सह लें। अगर वह मार को सहन न कर सकता हो तो वहांसे चल दे। अगर पुलिस पकडे खुशी से अपनेको उसे सौंप दे। जोहान्सबर्ग अगर कहीं ऐसी जगह

हो तो स्वयं मुझे खबर करे। अन्य स्थानों पर अपने अपने स्थानीय नेताओं को खबर करें। और वे जैसा कहे उसी प्रकार करें। हरएक टुकडी का एक मुखिया रहता है। मुखिया के हुक्म के अनुसार अन्य पहेरेदारों को पहरा करना चाहिए।

कौम के लिए अपनी जाति का यह पहला ही अनुभव था। बारह साल से अधिक उम्रवाले व्यक्ति को ही पहरेदार चुना जाता था। इसलिए बारह से ले कर अठारह साल तक की उम्रवाले कई लडकों ने अपने नाम लिखाये थे। पर ऐसे व्यक्ति को कदापि नहीं लिया जाता था जिसे स्थानीय कार्यकर्त्ता न पहचानते हों। इतनी सावधानी लेने पर भी हरएक सभा में और अन्य रीति से भी लोगों को यह कह दिया गया था कि जो अपनी आर्थिक हानि के भय अथवा अन्य किसी कारण से परवाना निकालना तो चाहते हों पर पहरों के भय के कारण ऐसा न कर सकते हों उनको नेताओं की ओर से खास एक स्वयंसेवक दिया जायगा जो उन्हें ठेठ एशियाटिक आफिस में छोड आवेगा। और उनका काम होते ही फिर वापिस उन्हें स्वयंसेवकों के पहरे के बाहर लाकर छोड देगा। कितनों ही ने इस इन्तजाम से फायदा उठाया भी था। हरएक स्थानपर स्वयंसेवकों ने बडी ही उमंग के साथ काम किया। वे हमेशा अपने काम में चपल और जाग्रत रहते। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि पुलिस ने अधिक नहीं सताया। जहां कहीं थोडा बहुत सताया वहां स्वयंसेवकों ने उसे सह लिया।

इस काम में स्वयंसेवकों ने हास्यरस को भी खूब बढाया था। कभी कभी उनमें पुलिस भी शामिल हो जाती थी। अपना समय सानंद बिताने के लिए स्वयंसेवक कई प्रकार के लटके ढूंढ निकालते। एक बार रास्ता रोकने के बहाने राहदारी की धारा के

अनुसार उन्हें गिरफ्तार भी किया गया था। वहांके सत्याग्रह में असहयोग शामिल नहीं किया था। अतएव यह कोई नियम न था कि अदालतों में अपना बचाव न किया जाय। तथापि यह सामान्य नियम जरूर रक्खा गया था कि कौम के धन से वकील करके कोई अपना बचाव न करे। अदालत ने उन स्वयंसेवकों को निर-पराध बताकर छोड दिया। इससे उनका उत्साह और भी बढा।

इस प्रकार यद्यपि आम तौर से तथा स्वयंसेवकों की ओर से परवाना निकालने की इच्छा रखनेवाले भारतीयों के साथ किसी भी प्रकार का अविवेक या बलात्कार नहीं किया जाता था, तथापि मुझे यह तो जरूर कबूल करना होगा कि इस युद्ध के कारण एक ऐसा भी दल खडा हो गया था जिसका काम यह था कि बिना ही स्वयंसेवक बने, दबे-छुपे रूप से परवाना निकालनेवालों को मारपीट की धमकियां देना या अन्य किसी प्रकार उनका नुकसान करना। यह तो दुःख की बात थी। इसकी खबर लगते ही उसे दबाने के लिए अच्छी तरह प्रयत्न किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि धमकियां लगभग अदृश्य हो गईं। पर उनका बिल्कुल अंत नहीं हुआ। धमकियों का कुछ कुछ असर भी कायम रह गया। और मैंने देखा कि उतने ही परिमाण में युद्ध को हानि भी पहुंची। जिन्हें भय था उन्होंने फौरन सरकारी सहायता मांगी और उन्हें वह मिली भी। इस प्रकार कौम में विष घुसा, और जो कमजोर थे वे और भी अधिक कमजोर बने। इससे विष और भी बढा क्योंकि कमजोरी का स्वाभाविक गुण है बदला लेना। धमकियों का असर उतना नहीं था। पर लोकमत, और स्वयंसेवकों की उपस्थिति के कारण परवाने निकालनेवालों के नाम प्रकट होने का डर इन दो बातों का परिणाम बहुत गहरा हुआ। खूनी कानून

के आगे सिर झुकाना अच्छी बात है ऐसे ख्यालात रखनेवाले एक भी आदमी को मैं नहीं जानता। जो लोग परवाने लेने के लिए गये वे केवल इसलिए गये कि वे कष्ट और आर्थिक नुकसान बरदाश्त नहीं कर सकते थे। इसीलिए उन्हें वहां जाते शर्म मालूम होती थी।

एक तरफ से शर्म और दूसरी ओर से बडे बडे व्यापारवाले भारतीयों को अपने व्यापार की हानि पहुंचने का डर इन दो कठिनाइयों में से बाहर निकलने का रास्ता कितने ही भारतीय अगुओं ने ढूंढ निकाला। एशियाटिक आफिस में जा कर उन्होंने इस बात की व्यवस्था कर दी कि वहांका एक अधिकारी रात के नौ दस बजे के बाद एक मकान पर जाकर उनको परवाने निकाल दे। उनको यह विश्वास था कि इस व्यवस्था के कारण कितने ही समय तक लोगों को यह पता तक नहीं लगेगा कि फलां फलां आदमियों ने खूनी कानून को मान लिया। दूसरे, उन्होंने यह सोचा कि चूंकि वे अगुआ थे इसलिए उन्हें देख देख कर दूसरे भी कानून को मान लेंगे। इससे और कुछ नहीं तो कम से कम लज्जा का भार तो बंट जायगा। बाद अगर पोल खुल गई तो भी चिन्ता की बात नहीं।

पर स्वयंसेवकों का बन्दोबस्त इतना बढ़िया था कि पल पल की खबर कौम को मिल जाया करती थी। एशियाटिक आफिस में ऐसा तो कोई अवश्य था जो सत्याग्रहियों को ऐसी खबरें फौरन् भेज दिया करे। दूसरे कई ऐसे लोग भी थे जो स्वयं तो कमजोर थे पर यह बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि उनमें से बड़े लोग इस कानून के आगे सर झुका दें। वे यह सोच कर सद्भावपूर्वक सत्याग्रहिओं को खबर कर देते कि अगर वे लोग डट बने रहें

तो वे भी रह सकेंगे । इस प्रकार एक बार इस दक्षता के कारण कौम को यह खबर फौरन् मिल गई कि फलां रात को फलां फलां दूकान पर अमुक अमुक आदमी परवाने निकालनेवाले हैं । इसलिए ऐसे उद्देश रखनेवाले लोगों को पहले कौम ने ठीक ठीक समझ लेने का यत्न किया । उस दूकान पर पहरा भी लग गया । पर आखिर आदमी अपनी दुर्बलता को कहांतक दबा सकता है ? रात के दस ग्यारह बजे कितने ही मुखियाओं ने परवाने ले लिये । और एकसूर बजती हुई बांसुरी में फूट पड गई । दूसरे ही दिन कौम ने उनके नाम प्रकट कर दिये । पर लज्जा की भी हद होती है । जब स्वार्थ सामने आ खडा होता है तब शरम भागती फिरती है, और मनुष्य गिर पडता है । इस पहली फूट के कारण करीब पांच सौ आदमियों ने परवाने लिये । कितने ही दिन तक तो परवाने निकालने का काम खानगी मकानों में ही किया गया पर जैसे जैसे शरम कम होती गई वैसे वैसे इन पांच सौ में से कितने ही लोग खुले आम ऐशियाटिक आफिस में अपना नाम लिखाने के लिए गये ।

अध्याय १८

पहला सत्याग्रही कैदी

बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी जब एशियाटिक आफिस को ५०० से अधिक नाम नहीं मिल सके तब अधिकारीगण इस निश्चय पर आये कि अब किसीको पकडना चाहिए। पाठक जर्मीस्टन नाम से परिचित हैं। वहांपर बहुत से भारतीय रहते थे। उनमें रामसुंदर नामक एक मनुष्य भी था। यह बडा वाचाल और बहादुर दिखता था। कुछ कुछ श्लोक भी जानता था। उत्तरी भारत का रहनेवाला अर्थात् थोडे-बहुत दोहा चौपाई तो अवश्य ही उसे याद होने चाहिए। और इसपर भी पंडित कहा जाता था इसलिए वहांके लोगों में उसकी बडी प्रतिष्ठा थी। उसने कई जगह भाषण भी दिये थे और उनमें वह काफी जोश ला सकता था। वहांके कितने ही विघ्नसंतोषी भारतीयों ने एशियाटिक आफिस को यह खबर दी कि अगर रामसुंदर पंडित को गिरफ्तार कर लिया जाय तो जर्मीस्टन के बहुत से भारतीय परवाना ले लेंगे। अधिकारीगण इस लालच को कदापि रोक नहीं सकते थे। रामसुंदर पंडित गिरफ्तार हुए। अपने ढंग का यह पहला ही

मामला था। इसलिए सरकार और कौम में बडी चहलपहल मच गई। जिस रामसुंदर पंडित को केवल जर्मीस्टन के लोग ही जानते थे उसे अब क्षणभर में सारे दक्षिण आफ्रिका के लोग जानने लग गये। एक महान् पुरुष का मामला चलते समय जैसे उधर सबकी नजर दोडती है ठीक उसीतरह रामसुंदर पंडित की ओर सबका ध्यान आकृष्ट हुआ। शांतिरक्षा के लिए किसी प्रकार की तैयारी करने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि सरकार ने अपनी ओर से बंदोबस्त रक्खा। अदालत में भी रामसुंदर का वैसा ही आदर सत्कार किया गया जैसा कि कौम के प्रतिनिधि को और एक असामान्य अपराधी को आवश्यक था। अदालत उत्सुक भारतीयों से खचाखच भर गई थी। रामसुंदर को एक महीने की सादी कैद की सजा हुई। उसे जोहान्सबर्ग की जेल में ही रक्खा गया था। उसको यूरोपियन वार्ड में अलग एक कमरा दिया गया था। उसे मिलने में किसीको जरा भी कठिनाई नहीं होती थी। उसका खाना बाहर से भेजा जाता था और कौम उसके लिए नित्य नये अच्छे अच्छे व्यंजन पका कर भेजती थी। वह जिस बात की इच्छा करता वह फौरन ही पूरी कर दी जाती। कौम ने उसका जेल-दिन बडी धूमधाम से मनाया। कोई हताश नहीं हुआ। उत्साह और भी बढ गया। सैंकडों जेल जाने के लिए तैयार थे। एशियाटिक आफिस की आशा सफल न हुई। जर्मिस्टन के भारतीय भी परवाना लेने के लिए नहीं गये। इस सजा का फायदा कौम को ही हुआ। महीना खतम हुआ। रामसुंदर छूटे, और उन्हें बडी धूमधाम से गाजेबाजे के साथ जुलुस बनाकर सभास्थान पर ले गये। कई उत्साहभरे भाषण हुए। रामसुंदर को फूलों से ढंक दिया। स्वयंसेवकों ने उनके सत्कार में उन्हें दावत दी।

सैंकडों भारतीय अपने मनमें कहने लगे कि "अरे, हम भी गिरफ्तार हो जाते तो कितना आनंद आता" और रामसुंदर पंडित से मीठा द्वेष करने लगे।

पर रामसुंदर फूटी बादाम साबित हुए। उनका जोश झूठी सती का सा था। एक महीने के पहले तो जेल से निकल ही नहीं सकते थे क्योंकि वे अनायास पकडे गये थे। जेल में उन्होंने इतना ऐशआराम किया कि बाहर से भी अधिक। तथापि स्वच्छंदी और व्यसनी आदमी जेल के एकांतवास को और अनेक प्रकार के खानपान के होते हुए भी वहां जो संयम था उसे कदापि बरदाश्त नहीं कर सकता। यही हाल रामसुंदर पंडित का हुआ। कौम और अधिकारीगणों से मनमानी सेवा लेने पर भी उन्हें जेल कडवी मालूम हुई। और उन्होंने ट्रान्सवाल और युद्ध दोनों को आखिरी सलाम करके अपना रास्ता लिया। हरएक कौम में खिलाडी तो रहते ही हैं। वही हाल युद्धों का भी होता है। लोग रामसुंदर को अच्छी तरह जानते थे। तथापि ऐसे भी आदमी कभी कभी काम देते हैं यह समझ कर उन्होंने रामसुंदर का छिप

रामसुंदर का यह इतिहास मैंने उसकी ऐब बताने के हेतु से नहीं बल्कि उसमें जो रहस्य है वह दिखाने के हेतु से लिखा है। हरएक पवित्र आन्दोलन या युद्ध के संचालकों को चाहिए कि वे शुद्ध मनुष्यों को ही उसमें शामिल करें। तथापि आदमी कितना ही सावधान क्यों न हो अशुद्ध मनुष्य को बिलकुल रोक देना असंभव है। तथापि यदि संचालक निडर और सच्चे हों तो अज्ञानतः अशुद्ध आदमियों के घुस आने पर भी युद्ध को आखिर में नुकसान नहीं पहुंच सकता। रामसुन्दर पंडित की पोल खुलते ही उसकी कोई कीमत नहीं रही। वह तो बेचारा अब रामसुन्दर पंडित नहीं कोरा रामसुन्दर ही रह गया। कौम उसे भूल गई पर युद्ध को तो उससे शक्ति ही मिली। युद्ध के लिए मिली हुई जेल जमा की ओर से कम नहीं हुई। उसके जेल जाने से कौम में जो नवीन शक्ति आई वह तो कायम ही रही पर उसके उदाहरण का भी यही असर हुआ कि अन्य कितने ही कमजोर आदमी अपने आप युद्ध से अलग हो गये। और भी कितने ही ऐसे उदाहरण घटित हुए। पर मैं यहांपर उन सबका नाम सहित इतिहास देना नहीं चाहता। क्योंकि उससे कोई फायदा नहीं है। कौम की मजबूती या कमजोरी पाठकों से छिपी नहीं रह सकती। इसलिए यहांपर मैं यह भी कह देना चाहता हूं रामसुन्दर के जैसे केवल वे ही नहीं थे। पर मैंने तो यह देखा कि सभी रामसुन्दरों ने आन्दोलन की सेवा ही की।

पाठक रामसुन्दर को दोष न दें। इस संसार में मनुष्यमात्र अपूर्ण है। जब हम किसी मनुष्य में अधिक अपूर्णता देखते हैं तब हम उसके प्रति उंगली दिखाते हैं। पर सच पूछा जाय तो यह भूल है। रामसुन्दर जानबूझ कर दुर्बल नहीं बना था। मनुष्य अपने स्वभाव की स्थिति

को बदल सकता है उसको अपने वश में भी कुछ हद तक कर सकता है पर उसे आमूल कौन दूर कर सकता है । जगत्कर्ता ने उतनी स्वतंन्त्रता नहीं दे रक्खी है । शेर अगर अपने चमडे की विचित्रता को बदल सकता हो तो मनुष्य भी अपने स्वभाव की विचित्रता को बदल सकता है । हमें यह कैसे मालूम हो सकता है कि भाग निकलने के बाद रामसुन्दर को कितना पश्चाताप हुआ ? अथवा उसका भाग निकलना ही क्या उसके पश्चाताप का मजबूत सबूत नहीं माना जा सकता । अगर वह बेशरम होता तो उसे भागने की क्या पडी थी । परवाना लेकर खूनी कानून के अनुसार वह हमेशा जेलमुक्त रह सकता था । इतना ही नहीं बल्कि वह चाहता तो एशियाटिक आफिस का दलाल बनकर वह दूसरों को चक्कर दे सकता था और सरकार का प्रियपात्र बन सकता था। यह सब न करते हुए अपनी कमजोरी कौम को बताने में वह शरमाया और अपना मुंह छिपा लिया और अपने इस कार्य के द्वारा भी उसने कौम की सेवा ही की। ऐसा उदार अर्थ हम क्यों न करें ।

अध्याय १९

'इंडियन ओपीनियन'

सत्याग्रह युद्ध के भीतरी और बाहरी दोनों साधनों को पाठकों के सामने रखना है। इसलिए 'इंडियन ओपीनियन' नामक जो अखबार दक्षिण आफ्रिका में अबतक निकल रहा है उसका परिचय भी पाठकों को करा देना आवश्यक है। दक्षिण आफ्रिका में पहला छापखाना निकालने का यश मदनजीत व्यावहारिक नामक एक गुजराती गृहस्थ को है। कुछ साल तक उन्होंने बडी कठिनाई से इस छापखाने को चलाया और बाद यह स्थिर किया कि वहांसे कोई सामयिक निकाला जाय। इसपर उन्होंने स्वर्गीय मनसुखलाल नाजर की और मेरी भी सलाह ली सामयिक डर्बन से निकाला गया। श्री मनसुखलाल नाजर उसके अवैतनिक सम्पादक हुए। पर पत्र में पहले ही से घटी आने लगी। आखिर यह तय हुआ कि उसमें काम करनेवालों को भागीदार अथवा बतौर भागीदार बनाकर एक खेत खरीदा जाय और उन लोगों को वहां बसा वहींसे 'इंडियन ओपेनियन' निकला जाय। यह खेत डर्बन से १३ मील की दूरी पर एक सुंदर टेकडी पर है। सबसे नजदीकी स्टेशन 'फिनिक्स' वहां से ३ मील पर है। पत्र का नाम पहले ही से 'इण्डियन ओपीनियन' है। एक समय वह अंगरेजी

समझ गई कि 'इण्डियन ओपीनियन' तो उसका पत्र है और उसे चलाने की जिम्मेदारी भी उसीके सिर पर है। हम सब कार्यकर्ता निश्चिन्त हो गये। कौम अगर पत्र मांगे तो अबतो केवल उसके लिए पूरी पूरी मिहनत करने की चिंता ही हमें करनी थी। हर किसी भारतीय का हाथ पकड कर उसे 'इण्डियन ओपीनियन' लेने के लिए कहने में हमारे लिए अब किसी सोच विचार की जरुरत न रही। इतना ही नहीं, बल्कि अब तो यह करना हम अपना धर्म समझने लग गये। 'इण्डियन ओपीनियन' का आंतरिक बल और स्वरूप भी बदल गया। वह एक महाशक्ति बन गया। उसकी साधारण ग्राहक संख्या १२००-१५०० तक थी। पर वह अब दिन ब दिन बढने लगी। उसका वार्षिक चन्दा बढाना पडा था। तथापि जब लडाई ने उग्र रुप धारण किया उस समय ३५०० तक ग्राहक संख्या बढ गई। उसका पाठक वर्ग २०००० से अधिक न होगा। पर उसमें भी ३००० से अधिक प्रतियों का बिकना आश्चर्यमय प्रचार कहा जा सकता है। कौम ने उस समय इस पत्र को यहां तक अपना लिया था कि यदि जोहान्सबर्ग में वह नियत समय पर न पहुंच पाता तो मुझपर शिकायतों की झडी लग जाती। वह प्रायः रविवार की सुबह को जोहान्सबर्ग पहुंच जाता था। मुझे याद है कि पत्र पहुंचते ही कितने ही लोग अपना काम अलग रखकर पहले उसका गुजराती विभाग पढ जाते। एक मनुष्य पढता और पांच पचीस आदमी उसके आसपास बैठ कर सुनते। हम लोग गरीब ठहरे, इसलिए कितने ही लोग इस पत्र को आपस में चन्दा जोड कर भी मंगाते थे।

विज्ञापनों के लिये बताये गये हैं। जाब वर्क (बाहर का छपाई का काम) बंद करने पर कम्पोजिटरों का जो समय बचा उसे हमने पुस्तकें प्रकाशित करने की ओर लगाया। कौम इस बात को जानती थी कि इसमें भी हमारा हेतु धन-संचय कदापि न था। पुस्तकें बतौर युद्ध की सहायता के ही छापी जाती थीं इसलिए उनकी भी अच्छी बिक्री होती थी। इस प्रकार पत्र और छापखाना दोनों ने युद्ध में अपना काम किया। और जैसे जैसे कौम में सत्याग्रह की जड जमती गई ठीक उसी परिमाण में सत्याग्रह की दृष्टि से पत्र और छापखाने में भी प्रगति होती जा रही थी यह स्पष्टतया मालूम हो सकता था।

अध्याय २०

पकड़ा धकड़ी

यह हम देख चुके कि रामसुन्दर की गिरफ्तारी से सरकार को जरा भी फायदा नहीं हुआ। इधर कौम का उत्साह दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था। अधिकारीगण इसे देखते ही रह गये। एशियाटिक विभाग के अधिकारी तो अवश्य ही 'इण्डियन ओपीनियन' के लेख ध्यानपूर्वक पढ़ते थे। युद्ध के विषय की एक भी बात छिपाई नहीं जाती थी। कौम की शक्ति, दुर्बलता वगैरा सब कुछ शत्रु, मित्र, और तटस्थ जो कोई भी जानना चाहता था अखबार पर से जान सकता था। अधिकारीगण इस बात को पहले ही से समझ चुके थे कि जिस युद्ध का हेतु दुष्ट नहीं है, जहां छल कपट को स्थान नहीं है और जिस युद्ध की विजय केवल सच्ची आंतरिक शक्ति पर निर्भर है उसमें छिपाने लायक

उनके लिए भारतियों के वर्तमान इतिहास के आइने का काम देने लग गया। और उसीपर से उन्होंने यह तय किया कि जबतक वे कुछ खास खास अगुओं को गिरफ्तार नहीं कर लेते तबतक युद्ध का बल तोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए १९०७ के दिसम्बर में कितने ही अगुओं को अदालत में हाजिर होने के नोटिस मिले। यह मुझे कुबूल करना चाहिए कि अधिकारियों ने अपने इस व्यवहार से अपनी सभ्यता का ही परिचय दिया था। अगर वे चाहते तो अगुआओं को वारंट से भी गिरफ्तार कर सकते थे। इसके बजाय केवल नोटिस भेजकर उन्होंने अपनी सभ्यता के साथ साथ इस बातका भी विश्वास प्रकट किया कि अगुआ लोग अपनेको स्वेच्छापूर्वक सौंप देंगे। नियत समय पर नोटिस मिले और वे लोग अदालत में उपस्थित हुए।

इनमें 'क्वीन' नामक एक व्यक्ति जोहान्सबर्ग में रहनेवाले चीनी लोगों के अगुआ भी थे। जोहान्सबर्ग में उनकी संख्या कोई ३००–४०० होगी। वे सभी व्यापार या छोटी मोटी खेती का काम करते थे। भारत कृषिप्रधान देश है। पर मेरा यह विश्वास है कि चीनी लोगों ने खेती को जितना बढ़ाया है उतना हम लोगों ने नहीं। अमेरिका वगैरा देशों में खेती की जो प्रगति हुई है वह आधुनिक है और उसका तो वर्णन ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार पश्चिमी खेती को मैं अभी प्रयोगावस्था में मानता हूं। पर चीन तो हमारे ही जैसा प्राचीन देश है। और वहां प्रचीन काल से ही खेती में तरक्की की गई है। इसलिए चीन और भारत की तुलना करें तो हमें उससे कुछ शिक्षा मिल सकती है। जोहान्सबर्ग के चीनियों की खेती देखकर और उनकी बातें सुनकर तो मुझे यही मालूम हुआ कि चीनियों का ज्ञान और उद्योग भी हम लोगों से बहुत बढ़कर है

जिस जमीन को हम ऊसर समझ कर छोड देते हैं उसीमें वे अपने खेती के सूक्ष्म ज्ञान के कारण कुछ वो कर अच्छी फसल पैदा कर सकते हैं । यह उद्यमशील और चतुर कौम भी उस खूनी कानून की कक्षा में आती थी । इसलिए उसने भी भारतीयों के साथ साथ युद्ध में शामिल होना उचित समझा । तथापि शुरू से आखिर तक दोनों कौमों का हर एक व्यवहार अलग अलग होता था । दोनों अपनी अपनी संस्थाओं के द्वारा झगड रही थीं । इसका शुभ फल यह होता है कि जबतक दोनों जातियां अपने निश्चय पर दृढ रहती हैं तबतक तो दोनों को फायदा होता है । पर आगे चलकर यदि एक फिसल भी जाय तो इससे दूसरी जाति को कोई हानि की संभावना नहीं रहती । वह गिरती तो हरगिज नहीं । आखिर बहुत से चीनी तो फिसल गये, क्योंकि उनके नेता ने उन्हें धोखा दिया । नेता कानून के वश तो नहीं हुए पर एक दिन किसीने आकर मुझसे कहा कि वे विना हिसाब-किताब समझाये सौंपे ही कहीं भाग गए । नेता के चले जाने के बाद अनुयायियों का दृढ रहना तो हमेशा मुश्किल ही पाय गया है । फिर नेता में किसी मलिनता के पाये जाने पर तो निराशा दूनी बढ जाती है । पर जिस समय पकडा धकडी शुरू हुई उस समय तो चीनी लोगों में बडा जोश फैला हुआ था । उनमें से शायद ही किसीने परवाने लिये हों । इसीलिए भारतीय नेताओं के साथ चीनियों के कर्ता हर्ता मि० क्वीन को भी पकडा गया । इसमें शक नहीं कि कुछ

मदरास से वहां आजीविका के लिए गये हुए थे। थंबी नायडू एक सामान्य व्यापारी थे। उन्होंने कोई भी शिक्षा पाठशाला में नहीं पाई। पर उनका अनुभवज्ञान बडे ऊंचे दर्जे का था। अंगरेजी अच्छी तरह बोल और लिख भी सकते थे, हालां कि भाषाशास्त्री की दृष्टि से उसमें वे अवश्य गलतियां करते थे। तामिल भाषा का ज्ञान भी अनुभव से ही प्राप्त किया था। हिन्दुस्तानी अच्छी तरह समझ लेते और बोल भी सकते थे। तेलगू का भी कुछ ज्ञान रखते थे। पर हिन्दी और तेलगू की लिपियों का ज्ञान उन्हें जरा भी न था। मारीशियस की भाषा भी,–जिसका नाम क्रीओल है और जो अपभ्रष्ट फ्रेंच कही जा सकती है उन्हें बहुत अच्छी तरह अवगत थी। इतनी भाषाओं का ज्ञान दक्षिण आफ्रिका में कोई आश्चर्यजनक बात न थी। दक्षिण आफ्रिका में आपको एसे सैंकडो भारतीय मिलेंगे जिन्हें इन सभी भाषाओं का सामान्य ज्ञान है। और इन सबके अतिरिक्त हबसियों की भाषा का ज्ञान तो उन्हे अवश्य ही होता है। इन सभी भाषाओं का ज्ञान वे अनायास प्राप्त करते हैं और कर भी सकते हैं। इसका कारण मैंने यह देखा कि विदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा प्राप्त करते करते उनके दिमाग थके हुए नहीं होते। उनकी स्मरण–शक्ति तीव्र होती है। उन भिन्न भिन्न भाषा–भाषी लोगों के साथ बोल बोल कर और अवलोकन करके ही वे उन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इससे उनके दिमाग को जरा भी कष्ट नहीं होता, बल्कि इस रोचक व्यायाम के कारण उनकी बुद्धि का स्वाभाविक विकास ही होता है। यही हाल थंबी नायडू का हुआ। उनकी बुद्धि भी बडी तीव्र थी। नवीन प्रश्नों को वे बडो फुर्ती के साथ समझ लेते। उनकी हाजर जवाबी आश्चर्यजनक थी। भारत कभी नहीं आये थे

पर फिर भी उनका उसपर अगाध प्रेम था । स्वदेशाभिमान उनकी नस नस में भरा हुआ था । उनकी दृढता चेहरे पर ही चित्रित थी । उनका शरीर बडा मजबूत और कमाया हुआ था । मिहनत से कभी थकते ही न थे। कुरसी पर बैठ कर नेतापन करना हो तो उस पद की भी शोभा बढा दें । पर साथ ही हलकारे का काम भी उतनी ही स्वाभाविक रीति से वे कर सकते थे । सरे आम सिर पर बोझा उठाकर जाने में थंबी नायडू जरा भी न शरमाते थे । मिहनत के समय न रात देखे न दिन । कौम के लिए अपने सर्वस्व की आहूति देने के लिए हरकिसी के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे । अगर थंबी नायडू हद से ज्यादह साहसी न होते और उनमें क्रोध न होता तो आज वह वीर पुरुष ट्रान्सवाल में काछलिया की अनुपस्थिति में आसानी से कौम का नेतृत्व ग्रहण कर सकता था । ट्रान्सवाल के युद्ध के अंत तक उनके क्रोध का कोई विपरीत परिणाम नहीं हुआ था बल्कि तबतक उनके अमूल्य गुण जवाहिरों के मुआफिक चमक रहे थे । पर बाद मैंने देखा कि उनका क्रोध और साहस प्रबल शत्रु साबित हुए, और उनके गुणों को छिपा दिया । पर कुछ भी हो, दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह युद्ध में थंबी नायडू का नाम हमेशा पहले ही वर्ग में रहेगा ।

कानून का सामना कर रहा हूं। इसके लिए मुझे जो सजा मिलेगी उसे सहना मैं अपना सम्मान समझूंगा। २ महिने की सादी कैद की सजा मुझे मिली। जिस अदालत में मैं सैकडो बार वक़ील की हैसियत से खडा रहता था, वकीलों के साथ बैठता था, वहींपर आज मैं आरोपी के पींजरे में खडा हूं यह विचार जरूर कुछ विचित्र मालूम हुआ पर यह तो मुझे अच्छी तरह याद है कि वकीलों के साथ बैठने में मैं अपना जो सम्मान समझता था उसकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्मान आज मैंने उस पींजडे में खडा रहने ही में माना। मुझे याद नहीं आता कि उसमें पैर रखते हुए मेरे दिल में जरा भी क्षोभ हुआ हो। अदालत में तो सैकडों हिन्दुस्तानी भाई वकील मित्र वगैरह के सामने मैं खडा था। सजा के सुनाते ही फौरन् कैदियों को जिस दरवाजे से बाहर ले जाते हैं, उससे ले जाने के पहले जहां उन्हें रक्खा जाता है वहां एक सिपाही मुझे ले गया।

उस समय मैंने देखा कि आसपास सन्नाटा सा छा गया है। कैदियों के बैठने के लिए वहां एक बेंच पडी थी उसपर बैठने के लिए मुझे कह कर पुलिस अधिकारी दरवाजा बन्द करके चला गया। यहां मेरे दिल में जरूर क्षोभ पैदा हुआ। मैं गहरे विचार सागर में गोते लगाने लगा। घरवार कहां है? वकालत कहां? कहां वे सभायें? क्या यह सब स्वप्न था और आज मैं कैदी हो गया हूं? इन दो महिने में क्या होगा? क्या पूरे दो महिने काटना होंगे? यदि लोग बराबर एक के बाद आते रहें तब तो दो महीने यहां रहना ही न पडे! पर यदि न आवें तो ये दो महीने कैसे कटेंगे? यह लिखते हुए मुझे जितना समय लग रहा है उसके शतांश से भी कम समय में ये और ऐसे कितने ही विचार

मेरे दिल में आ गये। पर उनके आते ही मैं शरमाया। 'अरे, यह कैसा मिथ्याभिमान ! मैं तो जेल को महल बता रहा था ! खूनी कानून का सामना करते हुए जो जो कुछ मुसीबतें आवें उन्हें दुःख नहीं, सुख समझना चाहिए, उसका सामना करते हुए जानोमाल को अर्पण कर देना यह तो सत्याग्रह का विलास है, आदि सब ज्ञान कहां चला गया ?' बस, यह विचार आते ही मैं फिर होश में आया और अपनी मूर्खता पर आप ही हंसने लगा। अब, 'दूसरे भाइयों को कैसी कैद दी जायगी, उन्हें मेरे साथ ही रक्खेंगे या अलग' आदि व्यावहारिक विचारों में मैं पडा। इस प्रकार गोते लगा ही रहा था कि दरवाजा खुला। पुलिस अधिकारी ने मुझे उसके पीछे आने के लिए फरमाया। मैं रवाना हुआ कि मुझे आगे करके वह पीछे हो गया और जेल की 'पींजडा गाडी' के पास मुझे ले गया और उसमें बैठने के किए कहा। मेरे बैठते ही जोहान्सबर्ग की जेल के तरफ गाडी बढी।

जेल में आने पर मेरे कपडे निकलवाये। मैं जानता था कि जेल में कैदियों को नग्न किया जाता है। सबने यह निश्चय कर लिया था कि जहांतक जेल की धारायें व्यक्तिगत अपमान करनेवाली अथवा धर्म के खिलाफ न हों तहांतक उनका स्वेच्छापूर्वक पालन किया जाय। हमने यह सत्याग्रही का धर्म समझा था। पहनने के लिए जो कपडे मिले वे बहुत मैले थे।

और मेरे बाद उनका मुकदमा कैसे चला आदि सब हाल उन्होंने कह सुनाया। मेरा मुकदमा खतम होनेपर लोगों ने काले झंडे हाथों में ले ले कर एक जुलूस निकाला। कोई कोई उत्तेजित भी हो गये थे। पुलिस बीच में गिरी। दोचार को मार भी पडी, आदि हाल सुने और हम सबको एक ही जेल और एक ही कमरे में रक्खा इसलिए हम सब बडे प्रसन्न हुए।

छः बजे कि हमारे कमरे का दरवाजा बंद कर दिया गया। वहांके जेल की खोलियों के दरवाजों में लोहे के बार नहीं होते। ठेठ ऊपर दीवाल में एक उजालदान हवा के लिए रक्खा जाता है। इसलिए हमें तो यही मालूम हुआ कि हम तो मानों तिजोरी में बंद हैं। पाठक पढेंगे कि अधिकारियों ने जो आदरातिथ्य रामसुंदर का किया था वह हमारा नहीं किया। पर इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। रामसुंदर पहला सत्याग्रही कैदी था। इसलिए अधिकारियों को इस बात का होश तक न था कि उसके साथ किस प्रकार का बर्ताव किया जाय। हमारी संख्या तो पहले ही से काफी थी। और सरकार दूसरों को भी पकडना चाहती थी; इसलिए हमें हबसी जेलखाने में रक्खा गया। दक्षिण आफ्रिका में दो विभाग ही होते हैं, गोरा और काला (हबसी)। भारतीय कैदी की गिनती भी हबसियों के विभाग में ही की जाती है। मेरे साथियों को भी मेरे ही इतनी और सादी कैद की सजा हुई थी। दिन निकलते ही हमें यह मालूम हुआ कि सादी कैदवालों को अपनी ही पोशाक पहनने का हक रहता है। और अगर वह उसे न पहनना चाहे तो सादी कैदवालों के लिए जो खास पोशाक रहती है वह उन्हें दी जाती है। हम सबने यही निश्चय किया कि घरकी अपनी पोशाक यहां पहनना तो ठीक

नहीं। अतः जेल की ही पोशाक पहननी चाहिए। अधिकारियों को हमने इस बात की सूचना भी कर दी। इसलिए हमें सादी कैदवाले कैदियों की पोशाक दी गई? पर इस प्रकार के सादी कैदवाले कैदी दक्षिण आफ्रिका में सैंकडो की संख्या में होते ही नहीं। इसलिए ज्यों ही सादी कैदवाले अधिक कैदी आने लगे त्यों ही जेल के कपडे खतम हो गये। हमें इस विषय में कोई शिकायत तो करना ही नहीं थी, इसलिए सख्त कैदवाले कैदियों के कपडे पहनने में भी हमने कोई उजर नहीं किया। पिछेसे आये हुए कितने ही भाइयों ने इन कपडों की अपेक्षा अपने ही कपडे पहने रहना पसंद किया। मुझे यह अच्छा नहीं मालूम हुआ। पर इस विषय में आग्रह करना भी अनुचित समझा।

दूसरे या तीसरे ही दिन से सत्याग्रही कैदियों के झुंड आने लगे। वे तो जानबूझ कर गिरफ्तार होते थे। उनमें से अधिकांश तो फेरीवाले थे। दक्षिण आफ्रिका में हरएक फेरी करनेवाले को फिर वह गोरा हो या काला फेरी का परवाना लेना पडता है, जो उसे हमेशा अपने पास रखना होता है और जब पुलिस मांगे तब उसे बता देना पडता है। अक्सर कोई न कोई पुलिस का आदमी तो परवाना मांग ही बैठता था। और अगर नहीं मिला कि किया उस आदमी को गिरफ्तार। हमारी गिरफ्तारी के बाद कौम ने जेल को भर देने का निश्चय कर दिया था। फेरीवाले इस काम में आगे बढे। और उनके लिए गिरफ्तार होना भी आसान था। फेरी का परवाना नहीं बताया कि हुए गिरफ्तार। इसप्रकार गिरफ्तारियां होते होते एक सप्ताह के अंदर कोई १०० सत्याग्रही कैदी हो गये। और भी आ रहे थे। इसलिए हमें तो बिना ही अखबार के मानों अखबार मिल जाया करते थे। ये भाई नित्य

नई खबरें लाते। जब बहुत से सत्याग्रही गिरफतार होने लगे तब या तो न्यायाधीश थक गया या जैसा कि हमने सोचा था सरकार की ओर से न्यायाधीश को सूचना मिली होगी कि आयंदा सत्याग्रहियों को सादी नहीं, सख्त कैद की सजा ही दी जाय। जो हो पर अब सत्याग्रहीयों को सख्त कैद की सजा मिलने लगी। आज भी मुझे यही मालूम होता है कि कौम का अनुमान ही सच्चा था। क्योंकि पहले पहल जिन मामलों में सादी कैद की सजा दी गई थी उसके बाद न तो उस युद्ध में और न जब कभी आगे युद्ध छिडा तब स्त्रियों को अथवा पुरुषों को ट्रान्सवाल या नाताल की एक भी अदालत में सादी कैद की सजा मिली। अगर सबको एक ही प्रकार का हुक्म न हो तो हरएक मैजिस्ट्रेट का हरवक्त प्रत्येक पुरुष और स्त्री को सख्त मजदूरी की ही सजा देना अगर केवल संयोग ही हो तो सचमुच यह एक बडा भारी चमत्कार है।

इस जेल में सादी कैद के कैदियों को सुबह मक्का की कांजी मिलती थी। कांजी में कभी नमक नहीं रहता था पर वह हरएक कैदी को ऊपर से दे दिया जाता था। दुपहर को बारह बजे पावभर भात, उसपर थोडा नमक और आधी छटांक घी तथा पाव भर डबल-रोटी मिलती थी। शाम को मक्का के आटे की राब, और थोडी आलू की तरकारी मिलती। आलू अगर छोटे होते तो दो और बडे होते तो एक मिलता था। इससे किसीका पेट नही भरता था। चावल चीकने पकाये जाते। वहांके डाक्टर से कुछ मसाला मांगा गया और यह भी सूचित किया कि मसाला भारत की जेलों में भी दिया जाता है। डाक्टर ने कडक कर उत्तर दिया "यह हिन्दुस्तान नहीं है। कैदी को न तो स्वाद होता है और न

फिर ड्रिल वगैरा कसरत करने की इजाजत मांगी क्योंकि हम देखते थे कि सख्त कैदवाले हबसी कैदियों को भी ड्रिल दी जाती थी। इसपर यह उत्तर मिला कि यदि आपके वार्डर को समय मिले और वह कसरत कराना मंजूर करे तो मैं उसका विरोध नहीं करूंगा पर मैं उसे बाध्य भी नहीं करूंगा। उसे बहुत काम रहता है। और आपकी अकल्पित संख्या से वह और भी बढ गया है। वार्डर बड़ा भला आदमी था। उसे तो केवल इसी इजाजत की आवश्यकता थी। उसने बड़े उत्साह के साथ हमें रोज सुबह ड्रिल सिखाना शुरू किया। यह सब हमारी खोली के सामनेवाले आंगन में ही हो सकता था अर्थात् हमें गोल चक्कर ही लगाने पड़ते थे। कभी कभी इस वार्डर की शिक्षानुसार एक पठान भाई नवाबखान उसकी अनुपस्थिति में ड्रिल शुरू रखते और अंगरेजी शब्दों के अपने उर्दू उच्चारों से हमें खूब हंसाते। 'स्टैंड ऍट ईझ' को वे 'डंटलीझ' कहते। कुछ रोज तक यही हमारी समझ में नहीं आया कि यह कौन-सा हिन्दुस्तानी शब्द है। बाद अंदाज से समझा कि अरे यह तो नवाबखानी अंगरेजी है।

अध्याय २१

पहला समझौता

इस प्रकार १५ दिन वीते होंगे कि नवीन आनेवाले लोग खवर लाने लगे कि सरकार के साथ सुलह करने की कोई बातचीत चल रही है। दो तीन दिन वाद जोहान्सबर्ग के 'ट्रान्सवाल लीडर' नामक दैनिक के सम्पादक अलवर्ट कार्टराइट मुझे मिलने के लिए आये। उस समय जोहान्सबर्ग में जितने दैनिक थे उन सबकी मालिकी सोने की कानवाले किसी न किसी गोरे के हाथों में थी। अतः उनके खास स्वार्थ को छोड कर सम्पादक लोग अन्य सब प्रश्नो पर अपने स्वतन्त्र विचार जाहिर कर सकते थे। इन पत्रों के सम्पादक हमेशा विद्वान और ख्यातनामा पुरुष ही चुने जाते थे। 'स्टार' नामक एक दैनिक के सम्पादक एक समय लार्ड मिलनर के खास मंत्री थे। वे 'स्टार' को छोड कर 'टाइम्स' के सम्पादक मि. वकल का स्थान लेने के लिए विलायत गये थे। अलवर्ट कार्टराइट वडे चतुर और अतिशय उदार हृदय के सज्जन थे। वे अपने अग्रलेखों तक में अक्सर भारतीयों का ही पक्ष लिया करते। मेरे और उनके वीच गहरा स्नेह–सम्बन्ध हो गया था। और मेरे जेल जाने के वाद वे जनरल स्मट्स को भी

मिले थे। जनरल स्मट्स ने उन्हे सुलहकर्ता कुबूल किया। मि. कार्टराइट फिर कौम के अगुओं से भी मिले। पर उन्होंने यही उत्तर दिया कि हम लोग कानून की बारीकियों को नहीं जानते। गांधी जेल में हैं इसलिए इस विषय में कोई सलाह-मशवरा करना हम अयोग्य समझते हैं। हम सुलह तो चाहते हैं पर यदि हमारे आदमियों को जेल में रख कर ही सरकार सुलह करना चाहती हो तो आपको गांधी से मिलना चाहिए। वह जो कहेगा हम सब मंजूर करेंगे। इसपर से अलबर्ट कार्टराइट मुझे मिलने के लिए आये। साथ ही जनरल स्मट्स का बनाया — या पसंद किया हुआ समझौते का मसविदा भी लाये थे। उसकी भाषा गोलमाल थी। वह मुझे पसंद नहीं आई। तथापि एक जगह कुछ दुरुस्ती करने पर मैं उसपर अपने दस्तखत करने के लिए तैयार हो गया। पर मैंने कहा कि बाहरवालों की इजाजत मिलने पर भी मेरे जेल के साथियों की इजाजत बिना ही प्राप्त किये, मैं कदापि दस्तखत नहीं कर सकता। समझौते का सार इस प्रकार था। "भारतीय स्वेच्छापूर्वक अपने परवाने बदलवा लें। उनपर कानून का कोई अधिकार न होगा। नवीन परवाना भारतीयों की सलाह से सरकार बनावे। और यदि इसे भारतीय स्वेच्छापूर्वक ले लें तब तो खूनी कानून रद कर दिया जायगा, और स्वेच्छापूर्वक लिए गये नवीन परवानों को कानूनन् बनाने के लिए वह एक नया कानून बनावेगी।" खूनी कानून को रद करने की बात इस मसविदे में स्पष्ट नहीं लिखी गई थी। इसे स्पष्ट करने के लिए मैंने अपनी दृष्टि के अनुसार एक दुरुस्ती की सूचना की। पर अलबर्ट कार्टराइट को वह भी पसंद नही आई। उन्होंने कहा कि जनरल स्मट्स का यह आखिरी मसविदा है। स्वयं मैंने भी

इसे पसंद किया है। और यह तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि अगर आप सब परवाने ले लें तब तो यह खुनी कानून रद हुआ ही समझिए। मैंने कहा समझौता हो या न हो लेकिन आपकी इस सहानुभूति और इस समझौते की खटपट के लिए हम आपके सदा के लिए अनुगृहित रहेंगे। मैं एक भी अनावश्यक परिवर्तन करना नहीं चाहता। जिस भाषा से सरकार की प्रतिष्ठा की रक्षा होती हो उसका मैं ख्वामख्वाह विरोध नहीं करूंगा। पर जहां अर्थ के विषय में मैं स्वयं शंकितचित्त हूं वहां तो मुझे अवश्य ही परिवर्तन की सूचना करना चाहिए। और आखिर यदि समझौता करना ही है तो दोनों पक्षों को कुछ परिवर्तन करने का अधिकार तो जरूर ही होना चाहिए। जनरल स्मट्स को यह कह कर, कि यह मेरा आखिरी मसविदा है, हमारे सामने पिस्तौल नहीं दिखाना चाहिए। खूनी कानून रूपी एक पिस्तौल तो पहले ही से हमारे सामने धरा हुआ है। अब इस दूसरे पिस्तौल का असर हमपर क्या अधिक हो सकता है? मि. कार्टराइट इसके उत्तर में कुछ न कह सके। उन्होंने यह कुबूल किया कि मैं आपका बताया यह परिवर्तन जनरल स्मट्स के सामने रख दूंगा। मैंने अपने साथियों से भी मशवरा किया। भाषा तो उन्हें भी पसंद नहीं आई। पर यदि उतने परिवर्तन के साथ जनरल स्मट्स समझौता करते हों तो हम भी उसे मंजूर कर लें यह बात उन्हें पसंद थी। बाहर से जो लोग आये थे वे भी अगुआओं का यह संदेश लाये कि यदि योग्य समझौता हो रहा हो तो कर लेना चाहिए। हमारी सम्मति की राह न देखी जाय। इस मसविदे पर मैंने मि. क्वीन, और थम्बी नायडू के भी दस्तखत लिए और तीनों दस्तखत-वाला मसविदा कार्टराइट को सौंप दिया।

दूसरे या तीसरे दिन जोहान्सबर्ग का पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आया और मुझे जनरल स्मट्स के पास ले गया। उनकी मेरी बहुत सी बातें हुई। उन्होंने मुझे यह भी कहा कि मि. कार्टराइट के साथ मैंने सलाह की थी। मेरे जेल जानेपर भी कौम दृढ रही इसके लिए मुझे उन्होंने मुबारकबादी दी और कहा:—"आप लोगों के विषय में मेरा कोई व्यक्तिगत दुर्भाव नहीं है। आप जानते ही हैं कि मैं एक बैरीस्टर हूं। मेरे साथ कितने ही भारतीय पढे भी हैं। मुझे तो यहां केवल अपना कर्तव्य करना है। गोरे लोग इस कानून को चाहते हैं। आप यह भी कुबूल करेंगे उनमें भी अधिकांश बोअर नहीं, अंगरेज ही हैं। आपने जो दुरूस्ती की उसे मैं मंजूर करता हूं। जनरल बोथा के साथ भी मैं बातचीत कर चूका हूं और मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि यदि आपमें से अधिकांश लोग परवाने ले लेंगे तो मैं एशियाटिक एक्ट को रद कर दूंगा। स्वेच्छापूर्वक लिये जानेवाले परवाने को मंजूर करने के कानून का मसविदा तैयार करने पर उसकी एक नकल आपके पास टीका के लिये भेजूंगा। मैं नहीं चाहता कि यह आन्दोलन फिर से जागे। आपके भावों का मैं सन्मान करता हूं।" इसप्रकार बातचीत होने पर जनरल स्मट्स उठे। मैंने कहा, "अब मुझे कहां जाना चाहिए। और मेरे साथवाले अन्य कैदियों का क्या होगा?" उहोंने हंस कर कहा आप तो इसी क्षण से स्वतंत्र हैं। साथियों को कल सुबह छोडने के लिए टेलीफोन करता हूं। पर आपसे मेरी एक सलाह है कि आप लोग अधिक जुलूस तमाशे न करें। अगर करेंगे तो सरकार की स्थिति जरा विचित्र हो जायगी। मैंने कहा:- "आप विश्वास रखिए। जुलूस के लिए तो एक भी जुलूस न होने दूंगा पर समझौता किस प्रकार हुआ, वह

एक प्रचलित शब्द हो रहा है। वह शब्द है "लीन्च लॉ"। "लीन्च लॉ" अर्थात् वह दण्डनीति जिसकी रू से पहले दण्ड-सजा हो जाती है और फिर तहकीकात होती रहती है। लीन्च नामक पुरुष ने पहले इस प्रथा को शुरू किया था। इसीलिए इसका नाम "लीन्च लॉ" पडा।

इस विवेचन पर से पाठक भली भांति समझ गये होंगे कि उपर्युक्त तात्त्विक कही जानेवाली दलील में कोई सार नहीं। पर पाठक इसपर से यह न समझ बैठें कि तमाम इस दलील के पेश करनेवालों ने दूसरा खयाल रखते हुए भी यह दलील पेश की है। उनमें से वहुत से इस बात को प्रामाणिकतया मानते हैं कि उनकी दलील सारयुक्त और तात्त्विक है। संभव है कि यदि हम भी ऐसी परिस्थिति में हों तो शायद ऐसी ही दलीलें पेश करें। शायद इन्हीं कारणों से "वुद्धिः कर्मानुसारिणी" वाली कहावत निकली होगी। यह अनुभव किसे नहीं कि जैसी हमारी अंतर्वृत्ति बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझती रहती हैं। और अगर वे दूसरे की समझ में न आवें, उसे उनसे संतोष न हो तो हमें भी असंतोष, अधीरता और आखिर क्रोध हो आता है।

मैंने जानबूझ कर इतना वारीक विचार किया है। मैं चाहता हूं कि पाठक भिन्न भिन्न दृष्टियों को समझ लें और आजतक जो ऐसा न करते आये हों वे उन्हें आदर की दृष्टि से देखने और समझने की आदतें डालें। सत्याग्रह का रहस्य जानने के लिए और विशेषतः उसको आजमाने के लिए ऐसी उदारता और सहन-शक्ति की वहुत आवश्यकता होती है। इसके सिवा सत्याग्रह असंभव है। इस पुस्तक को लिखने का हेतु महज पुस्तक लिखना नहीं है। मेरा हेतु यह भी नहीं कि जनता के सामने दक्षिण आफ्रिका के

अध्याय २२

समझौते का विरोध—मुझपर हमला

रात के नौ बजे मैं जोहान्सबर्ग पहुंचा। मैं सीधा अध्यक्ष ईसपमियां के यहां चला गया। वे जान गये थे कि मुझे प्रिटोरिया ले गये हैं। इसलिए शायद मेरा इंतजार भी कर रहे होंगे तथापि मुझे अकेला आया हुआ देख सभी को आश्चर्य और आनंद हुआ। मैंने सूचना की कि जितने आदमी इकट्ठे हो सके उतने सबको इकट्ठा करके इसी समय सभा होनी चाहिए। ईसपमियां वगैरा मित्रों को भी यह सूचना रुची। बहुत से भारतीय एक ही मुहल्ले में रहते थे इसलिए उनको खबर करना कोई कठिन काम नहीं था। अध्यक्ष का मकान मसजिद के नजदीक ही था। और सभायें मसजिद के आंगन में ही होती थीं। इसलिए कोई भारी व्यवस्था भी करना नहीं थी। मंच के ऊपर सिर्फ एक बत्ती की कसर थी। रातके ११-१२ बजे सभा भरी। समय बहुत कम मिला था। पर फिर भी लगभग १००० आदमी इकट्ठे हो गये थे।

सभा भरने के पहले जितने अगुआ लोग वहां हाजर थे उनको मैं समझौते की शर्तें समझा चुका था। कोई कोई उसका विरोध भी करते थे। पर इस मंडल के सभी सज्जन मेरी दलीलें सुन लेने पर समझौते का यथार्थ स्वरूप समझ गये थे। पर एक शक तो सबके दिल में एकसा था। "अगर जनरल स्मट्स विश्वासघात करे तो? भले ही खूनी कानून पर अमल न किया जाय। पर उसका भूत तो हमपर हमेशा सवार रहेगा न? यदि हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेकर अपने हाथ काट डालें तब तो उसके प्रतिकार के लिए हमारे पास जो एक मात्र महान् शस्त्र है उसे भी अपने हाथों से गंवा देंगे। यह जान बूझ कर दुश्मन की जाल में अपने को फांस लेना है। सच्चा समझौता तो तभी कहा जा सकता है जब पहले खूनी कानून रद हो, और उसके बाद हम लोग स्वेच्छा-पूर्वक परवाने निकालें। इस दलील से मैं बडा खुश हुआ। दलील करनेवालों की तीक्ष्ण बुद्धि और उनकी हिम्मत देखकर मुझे बडा अभिमान हुआ। और मैंने दिल में कहा कि सत्याग्रही ऐसे ही होने चाहिए। इसके उत्तर में मैंने कहाः— "आपकी दलील बढिया है। विचारणीय है। खूनी कानून रद होने पर ही हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लेंगे। इससे बढिया और क्या हो सकता है? पर मैं इसे समझौते का लक्षण नहीं कहता। समझौते का तो अर्थ ही यह है कि जहां सिद्धान्त को बाधा न पहुंचती हो तहां दोनों पक्ष दे ले कर झगडा निपटा ले। हमारा सिद्धान्त यह है कि खूनी कानून के डर से तो हम वह कार्य भी न करें जिसे साधारण हालत में करने के लिए हमें कोई उज्र न हो। बस इस सिद्धान्त का अवलंबन हमें करना है। सरकार का सिद्धान्त यह है कि झूटे बहाने से भारतीय ट्रान्सवाल में प्रवेश न पा

सकें इसलिए ट्रान्सवाल के अधिकांश भारतीय निशानियां दर्ज किये हुए तथा अदल बदल न हो सके ऐसे परवाने ले लें। गोरों के संदेह को दूर करके उन्हें निर्भय करें। सरकार इस सिद्धान्त को नहीं छोड सकती। और हमने अपने आज तक के व्यवहार में इसे मंजूर भी किया है। इसलिए यदि उसका हम विरोध भी करना चाहें तो भी जबतक इसके लिए नवीन कारण पैदा नहीं होते तबतक हम उसके प्रतिकूल नहीं जा सकते। हमारा यह युद्ध उस सिद्धान्त को तोडने के लिए नहीं बल्कि कानून का वह कलंक दूर करने के लिए है। इसलिए हमारी कौम में आज जो नवीन शक्ति प्रगट हो गई है उसका उपयोग करने के लिए एक बिल्कुल नई बात को आगे कर दें तब तो सत्याग्रही के सत्य को कलंक लगेगा। इसलिए यदि सच पूछा जाय तो इस समझौते का अस्वीकार करना अयोग्य होगा। अब इस बात पर विचार करें कि खूनी कानून रद होने के पहले ही से हम अपने हाथ क्यों काट डालें? क्यों अपने शस्त्र छोड बैठें? इसका उत्तर तो बहुत सरल है। सत्याग्रही डर को तो सौ कोस पर रखता है। इसलिए वह किसी भी बात का विश्वास करने में कभी न डरेगा। बीस बार भी उसके साथ विश्वासघात होने पर भी इक्कीसवीं बार वह विश्वास करने को तैयार हो जायगा। क्योंकि सत्याग्रही अपनी नैया विश्वास के ही सहारे पर चलाता है। इसलिए इस समय यह कहना कि समझौते का स्वीकार करना अपने हाथ काटना है सत्याग्रह का अज्ञान प्रकट करना है। फर्ज कीजिए कि हम नये परवाने ले लें, और बाद सरकार विश्वास-घात करे—खूनी कनून को रद न करे तो क्या उस समय हम फिर सत्याग्रह न कर सकेंगे? अगर हम परवाने ले भी लें पर जब वे मांगे जावें

त: बताने से इनकार कर दें तो उन परवानों का महत्त्व ही क्या रहा ? और अगर ऐसा करते हुए हजारों भारतीय ट्रान्सवाल में गुप्तरूप से घुस आवें तो उनकी और हमारी सरकार के पास क्या पहचान रही ! इसलिए कानून के होते हुए भी या उसके अभाव में भी सरकार बिना हमारी सहायता के हम पर अधिकार नहीं चला सकती। कानून का मतलब तो सिर्फ यही है कि सरकार हमपर जो नियन्त्रण रखना चाहती हो उसे अगर हम न मानें तो सजा के पात्र माने जावें। और साधारणतया होता भी यह है कि मनुष्य प्राणी अक्सर सजा के भय से किसी भी नियन्त्रण को कुबूल कर लेता है। पर सत्याग्रही इस सामान्य नियम का उल्लंघन करता है। अगर वह किसी कानून को मानता है तो वह उसके दण्ड के भय के कारण नहीं बल्कि स्वेच्छा-पूर्वक और यह समझकर कि उससे जनता का कल्याण होगा। और यही स्थिति आजकल हमारे इन परवानों की है। सरकार धोखा देकर भी इस परिस्थिति को बदल नहीं सकती। इस स्थिति के उत्पन्नकर्ता हम हैं और उसे हमी बदल सकते हैं। जबतक सत्याग्रह का हथियार हमारे हाथों में है तबतक हम स्वतंत्र हैं, निर्भय हैं। और मुझे यदि कोई कहे कि आज कौम में जो उत्साह है वह फिर से नहीं आ सकता तो मैं उन्हें कहूंगा कि आप सत्याग्रही नहीं है, आपने सत्याग्रह को समझा ही नहीं। उनके कहने का मतलब तो यह होगा कि आज जो शक्ति दृष्टिगोचर हो रही है, वह सच्ची नहीं, शराब के नशे जैसी झूठी और क्षणिक है। और यदि यह बात सच हो तो हम जीत नहीं सकते। इतने पर भी अगर जीत हुई तो जीती हुई बाजी को गंवा देंगे। मान लीजिए कि यदि सरकार खूनी कानून को रद कर दे, और बाद हम स्वेच्छापूर्वक परवाने लें, और यदि सरकार

फिर खूनी कानून पास कर दे और फिर इन्हीं परवानों को लेने के लिए हमें मजबूर करे तब सरकार को कौन रोकेगा ? यदि आज हमें अपने बल के विषय में शंका हो तो क्या उस समय भी ऐसी ही दुर्दशा न होगी ? इसलिए इस समझौते को चाहे जिस दृष्टि से देखिए उसको मंजूर करने में हमारी किसी प्रकार की हानि नहीं। उल्टे कौम तो मजबूत होगी। मेरा तो यह भी विश्वास है कि हमारी न्यायबुद्धि, तथा नम्रता देखने पर हमारे विरोधी भी अपने विरोध को मंद कर देंगे।" इस प्रकार इस छोटी-सी बैठक में जिन एक दो आदमियों ने समझौते का कुछ विरोध किया था उनको मैंने सन्तुष्ट कर दिया। पर मध्यरात्रि की बडी सभा में जो गडबड-सडबड होनेवाली थी उसका तो मुझे पता तक न था। मैंने सभा को पूरा समझौता पढ सुनाया और समझा दिया। फिर कहा "इस समझौते से कौम की जिम्मेवारी बहुत अधिक बढ जाती है। यह बताने के लिए कि हम छल-कपट से एक भी बाहरी भारतीय को ट्रान्सवाल में लेना नहीं चाहते, हमें स्वेच्छा-पूर्वक परवाने लेना होंगे। जो लोग परवाने न लें उन्हें अभी तो कोई सजा नहीं दी जायगी पर उसका यह भी अर्थ जरूर होगा कि कौम समझौते को मंजूर नहीं करती। इसलिए अब यह आवश्यक है कि आप अपने हाथ ऊंचे करके यह कह दीजिए कि आप समझौते का स्वीकार करते हैं। यही मैं चाहता भी हूं। साथ ही आपकी इस स्वीकृति का यह अर्थ होगा—कम से कम मैं तो उसका यही अर्थ करूंगा कि आप हाथ ऊंचे करनेवाले, नये परवाने लेने की व्यवस्था होते ही फौरन् उन्हें ले लेंगे और आज तक आप जो यह समझाने के लिए स्वयंसेवक बन रहे थे कि परवाने न लिये जांय अब उसके स्थान पर आप

परवाना लेने के लिए स्वयंसेवक बनकर समझावें। जिस काम को हमें इस समय करना जरूरी है उसे अगर हम कर डालेंगे तो भी इस जीत का सच्चा सच्चा फल हमें मिलेगा।

मैंने भाषण समाप्त किया कि एक पठान भाई खडे हुए और उन्होंने सवालों की झडीसी मुझपर बांध दी।

"इस समझौते के अनुसार हमें अपनी दसों उंगलियों की छाप देना पडेगी न ?"

"हां, और नहीं भी। मेरी तो यही सलाह है कि सभी दसों उंगलियों की छाप दे दें। पर जिन्हें यह करने में धार्मिक आपत्ति हो अथवा अवमानना मालूम होती हो वे अगर न भी दें तो कोई हानि नहीं।"

"आप खुद क्या करेंगे ?"

"मैं तो पहले ही से अपनी दसों उंगलियों की छाप देने का निश्चय कर चुका हूं। यह तो मुझसे कदापि नहीं हो सकता कि मैं न करूं और आपही को वह काम करने की सलाह दूं।"

"आप तो इन छापों के विषय में बहुत लिखते थे। यह सिखानेवाले भी तो आपही हैं कि ऐसी छापें तो केवल मुजरिमों से ही ली जाती है। आप यह भी सिखाया करते थे कि यह युद्ध दस उंगलियों का है। वे सब बातें आज कहां गईं ?"

"दस उंगलियों के विषय में मैंने पहले जो कुछ भी लिखा है उसपर मैं आज भी दृढ हूं। यह बात तो मैं आज भी कहूंगा कि भारत में केवल जुर्म करनेवाली जातियों से ही दस उंगलियों की छाप ली जाती है। मैंने तो यह भी कहा है और आज भी कहता हूं कि खूनी कानून के डर से उंगलियों की छाप तो क्या दस्तखत देना भी पाप है। दस उंगलियोंवाली बात पर मैंने बहुत जोर दिया

है और मैं मानता हूं कि मैंने उसमें कोई बुराई नहीं की, भलाई ही की है। मैंने अनुभव से देखा है कि कौम को खूनी कानून की बारीकियां समझाने के बदले दस उंगलियों के जैसी मोटी और नयी बात पर जोर देना अधिक आसान है। अगर उन बारीकियों को देखा करते तो वे आजतक भी पूरी न होती। मेरे उस उपाय से कौम भी फौरन् समझ गई। पर आज की स्थिति भिन्न है। मैं जोर देकर कहना चाहता हूं कि जो बात कल अपराध थी वही आज नवीन परिस्थिति में भलमनसाहत और खानदानी का निशान हो गई है। अगर आप मुझे बलपूर्वक सलाम करने के लिए मजबूर करें और मैं उसे मान लूं तो आपकी तथा स्वयं मेरी दृष्टि में मैं गिर जाऊं। पर यदि इसके विपरीत मैं आपको अपना भाई अथवा इन्सान समझकर खुशी से सलाम करूं तो इससे मेरी नम्रता और खानदानी जाहिर होगी और खुदा के दरबार में भी यह बात मेरी ओर लिखी जायगी। यही दलील मैं दस उंगलियोंवाली बात के लिए भी पेश करता हूं।"

"हमने सुना है कि आपने कौम को धोखा दिया है और १५,००० पौंड लेकर उसे जनरल स्मट्स के हाथ बेंच दी है। हम कभी अपनी उंगलियों की छाप नहीं देंगे और न किसीको देने देंगे। मैं खुदा की कसम खा कर कहता हूं कि जो आदमी एशियाटिक आफिस में जाने को आगे बढेगा उसे मैं जान से मार डालूंगा।"

"पठान भाइयों के भावों को मैं समझ सकता हूं। मुझे विश्वास है कि इस बात को तो कोई नहीं मान सकता कि मैं रिश्वत लेकर कौम को बेंच दूंगा। जिन्होंने इस बात की कसम खा ली हो कि हम दसों उंगलियों की छाप नहीं देंगे वे भले ही न दें उन्हें कोई मजबूर नहीं कर सकता। यह बात तो मैं पहले

ही समझा चुका हूं । और जो कोई—फिर वे पठान हों या अन्य-अपनी उंगलियों की छाप विना दिये परवाने लेना चाहते हों उनकी पूरी सहायता स्वयं मैं करूंगा । और मैं विश्वास दिलाता हूं कि विना ही निशानियों के वे स्वेच्छापूर्वक परवाने ले सकते हैं । पर मुझे कुबूल करना होगा कि जान लेने की धमकी मुझे नहीं रुचती । मेरा यह भी ख्याल है कि किसीकी जान लेने की कसम खुदा का नाम लेकर न ीं ली जा सकती । इसलिए मैं तो यही समझूंगा कि इस भाई ने गुस्से के आवेश में ही मेरी जान लेने की कसम खाई है । वे इस कसम पर अमल करें या न करें । पर यह समझौता करनेवालों में एक मुख्य मनुष्य तथा कौम के सेवक की हैसियत से मेरा कर्तव्य तो स्पष्ट है । मुझे अपनी उंगलियों की छाप देने के लिए सबसे आगे जाना चाहिए । परमेश्वर से भी मैं यही मांगूंगा कि वह मुझे सबसे पहले यह काम करने का मौका दे । मरना तो सबको है । फिर रोग या अन्य किसी कारण से मरने की अपेक्षा मैं अपने किसी भाई के हाथ मरूं तो इससे मुझे जरा भी दुःख नहीं हो सकता । और अगर मृत्यु के समय भी मैं किसीपर क्रोध न करूं अथवा मुझे मारने-वाले का द्वेष न करूं तो मेरा भविष्य तो अवश्य सुधर जाय- साथ ही मारनेवाले को भी पीछे से विश्वास हो जायगा कि मैं निर्दोष था ।"

था। उन्हें यह जरा भी विश्वास न था कि कौम का इतना बडा हिस्सा अपने शब्द पर कायम रहेगा और यहांतक शक्तिशाली होगा कि सरकार को समझौता करने का मौका आवे। पर जब १५० से भी अधिक सत्याग्रही कैदी हो गये और समझौते की बातचीत होने लगी तब कानून को माननेवालों को और भी बुरा मालूम होने लगा। और उनमें कोई ऐसे भी निकले जो यह कदापि बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि समझौता हो जाय, और अगर हो रहा हो तो इच्छा करें कि वह असफल हो। ट्रान्सवाल में बहुत कम पठान रहते थे। मेरा ख्याल है कि सब मिल कर ५० से अधिक न होंगे। उनमें से अधिकांश लडाई के समय सिपाही बनकर आये थे और जिस प्रकार युद्ध के लिए आये हुए गोरे वहीं बस गये ठीक उसी प्रकार पठान और अन्य कितने ही भारतीय भी वहीं रह गये। इनमें से कितने ही मेरे मवक्किल थे। यों तो और भी अन्य प्रकार से मैं उन लोगों को अच्छी तरह जानता था। वे स्वभाव के बडे भोले होते हैं। बहादुर तो अवश्य ही हैं। मारना मरना उनके लिए एक साधारण बात है। जब वे किसीसे खुब रुष्ट हो जाते हैं तब वे उसे पीटते—अथवा उन्हींकी भाषा में कहना चाहें तो उसकी पीठ खूब गरम कर देते हैं, और कभी कभी तो मार भी डालते हैं। यह सब वे सरलतापूर्वक कर डालते हैं। सगे भाई के साथ भी वे इसी प्रकार बर्ताव रखते हैं। वहां यद्यपि पठान इतनी अल्पसंख्या में रहते हैं तथापि जब कभी उनमें तकरार होती है तब वे अक्सर मारपीट कर बैठते हैं। कई बार ऐसे झगडों में पडकर उन्हें मुझे निपटाना पडा है। तिसपर भी जहांकहीं वे विश्वासघात की बात सुन लेते हैं कि उनके लिए अपना गुस्सा रोकना असम्भव हो जाता है।

न्याय प्राप्त करने के लिए सबसे बढ़िया उपाय उनके पास मारपीट ही है। पठान लोग इस युद्ध में अच्छी तरह भाग लेते थे। उनमें से एक भी आदमी ने उस कानून के आगे सिर नहीं झुकाया था। उनको बहकाना एक आसान बात थी। दस उंगलियोंवाली बात के विषय में उनमें गलतफहमी का होना एक ख्याल में आने योग्य बात है। उन्हें उस विषय में उत्तेजित करना जरा भी कठिन नहीं था। पठानों को संदेह में डालने के लिए इतना कह देना काफी था कि अगर मैंने रिश्वत नहीं ली होती तो दसों उंगलियों की छाप देने का कहने की मुझे क्या पडी थी? इसके अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष भी ट्रान्सवाल में था। इसमें दो प्रकार के लोग थे एक तो वे जो ट्रान्सवाल में बिना परवाना लिये गुप्त रूपसे आये हुए थे। और दूसरे उनको इस काम में सहायता करनेवाले या स्वयं अपनी ओर से लानेवाले। इस पक्ष का स्वार्थ इसी बात में था कि समझौता न हो। जबतक युद्ध चलता हो तबतक किसीको परवाने दिखाने से कोई मतलब नहीं था। इसलिए यह पक्ष तबतक अपना व्यवहार निर्भयरूप से चला सकता था। और युद्ध चले तबतक तो यह पक्ष अपने को जेल से भी बचा सकता था। अर्थात इनके लिए जितनी लडाई अधिक चलती उतना ही भला था। इसलिए ये लोग भी पठानों को समझौते के खिलाफ उत्तेजित कर सकते थे। अब पाठक समझ सकते हैं कि पठान लोग अकस्मात् इस प्रकार क्यों उत्तेजित हो गये।

पर इस मध्यरात्रि के उद्गारों का असर सभा पर बिल्कुल नहीं हुआ। मैंने सभा को मत देने के लिए कहा। सभापति और अन्य अगुआ लोग तो दृढ थे। इस संवाद के बाद सभापति ने एक भाषण किया जिसमें उन्होंने समझौते को स्पष्टतया फिर समझाया

और उसका स्वीकार करने के लिए जनता से कहा। फिर सभा का मत लिया। दो-चार पठानों को छोड कर (जो उस समय उपस्थित थे) सबने समझौते को मंजूर कर लिया। मैं सुबह २-३ बजे घर पहुंचा। नींद तो कैसे ले सकता था? क्योंकि मुझे सुबह जल्दी उठकर दूसरे साथिओं को छुडाने के लिए जाना था। सात बजे मैं जेल पर पहुंच गया। सुपरिन्टेन्डन्ट को टेलीफोन से हुक्म मिल गया था। और वह मेरी राह ही देख रहे थे। एक घण्टे भर के अन्दर तमाम सत्याग्रही कैदियों को छोड दिया। सभापति वगैरा कई भारतीय सबको लेने के लिए आये थे। जेल से हमारा जुलूस पैदल सभास्थान पर गया। फिर वहां सभा हुई। वह दिन और उसके बाद दो-चार दिन और यों ही मिहमानियों और लोगों को समझाने में लग गये। जैसे जैसे समय बढता गया वैसे वैसे एक ओर तो समझौते का रहस्य-महत्त्व अधिकाधिक लोग समझने लगे और दूसरी ओर गलतफहमी भी बढती गई। उत्तेजना के कारणों को तो हम देख ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त जनरल स्मट्स के लिखे पत्र में भी गलतफहमी के लिए काफी मसाला था। उसके फलस्वरूप जो दलीलें की जातीं उनको समझाने में मुझे जो कष्ट हुआ उसके मुकाबले में वह कष्ट कुछ भी न था जो मुझे युद्ध चल रहा था तब सहन करना पडा था। युद्ध के समय जिसे हमने अपना दुश्मन मान लिया था उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय वही एक कठिनाई होती है। पर उस समय की कठिनाइयों को तो हम आसानी से पार कर जाते हैं। क्योंकि उस समय आपस के झगडे, अविश्वास वगैरा बिल्कुल नहीं अथवा बहुत कम परिमाण में होते हैं। पर युद्ध के बाद भीतरी भेदभाव आदि बाह्य आपत्ति के अदृश्य होते ही फिर प्रबल हो जाते

चौक में था। वहां आते हुए हमें एक आम रास्ते पर होकर जाना पडता था। आफिस पांच एक कदम के रास्ते पर रहा होगा कि मीर आलम मेरी बगाल में आ पहुंचा और उसने पूछा: 'कहां जाते हो?' मैंने उत्तर दिया "दस उंगलियों की छाप देकर रजिस्टर निकलवाना चाहता हूं, अगर तुम भी चलोगे तो तुम्हें उंगलियों की छाप नहीं देना होगी। तुम्हारा रजिस्टर पहले निकलवा कर फिर बाद मैं अपनी उंगलियों की छाप देकर मेरा रजिस्टर निकलवाऊंगा।" इतना मैं कही रहा था कि इतने में पीछे से मेरी खोपडी पर एक लाठी गिरी। मैं तो बेहोश होकर मुंह के बल गिर पडा। इसके बाद क्या हुआ यह मैं नहीं जानता पर मीर आलम और इसके साथियों ने और भी लाठियां और लातें भी मारीं थीं। उनमें कितनी ही ईसपमियां और थम्बी नायडु ने अपने ऊपर झेल लीं। इसलिए ईसपमियां और थम्बी नायडु दोनों को थोडी थोडी चोट आई। इतने में तो चारों ओर शोर मच गया। राहगीर गोरे इकट्ठा हो गये। मीर आलम और उसके साथी भागे पर गोरों ने उन्हें पकड लिया। तबतक पुलिस भी आ पहुंची। वे पुलिस के सिपुर्द कर दिये गये। बगल में ही एक गोरे का आफिस था, वहां मुझे उठाकर ले गये। थोडी देर में जब मुझे होश आया तब मैंने अपने चेहरे पर झुके हुए रेवरंड डोक को देखा। उन्होंने पूछा "अब कैसे हो?" मैंने हंसकर कहा "मैं तो ठीक हूं पर मेरे दांत और पसलियों में दर्द है। मीर आलम कहां है?" उत्तर मिला वह और उसके साथी भी गिरफ्तार हो गये। मैंने कहा "वे तो छूटने चाहिए।" डोक ने उत्तर दिया "यह सब होता रहेगा। यहां तो आप एक अपरिचित गृहस्थ के आफिस में पडे हुए हैं, आपका होंठ फट गया है, पुलिस आपको अस्पताल

ले जाना चाहती है। पर अगर आप मेरे यहां चलें तो मिसीस डोक और मैं अपनी शक्तिभर आपकी शुश्रूषा करेंगे। मैंने कहा "मुझे तो आप ही के यहां ले चलो। पुलिस के कहने के लिए मेरी ओर से उसका अहसान मान लीजिएगा। उन लोगों को कहिएगा कि मैं आपके यहां जाना चाहता हूं।" इतने में एशियाटिक आफिस के अधिकारी भी आ पहुंचे। एक गाडी में डालकर मुझे इस पादरी सज्जन के मकान पर ले गये। डॉक्टर को भी बुलाया गया। पर इसके बीच ही मैंने एशियाटिक अधिकारी मि० चमनी से कहा:—"मैं तो यह उम्मीद करता था कि आपके दफ्तर में जाकर दसों उंगलियों की छाप देकर सबसे पहले मैं परवाना लूं। पर ईश्वर को यह मंजूर न था। पर अब कृपया यहींपर अपने कागज मंगाकर मुझे रजिस्टर कर लीजिए। मैं आशा करता हूं कि आप मेरे पहले किसीको रजिस्टर न करेंगे।" उन्होंने कहा "ऐसी कौन जल्दी पडी है? अभी डाक्टर साहब आते हैं। आपको जरा तसल्ली हो जाने दीजिए फिर सब होता रहेगा। दूसरों को परवाने अगर दूंगा तो भी आपका नाम सब से पहले रक्खूंगा।" मैंने कहा "यह नहीं हो सकता। मेरी तो यह प्रतिज्ञा है कि अगर जीता बच रहा और परमात्मा की इच्छा हुई तो मैं ही सबसे पहले परवाना लूंगा। इसीलिए तो मैं इतना आग्रह कर रहा हूं। आप कागज ले आइए।" अब वे गये। मेरा दूसरा काम यह था कि अटर्नी जनरल अर्थात् सरकारी वकील को यह तार कर देना कि "मीर आलम और उसके साथियों ने मुझपर जो हमला किया है उसके लिए मैं उन्हें दोषी नहीं समझता। चाहे जो हो मैं यह चाहता हूं कि उनपर फौजदारी केस न कायम किया जाय। मैं आशा रखता हूं कि आप उन्हें मेरे लिए मुक्त कर देंगे।" इस

तार के कारण मीर आलम और उसके साथियों को छोड दिया गया।

पर जोहान्बर्ग के गोरों ने अटर्नी जनरल को नीचे लिखे अनुसार एक सख्त पत्र लिखा :—

"मुलजिमों को सजा देने न देने के विषय में गांधी के चाहे जो विचार हों, वे यहांपर नहीं चल सकते। खुद उसीको मारा है इसलिए वह भले ही उनका कुछ न करे। पर मुलजिमों ने उसे उसके घर के कोने में ले जा कर नहीं मारा है। जुर्म सरे आम आमरास्ते पर हुआ है। यह एक सार्वजनिक अपराध है। कितने ही अंगरेज इस बात का सबूत दे सकते हैं। मुलजिमों को फिर गिरफ्तार करना जरूरी है।"

इस हलचल के कारण सरकारी वकील ने मीर आलम और उसके साथियों को फिर गिरफ्तार करवाया, और उन्हें छः छः महीने की सजा हुई। हां मुझे गवाह बनाकर नहीं बुलाया गया।

आइए, अब घायल के कमरे में चलें। मि. चमनी कागज वगैरह लेने को गए इतने में डाक्टर आ पहुंचे। उन्होंने मेरे शरीर को जांचा। मेरा होंठ फट गया था उसे जोडा। पसलियों की जांच कर मालिस करने की दवा दी। और होंठ के टांके टूटने न पावें इस तरह केवल धीरे धीरे बोलने की इजाजत दी। खाने के लिए सिवा प्रवाही पदार्थ के सब मना कर दिया। वे इस नतीजे पर पहुंचे कि मुझे कहीं भी अधिक चोट नहीं पहुंची थी। आठ दिन के अन्दर मैं बिस्तर छोड कर साधारण हालत में रह सकूंगा। सिर्फ एक दो महीने कोई शारीरिक परिश्रम नहीं करना चाहिए आदि कह कर वे चले गये। अब मेरा बोलना बंद था। केवल हाथ हिला सकता था। इसलिए एक छोटा सा गुजराती कागज

कौम को लिखकर अध्यक्ष के द्वारा प्रकाशित करने के लिए भेज दिया। वह इस प्रकार है:—

"मेरी प्रकृति अच्छी है। मि० और मिसीस डोक मेरे लिए जान दे रहे हैं। मैं कुछ ही दिनों में अपना काम संभालने लायक हो जाऊंगा। हमला करनेवालों पर मुझे कोई रोष नहीं है। उन्होंने यह अज्ञान के कारण किया है। उनपर कोई मामला न चलाया जाय। अगर अन्य लोग सब शांत रहेंगे तो यह घटना भी हमारे लिए लाभदायक सिद्ध होगी।

हिन्दू लोग अपने दिल में जरा भी गुस्सा न लावें। मैं चाहता हूं कि घटना से हिन्दू मुसलमानों के बीच वैमनस्य नहीं, प्रेम बढे। परमात्मा से मेरी यही प्रार्थना है।

मुझे मार खानी पडी। और भी खाना पडे तो भी मैं तो यही सलाह दूंगा कि सब मिलकर यही प्रयत्न कीजिए कि हम में से अधिकांश मनुष्य अपनी दसों उंगलियों की छाप दें। कौम का और गरीबों का इसीमें भला है, रक्षण है।

अगर हम सच्चे सत्याग्रही होंगे तो मार की या भविष्य में दगा होने की आशंका से जरा भी नहीं डरेंगे।

जो दस उंगलियोंवाली बात पर ही अडे हुए हैं वे गलती कर रहे हैं।

मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं और मांगता हूं कि वह कौम का भला करे, उसे सत्य मार्ग पर ले चले, और हिन्दू तथा मुसलमानों को मेरे खून से एक करें।"

मि० चमनी लौटे। बडी मुश्किल से मैंने अपनी उंगलियों की छाप दी। उस समय मैंने उनकी आंखों में आंसू देखे। उनके खिलाफ तो मुझे बडे सख्त लेख लिखना पडे थे। पर

उस समय मेरी आंखों के सामने इस बात का चित्र खडा होगया कि मौका पडने पर मनुष्य हृदय कितना कोमल हो सकता है। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इस विधि में बहुत समय नही लगा। मि०डोक और उनकी धर्मपत्नी इस बात के लिए बडी आतुरत प्रकट कर रहे थे कि मैं शान्त और स्वस्थ हो जाऊं? चोट के बाद मेरी मानसिक प्रवृत्ति के कारण उन्हें दुःख हो रहा था उन्हें यह भय था कि कहीं मेरे स्वास्थ्य पर इसका विपरीत परिणाम न हो। इसलिए संकेत करके तथा अन्य युक्ति से वे पलंग के पास से सबको दूर ले गये और मुझे लिखने वगैरह की मुमानियत कर दी। मैंने चाहा (और उसे लिख कर प्रकट किया) कि बिलकुल शांत होकर सोने के पहले और चित्त शांति के लिए उनकी लडकी ओलिव, जो उस समय बालिका थी, मुझे मेरा प्रिय अंगरेजी भजन सुना दे। नरसिंहराव ने इसका गुजराती अनुवाद किया है। उसपर से बहुत से गुजराती इस भजन का अर्थ जानते हैं। उसकी पहली लाइन इस प्रकार है

Lead kindly light—

मेरी यह इच्छा डोक को खूब भायी। उन्होंने अपने इस भाव को मधुर हास्य द्वारा प्रकट करते हुए ओलिव को बुलाया और दरवाजे के बाहर खडी रहकर मन्द स्वर में वह भजन गाने के लिए उससे कहा। यह लिखते समय वह पूरा दृश्य मेरी आंखो के सामने खडा हो रहा है। और ओलिव की वे दिव्य तानें अब भी मेरे कानों में गूंज रही हैं।

इस प्रकरण में मैं कई ऐसी बातें लिख गया जिन्हें स्वयं मैं और पाठक अनावश्यक मानेंगे। तथापि मैं एक और स्मरणीय प्रसंग को यहां दिये बिना नहीं रह सकता। उस समय के स्मरण

मेरे लिए इतने पवित्र हैं कि मैं उन्हें छोड नहीं सकता। डोक के कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की उसका वर्णन मुझसे कैसे बन सकता है? जोसेफ डोक बेप्टिस्ट संप्रदाय के पादरी थे। दक्षिण आफ्रिका में आने के पहले वे न्यूझीलैंड में थे। इस घटना के छः महिने पहले की बात है, एक दिन वे मेरी आफिस में आये और अपना कार्ड भेजा। उसमें 'रेवरंड' विशेषण का उपयोग किया गया था। इसपर से मैंने झूठमूठ ही यह कल्पना कर ली कि जिस प्रकार अन्य कितने ही पादरी या तो मुझे ईसाई बनने का उपदेश करने या आन्दोलन बंद करने को कहने के लिए आते हैं, ठीक उसी काम के लिए अथवा बुजुर्ग बन कर मेरे साथ सहानुभूति दिखाने के लिए वे भी आये होंगे। पर ज्योंही मि. डोक अन्दर आये और बातचीत करने लगे त्यों ही चन्द मिनटों में मैंने अपनी भूल को समझ लिया और दिल ही दिल में क्षमा मांग ली। उस दिन से हम बडे मित्र बन गये। युद्ध सबंधी तमाम समाचारों से आपने अपने को परिचित बताया और कहा इस युद्ध में आप मुझे अपना मित्र ही समझिए। मुझसे जो कुछ सेवा बनेगी वह सब मैं अपना धर्म समझ के करने की इच्छा रखता हूं। ईसा के जीवनादर्श का चिंतन मनन करके मैंने तो यही सीखा है कि आपत्काल में दीन दुखियों का साथ देना। यह हमारा पहला परिचय था। इसके बाद दिन ब दिन हमारा स्नेह-संबंध बढता ही गया। पाठक इस इतिहास में डोक का नाम आगे भी कई स्थानों पर पढेंगे। पर डोक कुटुम्ब ने मेरी जो सेवा की उसका वर्णन करने के पहले उनका थोडा बहुत परिचय दे देना भी आवश्यक था। रात हो या दिन कोई न कोई मेरे पास जरूर बैठा रहता था। जबतक मैं उनके घर में रहा तबतक उनका मकान केवल एक धर्मशाला ही

वन गया था ? भारतीयों में फेरीवाले वगैरा भी थे। उनके कपडे मजदूरों के जैसे और मैले भी रहते । उनके साथ में एक गठरी या टोकरी भी अवश्य रहती। जूतों पर सेर भर धूल ! ऐसे लोगों से लगाकर अध्यक्ष तक के सभी दर्जे के लोगों की मि.डोक के घर एक कतार सी लग जाती थी। सब मेरा हाल पूछने और डाक्टर की इजाजत मिलने पर मुझे मिलने के लिए चले आते थे। सभीको वे समान भाव से और सम्मानपूर्वक अपने दीवानखाने में वैठाते और जबतक मैं उनके यहां रहा तबतक उनका सारा समय मेरी शुश्रूपा में और मुझे देखने भालने के लिए आनेवाले सैंकडों सज्जनों के आदर सत्कार ही में जाता । रात को भी दो तीन बार मि० डोक चुपचाप मेरे कमरे में आकर जरूर देख जाते । उनके घर पर मुझे एक दिन भी ऐसा ख्याल नहीं हुआ कि यह मेरा घर नहीं है, या मेरे संबंधी होते तो इससे अच्छी सेवा करते। पाठक यह भी ख्याल न कर लें कि इतने जाहिर तौरपर भारतीय आन्दोलन का पक्षपात करने तथा मुझे अपने घर में स्थान देने के लिए उन्हें कुछ भी सहना न पडा होगा । वे अपने पंथ के गोरों के लिए एक गिरजाघर चला रहे थे । उनकी आजीविका इन पंथवालों के हाथों में थी । कोई यह न मान लें कि सभी लोग उदार दिल के होते हैं । उन लोगों के दिल में भी भारतीयों के खिलाफ कुछ भाव थे ही । पर डोक ने इसकी कोई परवाह नहीं की । हमारे परिचय के आरम्भ ही में एक दिन मैंने इस नाजुक विषय पर चर्चा छेडी थी । उनका उत्तर यहां लिख देने योग्य है । उन्होंने कहा 'मेरे प्यारे दोस्त, ईसा के धर्म को आपने क्या समझ रक्खा है ? मैं उस पुरुप का अनुयायी हूं जो अपने धर्म के लिए फांसी पर लटक गया और जिसका प्रेम संसार भर पर था ।

जिन गोरों के मुझे छोड देने का आपको डर है उनकी आंखों में ईसा के अनुयायी की हैसियत से जरा भी मैं शोभा पाना चाहूं तो मुझे जाहिरा तौर से अवश्य ही इस युद्ध में भाग लेना चाहिए और इसके फलस्वरूप यदि वे मेरा त्याग कर दें तो मुझे इसमें जरा भी बुरा न मानना चाहिए। इसमें शक नहीं कि मेरी आजीविका का आधार उनपर है पर आप यह कदापि न समझ बैठें कि आजीविका के लिए मैंने उनसे यह संबंध किया है या वे ही मेरी रोजी के देनेवाले हैं। मेरी रोजी का देनेवाला तो परमात्मा है। ये हैं केवल निमित्त मात्र। मेरा उनका संबन्ध होते समय हमारा उनका यह ठहराव हो चुका है कि मेरी धार्मिक स्वतंत्रता में उनमें से कोई हस्तक्षेप न करेगा। इसलिए आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें। मैं कोई भारतीयों पर अहसान करने के लिए इस युद्ध में सम्मिलित नहीं हो रहा हूं। मैं तो इसे अपना धर्म समझ कर ही इसमें भाग ले रहा हूं। पर असल बात यह है कि मैंने हमारे गिरजा के डीन के साथ बातचीत करके भी इस बात का खुलासा कर लिया है। मैंने उन्हें यह स्पष्ट कह दिया है कि अगर मेरा भारतीयों का सम्बन्ध आपको पसंद न हो तो आप खुशी से मुझे रुख्सत दे सकते हैं, और अन्य मिनिस्टर को रोक भी सकते हैं। पर उन्होंने इस विषय में मुझे बिल्कुल निश्चिन्त कर दिया है, बल्कि और उत्साहित किया है। आपको यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि सभी गोरे आपकी ओर एकसी तिरस्कार की दृष्टि से ही देखते हैं। आप इस बात को नहीं जान सकते कि अप्रत्यक्ष रुप से आपके विषय में वे कितना सद्भाव रखते हैं। इसे तो मैं ही जान सकता हूं और आपको भी यह कुबूल करना होगा। इतनी स्पष्ट बातचीत होने पर फिर मैंने इस

नाजुक विषय पर कभी बातचीत नहीं छेडी। इसके कुछ साल बाद रे. डोक रोडेशिया में अपने धर्म की सेवा करते हुए स्वर्ग को चले गये। तब हमारा युद्ध समाप्त नहीं हुआ था। उनके मृत्यु के समाचार प्राप्त होने पर उनके पंथवालों ने अपने गिरजाघर में एक सभा निमन्त्रित की थी। उसमें काछलिया तथा अन्य भारतीयों के साथ साथ मुझे भी निमन्त्रण दिया गया था। मुझे उसमें भाषण भी देना पडा था।

अच्छी तरह चलने फिरने लायक होने को मुझे करीब दस ग्यारह दिन लगे होंगे। इस स्थिति को प्राप्त करते ही मैंने इस प्रेमी कुटुम्ब से रुख्सत मांगी। हम दोनों के लिए वह वियोग बडा दुःखदायी था।

अध्याय २३

गोरे सहायक

इस युद्ध में इतने गोरों ने—जिनमें कई प्रतिष्ठित भी थे, भारतीयों के पक्ष में काम किया कि यदि मैं यहांपर उनका एक साथ परिचय दे दूं तो कोई उसे अयोग्य नहीं कह सकता। इसमें कई फायदे हैं, एक तो यह कि आगे चलकर स्थान स्थान पर उनका उल्लेख आवेगा तब पाठकों को वे अपरिचित नहीं मालूम होंगे और दूसरे कथा प्रवाह में मुझे उनका परिचय देने के लिए बीच ही में रुकना नहीं पडेगा। जिस क्रम से मैं उनका परिचय दूं उसपर से पाठक न तो उनकी प्रतिष्ठा का क्रम समझें और न उनकी सहायता की कीमत का अंदाज लगावें। जिस क्रम से मुझे परिचय हुआ उसे तथा युद्ध के जिन जिन विभागों में सहायता दी गई उन्हें ध्यान में रखकर यहांपर उनका परिचय लिखा गया है।

सबसे पहले अल्बर्ट वेस्ट का नाम उल्लेखनीय है। कौम के साथ तो युद्ध के पहले ही से उनका सम्बन्ध हो गया था। पर मेरे साथ इससे भी पहले उनका परिचय हुआ था। जब मैंने जोहान्सबर्ग में अपना दफ्तर खोला उस समय मेरे साथ में बाल-बच्चे नहीं थे। पाठकों को याद होगा कि दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों का तार मिलते ही मैं एकदम रवाना हो गया था। और सो भी एक साल में लौट आने के विचार से। जोहान्सबर्ग में एक निरामिष भोजन-गृह था। उसमें मैं नियम से सुबह शाम खाना खाने के लिए जाता था। बेस्ट भी वहीं आते थे। वहीं मेरा उनका परिचय हुआ। वे एक दूसरे गोरे के साथ भागीदार बनकर एक छापखाना चला रहे थे। सन १९०४ में जोहान्सबर्ग के भारतीयों में भीषण प्लेग का प्रकोप हुआ था। मैं रोगियों की सेवा शुश्रूषा में लग गया और फलतः उस भोजन-गृह का मेरा जाना अनियमित हो गया। जब कभी जाता तो इस ख्याल से कि मेरे संसर्ग का भय दूसरे गोरों को न हो, मैं सबके पहले ही भोजन कर लेता था। जब लगातार दो दिन तक उन्होंने मुझे नहीं देखा तब वे घबड़ा गये। तीसरे दिन सुबह जब मैं हाथ मुंह ही धो रहा था कि इतने में वेस्ट ने मेरे कमरे का दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही मैंने वेस्ट का खुशनुमा चेहरा देखा।

वे प्रसन्न हो गये और बोले आपको देखते ही मेरे दिल को तसल्ली हुई। आपको भोजन-गृह में न देखकर मैं घबडा गया था। आपको अगर मुझसे कोई सहायता हो सकती हो तो जरूर कहिएगा।

मैंने हंसते हुए उत्तर दिया "मरीजों की शुश्रूषा करोगे?"

"क्यों नहीं? जरूर मैं तैयार हूं।"

इस विनोद के बीच मैंने कुछ सोच लिया। मैंने कहा "आप से मैं दूसरे प्रकार के उत्तर की अपेक्षा ही नहीं करता था। पर इस काम के लिए तो मेरे पास बहुत से सहायक हैं। आपसे तो मैं इससे भी कठिन काम लेना चाहता हूं। मदनजीत यहींपर रुका हुआ है। 'इण्डियन ओपीनियन' और प्रेस निराधार हैं। मदनजीत को मैंने प्लेग के काम के लिए रख छोडा है। आप अगर डर्बन जा कर उस काम को संभाल लें तो सचमुच यह बडी भारी सहायता होगी। उसमें आपको ललचाने योग्य तो कुछ भी नहीं। मैं तो आपको बहुत कम दे सकूंगा। सिर्फ दस पौंड मासिक वेतन। अगर प्रेस में कुछ लाभ हो तो उसमें आपका आधा हिस्सा रहेगा।

"काम जरूर जरा बेतुका है। मुझे अपने भागीदार की इजाजत लेनी होगी। कुछ उघाई भी बाकी है। पर कोई चिंता की बात नहीं। आज शाम तक की मोहलत आप मुझे दे सकते हैं।"

"अवश्य, हम लोग छः बजे शाम को पार्क में मिलेंगे।"

"जरूर मैं भी आ पहुंचूंगा।"

हम छः बजे शाम को मिले। भागीदार की इजाजत भी मिल गई। उघाई का काम मेरे जिम्मे करके दूसरे दिन शाम की ट्रेन से मि. वेस्ट रवाना हो गये। एक महीने के अंदर उनकी यह रिपोर्ट आई: "इस छापखाने में नफा तो नाम को भी नहीं है। नुकसान मात्र खूब है। उघाई बहुत बाकी है लेकिन हिसाब का कोई ठिकाना नहीं है। ग्राहकों के नाम भी पूरे नहीं लिखे गये हैं। मैं यह बतौर शिकायत के नहीं लिखता। आप विश्वास रखिए कि मैं नफे की लालच से यहां नहीं आया हूं अतः इस काम को भी नहीं

छोड़ूंगा। पर मैं आपको यह तो सूचित किये ही देता हूं कि बहुत दिन तक आपको घटी को पूरा करना होगा।"

ग्राहकों को बढाने तथा मेरे साथ कुछ बातचीत करने के लिए मदनजीत जोहान्सबर्ग आये थे। मैं हर महीने थोडे बहुत पैसे दे कर घटी की पूर्ति किया ही करना था। इसलिए मैं निश्चित रूप से यह जानना चाहता था कि और कितना गहरा इस काम में मुझे उतरना होगा? पाठकों से मैं यह तो पहले ही कह चुका हूं कि मदनजीत को छापखाने का कोई अनुभव नहीं था। इसलिए मैं इस बात के विचार ही में था कि किसी अनुभवी आदमी को उनके साथ में रख दिया जाय तो बडा अच्छा हो। यह विचार मैं कर ही रहा था कि इधर प्लेग का प्रकोप शुरू हो गया। इस काम में तो मदनजीत बडे कुशल और निर्भय आदमी थे। इसलिए मैंने उनको यहीं रख लिया। इसलिए वेस्ट के स्वाभाविक प्रश्न का उपयोग मैंने कर लिया। और उन्हें समझा दिया कि प्लेग के कारण ही नहीं बल्कि मुस्तकिल तौर पर उन्हें वहां रहना होगा। इसीलिए उन्होंने उपर्युक्त रिपोर्ट भेजी। पाठक जानते ही हैं कि इसीलिए छापखाने को तथा पत्र को भी फिनिक्स ले जाना पडा। वेस्ट के १० पौंड मासिक वेतन के बदले फिनिक्स में ३ पौंड हो गये। पर इन परिवर्तनों में वेस्ट की पूरी सम्मति थी। मुझे तो एक दिन भी ऐसा अनुभव नहीं कि उन्हें कभी यह विचार ही पैदा हुआ हो कि मेरी आजीविका कैसे चलेगी। धर्म का अभ्यास न होने पर भी वे एक अत्यन्त धार्मिक मनुष्य हैं। वे बडे ही स्वतन्त्र स्वभाव के मनुष्य हैं। जो वस्तु उन्हें जैसी दिखे उसे वैसी ही कहनेवाले हैं। काले को कृष्णवर्णी नहीं काला ही कहेंगे। उनकी रहन सहन बडी सीधी-

सादी थी । हमारे परिचय के समय वे ब्रह्मचारी थे । मैं जानता हूं कि वे ब्रह्मचर्य का पालन भी करते थे । कितने ही साल बाद वे इंग्लैंड गये और अपने मातापिता का क्रिया कर्म कर के अपनी शादी भी कर लाये । मेरी सलाह से अपने साथ में स्त्री, सास, और अपनी कुंवारी बहन को भी ले आये । वे सब फिनिक्स में ही बडी सादगी के साथ रहते थे और हर प्रकार से भारतीयों में मिल जाते थे । मिस वेस्ट अब ३५ वर्ष की हुई होगी । पर अब भी कुमारिका ही हैं । वे अपना जीवन बडी पवित्रता के साथ व्यतीत कर रही हैं । उन्होंने कोई कम सेवा नहीं की । फिनिक्स में रहनेवाले बालशिष्यों को रखना, उन्हें अंगरेजी पढाना, सार्वजनिक पाठशाला में रसोई करना, मकानों को साफ रखना, किताबें संभालना, छापखाने में टाइप जमाना (कम्पोज करना), तथा छापखाने का अन्य काम करना आदि सब काम वे करती थीं । इन कामों में से कभी एक काम के लिए भी इस महीला ने आना-कानी नहीं की । आजकल वे फिनिक्स में नहीं हैं । पर इसका कारण यह है कि मेरे भारतवर्ष लौट आने पर उनका हलका-सा भार भी छापखाना नहीं उठा सकता था । वेस्ट की सास की अवस्था इस समय ८० वर्ष से भी अधिक की होगी । वे सीलाई का काम बहुत अच्छा जानती हैं । और ऐसे काम में इतनी वयोवृद्धा महिला भी पूरी सहायता करती थी । फिनिक्स में उन्हें सब दादी (ग्रेनी) कहते थे और उनका बडा सन्मान करते थे । मिसेस वेस्ट के विषय में तो कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है । जब फिनिक्स में से बहुत से आदमी जेल में चले गये तब वेस्ट कुटुम्ब ने मगनलाल गांधी के साथ मिल कर फिनिक्स का सब कामकाज संभाल लिया था । पत्र और छापखाने के बहुत से

काम वेस्ट करते थे। मेरी तथा अन्य लोगों की अनुपस्थिति में गोखले को तार वगैरा भेजना होता तो वेस्ट ही भेजते। आखिर वेस्ट भी पकडे गये (पर वे फौरन छोड दिये गये थे) तब गोखले घबडाये। और एन्ड्रयूज तथा पियर्सन को उन्होंने भेजा।

दूसरे हैं रिच। उनके विषय में पहले लिख चुका हूं। वे भी युद्ध के पहले ही मेरे दफ्तर में आ गये थे। मेरे बाद मेरा काम संभालने के उद्देश से वे विलायत वैरिस्टर होने के लिए गये थे। वहांपर कमिटी की तमाम जिम्मेदारी उन्हीं के सिर पर थी।

तीसरे मित्र पोलक हैं। वेस्ट की तरह इनके साथ भी मेरा परिचय भोजन-गृह में ही हुआ। वे ट्रान्सवाल के "क्रिटिक" के उपसंपादक की जगह छोड कर 'इंडियन ओपीनियन' में आये थे। यह तो सब कोई जानते हैं कि उन्होंने युद्ध के लिए सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया था। रिच विलायत गये कि मैंने उन्हें फिनिक्स में अपने दफ्तर में बुला लिया। वहां आर्टिकल्स दिये और ये भी वकील बन गये। बाद उन्होंने शादी की। मिसेस पोलक को भी भारतवर्ष जानता है। इस महिला ने अपने पति को युद्ध के काम में बडी सहायता की थी। एक दिन भी उसमें विघ्न नहीं डाला। और यद्यपि आज वे दोनों असहयोग में हमारा साथ नहीं दे रहे हैं, तथापि वे यथाशक्ति भारत की सेवा अब भी किया ही करते हैं।

अब हर्मन कैलन वैक का परिचय सुनिए। इनसे भी मेरा परिचय युद्ध के पहले ही हुआ था। वे स्वयं जर्मन हैं। और यदि जर्मन-अंगरेजों का युद्ध न हुआ होता तो वे आज भारत में होते। उनका हृदय विशाल है। वे बेहद भोले हैं। उनकी भावनायें बडी तीव्र हैं वे शिल्प का धंधा करते हैं। ऐसा एक भी काम नहीं

कि जिसे करते हुए उन्होंने ना-हां की हो। जब मैंने जोहान्सबर्ग से अपना घरबार उठा लिया था तब हम दोनों एकसाथ ही रहते थे। मेरा खर्चा भी वे ही उठाते थे। घर तो खुद उन्हींका था। खाने वगैरा का खर्च देने की बात जब मैं निकालता तब वे बहुत चिढ कर कहते कि उन्हें फिजूलखर्ची से बचानेवाला तो मैं ही था और मुझे मना करते। उनके इस कथन में कुछ सार अवश्य था। पर गोरों के साथ मेरा जो व्यक्तिगत सम्बन्ध था उसका वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। गोखले दक्षिण आफ्रिका आये तब जोहान्सबर्ग में कैलनबैक के बंगले में ही ठहराये गये थे। गोखले इस मकान से बडे प्रसन्न हुए। उनको पहुंचाने के लिए कैलनबैक झंझीबार तक मेरे साथ साथ आये थे। पोलक के साथ वे भी गिरफ्तार हो गये थे और जेल की सैर कर आये थे। आखिर जब दक्षिण आफ्रिका छोड कर गोखले को विलायत में मिल कर मैं भारत लौट रहा था तब कैलनबैक भी साथ में थे। पर लडाई के कारण उन्हें भारत आने की इजाजत नहीं मिली। अन्य जर्मनों के साथ इन्हें भी नजरकैद रक्खा था। महायुद्ध के समाप्त होते ही वे फिर जोहान्सबर्ग चले गये हैं और उन्होंने अपना धंधा शुरू कर दिया है। जोहान्सबर्ग में सत्याग्रही कैदियों के कुटुम्बों को एक साथ रखने का जब विचार हुआ, तब मि. कैलनबैक ने अपना ११०० बिघे का खेत कौम को यों ही विना किराया लिये सौंप दिया। इसका विशेष वर्णन पाठक आगे चल कर पढेंगे।

अब एक पवित्र बाला का परिचय देता हूं। गोखले ने उसे जो प्रमाण-पत्र दिया उसको पाठकों के सामने रक्खे विना मुझसे नहीं रहा जा सकेगा। इस बाला का नाम मिस श्लेझीन है। मनुष्यों को पहचानने की गोखलेजी की शक्ति अद्‌भुत थी। डेलागोआबे

से झंझीबार तक बातचीत करने के लिए हमें अच्छा शान्त समय मिल गया था। दक्षिण आफ्रिका के भारतीय तथा अंगरेज अगुओं से उनका ठीक परिचय हो गया था। इनमें के मुख्य पात्रों का आपने सूक्ष्म पृथक्करण कर बताया और मुझे बराबर याद है कि उन्होंने मिस श्लेझीन को भारतीय तथा गोरों में भी सबमें पहला स्थान दिया। "इसके जैसा निर्मल अंतःकरण, काम के वक्त एकाग्रता, दृढता, मैंने बहुत थोडे लोगों में देखी है। और बिना किसी आशा-प्रलोभन के इसे भारतीय आन्दोलन में इस तरह सर्वार्पण करते हुए देखकर तो मैं आश्चर्यचकित हो गया हूं। इन सभी गुणों के साथ साथ उसकी होशियारी और चपलता उसे इस युद्ध में एक अमूल्य सेविका बना रही है। मेरे कहने की आवश्यकता तो नहीं, पर फिर भी कहे देता हूं कि तुम इसे मत छोडना।" मेरे पास एक स्कॉच कुमारिका शार्टहेंड और टायपिस्ट का काम करती थी। उसकी भी प्रामाणिकता और नीतिशीलता बेहद थी। मुझे अपने जीवन में यों तो कई कटु अनुभव हुए हैं पर इतने सुंदर चारित्र्यवान् अंगरेज तथा भारतीयों से मेरा सम्बन्ध हुआ है कि मैं तो उसे सदा अपना अहोभाग्य ही मानता आया हूं। इस स्कॉच कुमारिका मिस डिक के विवाह का अवसर आया कि उसका वियोग हुआ। मि. कैलनबैक मिस श्लेझीन को लाये और मुझे कहने लगे "इस बाला को इसकी मा ने मुझे सौंपा है। वह चतुर है, प्रामाणिक है पर इसमें मजाक की आदत और स्वाधीनता हद से ज्यादह है। शायद इसे उद्धत भी कह सकते हैं। आप संभाल सकें तो इसे आप अपने पास रक्खें। मैं इसे आपके पास तनख्वाह के लिए नहीं रखता।" मैं तो अच्छे शार्टहेंड टायपिस्ट को २० पौंड मासिक वेतन तक देने के लिए तैयार था। मिस श्लेझीन

की योग्यता और शक्ति का मुझे कुछ पता नहीं था। मि. कैलनबैक ने कहा "अभी तो इसे महीने के छः पौंड दीजिएगा।" मैंने फौरन मंजूर कर लिया। शीघ्र ही मुझे उनके मजाकिया स्वभाव का अनुभव हुआ। पर एक महीने के अन्दर तो मुझे उन्होंने अपने वश कर लिया। रात और दिन जिस समय चाहो काम देती। उनके लिए कोई बात असम्भव या मुश्किल तो थी ही नहीं। इस समय उनकी उम्र १६ वर्ष की थी। मवक्किल तथा सत्याग्रहियों को भी उसने अपनी निस्पृहता तथा सेवाभाव से वश कर लिया था। यह कुमारिका आफिस और युद्ध की एक चौकीदार बन गई। किसी भी कार्य की नीति के विषय में उसके हृदय में शंका उत्पन्न होते ही वह स्वतन्त्रतापूर्वक मुझसे वाद-विवाद करती। और जबतक मैं उसकी नीति के विषय में उसे कायल न कर देता तबतक उसे कभी सन्तोष नहीं होता था। जब हम सब लोग गिरफ्तार हो गये और अगुआओं में से लगभग अकेले काछलिया बाहर रह गये तब इस कुमारिका ने लाखों का हिसाब संभाला था। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों से काम लिया था। काछलिया भी उसीका आश्रय लेते, उसीकी सलाह लेते थे। हम लोगों के जेल में चले जाने पर डोक ने 'इण्डियन ओपीनियन' की जिम्मेदारी अपने हाथों में ली। पर वह पके बालवाला बुजुर्ग 'इण्डियन ओपीनियन' के लिए लिखे हुए लेख मिस श्लेझीन से पहले पास करा लेता! और मुझे उन्होंने कहा "अगर मिस श्लेझीन नहीं होती तो मैं कह नहीं सकता कि अपने काम से मुझे खुद भी सन्तोष होता या नहीं। मैं उसकी सहायता और सूचनाओं की सच्ची कीमत नहीं बता सकता।" और कई बार उसकी सूचनायें योग्य ही होंगी यह समझ कर मैं उन्हें मंजूर भी

सुशीला स्त्री भी उनकी बडी सहायता करती। एक तीसरे ख्यातनामा पादरी भी थे। उन्होंने पादरीपन छोडकर पत्र का सम्पादकत्व ग्रहण किया था। आप व्लुम फोंटीन् में प्रकाशित होनेवाले 'फ्रैण्ड' नामक दैनिक के सम्पादक रेवेरंड डुडनी हु हैं। उन्होंने गोरों की तरफ से किया गया अपमान सहन कर के भी अपने पत्र में भारतीयों का पक्ष किया था। दक्षिण आफ्रिका के प्रसिद्ध वक्ताओं में उनकी गणना होती थी। इसी प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक सहायता करनेवाले 'प्रिटोरिया न्यूज' के सम्पादक वेरस्टेन्ट थे। एक वार प्रिटोरिया के टाउनहाल में वहांके मेयर के अधिपतित्व में गोरों की एक विराट सभा हुई थी। उसका हेतु था एशियानिवासियों की बुराई और खूनी कानून की हिमायत करना। अकेले वेरस्टेन्ट ने इसका विरोध किया। अध्यक्ष ने उन्हें वैठ जाने की आज्ञा दी पर उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। गोरों ने उनके वदन पर हाथ डालने की धमकी दी तथापि वे नरसिंह की तरह टाउनहाल में उसी प्रकार गरज रहे। आखिर सभा को अपना प्रस्ताव विना ही पास किये विखरना पडा। और भी कई ऐसे गोरों का नाम मैं गिना सकता हूं जो किसी संस्था में शामिल तो न थे पर सहायता करने का एक भी अवसर खाली नहीं जाने देते थे। पर अव इस अध्याय को मैं अधिक वढाना ठीक नहीं समझता। केवल तीन स्त्रियों का परिचय दे कर अव मैं इस प्रकरण को पूरा कर देता हूं।

पहली महिला हैं मिस हाव हाऊस। लार्ड हाव हाऊस की वे पुत्री होती हैं। वोअर युद्ध शुरू हुआ तव यह महिला लार्ड मिल्नर के सामने से होकर ट्रान्सवाल पहुंची थी। जव लार्ड किचनर ने अपनी संसारप्रसिद्ध और जगतनिंदित कान्सेन्ट्रेशन कैंप, ट्रान्सवाल

और फ्रीस्टेट में एकत्र की उस समय यह महिला अकेले बोअर औरतों में घुमती और उन्हें दृढ रहने–धीरज रखने के लिए उपदेश करती और शौर्य बढाती। वह स्वयं मानती थी कि इस युद्ध में अंगरेजों की ओर न्याय नहीं है इसलिए स्वर्गीय स्टेड की तरह परमात्मा से प्रार्थना करती कि इस युद्ध में अंगरेज पराजित हो जायं। इस प्रकार बोअरों की सेवा करने पर जब उसने देखा कि जिस अन्याय के खिलाफ बोअर लोग लडे थे वैसा ही अन्याय अज्ञान के कारण वे ही अब भारतीयों के प्रति कर रहे हैं तब उससे नहीं रहा गया। बोअर जनता उसका बडा सन्मान करती थी और उसपर बहुत प्रेम रखती थी। जनरल बोथा के साथ उसका बहुत निकट संबंध था। उनके यहां वह ठहरती थी। खूनी कानून रद करवाने के लिए उससे जैसा भी बन पडा उसने बोअर मंडलों में कोशिश की।

दूसरी महिला हैं ओलिव श्रायनर। इस विषय में मैं पांचवें प्रकरण में लिख गया हूं। दक्षिण आफ्रिका के विख्यात श्रायनर कुटुम्ब में उनका जन्म हुआ था। वे बडी विदुषी थी। श्रायनर नाम इतना विख्यात है कि जब उनकी शादी हुई तब उनके पति को श्रायनर नाम ग्रहण करना पडा, जिससे ओलिव का श्रायनर कुटुम्ब के साथ का संबंध दक्षिण अफ्रिका के गोरों से लुप्त न हो जाय। यह कोई उनका वृथाभिमान नहीं था। मेरा विश्वास है कि उन महिला के साथ मेरा अच्छा परिचय था। उनकी सादगी और नम्रता उनकी विद्वत्ता के जितने ही उनके आभूषण थे। उनके दिमाग में कभी एक दिन भी यह ख्याल नहीं आया कि अपने हवसी नौकर और स्वयं अपने बीच कोई अन्तर है। जहां जहां अंगरेजी भाषा बोली जाती है तहां तहां उनकी 'ड्रीम्स' नामक

पुस्तक आदर के साथ पढी जाती है । वह गद्य है पर काव्य की पंक्ति में रखने योग्य है । और भी उसमें बहुत कुछ लिखा है। इतनी विद्वान, इतनी बडी लेखिका होने पर भी अपने घर में रसोई करना, घर साफ सुथरा रखना तथा बर्तन आदि साफ करना आदि कामों से वह न तो कभी शरमाती और न कभी परहेज करतीं थीं। उनका यह ख्याल था कि वह उपयोगी मिहनत उनकी लेखन शक्ति को मंद करने के बदले उत्तेजित करती थी । और उनके प्रभाव से भाषा में एक प्रकार की मर्यादा और व्यवस्थितता आ जाती थीं । इस महिला ने भी दक्षिण आफ्रिका के गोरों में उनका जो कुछ भी वजन था उसका उपयोग भारतीयों के पक्ष में किया था । .

तीसरी महिला मिस माल्टीनो थीं । वे दक्षिण आफ्रिका के पुराने माल्टीनो कुटम्ब की बुजुर्ग महिला थीं । उन्होंने भी अपनी शक्तिभर सहायता की थी ।

यदि पाठक पूछें कि इन तमाम गोरों की सहायता का क्या फल हुआ, मैं उत्तर दूंगा कि फलनिर्देश के लिए मैंने यह अध्याय नहीं लिखा है । कितनों का काम ही, जिसका वर्णन पहले ही दिया जा चुका है, फलस्वरूप है । पर यह सवाल जरूर खडा हो सकता है कि इतने हितैषी गोरों की संपूर्ण प्रवृत्ति का परिणाम क्या हुआ ? पर यह युद्ध ही ऐसा था कि उसका परिणाम स्वयं युद्ध में ही समाविष्ट था। यह युद्ध स्वयं काम करने की शक्ति, कष्ट सहन, त्याग और ईश्वर पर श्रद्धा इन तीन बातों की परीक्षा ही था। गोरे सहायकों के नाम लिखने का यह भी हेतु है कि यदि दक्षिण आफ्रिका के इतिहास में उनकी की हुई सहायता का उल्लेख न किया जाय तो वह इतिहास का एक दोष समझा जायगा । मैंने सभी गोरे सहायकों के नाम तो

लिखे ही नहीं। जितने दिये हैं उतने पर से सहायक मात्र के प्रति धन्यवाद प्रकट हो जाता है। इसके अतिरिक्त और भी एक कारण है। मैंने यह एक सिद्धान्त कायम कर रक्खा है कि हरएक हलचल के तमाम परिणामों को हम नहीं देख सकते। तथापि शुभ कार्य का फल शुभ ही होगा—फिर वह दृश्य हो या अदृश्य। एक सत्याग्रही की हैसियत से इस सिद्धान्त के प्रति मुझे अपनी श्रद्धा भी प्रकट करना था। तीसरे मुझे यह दिखाना था कि सत्य पर आधार रखनेवाली हलचलें इसी प्रकार अनेक शुद्ध और निःस्वार्थ सहायताओं को आकर्षित कर लेती हैं। अबतक इस अध्याय में यह बात स्पष्ट न हुई हो तो मैं और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि, सत्याग्रह के युद्ध में सत्य की ही सर्वोपरि रक्षा करनी चाहिए। यह यदि प्रयत्न समझा जाय तो इसे छोड़कर कोई भी प्रयत्न गोरों की सहायता प्राप्त करने के लिए नहीं किया गया था। युद्ध के आंतरिक बल से ही वे आकर्षित हुए थे।

अध्याय २४

और भी कई भीतरी कठिनाइयां

इक्कीसवें अध्याय पर से पाठकों को कुछ भीतरी कठिनाइयों का ख्याल हुआ होगा। मुझपर हमला हुआ उस समय मेरे बालबच्चे तो फिनिक्स में रहते थे, अतः हमले का हाल सुनकर उन्हें चिन्ता होना एक स्वाभाविक बात है। यह तो हो ही नहीं सकता था कि मुझे देखने के लिए फिनिक्स से पैसे खर्च कर वे जोहान्सवर्ग दौड आवें। इसलिए अच्छा होने पर मुझे ही वहां जाना चाहिए था। नेटाल और ट्रान्सवाल के बीच हर किसी कामकाज से मेरा जाना आना हुआ ही करता था। समझौते के विषय में नेटाल में भी बहुत गलतफहमियां फैली हुई थी। मेरे पास तथा अन्य मित्रों के पास उधर से पत्र आते थे उसपर से इस बात को मैं जानता था। 'इंडियन ओपीयन' के पते पर तो कई कटाक्ष–आक्षेप भरे पत्र आते। उनका भी पुट्टल मेरे पास था। यद्यपि सत्याग्रह तो ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही करना था तथापि इस विषय में नेटाल के भारतियों की सम्मति लेना भी अभी बाकी था। ट्रान्सवाल के भारतीय ट्रान्सवाल के निमित्त से सारे दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के लिए झगड रहे थे। इस नेटाल की

गलतफहमी को दूर करने के लिए भी मुझे डर्बन जाना जरूरी था। इसलिए पहला मौका मिलते ही मैं वहां गया।

डर्बन में भारतियों की एक विराट-सभा भरी गई। कितने ही मित्रों ने मुझे पहिले ही से चेता रक्खा था कि "इस सभा में आपपर हमला होगा। इसलिए या तो आपको सभा में जाना ही नहीं चाहिए या आत्मरक्षा का कुछ उपाय सोचकर जाना चाहिए।" दो में से एक भी बात को मैं कर नहीं सकता था। नौकर को मालिक बुलावे और यदि वह डर करके न जाय तो उसका सेवाधर्म कहां और यदि वह मालिक की दी हुई सजा से डर गया तो नौकर कैसा? केवल सेवाभाव से सार्वजनिक सेवा करना तलवार की धार पर चढने के समान है। लोकसेवक स्तुति लेने के लिए तो तैयार हो जाता है फिर उसे निन्दा के समय क्यों कर अपना मुंह छिपाना चाहिए? इसलिए मैं तो बराबर नियत समय पर पहुंच गया। समझौता किस प्रकार हुआ आदि समझाया। कुछ सवालों के उत्तर भी दिये। यह सभा रात के करीब आठ बजे शुरू हुई होगी। काम लगभग समाप्त हुआ ही था कि इतने में एक पठान अपनी लाठी लेकर मंच पर चढा। बस उसी समय बत्तियां भी गुल हो गईं। मैं समझ गया। अध्यक्ष सेठ दाऊद मुहमद मेज पर चढकर समझाने लगे। मेरा बचाव करनेवालों ने मुझे घेर लिया। मैंने आत्मरक्षा का कोई उपाय नहीं किया था। पर मैंने देखा कि हलचल करनेवाले तो सब तरह से तैयार हो कर आये थे। उनमें से एक तो अपने खीसे में रिवोल्वर भी डाल लाया था। उसने उसका एक खाली वार भी किया। तबतक पारसी रुस्तमजी, जिन्होंने हमले की तैयारियां देख ली थीं वे पुलिस सुपरिन्टेन्ट अलेक्झांडर की ओर दौड पडे थे और उन्हें खबर कर दी

थी। उन्होंने पुलिस का एक दल भेज दिया था। पुलिस आई और मुझे अपने बीच में लेकर पारसी रुस्तमजी के मकान पर ले गई।

दूसरे दिन पारसी रुस्तमजी ने डर्बन के पठानों को इकट्ठा किया और उन्हें कहा कि आपको गांधी के बारे में जो कुछ शिकायत हो वह आप प्रत्यक्ष उन्हें यहांपर कह दीजिए। मैं उन्हें मिला। शांत करने की कोशिश भी कि पर मुझे अब भी यकीन नहीं होता कि मैं उन्हें शान्त कर सका हूंगा। शक की दवा लुकमान हकीम के पास भी नहीं थी। मैं दलील उदाहरणों से उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सका। उनके दिल में तो यह गांठ पड गई थी कि मैंने कौम को धोखा दिया है। और मेरा समझाना तबतक व्यर्थ था जबतक यह उनके दिल से दूर नहीं हो जाता।

उसीदिन मैं फिनिक्स पहुंचा। जो मित्र पिछली रात को मेरा रक्षण करने के लिए इकट्ठे हो गये थे उन्होंने मुझे अकेला नहीं जाने दिया। और कहा कि हम भी फिनिक्स चलेंगे। मैंने कहा आप मेरे मना करने पर भी आना चाहेंगे तो मैं आपको रोक नहीं सकता। पर वहां तो जंगल है। वहांके निवासी हमें और आपको खाने ही को न दें तो आप क्या करेंगे? उनमें से एकने कहा हमें ऐसा डर न दिखाइए। हम अपनी व्यवस्था खुद कर लेंगे। और जबतक हम सिपाही का काम करेंगे तबतक यदि हम आपके भंडार को लूट भी लें तो हमें कौन रोक सकता है।

इस प्रकार हम विनोद करते हुए फिनिक्स पहुंचे। इस दल का मुखिया जैक मुडली था। भारतीयों में उसका नाम खूब प्रख्यात हुआ था। नेटाल में तामिल माता पिता से उसका जन्म हुआ था। वह घूंसाबाजी (बाक्सींग) में खासा प्रवीण

था और उसका तथा उसके साथियों का भी यह ख्याल था कि उस कला में मुडली के सामने क्या काला और क्या गोरा कोई नहीं टिक सकता था। जबतक मैं दक्षिण आफ्रिका में था तब तक मेरी यह आदत थी कि वारिश के दिनों को छोडकर हमेशा मैदान में ही सोता था। उसमें इस समय परिवर्तन करने के लिए मैं तैयार नहीं था। इसलिए इस स्वनिर्मितदल ने मेरे विस्तर के आस पास पहरा देना शुरू किया। यद्यपि इस दल के साथ डर्बन में मैंने मजाक किया था तथापि मुझे अपनी इतनी दुर्बलता को जुरूर कुबूल करना चाहिए कि जब उस दल ने अपना पहरा शुरू किया तब मुझे कुछ अधिक निर्भयता मालूम हुई। और अपने दिल में यह भी सवाल पैदा हुआ कि यदि वे लोग न आते तो क्या मैं इसी प्रकार निर्भय चित्त से यहां सो रहा होता? मुझे यह भी आभास होता है कि कहीं भी जरा आवाज होते ही मैं अवश्य चौंक पडता था। मेरा विश्वास है कि ईश्वर में मेरी अविचल श्रद्धा है। मेरी बुद्धि इस बात को भी वरसों से कुबूल करती आई है कि मनुष्य जीवन में मौत एक बडा भारी परिवर्तन है। और वह जब कभी आवे तब स्वागत करने योग्य वस्तु ही है। हृदय से मौत तथा अन्य भयों को दूर करने के लिए मैंने महा प्रयत्न भी किये हैं तथापि अपने जीवन में ऐसे कई प्रसंग याद आते हैं कि जब मौत की भेट करने के विचार मात्र से, एक चिर वियोगी मित्र की भेट के विचार मात्र से जैसा हृदय उछला पडता है उस प्रकार न उछल सका। इस प्रकार बलवान् बनने के लिए महा प्रयत्न करने पर भी मनुष्य कई वार दुर्बल ही बना रहता है। और बुद्धि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के समय उसके लिए बहुत उपयोगी नहीं साबित होता। उसमें

भी जब उसे बाहरी आश्रय मिल जाता है और जब वह उसका स्वीकार कर लेता है तब तो वह अपना आंतरिक बल अधिकांश में खो बैठता है। सत्याग्रही को इस प्रकार के भय से हमेशा बचते रहना चाहिए।

फिनिक्स में मैंने एक ही उद्योग किया। गलतफहमी दूर करने के लिए खूब लिखना शुरू कर दिया। संपादक और शंकाशील पाठक के बीच एक कल्पित संवाद लिख डाला। उसमें जितनी भर शंकायें और आक्षेप मैंने सुने थे उन सबका उत्तर मुझसे जितना विस्तारपूर्वक हो सका दिया। मेरा ख्याल है कि इसका असर भी अच्छा हुआ। यह तो खुल्लमखुल्ला सिद्ध हो गया कि उन लोगों में गलतफहमी नहीं फैलने पाई जिनमें अगर वह फैल जाती तो उसका परिणाम बहुत कडुआ होता। समझौते को मानना न मानना तो केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों का काम था। इसलिए उनके कार्यों पर से उनकी और उनके नेता और सेवक की हैसियत से मेरी भी सच्ची परीक्षा होने को थी। ऐसे बहुत थोडे भारतीय होंगे कि जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक परवाने न लिए हों। एशियाटिक आफिस में परवाना लेने के लिए इतने आदमी जाते कि परवाना देनेवालों को दम मारने तक का तो समय नहीं मिलता था। कौम ने बडी ही शीघ्रता से उन शर्तों का पालन करके दिखा दिया जो समझौते में व्यक्तियों से सम्बन्ध रखती थीं। सरकार को भी यह बात क़बूल करना पडी थी। मैंने यह भी देखा कि यद्यपि गलतफहमी ने उग्ररूप धारण किया था फिरभी उसका क्षेत्र बहुत ही मर्यादित था। जब कितने ही पठानों ने अपने ही हाथों में कानून को ले लिया और उधम मचाना शुरू किया तब तो बडी ही खडबडाहट मच गई। पर

इस खडबडाहट का भी जब पृथक्करण करने बैठते हैं तब यही मालूम होता है कि उसका न सिर होता है न पैर। कई बार वह केवल क्षणिक ही होती है। इतने पर भी उसकी शक्ति आज भी संसार में कायम है। क्योंकि खून खराबी से हम अभीतक कांप उठते हैं। पर यदि शांति के साथ विचार किया जाय तो मालूम होगा कि कांपने का कोई कारण ही नहीं है। फर्ज कीजिए कि मीर आलम और उसके साथियों की मार से मेरा शरीर केवल घायल होने के बदले वह नष्ट ही होजाता, यह भी मान लीजिए कि कौम भी बुद्धिपूर्वक शांत और निश्चिन्त रही होती, मीर आलम अपनी बुद्धि के अनुसार और कुछ नहीं कर सकता था यह सोच कर उसके प्रति क्षमाभाव और मित्रभाव भी रक्खा होता तो इससे कौम को कोई हानि नहीं उठानी पडती बल्कि अत्यंत लाभ ही होता। क्योंकि कौम में तो गलतफहमी थी ही नहीं। इसलिए वह तो दूने उत्साह से अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ रहती और अपने कर्तव्य का पालन करती रहती। मुझे तो केवल लाभ ही होता। क्योंकि सत्याग्रही के लिए अपने सत्य का आग्रह करते हुए अनायास मौत से भेट हो जाने से बढकर दूसरा मंगल प्रसंग संसार में कौन हो सकता है? उपर्युक्त दलीलें सत्याग्रह जैसे युद्ध ही के विषय में सत्य हैं। क्योंकि उसमें वैर भाव को स्थान ही नहीं है। आत्मशक्ति या स्वावलंबन ही उसका एक मात्र साधन है। उसमें किसीको भी दूसरे का मुंह ताकते हुए बैठे नहीं रहना पडता। वहां न कोई नेता है और न कोई सेवक। सभी सेवक और सभी नेता हैं। इसलिए कितने ही बडे मनुष्य की मृत्यु क्यों न हो वह उस युद्ध को हानि नहीं पहुंचा सकता। इतना ही नहीं बल्कि वह तो युद्ध के वेग को बढा देता है।

यही सत्याग्रह का एक मूल और शुद्ध स्वरूप है। अनुभव में हमें यह देखने को नहीं मिलता क्योंकि सभीने वैर का त्याग नहीं किया होता है। कितने ही लोग सत्याग्रह का रहस्य भी नहीं जानते। अधिकांश लोग तो कुछ लोगों को देख देख कर उसका अंधानुकरण मात्र करते हैं। फिर जैसा कि टाल्स्टाय ने कहा था सामुदायिक और सामाजिक सत्याग्रह का तो ट्रान्सवाल का सत्याग्रह पहला ही उदाहरण है। स्वयं मैं शुद्ध सत्याग्रह के ऐतिहासिक उदाहरणों को नहीं जानता। मेरा इतिहास विषयक ज्ञान बहुत कम है। इसलिए मैं इस विषय में कोई निश्चित अभिप्राय नहीं दे सकता। पर सच पूछा जाय तो हमें ऐसे उदाहरणों से भी गरज नहीं। सत्याग्रह के मूल तत्त्वों को ग्रहण कर लीजिए कि आप देखेंगे कि उसका फल वही होगा जो मैंने ऊपर बता दिया है। यह दलील पेश कर के इस अमूल्य शस्त्र को अलग नहीं हटाया जा सकता कि इसका व्यवहार नितान्त कठिन है। जमाने से, हजारों वरसों से शस्त्रबल के कितने ही प्रयोग होते चले आये हैं। उनके खराब परिणामों को हम स्वयं देख ही रहे हैं। यह भी आशा नहीं की जा सकती कि भविष्य में वह अच्छे फल को देगा। अंधकार में से यदि प्रकाश उत्पन्न किया जा सकता हो तो अवश्य ही वैर से प्रेम-भाव उत्पन्न होने की आशा हम कर सकते हैं।

हिन्दी-नवजीवन

(साप्ताहिक पत्र)

संपादक

मोहनदास करमचन्द गांधी

ऐसा कौन हिन्दी-भाषी होगा जो गांधीजी के लेखों को पढना और विचारों तथा संदेशों को अपने हृदय में सदा के लिए रखना न चाहेगा? इसका साधन हिन्दी-नवजीवन से बढ कर दूसरा नहीं है ।

मूल्य ४) वार्षिक । आज ही वी० पी० मंगवाइए ।

मालव-मयूर

राजस्थान (मध्यभारत और राजपूताना) का सचित्र मासिक पत्र, आकार बड़ा; पृष्ठ संख्या ४०; मूल्य ३॥ वार्षिक।

संपादक

पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय, महात्मा गांधी के 'हिन्दी-नवजीवन' के उपसंपादक।

मयूर का जीवन-कार्य

असत्य, अन्याय और अत्याचार का निर्भयता, शान्ति और विनय-पूर्वक विरोध करना तथा राजस्थान की आन्तरिक शक्ति को जाग्रत और विकसित करना।

मयूर की विशेषतायें

१. सत्य, शान्ति और प्रेम इसके जीवन का धर्म है।

२. यह विश्व-बंधुत्व का प्रेमी, राष्ट्रीय धर्म का उपासक और भारतीयता का अभिमानी है।

३. यह विवेक-पूर्वक प्राचीनता की रक्षा करता है और नवीनता का स्वागत।

४. देशी-राज्यों को यह ममत्व की दृष्टि से देखता है।

५. विज्ञापनबाजी के अनर्थ से समाज को बचाने के लिए इसमें विज्ञापन नहीं लिये जाते। सिर्फ लोकोपयोगी विज्ञापन मुफ्त छाप दिये जाते हैं।

६. ललित कलाओं के नाम पर विषय-विलास-प्रेरक सामग्री का प्रचार करने की प्रवृत्ति का यह विरोधी है।

७. छपाई, कागज तथा पोस्टेज के अलावा किसी किस्म का खर्चा इसपर नहीं लगाया जाता है।

कुछ सम्मतियों का सार

पू० पं. महावीरप्रसाद जी द्विवेदी — 'मालव-मयूर' बहुत अच्छा निकला। छपाई और कागज उत्तम हैं। भाषा और विषय-योजना भी ठीक है।

पं० रमाकान्त जी मालवीय — पत्र अच्छी सजधज से निकला और लेख भी अच्छे हैं।

लाला कन्नोमलजी — लेख गंभीर, सारगर्भित, और विचार-पूर्ण है। सम्पादकीय नोट स्पष्ट और निर्भीक है। रा० पू० और म० भा० में अभीतक कोई पत्रिका ऐसी न थी जो वहां की प्रजा का राष्ट्रीय उद्बोधन करे और वहां की घटनाओं पर निष्पक्षता और निर्भीकता से प्रकाश डाले। मालव-मयूर से यह कमी दूर हो गई है।

सरदार माधवराव विनायक किबे — मेरा यह दृढ विश्वास हो गया है कि यह एक उच्च कोटि का मासिक-पत्र है।

सर्वन्ट आव् इंडिया— ...... ने एक महत्वपूर्ण पत्र की वृद्धि की है। इस मासिक-पत्र का संपादन वे विशेष योग्यता और पूरी जिम्मेवारी के साथ करते हैं, जो कि हमें महात्मा गांधी की प्रत्यक्ष देख-भाल में तालीम पाये सज्जनों में दिखाई देती है।

प्रताप — 'मालव-मयूर' में मौलिकता और सात्विकता है। यह एक अच्छा मासिक-पत्र है। कुछ चुने हुए लेख होते हैं और उनसे भी अधिक विचार और विवेक के साथ चुनी हुई बहुत सी टिप्पणियां ... ... इस कसौटी पर 'मालव-मयूर' बहुत खरा उतरता है। हमें विश्वास है कि 'मयूर' का मीठा और सात्विक ढंग अपना रंग अवश्य लावेगा और उससे म० भा० और रा० पू० के लोगों की अत्यन्त निर्बल और निर्जीव आत्मा को बल मिलेगा।

आकाशवाणी — ......के नाम से हिन्दी जनता अच्छी तरह परिचित है। पत्रिका के लिए निर्वाचन का कार्य बडी उत्तम रीति से किया गया है।

मतवाला — सभी संख्यायें एक से एक बढ कर हैं। कवितायें और लेख बडे ही सुन्दर, सरस और निर्दोष होते हैं। संपादकीय अंश अत्यन्त प्रशंसनीय होता है। उसके विचार बडे ही मार्जित होते हैं। अधिक पृष्ठ-संख्या वाले पत्र 'मयूर' से शिक्षा ग्रहण करें। इस पत्र-रत्न की जितनी प्रशंसा की जाय थोडी है। पाठक इस सर्वगुणालंकृत पत्र को अवश्य अपनावें।

हिन्दी-पत्रों में इसका एक विशेष स्थान है।......जी अपनी अन्तरात्मा की भाषा को व्यक्त करने में बडे कुशल हैं।

जयाजी प्रताप — लेख उच्च कोटि के हैं। उनपर दृष्टि रखते हुए अगला नंबर पिछले से बढा चढा मालूम होता है।... की टिप्पणियों में sense of proportion और sense of responsibilty होती है, जिसकी इस समय के बहुत से संपादकों में कमी नजर आती है। देशी राज्यों के प्रति पत्र की नीति उदार है। जिन महान् पुरुष का सत्संग उपाध्याय जी को प्राप्त है उनके विचारों की झलक उनके विचारों में आती है।

कविकौमुदी — यह अपने ढंग का एक ही पत्र है। इसके लेखों में मौलिकता और सात्विकता रहती है। इसके सम्पादक हिन्दी के अच्छे और विचारशील लेखकों में हैं। संपादकीय नोटों में उनकी स्पष्ट-वादिता, निर्भीकता और उत्तम विचारशैली देख कर चित्त प्रसन्न होता है। हम इसके प्रचार के उत्कट अभिलाषी हैं।

व्यवस्थापक, मालव-मयूर,
अजमेर

वर्ष २] सस्ती-साहित्य-माला [पुस्तक ६

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

[उत्तरार्ध]

लेखक

महात्मा गांधी
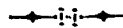
अनुवादक

बैजनाथ महोदय

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य प्रकाशक मंडल

अजमेर

प्रथम बार] १९२७ [मूल्य ॥)

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य मंडल, अजमेर

हिंदी प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मण्डल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ-संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिये। कितनी उत्तम और साथ ही कितनी सस्ती हैं। मण्डल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम पुस्तक के अंत में दिए हुए हैं, उन्हें एकबार आप अवश्य पढ़ लीजिये।

मुद्रक
जीतमल लूणिया,
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

संसार के साहित्य का भूषण

सत्य के प्रयोग

अथवा

आत्म-कथा

लेखक—महात्मा गांधी

अनुवादक—पं० हरिभाऊ उपाध्याय

यह पुस्तक मण्डल से दिसम्बर सन् १९२७ तक
[प्रकाशित हो जायगी

पृष्ठ संख्या लगभग ५००, मूल्य स्थाई ग्राहकों से लगभग ॥)

मण्डल के स्थाई ग्राहक बनने के नियम

तथा

मण्डल से प्रकाशित पुस्तकों का विवरण अन्त में दिया है

सो पढ़ लीजिये

लागत का ब्योरा

कागज़	२४०)
छपाई	२८०)
बाइंडिंग	४४)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३१६)
	८८०)

प्रतियाँ २४००

एक प्रति का लागत मूल्य ।=)

विषय-सूची

दक्षिण आफ्रिका का सत्याग्रह

[उत्तरार्ध]

पहला अध्याय

जनरल स्मट्स का विश्वासघात (?)

आन्तरिक मुसीबतों का दर्शन तो पाठक कुछ कुछ कर ही चुके। उसमें प्रायः मुझे अपनी आत्म-कथा ही देनी पड़ी। पर यह अनिवार्य था। क्योंकि सत्याग्रह से सम्बन्ध रखने वाली मेरी मुसीबतें ही सत्याग्रहियों की मुसीबतें भी बन गईं। अब हम फिर बाहरी मुसीबतों का अवलोकन करें। इस प्रकरण का शीर्षक लिखते हुए मुझे बडी लज्जा मालूम हुई और, यह अध्याय लिखते हुए भी मुझे उतनी ही शर्म मालूम हो रही है। क्योंकि इसमें मनुष्य स्वभाव की वक्रता का वर्णन है। जनरल स्मट्स सन् १९०८ में भी कम से कम दक्षिण आफ्रिका में तो सब से अधिक होशियार नेता माने जाते थे। और आज अगर संसार में नहीं तो कम से कम ब्रिटिश साम्राज्य में तो जरूर ही वे ऊंचे दर्जे के कार्यकुशल पुरुष गिने जाते हैं। मुझे इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि उनकी शक्ति बहुत बढी हुई है। वे जितने कुशल वकील हैं, उतने ही कुशल सेना-नायक हैं और उतने ही कुशल राज्य-प्रबंधक पुरुष भी वे हैं। दक्षिण अफ्रिका में कई राज्य-प्रबंधक आये और चले गये। पर १९०७ से आज तक दक्षिण आफ्रिका के शासन

सूत्रों को उन्होंने अपने हाथों ही में रक्खा है, और आज भी समस्त दक्षिण आफ्रिका में ऐसा एक भी पुरुष नहीं है, जो इनके मुकाबले में खडा रह सके। यह लिखते समय मुझे दक्षिण आफ्रिका छोडे नौ साल हो गये इसलिए मैं नहीं जानता कि आज दक्षिण आफ्रिका उन्हें किस विशेषण से पहचानती है। जनरल स्मट्स का निजी नाम जेन है। पर दक्षिण आफ्रिका के लोग उन्हें 'स्लिम जेनी' ही कहते हैं। यहां पर 'स्लिम' का अर्थ है 'हट जाने वाला', 'कभी पकड में न आने वाला'। गुजराती भाषा में इसका नजदीकी समानार्थक शब्द है 'खंधो', अथवा सौम्य विशेषण का प्रयोग करना चाहें तो इसके विपरीत अर्थ में 'चालाक' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। मुझे कई अंगरेज़ मित्रों ने कहा जनरल स्मट्स से तुम संभल कर रहना। वह बडा पहुंचा हुआ आदमी है। कोई बात कहकर बदल जाने में उसे जरा भी देर नहीं लगती। उसके बोलने का ठीक ठीक अर्थ तो केवल वही जानता है। कई बार वह इस तरह बोलता है कि दोनों पक्ष अपने अपने अनुकूल उसका अर्थ कर सकते हैं। पर मौका आने पर उन दोनों अर्थों को एक तरफ रख कर वह अपना एक तीसरा ही अर्थ बता देता है, और फौरन उस पर अमल करके अपने इस कार्य के समर्थन में ऐसी ऐसी चालाक दलीलें पेश करता है कि घडी भर के लिए दोनों पक्ष यही मानने लग जाते हैं कि, जरूर जनरल स्मट्स का बताया अर्थ ही सच्चा अर्थ है, हमसे कोई भूल होगई होगी। इस समय मुझे ऐसे ही एक विषय का वर्णन, इस प्रकरण में करना है। वह घटना जिस समय हुई उस समय वह विश्वासघात मानी और कही भी गई थी। आज भी कौम की दृष्टि से मैं उसे विश्वासघात ही मानता

हूं। परन्तु यह होते हुए भी मैंने इस शब्द के सामने प्रश्न चिन्ह इसलिए रख दिया है कि संभव है, कहीं उन्होंने वह विश्वासघात का काम बुद्धि-पूर्वक न भी किया हो। और जहां घात करने का कोई हेतु ही न हो, वहां यह भी कैसे मान सकते हैं कि उन्होंने विश्वास का भंग किया ? सन् १९१३-१४ में जनरल स्मट्स का मुझे जो अनुभव हुआ, उसे मैं उस समय तो कडुआ नहीं मानता था और न आज भी, जब कि मैं उसपर अधिक तटस्थता पूर्वक विचार कर सकता हूं, वैसे मानता हूं। इसलिए बहुत संभव है, १९०८ साल का उनका भारतीयों के प्रति बर्ताव ज्ञान पूर्वक किया गया विश्वासघात न भी हो।

इतनी बडी प्रस्तावना मुझे इसलिए लिखनी पड़ी कि जनरल स्मट्स के प्रति मैं न्याय कर सकूं, और साथ ही इसलिए भी कि, उनके नाम के साथ मैंने विश्वासघात शब्द का जो प्रयोग किया है, तथा मुझे इस प्रकरण में जो कुछ कहना है, उसका मैं बचाव कर सकूं। पिछले अध्याय में हम यह पढ चुके कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह निकलवा लिये जिससे ट्रान्सवाल की सरकार को संतोष हो जाय। अब उस सरकार का काम था खूनी कानून को रद करना। अगर वह ऐसा ही कर डालती तो सत्याग्रह का युद्ध भी समाप्त हो जाता। सत्याग्रह का अर्थ यह नहीं था कि ट्रान्सवाल में भारतीयों के खिलाफ जितने भी कुछ कानून थे वे सब रद हो जायं, या हिन्दी जनता के तमाम दुःख दूर हो जायँ। यह करने के लिए तो पहले की तरह वैध आन्दोलन शुरू रखना ही आवश्यक था। सत्याग्रह का आश्रय तो केवल खूनी कानून के नवीन और भंयकर तूफान को दूर करने मात्र के लिए ही लिया गया

था। उस कानून को स्वीकार करना कौम का सरासर अपमान था; और उस स्वीकृति से प्रथम तो ट्रान्सवाल से और अन्त में तमाम दक्षिण आफ्रिका से भारतीयों की हस्ती ही मिटी जा रही थी। पर खूनी कानून रद करने के लिए एक योजना बनाने के बजाय जनरल स्मट्स ने तो और ही कुछ कर डाला। उसने एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसके द्वारा एक ओर तो खूनी कानून को बहाल रक्खा और दूसरी ओर उन ऐच्छिक परवानों को कानूनन करार दिया। पर उस वक्तव्य में उसने एक यह वाक्य भी डाल दिया था कि जो भारतीय अब तक परवाना ले चुके हैं उन पर खूनी कानून अमल नहीं करेगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि एक ही हेतु को पूर्ण करने के लिए दो कानून रहें और बाहर से आने वाले नवीन भारतीयों को तथा नवीन परवाना लेने वाले भारतीयों को भी खूनी कानून द्वारा शासित होना चाहिए।

यह बिल पढकर मैं तो पूरा किंकर्तव्यमूढ हो गया, कौमको मैं क्या उत्तर दूंगा? उन पठान भाइयों को, जिन्होंने उस मध्यरात्रि की सभा में मुझ पर सख्त आक्षेप किये थे, कैसी सुन्दर दलील मिलगई? पर मुझे कह देना चाहिए कि इस अकल्पित आघात के कारण सत्याग्रह पर मेरा विश्वास ढीला होने के बजाय और भी तीव्र हो गया। हमारी कमिटी की बैठक निमन्त्रितकरके मैंने उन्हें समझाया। कितने ही भाइयों ने ताना देकर मुझसे कहा "हम तो आपसे कभी से कह रहे थे कि आप बहुत भोले हैं। जो कुछ भी कोई कह देता है, आप सच्चा मान लेते हैं। अगर आप अपने खानगी कामों में ही इस तरह से काम चलाते, तब तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं थी। पर यहां तो आप जाति के कामों में भी उसी

भोलेपन से काम ले रहे हैं, और उसके फल-स्वरूप कौम को कष्ट झेलना पडता है ? अब पहले कासा जोश आना बहुत मुश्किल हैं कमसेकम हमें तो ऐसा ही मालूम होता है। आप भी तो अपनी कौम के स्वभाव से अपरिचित नहीं हैं"। यह तो सोडा वॉटर की बोतल है। सिर्फ घडीभर के लिए जोश आता है, बस हमें उसीका उपयोग कर लेना चाहिए। जोश हटा कि मामला खतम है। इस शब्द-बाण में ज़हर न था। किसी अन्य समय भी मुझे इसी प्रकार सहन करना पडा था। मैंने कुछ हंस कर उत्तर दिया "आप जिसे मेरा भोलापन समझे हुए हैं वह तो अब मेरे स्वभाव का एक अंग हो गया है। यह भोलापन नहीं, विश्वास है; और मैं समझता हूं कि विश्वास करना तो मेरा आपका सभी का धर्म है, इसलिए यदि मेरी सेवा से आपको कोई फायदा हो रहा हो, तो मेरी इस स्वभावगत बुराई से—यदि आप इसे बुराई समझें तो—होने वाले नुकसान को भी आपको बरदाश्त कर लेना चाहिए। फिर आपके साथ साथ मैं यह नहीं मानता कि जाति का उत्साह सोडा वॉटर की बोतल के उफान के जैसा है। जाति में आप भी हैं और मैं भी। यदि मेरे उत्साह को आप ऐसा विशेषण दें, तो मैं इसे जरूर अपना अपमान समझूँगा। मुझे विश्वास है कि आप भी अपने को उस नियम के अपवाद-रूप ही मानते होंगे। अगर आप अपने को स्थिरोत्साह न मानते हों, और साथ ही यदि आप अपने ऊपर से कौम के उत्साह का अनुमान करते हों, तो उस हालत में भी उपर्युक्त अनुमान द्वारा आप जाति का अपमान ही कर रहे हैं। ऐसे महान् युद्ध में ज्वार-भाटा तो आता ही रहता है। हम चाहे कितनी ही सावधानी रक्खें, पर यदि प्रति-पक्षी हमारे साथ विश्वास-घात

ही करने पर तुला हुआ हो, तो हम उसे किस तरह रोक सकते हैं ? इसी मंडल में ऐसे कई लोग हैं जो नालिश करने के लिए मेरे पास प्रॉमिसरी नोट्स लाते हैं। अपने दस्तखत तक दे कर के जिसने अपने को बाँध लिया है, ऐसे आदमी के साथ हम और कितनी सावधानी कर सकते हैं ? पर फिर भी हमें अदालत में उससे लडना ही पडता है। वह सामना करता है, अनेक प्रकार से बचाव करता है, फैसला होता है और सजायें भी ठोंक दी जाती हैं। इस तरह की घटनाओं के लिए भी कहीं कोई दवा या सावधानी हो सकती है, जिससे वे फिर से न होने पावें ? इसलिए मेरी तो यही सलाह है कि जिस उलझन में हम जा गिरे हैं, उसे धीरज के साथ सुलझावें। हमें तो अब यही विचार करना चाहिए कि यदि हमें फिर से लड़ना पड़ा तो आगे क्या करना चाहिए? अर्थात् इस बात का विचार छोड़कर कि दूसरे लोग क्या करेंगे हमें तो यही सोचना चाहिए कि प्रत्येक सत्याग्रही स्वयं क्या करेगा या क्या कर सकता है । मेरा तो यह ख्याल है कि यदि इतने सब हम सच्चे बने रहेंगे तो दूसरे भी वैसे ही दृढ़ रहेंगे। अथवा यदि उनमें किसी प्रकार की कमजोरी आ भी गई तो वे हमारा उदाहरण लेकर अपनी उस दुर्बलता को दूर कर देंगे।

मुझे मालूम होता है, जिन भाइयों ने पुनः लड़ाई चला सकने के विषय में, शुभ हेतु से ही ताने के रूप में शङ्का प्रकट की थी, वे भी समझ गये। इन दिनों काछलिया प्रतिदिन अपनी अपूर्व सत्यप्रियता तथा निश्चय का परिचय दे रहे थे। तमाम बातों में कम से कम बोल कर वे अपना निश्चय जाहिर कर देते, और उस पर अड़े रहते। मुझे तो ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं,

जिसमें उन्होंने दुर्बलता जाहिर की हो, अथवा अन्तिम परिणाम के विषय में कोई शङ्का ही प्रकट की हो। शीघ्र ही ऐसा अवसर आया, कि जब ईसप मियां ने तूफानी समुद्र में कर्णधार बने रहने से इन्कार कर दिया। उस समय सब ने एक मत से काछलिया का स्वागत किया। तब से लगा कर आखिरी घड़ी तक उन्होंने पतवार पर से अपना हाथ नहीं हटाया। और यह करते हुए उन्होंने उन तमाम मुसीबतों का निश्चिन्त और निर्भय हो कर सामना किया, जिनको शायद ही अन्य कोई सहन कर सकता। ज्यों ज्यों युद्ध आगे बढ़ने लगा त्यों त्यों ऐसा समय भी आने लगा कि कितने ही लोगों के लिए जेल में चले जाना एक आसान काम हो गया। क्योंकि वहाँ उन्हें आराम मिलता, और बाहर रहना इससे कहीं अधिक मुश्किल था। यहाँ तो हर बात का सूक्ष्म विचार करके उसकी उचित व्यवस्था करनी पड़ती, और अनेक मनुष्यों को समझाना पड़ता। यह सब जेल में जाने की अपेक्षा बहुत ज्यादह मुश्किल था। अब अवसर पाकर गोरे कर्जदारों ने काछलिया सेठ को अपने सिकंजे में पकड़ा।

कई भारतीय व्यापारियों को अपने व्यापार के लिए गोरे व्यापारियों की कोठियों पर अवलम्बित रहना पड़ता था। वे लाखों रुपयों का माल बिना किसी प्रकार की रहन के केवल भारतीय व्यापारियों के विश्वास पर दे दिया करते हैं। सचमुच, भारतीय व्यापार की प्रमाणिकता का यह एक सुन्दर नमूना है कि वे वहां पर इतना विश्वास सम्पादन कर सके हैं। काछलिया सेठ के साथ भी कई अंग्रेजी फर्मों का इसी प्रकार का लेन देन का सम्बन्ध था। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, किसी प्रकार

सरकार की ओर से इशारा मिलते ही, ये व्यापारी लगे काछलिया सेठ से अपनी वे सब मुद्रायें मांगने, जो उनकी तरफ लेना निकलती थीं। उन्होंने तो काछलिया सेठ को बुलवा कर यहाँ तक कहा कि 'यदि आप इस युद्ध से अपना अंग बचा लें तब तो आपको उन मुद्राओं के लिए किंचिन्मात्र भी जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। अगर आप यह न करें तो हमें यह भय हमेशा रहेगा कि सरकार आपको न जाने किस वक्त पकड़ लेती है। और यदि ऐसा ही हुआ तो फिर हमारी मुद्राओं का क्या होगा? इसलिए यदि इस युद्ध में से अपना अंग हटा लेना आपके लिए किसी प्रकार असंभव हो, तो हमारी मुद्राएँ आपको इसी समय लौटा देनी चाहिए। इस वीर पुरुष ने उत्तर दिया "युद्ध तो मेरी व्यक्तिगत वस्तु है। मेरे व्यापार के साथ उसका कोई संबंध नहीं है। अपने धर्म, अपनी जाति के सम्मान, और स्वयं मेरे स्वाभिमान की रक्षा के लिए यह युद्ध छिड़ा हुआ है। आपने मुझे केवल विश्वास पर जो माल दिया है उसके लिए मैं आपका जरूर एहसानमन्द हूँ। पर इसलिए मैं न तो उस कर्ज को और न मेरे व्यापार को ही सर्वोपरि स्थान दे सकता हूँ। आपके पैसे मेरे लिए सोने की मुहरें हैं। अगर मैं जिन्दा रहा, तो अपने आपको बेंच कर भी आपके पैसे लौटा दूँगा। पर मान लीजिए कि मेरा और कुछ हो गया, तो उस हालत में आप यह विश्वास रक्खें कि मेरा माल और तमाम उघाई आपके हाथों में ही है। आज तक आपने मेरा विश्वास किया है। मैं चाहता हूँ कि आगे के लिए भी आप इसी प्रकार मेरा विश्वास करें।" यह दलील बिलकुल ठीक थी। काछलिया की दृढ़ता को देखते हुए गोरों को उनपर और भी विश्वास होना चाहिए

था। पर बात यह थी, कि इस समय उन लोगों पर इसका कोई असर नहीं हो सकता था। हम सोए हुए आदमी को तो जगा सकते हैं, पर सोने का ढोंग बनाने वाले को नहीं। यही हाल उन गोरे व्यापारियों का भी हुआ। वे तो काछलिया सेठ को दबाना चाहते थे, उनकी लेन-देन थोड़े ही डूबने चली थी।

मेरे दफ्तर में लेनदारों की एक मीटिंग हुई। मैंने उन्हें साफ साफ शब्दों में कह दिया, कि आप इस समय जो काछलिया सेठ को दबाना चाहते हैं उसमें व्यापार-नीति नहीं राजनैतिक चाल है। व्यापारियों को यह काम शोभा नहीं देता। पर वे तो और भी चिढ़ गये। काछलिया सेठ के माल और उघाई दोनों की फेहरिस्त मेरे पास थी। उसे मैंने उन व्यापारियों को दिखाया। यह भी सिद्ध कर दिखाया कि उससे उन्हें अपना पूरा धन मिल सकता है, और कहा—'इतने पर भी यदि आप इस तमाम व्यापार को किसी दूसरे आदमी के हाथ बेंच देना चाहते हों तो काछलिया सेठ अपना तमाम माल और उघाई खरीदार को सौंपने के लिए भी तैयार हैं। यदि यह भी आपको स्वीकार न हो, तो दूकान में जितना भी माल है, उसे मूल कीमत में आप ले लें। केवल माल से यदि काम न चले तो उसके बदले में उघाई में से जिसे पसन्द करें आप ले लें।" पाठक सोच सकते हैं कि गोरे व्यापारी यदि इस प्रस्ताव को मंजूर कर लेते तो उनकी कोई हानि नहीं होती। (और कई मवक्किलों के संकट-समय में मैंने उनके कर्ज की यही व्यवस्था की थी) पर इस समय व्यापारी न्याय न चाहते थे। काछलिया नहीं झुके और वे दिवालिये देनदार साबित हुए।

पर यह दिवालियापन उनके लिए कलङ्क-रूप नहीं, बल्कि भूषण था। इससे कौम में उनकी इज्जत-आबरू कहीं बढ गई और उनकी दृढ़ता और बहादुरी पर सब ने उनको बधाई दी। यह वीरता तो अलौकिक है। सामान्य मनुष्य उसको भली भाँति नहीं समझ सकते। सामान्य मनुष्य तो यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि दिवालियापन एक बुराई और बदनामी के बदले सम्मान और आदर की वस्तु किस तरह हो सकती है। पर काछलिया को तो यही बात स्वाभाविक मालूम हुई। कई व्यापारियों ने केवल इसी भय के कारण खूनी कानून के सामने सिर झुका लिया कि कहीं उनका दिवाला न निकल जावे। काछलिया भी यदि चाहते तो इस नादारी से छूट सकते थे। युद्ध से विमुख होकर तो वे अवश्य ही ऐसा कर सकते थे। पर इस समय मैं कुछ और ही कहना चाहता हूँ। कई भारतीय काछलिथा के मित्र थे जो उनको इस संकट समय में कर्ज़ दे सकते थे। पर यदि वे इस तरह अपने व्यापार को बचा लेते, तब उनकी बहादुरी में धब्बा नहीं लग जाता? कैद की जोखिम तो उनकी भाँति दूसरे सत्याग्रहियों के लिए भी थी। इसलिए यह तो उनसे हरगिज़ नहीं हो सकता था, कि वे सत्याग्रहियों से पैसे लेकर गोरे व्यापारियों का ऋण अदा कर दें। पर सत्याग्रही व्यापारियों के समान ही अन्य भारतीय भी उनके मित्र थे, जिन्होंने खूनी कानून के सामने सिर झुका दिया था। और मैं जानता हूँ कि उनकी सहायता भी काछलिया सेठ को मिल सकती थी। जहां तक मुझे याद है, एक दो मित्रों ने उन्हें इस विषय में कहलाया भी था। पर उनकी सहायता लेने का अर्थ तो यही न होता कि हमने इस

बात को स्वीकार कर लिया, कि खूनी कानून को मानने ही में बुद्धिमानी है। इसलिए हम दोनों इसी निश्चय पर पहुँचे कि उनकी सहायता का स्वीकार हमें कदापि नहीं करना चाहिए। फिर हम दोनों ने यह भी सोचा कि यदि काछलिया अपने को नादार कहलाएंगे तो उनकी नादारी दूसरों के लिए ढाल का काम देगी। क्योंकि अगर सौ में पूरी सौ नहीं तो फी सदी निन्यानवे नादारियों में लेनदार को नुकसान उठाना पड़ता है। अगर उनके लेने में से फी सदी पचास भी मिल जाते हैं तो भी वे खुश होते हैं। जब फी सदी पचहत्तर मिल जायँ तब तो वे उसी को पूरे सौ ही मान लेते हैं। क्योंकि दक्षिण आफ्रिका में प्रतिशत ६।) नहीं बल्कि फी सैकड़ा २५) नफा लिया जाता है। इसलिए अपनी लेन में से फी सैकड़ा ७५ मिलने तक तो वे उसे घाटे का व्यवहार नहीं मानते। किन्तु नादारी में पूरा पूरा तो शायद ही कभी मिलता है। इसलिए कभी कोई लेनदार यह नहीं चाहता कि उसका कर्ज़दार दिवालिया हो जाय।

इसलिए काछलिया का उदाहरण दिखा कर गोरे लोग दूसरे व्यापारियों को धमकी नहीं दे सकते थे। और हुआ भी ऐसा ही। गोरे चाहते थे कि काछलिया को युद्ध से अपना अंग हटा लेने के लिए मजबूर करें, और यदि काछलिया इसे मंजूर न करें तो उन से पूरे सौ के सौ वसूल करें। पर इन दो में से उनका एक भी हेतु सिद्ध न हुआ। इसका तो उलटे एक विपरीत ही परिणाम हुआ। एक प्रतिष्ठित भारतीय व्यापारी को इस तरह नादारी का स्वागत करते हुए देख कर, गोरे व्यापारी चकित हो गये, और हमेशा के लिए शान्त हो गये। परन्तु इधर एक साल के अन्दर ही

ट्रांसवाल की धारा-सभा की बैठकें शुरू हुईं। कौम ने उसमें भी अपनी दरख्वास्त भेजी। नतीजा कुछ न निकला। अन्त में सत्याग्रहियों ने 'अल्टिमेटम्' भेजा। अल्टिमेटम् के मानी हैं वह निश्चय-पत्र या धमकी-पत्र, जो युद्ध करने के हेतु से ही भेजा जाता है। कौम ने 'अल्टिमेटम्' शब्द का उपयोग नहीं किया था। पर कौम की तरफ से अपना निश्चय जाहिर करने वाला जो पत्र गया था, उसका परिचय जनरल स्मट्स ने धारा-सभा में 'अल्टिमेटम्' नाम से ही दिया। साथ ही यह भी कहा कि "जो लोग सरकार को इस तरह धौंस बताने जा रहे हैं, उन्हें सरकार की शक्ति का अनुमान नहीं है। मुझे दुःख तो केवल इसी बात का हो रहा है कि कितने ही उपद्रवी लोग (एजिटेटर) गरीब भारतीयों को उकसा रहे हैं। यदि गरीब लोगों पर उनका प्रभाव पड़ा तो वे बरबाद ही जावेंगे। अखबारों के संवाद-दाताओं ने इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है कि धारा-सभा के कई सदस्य अल्टिमेटम् का नाम सुनते ही आग-बबूला हो गये। उनकी आँखों में खून उत्तर आया, और उन्होंने जनरल स्मट्स द्वारा पेश किया गया मसविदा एक मत से मंजूर कर लिया।

उपर्युक्त 'अल्टिमेटम्' में केवल यही बातें थीं—'जनरल स्मट्स और भारतीय जनता के बीच जो समझौता हुआ था उसमें मुख्य बात यही थी कि भारतीय यदि ऐच्छिक परवाने ले लें तो उनको कानूनन करार देने के लिए धारासभा में एक मसविदा पेश किया जाय, और एशियाटिक कानून रद किया जाय। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि भारतीयों ने ऐच्छिक परवाने ठीक उसी तरह ले लिये जैसा कि सरकारी अधिकारी-गण चाहते थे। इसलिए

अब ऐशियाटिक कानून तो अवश्य ही रद होना चाहिए। कौम ने जनरल स्मट्स से इस विषय में खूब लिखा पढ़ी की। अलावा इसके, न्याय प्राप्त करने के लिए जितने भी कुछ अन्य उपायों का अवलबंन करना जरूरी और उचित था, वह सब कुछ कर गुजरी। पर उसका यह सारा प्रयत्न निष्फल हुआ। मसविदा धारासभा में स्वीकृत होने ही को है, इस समय कौम में जो अशान्ति और उत्तेजना फैली हुई है उसको सरकार पर जाहिर कर देना नेताओं का कर्तव्य है। अतः अब हमें दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि यदि समझौते की शर्तों के अनुसार एशियाटिक कानून रद नहीं किया गया, और यदि ऐसा करने के सम्बन्ध में उसके निश्चय की खबर एक नियत समय से पहले कौम को न मिली तो, वह उन तमाम परवानों को जला देगी, जिनको उसने एकत्र कर रक्खा है, और यह करने पर उस पर जो जो मुसीबतें आवेंगी उन सब को वह विनय और दृढ़तापूर्वक सह लेगी।'

वह कागज एक तो इसलिए 'अल्टिमेटम्' कहा गया कि उसमें जवाव के लिए समय वता दिया गया था। और दूसरा कारण यह था कि गोरों का साधारणतया यही ख्याल था कि हिन्दुस्तानी लोग जंगली होते हैं। अगर गोरे लोग भारतीयों को अपने ही जैसा समझते, तो वे इस कागज को विनय-पत्र कहते, और उसपर गौर करते। पर गोरों का यह जंगलीपन का ख्याल ही भारतीयों के लिए ऐसा कागज लिखने के लिए काफी कारण था। अव कौम के सामने दो समस्यायें थीं, एक तो यह कि खुद को जंगली समझ कर वह हमेशा के लिए दवी रहे, और दूसरी यह कि जंगलीपन को असत्य सावित करनेवाला कोई असली काम करके दिखा दे।

और इस दिशा में सब से पहला कदम यही कागज था। हाँ यदि कौम ने उस पर अमल करने का दृढ़ निश्चय न किया होता, तो जरूर ही वह उद्धत समझा जाता और यह साबित होता कि भारतीय अविचारी तथा अनघढ़ हैं।

पाठकों के दिल में एक शंका हो सकती है। इस 'जंगलीपन' का इन्कार तो पहले पहल १९०६ में ही कर दिया गया था, जब कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा ली गई थी। और यदि यह सत्य है, तो इस कागज में ऐसी कौन भारी विशेषता थी जिसके कारण मैंने उसे इतना महत्व दे रक्खा है 'और मैं यह कह रहा हूं कि इस कागज के द्वारा ही कौम ने अपने जंगली होने का इन्कार करना आरम्भ किया। एक दृष्टि से यह दलील सत्य मानी जा सकती है। पर जरा गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि इन्कार करने का सच्चा आरम्भ तो निश्चय-पत्र से ही होता है। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की घटना तो अनायास ही हो गई थी; उसके बाद की कैद वगैरा भी उसका एक अनिवार्य परिणाम मात्र था, और उसमें कौम ने विजय भी अज्ञातत: ही प्राप्त की थी। इस कागज के समय तो सम्पूर्ण ज्ञान और अपनी प्रतिष्ठा के लिए दावा करने का स्पष्ट हेतु भी था। पहले की तरह खूनी कानून को रद करने का हेतु तो अब भी जरूर था। पर इसके साथ ही साथ भाषा, शैली, कार्य-पद्धति का चुनाव आदि में भी काफी फर्क था। गुलाम मालिक को सलाम करता है 'और एक मित्र भी अपने मित्र को सलाम करता है। हैं तो दोनों ही सलाम, पर उन दोनों में इतना फर्क है कि एक तटस्थ प्रेक्षक फौरन एक को गुलाम और दूसरे को मित्र समझ जाता है।

अल्टिमेटम भेजते समय हम लोगों में यह चर्चा भी हुई थी कि समय देकर उत्तर मांगना कहीं अविनय में तो नहीं शुमार होगा ? कहीं ऐसा न हो कि स्थानीय सरकार हमारी मांग को स्वीकार करने जा रही हो, और इस कागज को पढकर चिढ जाय और उसका अस्वीकार कर दे। क्या, केवल अप्रत्यक्ष रूप से कौम का निश्चय ज़ाहिर कर देना ही काफी न होगा ? इस तरह सोच विचार के बाद हम सब एक मत से इसी निर्णय पर पहुंचे कि जो सत्य और योग्य हो, वही किया जाय। इसके लिए यदि अविनयी होने का दोष हमारे सिर मढा जाय, तो उसे भी हमें सह लेना चाहिए। सरकार यदि हमारे साथ न्याय करना चाहती हो, और इस कागज को पढ़कर वह झूट-मूट ही नाराज होने का बहाना कर के न्याय करने से इन्कार भी कर दे, तो परवा नहीं। इस जोखिम को भी हमें झेल लेना चाहिए। अगर हम यह कबूल करने के लिए तैयार नहीं कि मनुष्य की हैसियत से हम किसी भी तरह हीन हैं, और साथ ही अनियमित समय तक तमाम दुखों को सहने के लिए तैयार हैं, तब तो हमें वही रास्ता ग्रहण करना होगा जो सरल और योग्य हो।

अब शायद पाठक देख सकेंगे कि इस बार के निश्चय में कुछ और ही नवीनता, कुछ और ही विशेषता थी। उसकी प्रतिध्वनि धारासभा और गोरों के मंडलों में भी सुनाई दी। कितनों ही ने भारतीयों की हिम्मत की तारीफ की। पर कितने ही गोरे आग बबूला भी हो गये। उनके मुँह से तो ये उद्गार भी निकलने लगे कि हिन्दुस्तानियों को इस उद्दण्डता के लिए जरूर ही सजा देनी चाहिए। दोनों पक्षों ने अपनी चाल-ढाल से भारतीयों के इस कार्य की नवीनता

को स्वीकार किया। यद्यपि उस समय सत्याग्रह एक दम नवीन वस्तु थी। पर फिर भी पिछले सत्याग्रह की अपेक्षा इस पत्र द्वारा कहीं ज्यादह हल चल मच गई। इसका एक प्रत्यक्ष कारण भी है। जिस समय सत्याग्रह शुरू हुआ था, उस समय कौम की शक्ति का ठीक ठीक पता भी किसी को न था। उस समय न तो ऐसा कागज और न उसकी भाषा ही शोभा दे सकती थी। पर अब तो कौम थोड़ी बहुत कसौटी पर चढ़ चुकी थी। और इस बात को सभी जान गये थे कि सामाजिक मुसीबतों का सामना करते हुए आने वाले कष्टों को सहने की शक्ति कौम में है। इसलिए निश्चय-पत्र की भाषा स्वभावतः अशोभनीय नहीं, बल्कि प्रभावशाली ही मालूम हुई।

तीसरा अध्याय

ऐच्छिक परवाने की होली

अल्टिमेटम् अथवा निश्चय-पत्र की आखिरी मीयाद का दिन वही रक्खा गया था, जिस दिन कि वह दूसरा एशियाटिक कानून मंजूर होने को था। मीयाद बीतने के दो घंटे बाद परवाने जलाने का सार्वजनिक समारोह करने के हेतु एक सभा निमन्त्रित की गई थी। सत्याग्रह-कमिटी ने सोचा था कि यदि कहीं सरकार अनुकूल उत्तर भेज दे, यद्यपि एक अकल्पित बात ही होती तो भी वह सभा निरर्थक न सिद्ध होगी। क्योंकि यदि ऐसा ही हुआ तो उस सभा द्वारा सरकार का अनुकूल निश्चय भी जाहिर किया जा सकता था।

कमिटी का ख्याल तो यह था कि सरकार निश्चय-पत्र का कोई उत्तर ही न देगी। हम सब पहले ही से सभा-स्थान पर पहुंच गये थे। यह व्यवस्था भी कर दी गई थी कि यदि कहीं सरकार का उत्तर तार से आया तो वह भी फौरन मिल जाय। नियमानुसार सभा मस्जिद की सड़क पर भरी थी, और समय चार बजे का था। मस्जिद वाला मैदान भारतीयों से खचाखच भर गया। दक्षिण आफ्रिका के हब्सी लोग अपना खाना पकाने के लिए चार

पांव वाली कढ़ाइयाँ रखते हैं, जो आवश्यकतानुसार छोटी या बड़ी भी होती हैं। इसी तरह की बड़ी से बड़ी एक कढ़ाई, जो वहां मिल सकी, परवाने जलाने के लिए एक भारतीय व्यापारी की दूकान से माँग लाये थे, और उसे एक कोने में ऊंचे मंच पर रखा दिया गया था।

सभा शुरू करने का समय हुआ, कि इतने ही में एक स्वयं-सेवक बाई-सिकल पर चढ़ कर आ पहुंचा। उसके हाथ में तार था। वह सरकार का उत्तर था। उसमें कौम के निश्चय पर दुःख प्रकट करते हुए यह जाहिर किया था कि सरकार अपने निश्चय को नहीं बदल सकती। तार सभा को पढ़ कर सुना दिया गया। सभा ने उसका बड़ा स्वागत किया, मानों सरकार यदि निश्चय-पत्र की मांग को मंजूर कर लेती, तो परवानों की होली जलाने का शुभ अवसर हाथ से मारा जाता। यह कहना महा कठिन है कि इस हर्ष को योग्य कहा जाय या अयोग्य। इसकी योग्यायोग्यता का निर्णय तो तब तक नहीं दिया सकता, जब तक कि हम सरकार के इस उत्तर का करतल-ध्वनि से स्वागत करने वालों के हेतु को नहीं जान लेते। हां, इतना तो जरूर कहा जा सकता है कि यह प्रसन्नता सभा के उत्साह की सुन्दर निशानी थी। सभा अपनी शक्ति को कुछ कुछ पहचानने लग गई थी। अस्तु।

सभा का कार्य शुरू हुआ। अध्यक्ष ने सभा को सावधान किया। परिस्थिति को समझाया। प्रसंगोचित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। जो भिन्न भिन्न परिस्थितियां खड़ी हो गई थीं उन सब को मैंने सम-झाया और कहा 'जिन भाइयों ने अपने परवाने जलाने के लिए दिये हैं, यदि वे चाहें तो उन्हें वापिस ले सकते हैं। परवानों को जला देना मात्र कोई अपराध नहीं है, और न केवल यह कर

लेने भर से उनकी इच्छा पूरी हो सकती है जो जेल जाना चाहते हैं। परवाने जला कर तो हम केवल अपना यह निश्चय जाहिर करते हैं, कि हम खूनी कानून के सामने अपना सर नहीं झुकावेंगे, और न हम इतनी शक्ति भी अपने पास रखना चाहते हैं कि मौका पड़ने पर, भारी मुसीबत के समय, झट परवाना दिखा कर छूट जायँ। यदि कोई इस सभा में सब के साथ अपना परवाना भी जला दे और कल ही जा कर फिर नया परवाना ले आवे, तो उसे कोई रोक नहीं सकता। पर जो यह कुकर्म करना चाहता हो, और जिसे यह सन्देह हो कि परीक्षा के समय शायद मैं मजबूत न रह सकूँगा, उसके लिए भी अभी समय है। वह अपना परवाना वापिस ले सकता है। जिसे अपना परवाना वापिस लेने की इच्छा हो, उसे इस समय जरा भी लज्जा या संकोच न करना चाहिए। लज्जा और संकोच का कोई कारण ही नहीं। मैं तो इसे एक प्रकार की बहादुरी कहूंगा। हां, बाद में परवाने की नकल लेना जरूर लज्जा और बदनामी की बात कही जा सकती है। उससे कौम की हानि भी होगी। एक बात और है। कौम को यह भी याद रखना चाहिए कि, सम्भव है, युद्ध बहुत दिन चले। हम यह भी जानते हैं कि हम में से कितने ही अपने निश्चय से गिर गये हैं, अतः यह तो जाहिरा बात है कि अब जो बचे रह गये हैं उनको कौम का गाडा उतनी ही अधिक ताक़त के साथ खींचना होगा। इसलिए आप सब से मेरी यह सलाह है कि आज का यह साहस, कार्य करने से पहले हम इन सब बातों का पूरा पूरा विचार कर लें।

मेरे भाषण के बीच में सभा से यह आवाज तो उठती ही

रहती थी कि 'हमें परवानों की जरूरत नहीं है। उनको जला दीजिए।' अन्त में मैंने उन लोगों को अपनी बाजू सभा के सामने रखने के लिए कहा जो इस कार्य का विरोध जाहिर करने की इच्छा रखते हों। पर कोई खड़ा न हुआ। वह पुराना मित्र मीर आलम भी इस सभा में हाजिर था। खड़े होकर उसने कहा कि 'मैंने बड़ी भूल की जो आपको मारा था' और उसने अपना असल परवाना जलाने के लिए मुझे सौंप दिया। ऐच्छिक परवाना तो उसने लिया ही नहीं था। मैंने मीर आलम का हाथ पकड़ कर प्रेम-पूर्वक दबाया और उसे फिर से कह सुनाया कि मेरे दिल में तो कभी किसी प्रकार का रोष था ही नहीं। मीर आलम के इस कार्य से सभा को असीम हर्ष हुआ।

इस समय कमिटी के पास २००० से भी अधिक परवाने जलाने के लिए आ पहुंचे थे। उनके बंडल को मैंने उस कढाई में फैलाया, ऊपर से मिट्टी का तेल छिडका और लगाई दिया सलाई! एकाएक सारी सभा खडी हो गई, और जब तक वे परवाने जलते रहे तालियों से उसने सारे मैदान को गूंजा दिया! कितने ही, लोगों ने अब तक भी अपने परवानों को अपने पास ही रख छोड़ा था। अब उनकी बर्षा मंच पर होने लगी। उन्हें भी उस कढाई में डाल दिया गया। जब उनसे पूछा गया कि होली जलाने से पहले ही परवाने क्यों नहीं दिये, तब कई लोगों ने उत्तर दिया कि हमारा ख्याल था कि होली जलने के बाद देने में अधिक शोभा है, और उसका असर भी अधिक पडता है। दूसरे कितनों ही ने साफ तौर से कबूल कर लिया कि 'हमें हिम्मत ही नहीं पडती थी। आखिरी घडी तक हमें यही सन्देह था कि शायद परवाने न भी जलाये

जावें। पर अब यह होली देख कर तो हम से जरा भी न रहा गया। जो सब की गति होगी, वही हमारी भी होगी'। इस तरह की अव्याज सरलता के कई नमूने हमें उस युद्ध में मिले। अंगरेजी अखबारों के सम्वाददाता भी इस सभा में आये थे। उन पर भी उस तमाम दृश्य का बडा सुन्दर असर पडा। उन्होंने अपने समाचार-पत्रों को सभा का पूरा वर्णन भेजा था। इंग्लैण्ड की 'डेली मेल' के जोहान्सवर्ग वाले सम्वाददाता ने भी अपने 'पत्र' को सभा का वर्णन भेजा था। उसने परवानों को इस होली की तुलना उस घटना के साथ की थी, जव अमेरिका के अंगरेजों ने इंग्लैण्ड से भेजी हुई चाय की पेटियों को वोस्टन में बन्दरगाह के डुबो कर अपना यह निश्चय जाहिर किया था कि वे कभी इंग्लैण्ड की अधीनता नहीं स्वीकार करेंगे। दक्षिण आफ्रिका में एक तरफ तो था १३००० भारतीयों का निराधार समुदाय और दूसरी ओर था ट्रान्सवाल का वलशाली राज्य! उधर अमेरिका में एक तरफ हर बात में कुशल गोरे लोग थे और दूसरी तरफ अँग-रेजी सल्तनत। मेरा तो ख्याल है कि इन दोनों की तुलना कर 'डेलीमेल' के स म्वाददाता ने भारतीयों के विषय में जरा भी अत्युक्ति नहीं की। भारतीयों के पास तो सिवा अपने सत्य और परमात्मा के ऊपर श्रद्धा के और कोई हथियार ही नहीं था। इसमें शक नहीं कि एक श्रद्धालु मनुष्य के लिए यही हथियार सर्वो-परि है। परन्तु जन-समाज में अभी यह दृष्टि नहीं आई। तब तक निःशस्त्र १३००० भारतीय सशस्त्र गोरों के मुकाबले में निर्बल ही समझे जावेंगे। पर वह दयाघन तो "निर्बल का बल राम" है न? इसलिए यही ठीक है कि संसार इन्हें निर्बल समझे।

अब स्थानीय सरकार से इस विषय में पत्र-व्यवहार शुरू हुआ। किन्तु इसका फल कुछ न हुआ। कानून में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ, उलटे कौम को, और सच पूछिए तो मुझे, बदनाम करने के लिए एक नवीन साधन मात्र जनरल स्मट्स के हाथ लग गया। वे जानते थे कि जाहिरा तौर पर जितने गोरे कौम की सहायता कर रहे थे, उनसे कहीं अधिक खानगी तौर से कौम के साथ सहानुभूति रखते थे। अतः उन्होंने स्वभावतः सोचा कि यदि गोरों की इस सहानुभूति को वे नष्ट कर सकें तो कैसा अच्छा हो! यह सोच विचार कर उन्होंने मुझ पर यह आरोप लगाया कि इसने एक और भी नई बात खडी कर दी। बल्कि वे तो इससे भी आगे बढ़ गये। उन्होंने तो अपनी बात चीत तथा लेखों द्वारा हमारे अंगरेज सहायकों से यहाँ तक कहा कि 'गांधी को जितना मैं जानता हूँ, उतना आप लोग नहीं जानते। आप यदि इसे उँगली बतावेंगे तो यह फौरन हाथ ही पकडने की कोशिश करेगा। यह सब मैं जानता हूँ। इसीलिए एशियाटिक एक्ट रद नहीं करता हूँ। जब उसने सत्याग्रह छेडा था, तब नवीन बस्ती वाले कानून का तो कहीं नामोनिशान भी नहीं था। अब ट्रान्सवाल की रक्षा के लिए नवीन भारतीयों को यहां आने से रोकते हैं तो वहां भी यह अपना सत्याग्रह घुसेडना चाहता है। इस चालाकी (Cunning) को हम कहाँ तक बरदाश्त करें? यह जो चाहे सो करे। भले ही सब भारतीय बरबाद हो जायँ। मैं इस कानून को अब रद नहीं करूँगा और न उस नीति को ही छोडूँगा, जो स्थानीय सरकार ने भारतीयों के विषय में कायम कर रक्खी है। प्रत्येक गोरे का भी यही कर्तव्य है कि वह इस न्याय्य-विधान का समर्थन करने के लिए तैयार हो जावे।'

किंचित् विचार करने से मालूम होगा कि उपर्युक्त दलील बिलकुल अनुचित और नीति-विरूद्ध थी। जिस समय नवीन बस्ती का प्रतिबंध करने वाले कानून का जन्म ही नहीं हुआ था, तब भला मैं या कौम उसके विरोध में आन्दोलन ही कैसे कर सकते थे? उन्होंने मेरी चालाकी अथवा (Cunning) के अनुभव की बात कह तो डाली, पर वे इसके प्रमाण में एक भी उदाहरण पेश नहीं कर सके थे। मैं खुद भी तो जानता हूँ कि मैं इतने साल दक्षिण आफ्रिका में रहा, पर मुझे स्मरण नहीं होता कि मैंने वहाँ कभी चालाकी से काम लिया हो। बल्कि इस प्रसंग पर तो मुझे और भी आगे बढकर यहाँ तक कहने में भी कोई हिचपिचाहट् नहीं मालूम होती कि अपने सारे जीवन में मैंने कभी चालाकी से काम नहीं लिया। मैं इसे नीति-विरुद्ध ही नहीं बल्कि युक्ति-विरुद्ध भी मानता हूँ। इसलिए व्यवहार-बुद्धि से भी मैंने उसका उपयोग करना कभी पसन्द नहीं किया। अपने बचाव के लिए मैं इतना लिखना भी आवश्यक नहीं मानता। जिन पाठकों के लिए मैं यह लिख रहा हूँ, उनके सामने मुझे यह बचाव अपने ही मुँह से करते हुए लज्जा मालूम होती है। यदि उन्हें अब तक मेरे निश्छल और निष्कपट स्वभाव का अनुभव न हुआ हो, तो मैं यह बात अपना बचाव दे कर कभी सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त वाक्य तो मैंने केवल इस हेतु से लिखे कि पाठकों को इस बात की थोडी बहुत कल्पना हो जाय कि सत्याग्रह के युद्ध में लडते समय कैसे कैसे संकटों का सामना करना पडता था। साथ ही पाठक इस बात को भी समझ लें कि सुनीति के निर्दिष्ट मार्ग से यदि कौम जरा भी विचलित हो जाती तो किस खतरे में वह जा गिरती।

बीस फीट ऊँची लकडी पर लटकाई हुई रस्सी पर चलने वाले मल्लों को कितनी एकाग्रता करनी पडती है ! उनकी नजर जरा भी चूकी कि दोनों तरफ, जिस तरफ वे गिरें उसी तरफ, मौत उनका स्वागत करने के लिए तैयार रहती है। मैंने भी आठ साल के विशाल अनुभव से यही सीखा कि ठीक मल्ल की तरह, वल्कि उससे भी अधिक एकाग्र नजर करके सत्याग्रही को भी संसार में वरतना पडता है। जिन मित्रों के समक्ष जनरल स्मट्स ने अपने अनुभव की बात कही थी, वे मुझे भलो भांति जानते थे। इसलिए उन पर जनरल स्मट्स की धारणा के ठीक विपरीत ही प्रभाव पडा। उन्होंने न तो मेरा त्याग किया और न उस युद्ध का ही। इतना ही नहीं, वल्कि अब तो वे और भी अधिक दिलचस्पी के साथ सहायता करने लग गये। कौम को भी आगे चलकर यही अनुभव हुआ कि यदि बस्ती के कानून का हम लोग सत्याग्रह में समावेश न करते तो हमें भारी मुसीबत का सामना करना पडता।

अनुभव मुझे यह शिक्षा देता है कि जिसे मैं 'वृद्धि का नियम' कहता हूँ वह प्रत्येक शुद्ध लडाई में लागू होता है। परन्तु सत्याग्रह के विषय में तो मैं उसे सिद्धान्त रूप से मानता हूँ। गंगाजी ज्यों ज्यों आगे वढती जाती हैं, त्यों त्यों उनमें अनेक नदियाँ मिलती जाती हैं और अन्त में उनके मुख के पास उनका पात्र इतना विशाल हो जाता है कि न तो दाहिनी ओर और न वांई ओर किनारा दीख पडता है। नाव में वैठे हुए मुसाफिर को तो उनके और समुद्र के विस्तार में कोई फर्क नहीं दिखाई देता। वही वात सत्याग्रह के युद्ध के विपय में भी चरितार्थ होती है। वह ज्यों ज्यों आगे वढता जाता है त्यों त्यों

उसमें अनेक वस्तुएँ मिलती चली जाती हैं, और इसलिए उसके परिणाम में भी वृद्धि होती जाती है। सत्याग्रह के इस परिणाम को, उसकी इस विशेषता को, मैं अनिवार्य मानता हूँ। उसका कारण उसका मूल-भूत तत्व ही है। क्योंकि सत्याग्रह में तो कम से कम ही ज्यादह से ज्यादह है। अर्थात् जो कम से कम है, उसमें से और छोड़ा भी क्या जा सकता है? शुद्ध सत्य से कम क्या होगा? इसलिए उसमें मनुष्य पीछे तो हट ही नहीं सकता। स्वाभाविक क्रिया वृद्धि ही है। अन्य लड़ाइयाँ शुद्ध हो सकती हैं, किन्तु उनमें आगे चल कर अपनी मांगें घटाने के लिए अवकाश पहले ही से रक्खा जाता है। इसलिए मैंने इस विषय में यह शँका जाहिर की कि वृद्धि का नियम उनमें निरपवाद रूप से नहीं लग सकता। अब यह समझाना बाकी रहा कि वृद्धि का नियम निरपवाद रूप से ही कैसे लगता है, जहाँ माँग कम से कम है। जिस तरह गंगा नदी वृद्धि को ढूँढने के लिए अपना मार्ग नहीं छोड़ती, ठीक उसी तरह सत्याग्रही भी अपने मार्ग को, जो तलवार की धार के समान है, नहीं छोड़ता। गंगा का प्रवाह ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अन्य सरितायें उसे अपने आप मिलती जाती हैं, ठीक वही बात सत्याग्रह की गँगा के विषय में भी चरितार्थ होती है। बस्ती का कानून सत्याग्रह में शामिल कर लेने पर, और उसे देख कर सत्याग्रह के सिद्धान्तों को न जानने वाले कितने ही भारतीयों ने यह आग्रह किया कि ट्रान्सवाल के भारतीयों के खिलाफ जितने भी कानून हैं, उन सब को सत्याग्रह में शामिल कर लिया जाय। दूसरे कितने ही लोगों ने यह भी कहा कि जब तक सत्याग्रह शुरू है, तब तक नाताल, केप कालोनी, आरेञ्ज फ्री

स्टेट आदि सब को निमन्त्रित कर, समस्त दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के खिलाफ़ जितने भी कानून हैं, उनमें से प्रत्येक के विरुद्ध सत्याग्रह छेड़ दिया जाय। परन्तु इन दोनों बातों से सिद्धांत का भंग होता। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि जिस बात को हमने सत्याग्रह शुरू करने से पहले पेश नहीं किया था, उसे अब मौका देख कर खड़ी करना अप्रामाणिकता है। हमारी शक्ति चाहे जितनी क्यों न बढ़ जाय, तथापि जिस बात के लिए हमने सत्याग्रह छेड़ा था, वह सिद्ध होते ही हमें अपने सत्याग्रह को भी समाप्त कर देना चाहिए। अगर हम इस सिद्धान्त पर दृढ़ न रहते तो मेरा पूरा विश्वास है कि जीतने के बदले हमें हारना ही पड़ता। इतना ही नहीं, बल्कि हमने जो विश्वास सम्पादन कर लिया था, उससे भी हमें हाथ धोना पड़ता। इसके विपरीत प्रतिपक्षी सत्याग्रह के बीच ही में यदि नई आपत्तियाँ खड़ी कर दे, तो अवश्य ही उनका समावेश सत्याग्रह में हो जाता है। अपने निश्चित मार्ग पर चलते हुए सत्याग्रही यदि राह में अनायास आने वाली वस्तुओं की अवगणना, करे तो उसे सत्याग्रह को ही छोड़ना पड़े। और प्रतिपक्षी तो सत्याग्रही होता ही नहीं। (क्योंकि सत्याग्रह के विपक्ष में सत्याग्रह एक असम्भवनीय वस्तु है।) इसलिए उसे न्यूनाधिकता का बन्धन ही नहीं होता। यदि वह सत्याग्रही को डराना चाहे तो कोई नवीन वस्तु खड़ी करके ऐसा कर सकता है। पर सत्याग्रही भय को तो पहले ही से त्याग देता है। इसलिए प्रतिपक्षी के नवीन आपत्तियाँ खड़ी करने पर भी सत्याग्रही अपना मंत्रोच्चार उसी तरह शुरू रखता है। और यह श्रद्धा रखता है कि इन तमाम आपत्तियों के सामने

यह मंत्रोच्चार अवश्य ही फलदायी होगा। इसीलिए सत्याग्रह की लड़ाई ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, अर्थात् प्रतिपक्षी ज्यों ज्यों उसे लम्बाता है, त्यों त्यों सत्याग्रही की दृष्टि से तो प्रतिपक्षी अपनी हानि और सत्याग्रही का फायदा ही करता है। इस लड़ाई के इतिहास में हम इस नियम के कई उदाहरण आगे चल कर देखेंगे।

पांचवां अध्याय

सोराबजी शापुरजी अडाजनिया

नवीन बस्ती वाला कानून भी सत्याग्रह में शामिल कर लिया गया। पर नवीन भारतीयों को दाखल करना आसान नहीं था, यह करना भी सत्याग्रहियों का ही काम था। कमिटी ने यह तो निश्चय कर लिया था कि ऐसे वैसे भारतीय द्वारा यह काम नहीं लेना चाहिए। नवीन बस्ती के कानून में दो प्रतिबंधक शर्तें थीं, जिनके विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं थी। अतः हमने किसी ऐसे ही मनुष्य को ट्रान्सवाल में दाखल कर के जेल रूपी महल में भेज देना चाहा, जो उन दोनों शर्तों का पालन कर सकता हो। इसके द्वारा हमें यह साबित करना था कि सत्याग्रह तो मर्यादा-धर्म है। इस कानून में एक यह भी धारा थी कि ट्रान्सवाल में आने वाले नवीन आदमी को यूरोप की किसी भी एक भाषा का ज्ञान होना जरूरी है। इसलिए कमिटी ने किसी ऐसे ही आदमी को ट्रान्सवाल में लाने की सोची, जो अंगरेजी जानता हो पर पहले कभी ट्रान्सवाल में न रहा हो। कितने ही भारतीय उमीदवार खड़े हुए। पर कमिटी ने उनमें से सोराबजी शापुरजी अडाजनिया की विनन्ति को ही बतौर कसौटी (टेस्ट केस) के मान्य किया।

सोराबजी पारसी थे। नाम से ही स्पष्ट है। सारे दक्षिण आफ्रिका में पारसियों की जन-संख्या सौ से ज्यादह नहीं होगी। पारसियों के विषय में दक्षिण आफ्रिका में भी मेरा वही मत था जो मैंने भारतवर्ष में प्रकट किया है। संसार भर में एक लाख से ज्यादह पारसी नहीं होंगे। परन्तु इतनी छोटी सी जाति अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा कर रही है, अपने धर्म पर दृढ़ है, और उदारता में संसार की एक भी जाति उसकी बराबरी नहीं कर सकती। इस जाति की उच्चता के लिए इतना ही प्रमाण काफी होगा। अनुभव से ज्ञात हुआ कि सोराबजी उसमें भी रत्न थे। जब वे लड़ाई में शामिल हुए, तब मैं इनको वैसे ही मामूली तौर पर जानता था। लड़ाई में शामिल होने के लिए उन्होंने पत्र-व्यवहार किया था, और उससे मेरा ख्याल भी अच्छा हो गया था। मैं पारसी लोगों के गुणों का तो पुजारी हूँ, परन्तु एक कौम की हैसियत से उनमें जो खामियां हैं उनसे मैं न तो अपरिचित था और न अब ही हूँ। इसलिए मेरे दिल में यह सन्देह जरूर मौजूद था कि शायद सोराबजी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेंगे। पर मेरा यह नियम था कि सामने वाला मनुष्य जब इसके विपरीत बात कर रहा हो, तब ऐसे शक पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इसलिए मैंने कमिटी से यह सिफारिश की कि सोराबजी अपने पत्र में जो दृढता जाहिर कर रहे हैं उस पर हमें विश्वास कर लेना चाहिए। फल यह हुआ कि सोराबजी प्रथम श्रेणी के सत्याग्रही साबित हुए। लम्बी से लम्बी कैद भोगने वाले सत्याग्रहियों में वे भी एक थे। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रह का इतना गहरा अध्ययन कर लिया था कि उसके विषय में वे जो कुछ भी कहते सब को सुनना पडता।

उनकी सलाह में हमेशा दृढता, विवेक, उदारता, शान्ति आदि गुण प्रकट होते। विचार कायम करने में वे जल्दी तो कदापि नहीं करते थे। और एक बार विचार कायम कर लेने पर वे कभी उसे बदलते भी नहीं थे। जितने अंशों में उनमें पारसीपन था, और वह उनमें ठूंस ठूंस कर भरा हुआ था, उतना ही भारतीयपन भी था। संकीर्ण जाति अभिमान जैसी वस्तु तो उनमें किसी दिन भी नहीं पाई गई। लड़ाई खतम होने पर डॉ० मेहता ने अच्छे सत्याग्रहियों में से किसी को इंग्लैण्ड भेज कर बैरिस्टर बनाने के लिए एक छात्र-वृत्ति दी थी। उसके लिए योग्य छात्र चुनने का काम मुझ पर ही रक्खा गया था। दो तीन सुयोग्य भारतीय थे। पर समस्त मित्र-मंडल को दृढता तथा स्थिरता में सोराबजी के मुकाबले में खड़ा होने योग्य कोई नहीं दिखा, इसलिए उन्हींको चूना गया। ऐसे एक भारतीय को इंग्लैण्ड भेजने में मुख्य उद्देश यही था कि वह लौट कर दक्षिण आफ्रिका में मेरे बाद मेरा स्थान ग्रहण कर जाति की सेवा कर सके। कौम का आशीर्वाद और सन्मान लेकर सोराबजी इंग्लैण्ड पहुंचे। बॅरिस्टर हुए। गोखले से तो उनका परिचय दक्षिण आफ्रिका में ही हो चुका था। पर इंग्लेण्ड जाने पर उनका सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। सोराबजी ने उनके मन को हर लिया। गोखले ने उन्हें यह आग्रह भी किया कि जब कभी वे भारत में आवें तब 'भारत-सेवक-समाज' के सभ्य जरूर होवें। विद्यार्थीवर्ग में वे बड़े प्रिय हो गये थे। प्रत्येक मनुष्य के दुख में वे भाग लेते। इंग्लैण्ड के न तो आडम्बर की उनपर किंचिन्मात्र छाप पड़ी और न वहां के ऐशो आराम की। वे जब इंग्लैण्ड गये तब उनकी उम्र ३० साल से ऊपर थी। उनका अंगरेजी का अध्ययन ऊंचे दर्जे

का न था व्याकरण वगैरा सब भूल भाल गये थे। पर मनुष्य के दीर्घोद्योग के सामने ये कठिनाइयां कब खड़ी रह सकी हैं? शुद्ध विद्यार्थी जीवन व्यतीत कर, सोराबजी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते गये। मेरे ज़माने की बरिस्टर की परीक्षा आजकल की परीक्षा की तुलना में कुछ आसान थी। इसलिए आजकल के बॅरिस्टरों को अधिक अभ्यास करना पड़ता है। पर सोराबजी पीछे नहीं हटे। इंग्लैण्ड में जब ऍम्ब्युलन्स कोर की स्थापना हुई, तब उसका आरंभ करने वालों में वे भी थे, और आखिर तक उसमें रहे। इस दल को भी सत्याग्रह करना पड़ा था। उसमें से कई फिसल गये थे पर फिर भी जो अटल रहे, उनमें सोराबजी अग्रगण्य थे। यहां पर मुझे यह भी कह देना चाहिए कि इस दल को सत्याग्रह में भी विजय ही मिली थी।

इंग्लैण्ड में बॅरिस्टर हो कर सोराबजी जोहान्सबर्ग गये। वहां पर उन्होंने सेवा और वकालत दोनों साथ ही साथ शुरू कर दीं। दक्षिण आफ्रिका से मुझे जो पत्र मिले उनमें सोराबजी की तारीफ सभी करते थे। वे अब भी वैसे ही सादा मिजाज हैं, जैसे पहले थे, आडम्बर जरा भी नहीं है। छोटे से बड़े तक सब से हिल मिल कर रहते हैं। पर मालूम होता है, परमात्मा जितना दयालु है उतना ही शायद निठुर भी है। सोराबजी को तीव्र क्षय ने ग्रसा, और कौम का नवीन प्रेम सम्पादन कर उसे दुख में रोती हुई छोड़ कर वे चल बसे। इस तरह परमात्मा ने कौम के दो पुरुष-रत्न छीन लिये—काछलिया और सोराबजी!

पसन्दगी ही करनी हो तो मैं इन दो में से किसे प्रथम-पद दूं? पर मैं तो इस तरह की पसन्दगी ही नहीं कर सकता।

दोनों अपने अपने क्षेत्र में अप्रतिम थे। काछलिया शुद्ध मुसलमान और उतने ही शुद्ध भारतीय भी थे; उसी प्रकार सोराबजी भी शुद्ध पारसी और साथ ही उतने ही शुद्ध भारतीय थे।

यही सोराबजी पहले पहल सरकार को नोटिस देकर केवल 'टेस्ट' अर्थात् कसौटी के लिए ट्रान्सवाल आये। सरकार इसके लिए जरा भी तैयार नहीं थी। इसलिए वह एकाएक यही निश्चय नहीं कर सकी कि सोराबजी को क्या करना चाहिए। सोराबजी तो जाहिरा तौर पर सरहद नाँघ कर ट्रान्सवाल में आ धमके। परवाने जाँचने वाले सरकारी अधिकारी उनको जानते थे। सोराबजी ने कहा "मैं केवल इसी हेतु से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर रहा हूँ कि देखूँ, सरकार मेरा क्या करती है। यदि आप मेरी अँगरेजी की परीक्षा लेना चाहें तो सवाल कीजिए। और अगर गिरफ्तार करना हो, तो यह खड़ा हूँ, गिरफ्तार कर लीजिए" अधिकारी ने कहा "मुझे यह मालूम है कि आप अँगरेजी जानते हैं। इसलिए परीक्षा तो कुछ लेना लिवाना है नहीं। और न आपको गिरफ्तार करने के लिए मेरे पास कोई हुक्म ही है। इसलिए जहां जाना हो, आप सुख पूर्वक जाइएगा। यदि आपको गिरफ्तार करना आवश्यक मालूम हुआ, तो आप जहाँ कहीं जावेंगे, सरकार स्वयं आपको गिरफ्तार कर लेगी।

इस तरह सोराबजी तो अकल्पित रूप से और अचानक जोहान्सबर्ग तक आ पहुँचे। हम सब ने उनका बड़े हर्ष के साथ स्वागत किया। किसी को यह आशा तक नहीं थी कि सरकार सोराबजी को ट्रान्सवाल के सरहद्दी स्टेशन वाक्सरेस्ट से जरा भी आगे बढ़ने देगी। कई बार ऐसा होता है कि जब हम किसी मार्ग पर विचार

पूर्वक और निर्भयता के साथ कदम बढ़ाते चले जाते हैं, तब सरकार उसका विरोध करने के लिये तैयार नहीं होती। प्रत्येक सरकार का प्रायः यही हाल होता है। मामूली आन्दोलनों के समय सरकार का कोई भी अधिकारी अपने विभाग में इतना गहरा मस्तिष्क डाले हुए नहीं रहता कि जिससे वह प्रत्येक विषय में अपने विचार पहले ही से कायम करके रक्खे, और उन पर अमल करने के लिए तैयारियाँ भी कर रक्खे। दूसरे, अधिकारी को अनेक प्रकार के काम होते हैं, जिससे उसका ध्यान बँट जाता है। अलावा इसके, उसे अधिकार का कुछ मद भी तो होता है, जिसके कारण वह ज़रा लापरवाह सा रहता है। वह यह मान लेता है कि हर तरह के आन्दोलन का सामना करके उसे दबा देना सत्ताधीश के बांये हाथ का खेल है। इसके विपरीत आन्दोलन करने वाला यदि अपने ध्येय और उसके साधनों को भली भाँति जानता हो, और साथ ही यदि वह अपनी योजना पर दृढ़ हो, तब तो वह हमेशा पूरी तरह तैयार ही रहता है। क्योंकि उसे तो रात दिन केवल एक ही बात का विचार या चिंता रहती है। इसलिए यदि वह सचाई के साथ उचित मार्ग पर ही कदम रखता चला जाए, तो वह अवश्य ही सरकार से हमेशा आगे रहेगा। संसार की जो कितनी ही हलचलें निष्फल होती हैं, उनका प्रधान कारण सरकार की अपूर्व सत्ता नहीं, बल्कि आन्दोलनकारियों में उपर्युक्त गुणों का अभाव ही होता है।

गरज यह कि सरकार की ग़फलत के कारण कहिए या जान बूझ कर निश्चित की हुई उसकी पहली नीति के अनुसार कहिए सोराबजी जोहान्सबर्ग तक आ पहुँचे। इधर न तो स्थानीय

अमलदार को इस विषय में कुछ ख्याल था कि सोराबजी के जैसे मामले में क्या करना चाहिए, और न ऊपर से ही उसे कोई सूचना मिली थी। सोराबजी के इस तरह एकाएक जोहान्सबर्ग पहुँच जाने से कौम का उत्साह खूब बढ़ गया। कितने ही युवक तो यही समझ गये कि सरकार हार गई। और शीघ्र ही उसे सुलह भी करनी होगी। पर यह स्वप्न अधिक देर तक न टिका। शीघ्र ही उन्हें इस बात को ठीक विपरीत सिद्ध होते हुए देखना पड़ा। बल्कि उन्होंने तो यह भी देख लिया कि सुलह होने से पहले शायद अनेकों युवकों को अपना बलिदान देना होगा।

सोराबजी ने अपने पहुँचते ही आने की खबर वहाँ के पुलिस सुपरिंटेण्डन्ट को देकर लिखा कि 'नवीन बस्ती वाले कानून के अनुसार मैं अपने को ट्रान्सवाल में रहने का हक़दार मानता हूं'। इसका कारण बताते हुए उन्होंने अपना अंगरेज़ी भाषा का ज्ञान लिखाया। यह भी लिखा कि यदि अधिकारी उनकी अंगरेजी की परीक्षा लेना चाहें तो उसके लिए भी उन्होंने अपने को तैयार बताया। इस पत्र का कोई उत्तर न मिला। पर इसके कई दिन बाद उन्हें एक सम्मन्स मिला। मामला अदालत में पेश हुआ। न्यायालय भारतीय प्रेक्षकों से खचाखच भर गया था। मामला शुरू होने से पहले, न्यायालय में आये हुए भारतीयों को वहीं आहते में एकत्र कर उनकी एक तात्कालिक सभा की गई, जिसमें सोरा-बजी ने एक शौर्यशाली भाषण दिया। भाषण के अन्त में उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि "पूरी जीत होने तक जितनी बार जेल में जाना होगा, मैं जाने को तैयार हूं और जितने भी संकट आवेंगे उन सब को झेलने को तैयार हूं"। अब तक इतना समय गुज़र

चुका था कि मैं सोराबजी को अच्छी तरह जानने लग गया था। मैंने अपने मन में यह भी समझ लिया था कि अवश्य ही सोराबजी एक शुद्ध रत्न सिद्ध होंगे। मामला शुरू हुआ। मैं वकील की हैसियत से खड़ा हुआ। सम्मन्स में कितने ही दोष थे। उन्हें दिखाकर मैंने सोराबजी पर से सम्मन्स उठा लेने के लिए कोर्ट से अर्ज किया। सरकारी वकील ने अपनी दलीलें पेश कीं। पर अदालत ने मेरी दलीलों को स्वीकार कर सम्मन्स हटा लिया। कौम मारे हर्ष के पागल हो गई। सच पूछा जाय तो उसके इस तरह पागल होने के लिए कारण भी था। दूसरा सम्मन्स निकाल कर फौरन ही सौराबजी पर पुनः काम चलाने की हिम्मत तो सरकार को किस तरह हो सकती थी? और हुआ भी यही। इसलिए सोराबजी सार्वजनिक कामों में लग गये।

पर यह छुटकारा हमेशा के लिए नहीं था। स्थानीय भारतीयों को तो सरकार पकड़ती ही नहीं थी। सरकार ने देखा कि वह ज्यों ज्यों गिरफ्तारियाँ करती जाती है त्यों त्यों कौम का जोश बढ़ता ही जाता है। फिर किसी न किसी मामले में कानून की बारीकी के कारण यदि कोई भारतीय छूट जाता है, तो इससे भी कौम का जोश बढ़ता है। सरकार को जो कुछ भी कानून बनाने थे वह मँजूर कर चुकी थी। यह सत्य है कि बहुत से भारतीयों ने परवाने जला डाले थे, किन्तु परवाने लेकर वे वहाँ रहने का अपना हक़ भी तो सिद्ध कर चुके थे। इसलिए केवल उन्हें जेल भेजने ही के लिए उन पर काम चलाना सरकार को फायदेमन्द नहीं मालूम हुआ। उसने यह भी सोचा कि यदि हम खामोश रहेंगे तो आन्दोलन करने के लिए इन लोगों के पास कोई कारण नहीं

रह जायगा, और आन्दोलन अपने आप शान्त हो जायगा। पर सरकार का यह ख्याल गलत था। कौम ने सरकार की खामोशी का अन्त देखने के लिए एक ऐसा नवीन काम कर डाला जिससे उसे अपनी खामोशी अलग रख कर सोराबजी पर पुनः मामला चलाना पड़ा।

छठां अध्याय

सेठ दाऊद महमद आदि का युद्ध में शामिल होना

जब कौम ने देखा कि सरकार अपनी चुप्पी और खामोशी से कौम को थका देना चाहती है, तब खुद उसी को अपना कदम आगे बढ़ाना पड़ा। सत्याग्रही में जब तक दुःख सहने की शक्ति होगी तब तक तो वह कभी न थकेगा। सरकार की धारणा को झूठी साबित करने के लिए कौम समर्थ थी।

नाताल में कई ऐसे भारतीय रहते थे, जिन्हें ट्रान्सवाल में रहने के पुराने हक हांसिल थे। व्यापार के लिए उन्हें ट्रान्सवाल आने की आवश्यकता नहीं थी। कौम यह मानती थी कि उन्हें ट्रान्सवाल आने का जरूर हक है। फिर उन लोगों को तो थोड़ा बहुत अंगरेजी का भी ज्ञान था। इसके अतिरिक्त सोराबजी के जैसे सुशिक्षित भारतीयों को शामिल करने में सत्याग्रह के किसी नियम का भंग भी तो नहीं हो रहा था। इसलिए दो प्रकार के भारतीयों को शामिल करना तय किया गया। एक तो वे, जो कि पहले ट्रान्सवाल में रह चुके थे, और दूसरे वे, जिन्होंने अंगरेजी शिक्षा प्राप्त की थी, अथवा जिन्हें 'शिक्षित' कहा जा सकता था।

इन में सेठ दाऊद महमद, और पारसी रुस्तमजी दो बड़े

व्यापारियों में से थे। और सुरेन्द्रनाथ मेढ, प्रागजी खंडु भाई देशाई, हरिलाल गांधी, रतनशी सोढा आदि शिक्षितों में से थे।

पहले सेठ दाऊद महमद का परिचय सुना दूं। ये नाताल इण्डियन कांग्रेस के अध्यक्ष और दक्षिण आफ्रिका में आये हुए व्यापारियों में सब से पुराने थे। वे सूरती सुन्नी जमात के बोहरा थे। बड़े ही चतुर पुरुष। इस बात में उनकी बराबरी करने वाले बहुत ही थोडे भारतीय मैंने दक्षिण आफ्रिका में देखे। उनकी ग्राहक शक्ति बडी तेज थी। अक्षर-ज्ञान तो मामूली सा था पर अनुभव से वे अंगरेजी और डच भी अच्छी तरह बोल सकते थे। अंगरेजी व्यापारियों के साथ अपना काम चलाने में उन्हें जरा भी कठिनाई नहीं पड़ती थी। उनकी दानशीलता प्रसिद्ध थी। नित्य पचास मिहमान से कम तो कभी उनके यहाँ होते ही नहीं थे। कौमी चंदों में उनका नाम अग्रसरों में ही रहता। उनके एक लड़का था। लड़का क्या था, एक अमूल्य रत्न था। चारित्र्य में उन से भी श्रेष्ठ, और हृदय स्फटिक के समान। उसके चारित्र्य-वेग को दाऊद सेठ ने कभी नहीं रोका। दाऊद सेठ अपने लड़के की पूजा करते थे! यह अत्युक्ति नहीं, यथार्थ सत्य है। वे चाहते थे, कि उनकी एक भी ऐब हसन को नहीं लगने पावे। इंग्लैण्ड भेजकर उन्होंने उसे बढ़िया शिक्षा दी। पर दुर्भाग्य से दाऊद सेठ उस लड़के से भर जवानी में हाथ धो बैठे। हसन को क्षय ने घेरा, और उसका प्राण हरण कर लिया। वह घाव कभी नही भरा। हसन के साथ साथ भारतीय जनता की बड़ी बड़ी आशायें मिट्टी में मिलगईं। हसन के लिए तो हिंदू और मुसलमान दोनों अपनी दाहिनी बाईं आंखों के समान थे। उसका सत्य तेजस्वी था। आज दाऊद

सेठ भी नहीं रहे! उस काल ने कहीं किसी को छोड़ा है!

पारसी रुस्तमजी का परिचय मैं पहले ही दे चुका हूँ। शिक्षितों में से पाठक अनेकों को जानते हैं। इन पृष्ठों को लिखते समय मेरे पास कोई सामग्री नहीं है। इसलिए शायद कई नाम छूट गये होंगे। आशा है, वे सब भाई मुझे क्षमा करेंगे। ये प्रकरण नामों को अमर करने के लिए नहीं, बल्कि सत्याग्रह का रहस्य समझाने के लिए लिखे जा रहे हैं। इनके द्वारा मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि विजय कैसे प्राप्त हुई, उसमें कैसे कैसे विघ्न आते हैं, और उन्हें किस तरह दूर किया जा सकता है, जहाँ कहीं नामों का अथवा नामधारियों का परिचय दिया गया है वहाँ भी मेरा हेतु केवल यही है, कि आप यह जान जाएँ कि दक्षिण आफ्रिका में निरक्षर गिने जाने योग्य लोगोंने भी कैसे कैसे पराक्रम किये हैं; वहाँ भी हिंदू, मुसलमान, पारसी ईसाई आदि सबने किस तरह हिल-मिल कर काम किया और किस तरह व्यापारी, सुशिक्षित आदि सबने अपने अपने कर्तव्य का पालन किया। जहाँ कहीं गुणी जनों का परिचय दिया गया है, वहाँ उनकी नहीं बल्कि केवल उन गुणों ही की स्तुति की गई है।

तो इस तरह जब दाऊद सेठ अपने सत्याग्रहियों की फौज को लेकर ट्रांसवाल की सरहद पर जा डटे तब सरकार भी गाफिल नहीं थी। इतने बड़े दल को यदि वह ट्रांसवाल में प्रवेश करने देती तब तो उसकी बड़ी बदनामी होती। इसलिए उन्हें वह कैसे छोड़ सकती थी? सभी पकड़े गये। मामला चला, और वॉक्सरेस्ट की सरहदी जेल में वे रख दिये गये। कौम का जोश और भी बढ़ा। नाताल से हमारी सहायता के लिए आये हुए अपने भाइयों को

यदि हम किसी तरह छुड़ा न सकें, तो कमसे कम ट्रांसवाल के भारतीयों को उनका साथ तो देना चाहिए न? यह सोचकर ट्रांसवाल के भारतीय भी जेल का मार्ग ढूँढने लगे।

गिरफ्तार होने के तो अनेकों मार्ग थे। यदि कोई निवासी अपना परवाना नहीं बताता तो उसे व्यापार का परवाना नहीं मिल सकता था; और विना व्यापारी परवाने के व्यापार करना जुर्म था। नाताल से ट्रांसवाल में आते समय भी परवाने दिखाने पड़ते, नही तो गिरफ्तारी होती। पर परवानों की तो होली जला दीगई थी न? इसलिए रास्ता साफ था। दोनों मार्गों का अवलम्बन किया गया। कई बिना परवाना लिये ही फेरी करने लगे, और कई लोग ट्रांसवाल में प्रवेश करते समय परवाने न दिखाने के कारण गिरफ्तार होने लगे।

अब ज़रा युद्ध का रंग जमा, सब की परीक्षा का समय आया, नाताल से और लोग भी आये। जोहांसबर्ग में भी गिरफ्तारियाँ शुरू हो गईं। अब तो यह स्थिति हो गई कि जो चाहता वही गिरफ्तार हो सकता था। जेलें भरने लग गईं।

भला अब कहीं सोराबजी बाहर रह सकते थे? वे भी पकड़े गये। नाताल से आये हुए सब भारतीयों को छः छः महीने की जेल मिली, और ट्रांसवाल वालों को चार दिन से लगा कर तीन महीने तक की।

इस तरह गिफ्तार किये गिये लोगों में हमारे इमाम साहब भी थे। उनकी कैद का आरम्भ चार दिन से हुआ था। वे फेरी में पकड़े गये। उनका शरीर ऐसा नाजुक था, कि लोग उन्हें जेल जाते हुए देख कर हँसते थे। कई लोग आकर मुझ से कहते

"भाई, इमाम साहब को इसमें शामिल न करो तो अच्छा हो। वे कौम को लज्जित करेंगे"। मैंने इस चेतावनी पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। इमाम साहब की शक्ति की नाप-जोख करने वाला मैं कौन होता हूँ? यह सब सत्य है कि इमाम साहब कभी नंगे पैर नहीं चलते थे, शौकिया थे उनकी स्त्री मलाई महिला थी। घर बड़ा सजा हुआ रखते, और विना घोड़ा-गाड़ी लिये कहीं न जाते। पर उनके दिल को कौन जानता था? यही इमाम साहब चार दिन की सजा भुगत कर फिर जेल में गये। वहां एक आदर्श कैदी की तरह रहे। पसीने की कमाई खाते और उन्हीं नित्य नये पक्वान्न खाने की आदत रखने वाले इमाम साहब ने मक्का के आटे की राव पी कर खुदा के एहसान मनाये। वे हारे तो ज़रा भी नहीं। हाँ, उन्होंने सादगी जरूर अख्तियार कर ली। कैदी बन कर पत्थर फोड़े, झाड़ू-बुहारा किया, और अन्य कैदियों की बराबरी में एक क़तार में खड़े रहे, अंत में फिनिक्स में पानी भरा और छापा खाने में कम्पोजिंग तक किया। फिनिक्स आश्रम में रहनेवालों के लिए कम्पोजिंग सीख लेना अनिवार्य कर्तव्य था। उसे इमाम साहब ने पूरा किया। आजकल भारतवर्ष में भी वे अपना हिस्सा दे रहे हैं।

पर ऐसे तो कई लोग जेल में शुद्ध हो गये!

जोसेफ रायपेन बॅरिस्टर, केम्ब्रिज के ग्रॅज्यूएट थे। नाताल के गिरमिटिया माता-पिता से जन्म ग्रहण करने पर भी 'साहब लोग' बन गये थे। वे तो घर में भी विना बूट के नहीं चल सकते थे। इमाम साहब को त वजु करते वक्त पाँव धोना पड़ते और खुले पैर से नमाज़ पढ़ना पड़ती है। बेचारे रॉयपेन को तो इतना भी नहीं करना पड़ता। पर रे उन्होंने बॅरिस्टरी को छोड़ दिया, बंगल में

साग तरकारी की टोकरी लटकाई और फेरी करते हुए गिरफ्तार हुए। उन्होंने भी जेल भुगती। एक दिन रॉयपन ने मुझ से पूछा– "क्या मैं सफर भी तीसरे दर्जे में ही करूँ?"

मैंने उत्तर दिया "यदि आप पहले और दूसरे दर्जे में सफर करेंगे तो तीसरे दर्जे में और मुझे किससे सफ़र कराना चाहिए? जेल में आपको बॅरिस्टर कौन कहेगा?

जोसेफ रॉयपन के लिए यह उत्तर काफी था। वे भी जेल में सिधारे।

सोलह सोलह वर्ष के तो कितने ही नौजवान जेलों में गये थे।

सत्ताधिकारियों ने जेल में किसी कैदी को दुःख देने में कोई कोर कसर नहीं की। पाखाने तक साफ़ करवाए। और भारतीयों ने हँसते हँसते कर डाले; पत्थर, फुड़वाये, और अल्लाह या राम का नाम ले लेकर उन्होंने फोड़े; तलाव खुदवाये, पथरीली जमीनें खुदवाई! हाथों में फोड़े हो गये, असह्य दुःख से कई मूर्च्छित भी हो गये, पर हारे नहीं।

कोई यह भी न समझे कि जेल के अन्दर आपस में लड़ाई-झगड़ा और ईर्ष्या-द्वेष नहीं होता था। सबसे ज्यादह झगड़ा तो खाने पर होता था। पर हम उसे भी पार कर गये।

मैं भी दूसरी बार पकड़ा गया। एक समय वॉक्सरेस्ट की जेल में हम लगभग ७५ भारतीय कैदी इकट्ठे हो गये। खाना पकाने का काम हम ने अपने हाथों में ले लिया। लड़ाई-झगड़ों का निवारण मुझे ही करना पड़ता। इसलिए मैं खुद रसोइया बन गया। पर मेरे हाथ की कच्ची-पक्की रोटी और बिना गुड़-शकर की राब मेरे सभी साथी प्रेम-पूर्वक खा लिया करते॥

सरकार ने सोचा कि यदि इसे अलग कर दें तो यह (मैं) भी जरा दीन हो जाय और इसके (मेरे) साथी भी हार जावें।' पर उसे यह देखने का सुन्दर अवसर नहीं मिला ।

मुझे प्रिटोरिया ले गये । बदमाश कैदियों के लिए जो एकान्त कमरे होते हैं, उनमें मुझे वहाँ रक्खा गया। केवल व्यायाम के लिए दिन में दो बार बाहर निकालते थे । वॉक्सरेस्ट में घीं दिया जाता था । यहाँ तो वह भी नदारत । जेल के इन गौण दुःखों का वर्णन मैं यहाँ नहीं करना चाहता । जिज्ञासु पाठक दक्षिण आफ्रिका के मेरे जेल के अनुभव पढ़ लें ।

इतने पर भी भारतीय हारे नहीं । सरकार असमंजस में पड़ी । जेल में कितने भारतीयों को रक्खा जाय ? इससे तो उलटा खर्चा बढ़ गया ! अब क्या करें !

सातवां अध्याय

देश-निकाला

खूनी कानून के भंग के अपराध पर तीन प्रकार की सजाएँ रक्खी गई थीं। जेल, जुर्माना और देश निकाला। तीनों सजा एक साथ देने का अधिकार अदालत को था। छोटे छोटे मजि स्ट्रेटों तक को यह अधिकार दे दिया गया था। पहले पहल त देश निकाले के मानी ये थे कि अपराधी को ट्रान्सवाल की हद बाहर अर्थात् नाताल, फ्री स्टेट अथवा डेलागोआ बे की हद ले जा कर छोड़ दिया जाय। उदाहरणार्थ नाताल की तरफ आये हुए अपराधियों को वॉक्सरेस्ट स्टेशन की हद के बाहर जा कर छोड़ दिया जाता था। इस तरह देश निकाला करने अपराधी को सिवा असुविधा के और किसी प्रकार की हा नहीं होती थी। यह तो केवल खिलवाड था। इससे तो भारती में और भी अधिक जोश बढ़ता था।

इसलिए स्थानीय सरकार को भारतीयों को सताने के लिए नवीन युक्ति ढूँढनी पड़ी। जेल में तो अब जगह थी ही नह सरकार ने सोचा कि यदि भारतीयों को ठेठ भारत में ही छोड़ दि जायगा तो वे जरूर निराश होकर शरण आवेंगे। और यह

कुछ सत्य भी था। इस तरह एक भारी 'जत्थे' को सरकार ने भारतवर्ष भेजा। उसे बहुत कष्ट उठाना पड़ा। खाने-पीने की भी बड़ी असुविधा रही। जो सरकार के दिल में आता वही खाने को मिलता। सब को डेक में ही भेजा जाता। फिर इस तरह देश-पार होने वाले की जमीन जायदाद होती उसका अपना एक पेशा भी होता; उसके आश्रित भी होते थे। कितने ही लोगों के सिर पर तो कर्ज़ था। इतने सब का त्याग करने की क्षमता और शक्ति होने पर भी अनेक लोग यह सब गंवाकर बरबाद होने के लिए तैयार नहीं होते थे।

तथापि बहुत से भारतीय तो पूरी तरह मज़बूत रहे। कई फिसल गये। ऐसे लोगों ने अब जान बूझ कर कैद होना छोड़ दिया। उनमें से अधिकाँश ने इतनी कमजोरी तो नहीं दिखाई कि जले जलाये परवानों के बदले फिर से नये परवाने ले लें। पर कुछेक ने डर कर यह भी कर डाला।

पर फिर भी जो दृढ़ थे उनकी संख्या ऐसी तुच्छ भी नहीं थी। उनकी बहादुरी असीम थी। मेरा ख्याल है, कि उनमें कितने ही तो ऐसे थे, जो हँसते हँसते फाँसी पर भी लटक सकते थे। माल-जायदाद की तो उन्हें परवाही क्या थी? पर जिन्हें भारतवर्ष भेज दिया गया था, उनमें से अधिकांश तो गरीब और भीरू भी थे। केवल दूसरों के विश्वास पर ही वे लड़ाई में सम्मिलित हुए थे। उन पर इस तरह जुल्म होता देख कर बरदाश्त करते रहना कठिन था। पर उस समय यही समझ में नहीं आता था, कि उनकी सहायता किस तरह करें। पैसा तो उतना ही—थोड़ा सा था। और इस तरह की लड़ाई में रुपये-पैसे की सहायता देने

लगें तो निश्चय ही हार होती है। क्योंकि उसमें लालची लोग फौरन शामिल हो जाते हैं। इसलिए धन की लालच दे कर तो एक भी आदमी को नहीं रक्खा जा सकता था। इस समय तो केवल यही धर्म था कि हम एक दूसरे के प्रति हमदर्दी दिखावें।

अनुभव से मैंने यह देख लिया है कि हमदर्दी, मीठे शब्द और मीठी नजर वह काम कर देती है, जो रुपये-पैसे से नहीं होता धन के लालची को भी अगर मीठी वाणी न मिले तो वह भी आखिर छोड़ कर चल देगा। इसके विपरीत प्रेम की मुलायम रस्सी से बँधे हुए मनुष्य अनेकानेक सँकट सहने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

इसलिए इन देश निकाले की सजा पाये हुए भाइयों के विषय में यही तय हुआ कि उनके लिए वह सब किया जाय जो सहानुभूति और हमदर्दी कर सकती है। उनको आश्वासन दिया गया कि उनकी सहायता के लिए भारत में यथा-शक्ति व्यवस्था की जायगी। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इन में से अधिकाँश तो गिरमिट मुक्त ही थे। भारत में कोई रिश्तेदार वगैरा उन्हें नहीं मिल सकते थे। कितनों ही का तो जन्म ही आफ्रिका का था। सब को भारतवर्ष विदेश के समान मालूम होता था। इस तरह के निराधार मनुष्यों को भारत के किनारे पर उतार कर; उन्हें यहाँ वहाँ भटकने के लिए छोड़ देना तो जघन्य दुष्टता होती। इसलिए उनको यह विश्वास दिलाया गया कि भारत में उनके लिए पूरी व्यवस्था कर दी जायगी।

यह सब कर देने पर भी उन्हें तब तक शांति कैसे मिल सकती थी, जब तक कि कोई खास मददगार उनके साथ न कर

दिया जाय ? देश निकाले की सजा पाने वालों का यह पहला ही दल था। स्टीमर छूटने को कुछ ही घंटों की देर थी। पसँदगी करने के लिए समय नहीं था। साथियों में से भाई पी० के० नायडू पर मेरी नजर गई। मैंने पूछा

" इन गरीब भाइयों को भारत छोड़ने के लिए आप जा सकते हैं "

बड़ी प्रसन्नता के साथ।

" पर स्टीमर तो अभी खुलने ही को है "।

" तो मुझे कौन देरी है ? "

" पर आपके कपड़े वगैरा और खर्चा ? "

" कपड़े तो शरीर पर हैं ही, रही खर्चे की बात। सो तो स्टीमर ही में मिल जायगा। "

मेरे हर्ष और आश्चर्य की सीमा न रही। पारसी रुस्तमजी के मकान पर यह बात चीत हुई थी। वहीं से उनके लिए कुछ कपड़े, कम्बल वगैरा माँग-मूँग कर उन्हें रवाना कर दिया।

"देखिए भाई, राह में इन भाइयों को अच्छी तरह सम्भाल कर ले जाइए। इनको सुला कर फिर आप सोइए। और खिलाकर खाइए। मदरास के मि० नटेशन के नाम मैं तार भेज देता हूँ। वे जैसा कहें वही कीजिए।"

" एक सच्चा सिपाही बनने की मैं कोशिश करूँगा। " यह कह कर वे निकल पड़े। मुझे निश्चय हो गया कि जहाँ ऐसे ऐसे वीर पुरुष है, वहाँ कभी हार हो ही नहीं सकती। भाई नायडू का जन्म दक्षिण आफ्रिका में ही हुआ था। उन्होंने कभी भारत-वर्ष का दर्शन तक नहीं किया था। मि० नटेशन के नाम मैंने एक

परियच-पत्र भी उन्हें दे दिया था और उसी समय एक तार भी उनके नाम भेज दिया।

यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि इस समय प्रवासी भारत-वासियों के दुःखों पर विचार करने वाले, उनकी सहायता करने वाले, उनके विषय में उचित रीति से और ज्ञानपूर्वक लिखने वाले सारे भारतवर्ष में अकेले नटेशन ही थे। मेरे और उनके बीच बराबर नियम से पत्र-व्यवहार चल रहा था। जब ये देश निकाले की सजा पाये हुए भाई मदरास पहुँचे तब मि० नटेशन ने उनकी हर तरह से सेवा-सहायता की। भाई नायडू जैसे समझदार आदमी उनके साथ में थे। इसलिए मि० नटेशन को भी काफ़ी सहायता मिली। स्थानीय चँदा एकत्र कर मि० नटेशन ने उनकी इस कदर सेवा की कि उन्हें यह याद तक नहीं होने पाया कि वे घर-बार छोड़ कर देश निकाले की सजा में आये थे।

दक्षिण आफ्रिका की स्थानीय सरकार का यह काम जितना ही निर्दयता पूर्ण था उतना ही गैर कानूनन भी था। वह भी इस बात को जानती थी। सामान्यतया लोगों को इस बात का ख़याल नहीं रहता कि सरकार कई बार हेतु-पूर्वक अपने कानूनों का भंग आप ही करती रहती है। कठिनाई के समय नवीन कानून बनाने के लिए समय नहीं रहता। इसलिए कानून को तोड़ कर भी वह अपना काम बना लिया करती है। बाद में फिर या तो नवीन कानून बना लिया जाता है, या कोई ऐसा कार्य सरकार कर डालती है, जिससे प्रजा इस बात को भूल जाय कि उसने कभी अपने कानून का भंग भी किया था या नहीं।

सरकार के इस कानून पर भारतीयों ने खूब हल चल मचा

दी। भारत में भी शोर मच गया। स्थानीय सरकार के लिए अब इस तरह गरीब भारतीयों को देश-निकाले की सजा देना टेढी खीर ही गई। भारतीयों ने उचित कानूनन उपायों का अवलम्बन भी किया। अपीलें भेजीं, उसमें भी सफलता प्राप्त हुई, और अंत में देश निकाले की सजा वालों को भारत में भेजने की प्रथा तो कतई बँद हो गई।

पर इसके असर से सत्याग्रही फौज नहीं बच सकी। अब तो खास खास योद्धा ही रह गये। "कहीं भारत में न भेज दिये जावें"। इस भय का त्याग सब नहीं कर सके।

कौम का उत्साह तोड़ने के लिए सरकार ने ऊपर बताया गया केवल एक ही उपाय नहीं किया था। पिछले प्रकरण में मैं लिख चुका हूँ कि सत्याग्रही कैदियों को दुःख देने में सरकार ने कोई बात उठा न रक्खी। पत्थर फोड़ने तक का काम उनसे लिया गया था। पर वह तो इससे भी आगे बढ़ गई। पहले पहल सभी कैदियों को एक जगह रक्खा जाता था। अब उन्हें अलग अलग रखने की नीति को उसने अख्तियार किया; और प्रत्येक जेल में कैदियों को खूब सताना शुरू किया। ट्रान्सवाल का जाड़ा बड़ा सख्त होता है। जाड़ा इतना भयंकर पड़ता था कि सुबह काम करते करते हाथ पैर ठिठुर जाते थे। ऐसी स्थिति में कितने ही कैदियों को एक छोटीसी जेल में रक्खा गया, जहाँ उन्हें कोई मिलने भी न जाए। इस दल में नागापन नामक एक नौजवान सत्याग्रही था। उसने जेल के नियमों का पालन किया। उसे जितना काम दिया गया, सभी कर डाला। सुबह, पौ फटते ही, सड़कों पर मिट्टी डालने को वह जाता। नतीजा यह हुआ कि उसे

फेंफड़े का सख्त रोग हो गया और अन्त में उसने अपने प्यारे प्राण अर्पित कर दिये। नागापन के साथी कहते हैं कि अन्त समय तक उसे लड़ाई ही की धुन थी। जेल जाने से उसे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। देश-कार्य करते करते आई हुई मृत्यु का उसने एक मित्र की तरह स्वागत किया। हमारे नाप से नापा जाय तो नागापन को निरक्षर ही कहना पड़ेगा। अंगरेजी, झुलु आदि भाषायें वह अपने अभ्यास के कारण बोल सकता था, कुछ कुछ अंगरेजी लिख भी सकता था। पर विद्वानों की पंक्ति में तो उसे कदापि नहीं रक्खा जा सकता था। फिर भी नागापन का धीरज उसकी शांति, देश भक्ति, और मौत की घड़ी तक बताई हुई उसकी दृढ़ता पर विचार किया जाय, तो कहना होगा कि उसमें किसी ऐसी बात की न्यूनता न थी कि जिसकी हमें उससे आशा करनी चाहिए? हमें बहुत बड़े बड़े विद्वान् नहीं मिले पर फिर भी ट्रान्सवाल का युद्ध रुका नहीं। यदि नागपन जैसे शूर सिपाही हमें नहीं मिलते तो क्या वह युद्ध चल सकता था?

जिस प्रकार नागापन की मृत्यु जेल के दु:खों के कारण हुई, उसी प्रकार नारायण स्वामी की मृत्यु देश निकाले के कारण हुई। देश निकाल के कष्ट उसके लिए मृत्यु-रूप साबित हुए, पर इन घटनाओं के कारण कौम हारी नहीं। हाँ, कमजोर आदमी जरूर जाकर अलग खड़े होगये। पर वे भी तो यथा शक्ति अपना हिस्सा अदा कर ही चुके थे। उन्हें कमजोर कहकर हमें उनकी अवगणना कदापि नहीं करनी चाहिए। समाज में यह एक चाल सी पड़ गई है कि आगे बढ़ने वाले अक्सर पीछे रहने वालों का तिरस्कार करते हैं। और अपने को बहुत भारी समझ लेते हैं। पर कई बार बात तो यथार्थ

में ठीक इसके विपरीत होती है। जो पचास देने की शक्ति रखता है वह पचीस दे कर यदि बैठ जाय, और पांच देने की शक्ति रखने वाला पूरे पांच दे दे तो हम यही कहेंगे कि पांच वाले ने ज्यादह दिये। तथापि कई बार वह पचीस देने वाला पांच देने वाले के सामने फूलता है। पर हम जानते हैं कि इस तरह फूलने के लिए उसके पास कोई कारण ही नहीं है। उसी प्रकार अपनी कमजोरी के कारण आगे न बढ़-सकने वाला यदि अपनी शक्ति का उपयोग कर चुका हो, और दिल चोर कर काम करने वाला भले ही मामूली नाप को देखते हुए अधिक शक्ति का उपयोग भी करता रहे तो भी हमें तो यही कहना पड़ेगा कि वह पहला आदमी ही अधिक योग्य है। इसलिए देश सेवा तो उन्होंने भी की है जो युद्ध के भीषण रूप धारण करते ही अलग जा खड़े हो गये। अब ऐसा समय आ गया था कि जब अधिक हिम्मत और सहन शक्ति की आवश्यकता उपस्थित हो गई। पर इसमें भी ट्रान्सवाल के भारतीय पीछे न हटे। युद्ध शुरू रखने के लिए जितने योद्धाओं की आवश्यकता थी, उतने तो जरूर ही बच रहे थे।

पर इस तरह दिन ब दिन ज्यादह से ज्यादह मुश्किल कसौटी पर भारतीय कसे जाने लगे। ज्यों ज्यों भारतीय ज्यादह ज्यादह बल दिखाते गये त्यों त्यों सरकार भी अधिक अधिक बल का प्रयोग करती गई। बदमाश कैदियों के लिए और खास कर उन कैदियों के लिए जिन्हें सरकार 'सीधा' करना चाहती है जुदे कैदखाने होते हैं। ट्रान्सवाल में भी ऐसे कैदखाने थे। जिनमें से एक का नाम 'डायकलुफ' था। वहाँ का दारोगा भी बड़ा जालिम, और मजदूरी भी वैसी ही सख्त। पर सरकार को भी ऐसे कैदी मिल गये जो उन दोनों से बढ़ गये। वे मजदूरी करने को तो तैयार थे, पर

अपमान नहीं सह सकते थे। दारोगा ने उनका अपमान किया, उत्तर में उन्होंने उपास शुरू कर दिये। शर्त यह थी, कि जब तक हमें या इस दारोगे को यहाँ से हटाया न जायगा हम अन्न को नहीं छूवेंगे। ये उपास शुद्ध थे। उपास करने वाले ऐसे नहीं थे, जो चुरा कर कुछ खा लें। पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि इस तरह के मामलों में यहाँ (भारत में) जिस तरह चर्चा और आन्दोलन हो सकता है, उतना ट्रांसवाल में नहीं हो सकता था। फिर वहाँ के तो नियम भी बड़े सख्त थे। ऐसे समय भी कैदियों से मिलने जुलने की सख्त मुमानियत थी। सत्याग्रही यदि कैदखाने में जाता तो उसे अपने आप को खुद ही सँभालना पड़ता। युद्ध गरीबों का था और गरीबी पूर्वक चलाया भी जा रहा था। इस लिए ऐसी प्रतिज्ञाओं में खतरे भी बहुत थे। तथापि सत्याग्रही दृढ़ रहे। उस समय का उनका वह कार्य आज की बनिस्बत अधिक स्तुति के पात्र है। क्योंकि उस समय आजकल की भांति ऐसे उपासों का रिवाज नहीं पड़ा था। पर फिर भी वे सत्याग्रही अटल रहे, और अंत में उन्होंने विजय प्राप्त की। सात दिन के उपासों के बाद उन्हें दूसरी जेल में रखने का हुक्म आ गया।

आठवां अध्याय

फिर डेप्यूटेशन

इस तरह सत्याग्रहियों को जेलों में और देश के बाहर भेजा जा रहा था। पर इसमें भी बीच बीच में ज्वार भाटा तो आता ही रहता था। दोनों पक्ष कुछ कुछ ढीले भी हो गये थे। सरकार ने देखा कि जेलें भर देने से कट्टर सत्याग्रही नहीं झुकेंगे, और देश निकाले से खुद उसकी बदनामी होती थी। यदि कोई मामला अदालत में जाता तो उसे हारना भी पड़ता था। इधर कौम भी सरकार का जल्दी जल्दी मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थी, न उतनी तादाद में उसके पास सत्याग्रही बचे थे। कुछ कायर बन गये, कई बिलकुल हार गये थे और कट्टर सत्याग्रहियों को मूर्ख बना रहे थे। और जो "मूर्ख" थे वे तो अपने को चतुर समझ कर परमात्मा तथा लड़ाई और अपने साधनों की सत्यता पर संपूर्ण विश्वास रक्खे हुए बैठे थे। वे मानते थे कि अंत में तो सत्य ही की विजय होगी।

दक्षिण आफ्रिका की राज्य-व्यवस्था तो एक क्षण भी रुकती नहीं थी। बोअर और अंगरेज दक्षिण आफ्रिका की तमाम रियासतों को एकत्र कर अधिक स्वतंत्रता चाहते थे। जनरल हर्टमॉग

एकदम ब्रिटिशों से सम्बन्ध तोड़ देना चाहते थे। दूसरे कितने ही लोग भी केवल नाम मात्र को ब्रिटिशों से सम्बधं रखना पसंद करते थे। भला अंगरेज तो इस बात को कब सह सकते थे कि वे दक्षिण आफ्रिका से बिलकुल ही सम्बन्ध तोड़ दें ? बात यह थी कि जो कुछ मिलना जुलना था ब्रिटिश पार्लियामेंट के द्वारा ही मिल सकता था। इसलिए बोअर और ब्रिटिशों ने यह तय किया कि दक्षिण आफ्रिका की ओर से एक डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड को जावे और दक्षिण आफ्रिका का केस ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के सामने पेश करे।

भारतवासियों ने देखा कि यदि दक्षिण आफ्रिका की सारी रियासतें एक हो गईं, अर्थात् वहाँ युनियन हो गई, तो उनकी स्थिति इससे भी अधिक खराब हो जायगी। सभी रियासतें भारतीयों को अधिकाधिक दबाना ही चाहती थीं। इसलिए यह तो स्पष्ट ही था, कि यदि वे सब एक हो जातीं तो अवश्य ही भारतीयों को ज़्यादह दबाने की कोशिश करतीं। यद्यपि इन सब के विपक्ष में भारतीयों का अपनी आवाज उठाना निःसन्देह नक्कारखाने में तूती की आवाज वाली मसल ही थी। तथापि उन्होंने यह सोचकर अपना भी एक डेप्यूटेशन इंग्लैण्ड भेजने का निश्चय किया कि अपनी तरफ से कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिए। इस बार डेप्यूटेशन में मेरे साथ पोरबन्दर के मेमन सेठ हाजी हबीब को भेजा गया। ट्रान्सवाल में इनका बहुत समय से व्यापार चला आ रहा था। अनुभव भी विशाल था। अंगरेजी शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। किन्तु अंगरेजी, डच, फ्रेंच आदि भाषायें आसानी से समझ लेते थे। वे सत्याग्रहियों से सहानुभूति तो रखते थे, पर स्वयं सत्याग्रही नहीं थे। हम दोनों भाई केपटाऊन से जिस

जहाज में बैठे उसीमें दक्षिण आफ्रिका के विख्यात बुजुर्ग मेरीमेन भी थे। वे युनियन होने के पक्ष में प्रयत्न करने जा रहे थे। जनरल स्मट्स वगैरा तो पहले ही से जा पहुंचे थे। नाताल की तरफ से भी एक जुदा डेप्यूटेशन इस समय इंग्लैण्ड को गया था, पर यह सत्याग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। नाताल में उनकी जो खास कठिनाइयां थीं उनसे वह सम्बन्ध रखता था।

इस समय लॉर्ड क्रू इन रियासतों के मंत्री थे। और लॉर्ड मोर्ले भारत-सचिव थे। खूब चर्चा हुई और अनेकों लोगों से हम मिले जुले। न तो ऐसे एक भी अध्यक्ष को हमने बाकी रक्खा था और न साधारण या उमरावों की सभा के किसी ऐसे सभ्य को हमने छोड़ा थां, जिसे हम मिल सकते थे। लॉर्ड एँम्प्ट्हिल ने हमारी असीम सहायता की। मि० मेरीमेन और जनरल बोथा से वे हमेशा मिलते रहते थे। अंत में जनरल बोथा की तरफ से वे एक संदेश लाये। उन्होंने कहा "जनरल बोथा आपके भावों को समझते हैं। वे आपकी फुटकर माँगें कुबूल करने के लिए तैयार हैं। पर एशियाटिक कानून को रद करने तथा दक्षिण आफ्रिका में नवीन आनेवालों के सम्बन्ध में जो कानून है, उसमें जरा भी परिवर्तन करने के लिए वे तैयार नहीं है। वे उस काले-गोरे के भेद को रद करना नहीं चाहते जो कानून के अन्दर है, और जिसे रद करने के लिए आप दरख्वास्त कर रहे हैं। जनरल बोथा इस बात को बतौर सिद्धान्त के मानते हैं कि वह भेद तो अवश्य ही रक्खा जाय। पर यदि क्षण भर के लिए मान लिया जाय कि वे इसे मंजूर भी कर लें कि उसे रद कर देना ठीक है, तो भी इस बात को दक्षिण आफ्रिका के गोरे कभी गवारा नहीं कर सकेंगे। यही

मत जनरल स्मट्स का भी है। उन दोनों साहबों ने यह बात अपने आखिरी निर्णय के बतौर कही, और आपको यह समझाने के लिए भी कहा है कि यदि इससे अधिक आप मांगेंगे तो आपको तथा आपकी कौम को भी मुसीबतें झेलना होंगी। इसलिए आप जिस किसी निर्णय पर पहुचें सोच समझ कर तय करें। इस तरह आपसे कहने तथा आपको अपनी (आपकी) जिम्मेदारी का पूरा ख्याल करा देने के लिए भी जनरल बोथा ने मुझ से कहा है। इस तरह संदेश सुना कर लॉर्ड ऍम्प्ट्हिल अपनी तरफ से बोले:—

"देखिए न, आपकी तमाम व्यावहारिक मांगों को तो जनरल बोथा स्वयं ही कुबूल करते हैं। फिर इस संसार में इन्सान को नरम-गरम भी तो होना ही पड़ता है। जितना हम चाहते हैं वह सब हमें नहीं मिल जाता। इसलिए मेरी भी आपको आग्रहपूर्वक यही सलाह है कि आप उनके सन्देश को स्वीकार कर लीजिए। हां, यदि आपको सिद्धान्त ही के लिए लड़ना है तो आप आगे चल कर फिर लड़ सकते हैं। भले ही आप दोनों साहबान इस बात पर अच्छी तरह विचार कर लीजिए और शान्ति से जवाब दीजिए। उसकी इतनी जल्दी नहीं है।"

यह सुनकर मैंने सेठ हाजी हाबीब की तरफ देखा। उन्होंने कहा "मेरी तरफ से कहिए कि मैं समझौता चाहने वाले पक्ष की तरफ से कहता हूँ कि मुझे जनरल बोथा की बात मंजूर है। अर्थात् हमें यह मंजूर है कि वे अभी जो दे रहे हैं उसको इस समय संतोष-पूर्वक मान्य करलें, और सिद्धान्त के लिए पीछे से हम झगड़ लेंगे। अब मैं इस बात को जरा भी पसंद नहीं करता कि कौम इससे और अधिक क्लेश पावे। जिस पक्ष की तरफ से मैं यह कह

रहा हूं, वह संख्या में भी अधिक है, और उसके पास धन भी काफी है।" इन वाक्यों का मैंने अक्षरशः अनुवाद करके सुना दिया। फिर मैं अपने पक्ष की तरफ से बोला—"आपने जो कष्ट उठाया है उसके लिए हम दोनों आपके एहसानमन्द हैं। मेरे साथी ने जो कहा सो ठीक है। वे जिस पक्ष की तरफ से बोलते हैं वह संख्या और धन में भी अधिक बलवान् है। परन्तु मैं जिनकी तरफ से बोलता हूँ, वे संख्या में कम हैं, और उनके पास धन भी कम है। किन्तु वे मरने तक के लिए तुले हुए हैं। वे व्यवहार और सिद्धान्त दोनों के लिए लड़ रहे हैं। अगर इन दोनों में से किसी एक को छोड़ना ही पड़े तो वे व्यवहार को छोड़कर सिद्धान्त के लिए जूझेंगे। जनरल बोथा की सत्ता का पूरा पूरा खयाल हमें है। पर अपनी प्रतिज्ञा को हम उससे भी अधिक वजनदार समझते हैं। इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए हम बरबाद होने तक के लिए प्रसन्न हैं। हमें धीरज है। हमें यह भी पूरा विश्वास है कि यदि हम अपने निश्चय पर अटल रहेंगे, तो जिस परमात्मा के नाम पर हमने वह प्रतिज्ञा की है वह उसे अवश्य पूरी करेगा।

आपकी स्थिति को मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ। आपने हमारे लिए बहुत कर डाला। अब यदि आप हम मुट्ठी भर सत्याग्रहियों का साथ न दे सकेंगे तो हमें उससे धोखा नहीं होगा, और न हम उसके कारण आपके किये उपकारों को ही भूल सकते हैं। हमें आशा है कि आप भी हमें इस बात के लिए क्षमा करेंगे कि हम आपकी सलाह के अनुसार नहीं चल सकते। आप जनरल बोथा से सुखपूर्वक कहिएगा कि हम, जो अल्पसंख्याक हैं वे, अवश्य ही अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे। और हमें यह दृढ़ आशा है कि

हमारी दुख सहने की शक्ति अंत में उनके भी अंतःकरण को जरूर हिला देगी, और वे एशियाटिक कानून को रद करेंगे।"

लार्ड एम्प्टहिल ने उत्तर दिया :—

"आप यह न समझिएगा कि मैं आपका पक्ष छोड़ दूँगा। मुझे भी अपने सौजन्य की तो रक्षा करनी ही होगी? अंगरेज लोग जिस काम को अपने हाथ में लेते हैं, उसे सहसा नहीं छोड़ते हैं। आपकी लड़ाई न्यायोचित है और आपके साधन भी शुद्ध हैं। फिर मैं आपको कैसे छोड़ सकता हूँ? पर मेरी परिस्थिति से भी आप नावाकिफ नहीं हैं। दुःख तो भोगना होगा आपको। इसलिए जरा भी कहीं समझौता हो सकता हो, तो उसे कबूल करने की सलाह आपको देना मेरा धर्म है। पर यदि अपनी टेक के लिए आपको कुछ कष्ट उठाने पड़ें और आप उन्हें हर्ष-पूर्वक सहने को तैयार हों, तो फिर मैं आपको कैसे रोक सकता हूँ? मैं तो आपको धन्यवाद ही दूँगा। इसलिए आपकी कमिटी का अध्यक्ष तो मैं अवश्य ही रहूँगा और मुझसे जो कुछ सेवा-सहायता बन पड़ेगी जरूर करता रहूँगा। पर आपको इतना स्मरण रखना चाहिए कि सरदार-सभा में मैं एक छोटासा सभ्य हूँ। मेरा प्रभाव वैसा कहने योग्य नहीं है। किन्तु आप इतना विश्वास रक्खें कि वह जो कुछ भी होगा उसका उपयोग बराबर आप ही के लिए होता रहेगा।"

ये उत्साह-वर्धक वचन सुनकर हम दोनों बड़े खुश हुए।

पाठकों ने शायद एक मीठी बात की तरफ ध्यान नहीं दिया होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सेठ हाजी हाबीब और मेरे बीच कुछ मतभेद था। तथापि हम दोनों में प्रेम और विश्वास भी इतना था कि सेठ हाजी हाबीब को अपना विरोधी कथन मेरे

द्वारा कहलाने में जरा भी हिचकिचाहट न हुई। उनको इतना विश्वास था कि मैं उनका कथन लार्ड एम्प्टहिल के सामने बिलकुल अच्छी तरह पेश कर दूँगा।

यहां पर पाठकों से एक असम्बद्ध बात भी कहे देता हूँ। इस बार इंगलैण्ड में क्रान्तिकारियों से मेरी बातें हुईं। उन सब की दलीलों का खंडन करने तथा दक्षिण आफ्रिका में बसने वाले उसी प्रकार के विचार रखने वाले मनुष्यों का शंका-समाधान करते करते 'हिन्द स्वराज्य' का निर्माण होगया। उसमें प्रतिपादित मुख्य मुख्य तत्वों पर मैंने लार्ड एम्प्टहिल के साथ भी चर्चा कर ली थी। और यह करने का उद्देश केवल यही था कि उनका कहीं यह खयाल न हो जाय कि मैंने अपने विचारों को छिपाकर उनके नाम का और उनकी दी हुई सहायता का दक्षिण आफ्रिका के काम के लिए दुरुपयोग किया। उनके साथ इस विषय पर जो चर्चा हुई वह मुझे हमेशा याद रहेगी, उनके घर पर कोई बीमार था, तथापि वे मुझे मिले थे। और यद्यपि 'हिन्द स्वराज' में लिखे मेरे विचारों से वे पूरी तरह सहमत तो नहीं थे, तथापि दक्षिण अफ्रिका के युद्ध में अंत तक वे यथाशक्ति भाग लेते रहे। और हमारे बीच का वह स्नेह-सम्बंध भी अन्त तक उसी प्रकार मधुर बना रहा।

नवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म

इस बार जो डेप्युटेशन इंग्लैण्ड पहुंचा था, वह लौटते समय अच्छी खबर नहीं लाया। मुझे इस बात की विशेष चिन्ता नहीं थी—कि लोग लार्ड एम्प्टहिल की बातों से क्या नतीजा निकालेंगे। मैं यह भी जानता था—कि अंत तक मेरा साथ कौन कौन देंगे। सत्याग्रह विषयक मेरे विचार और भी परिपक्व हो गये। मैं उसकी व्यापकता और अलौकिकता को और भी अधिक अच्छी तरह समझ सकता था, इसलिए मुझे शांति थी, इंग्लैंड से वापिस लौटते समय जहाज में मैंने 'हिन्द-स्वराज' को लिखा। उसका—हेतु केवल सत्याग्रह की भव्यता को दिखाना मात्र था। वह पुस्तक मेरी श्रद्धा का नाप है। इसलिए लड़ने वालों की संख्या का सवाल ही मेरे सामने खड़ा नहीं होता था।

पर मुझे धन की जरूर चिंता रहती थी। लम्बे-समय तक युद्ध का संचालन और पास काफी धन का न होना, यह एक भारी कठिनाई मेरे सामने खड़ी थी। माना कि विना धन के भी युद्ध हो सकता है, कई बार धन सत्य के युद्ध को दूषित कर देता है, परमात्मा अक्सर सत्याग्रही को—मुमुक्षु को आवश्यकता से अधिक धन देता ही

नहीं, इत्यादि बातों का ज्ञान उस समय मुझे आज की तरह स्पष्ट रूप से नहीं था। पर मैं आस्तिक हूं। परमात्मा ने उस अवस्था में भी मेरा साथ दिया। मेरी आपत्ति दूर हुई। एक ओर से दक्षिण अफ्रिका के किनारे पर उतर कर कौम को अपने काम की निष्फलता की खबर देना मेरे किस्मत में बदा था, तहां दूसरी ओर उसी समय परमात्मा ने मुझे आर्थिक चिंता से मुक्त करना ठान लिया था। क्योंकि जहाज से उतरते ही इंग्लैंड का तार मिला कि सर रतन टाटा ने २५०००) का दान भेजा है। इतनी बड़ी रकम उस समय मेरे लिए काफी थी। मेरा काम चल निकला।

पर इतनी बड़ी रकम से—अथवा इससे भी अधिक—मनमाने-द्रव्य से भी सत्याग्रह के—सत्य के—आत्मशुद्धि के अथवा आत्मबल के युद्ध का संचालन नहीं किया जा सकता था। इस युद्ध के लिए तो चारित्र्य रूपी मूल धन की आवश्यकता होती है। मालिक से शून्य महल जिस तरह खंडहर के समान मालूम होता है, ठीक वही हाल चरित्र-हीन मनुष्य और उसकी सम्पत्ति का समझिए। सत्याग्रहियों ने देखा कि अब इसका कोई ठिकाना नहीं, कि युद्ध कितने दिन तक चलता रहेगा। कहां तो जनरल बोथा और जनरल स्मट्स की एक इंच भर भी न हटने की प्रतिज्ञा, और कहां सत्याग्रहियों की यह प्रतिज्ञा कि हम मरते दम तक जूझेंगे। हाथी और चिउंटी के बीच युद्ध हो रहा था। हाथी के एक पैर के नीचे संख्यातीत चिउंटियां दब सकती हैं। सत्याग्रही अपने सत्याग्रह की अवधि का समय सीमित नहीं कर सकते थे। एक वर्ष लगे या अनेक, उनके लिए तो एक ही बात थी। उनके लिए तो लड़ते रहना ही विजय थी, और लड़ने के मानी थे जेल जाना, तथा देश से निर्वासित हो जाना। पर इस बीच परि-

बार की क्या हालत हो? निरन्तर जेल जानेवाले को कोई नौकरी तो किसी प्रकार दे ही नहीं सकता था। जेल से छूटने पर क्या तो वह स्वयं खावे और क्या बच्चों को खिलावे? रहे भी कहां पर? किराया कौन दे? आजीविका न मिलने से तो सत्याग्रही भी विचलित हो जाय। भूखों मर कर और अपने प्रियजनों को भूखों मारकर युद्ध करने वाले संसार में विरले ही मिल सकेंगे।

आज तक तो जेल जानेवालों के कुटुम्बों का पोषण उनको प्रति मास द्रव्य देकर किया जाता था। सबको अपनी २ आवश्यकतानुसार दिया जाता था—चिउँटी को कण और हाथी को मन। सबको एकसा तो कभी दे ही नहीं सकते थे। पाँच बच्चे वाले सत्याग्रही को और आश्रित-हीन ब्रह्मचारी को एक पंक्ति में तो हरगिज नहीं रक्खा जा सकता था। यह भी नहीं हो सकता था, कि केवल ब्रह्मचारियों को ही युद्ध में शामिल करें। फिर द्रव्य किस नियम के अनुसार दिया जाय? अभी तक अक्सर यही किया जाता था; कि हरएक कुटुम्ब से पूछा जाता कि कम से कम उसकी आवश्यकता क्या थी? बस उसी पर विश्वास रखकर खर्च के लिए दिया जाता था। पर इसमें कपट के लिए बहुत भारी स्थान था। कपटियों ने इसका कुछ हद तक दुरुपयोग भी किया? कई ऐसे भी थे जो थे तो निस्पृह, पर एक खास सीमा तक सहायता की जरूर आशा करते थे। मैंने देखा कि इस तरह युद्ध बहुत दिन तक चलना असम्भव है। इस तरह तो योग्य आदमी के साथ अन्याय होने का और अपात्र को अनुचित लाभ होने का डर था। इस कठिनाई से निकलने का रास्ता तो केवल एक ही था। सब कुटुम्बों को एक स्थान पर रक्खा जाय और सभी साथ रह कर

काम करें। इसमें किसी के साथ अन्याय होने का डर तो था ही नहीं। साथ ही कहा जा सकता है कि पाखंड, झूठ आदि के लिए भी कोई अवकाश नहीं रह सकता था। सार्वजनिक धन का सदुपयोग तथा सत्यग्राहियों के कुटुम्बों को नवीन सादे और अनेकों के साल हिलमिल कर रहने की अनुपम शिक्षा इत्यादि सभी बातें एक साथ हो सकती थीं। इस तरह कई प्रान्तों और कई धर्म के भारतीयों को एक साथ रहने का सुअवसर मिल सकता था।

पर ऐसा स्थान मिले कैसे? शहर में रहने जाते तो शायद बकरी को हटा कर ऊँट को घुसाने वाली बात चरितार्थ होती। मासिक निर्वाह के जितनी रकम तो किराये में ही चली जाती। फिर वहाँ सादगी से रहना भी मुश्किल। इतना होने पर भी शहर में इतना बड़ा मकान शायद ही मिल सकता, जहाँ सभी कुटुम्ब मिल कर घर बैठे कोई उपयोगी काम कर सकते। इसलिए हम लोग इसी नतीजे पर पहुँचे कि वह स्थान न तो शहर से बहुत दूर और न बहुत नजदीक ही हो। फिनिक्स जरूर एक ऐसा ही स्थान था। वहाँ से इण्डियन ओपीनियन प्रकाशित हो रहा था। कुछ खेती भी हो रही थी। दूसरी भी अनेकों सुविधायें थीं। पर वह था जोहान्सबर्ग से ३०० मील की दूरी पर, अर्थात् ३० घंटे के रास्ते पर। इतनी दूर सत्याग्रहियों के कुटुम्बों को लाना, ले जाना जरा मुश्किल और महँगा भी था। फिर वे भी अपने घर-बार छोड़कर इतनी दूर जाने को तैयार नहीं हो सकते थे। और अगर हो भी जावें तो सत्याग्रहियों के छूटने पर उन्हें वहाँ भेजना आदि भी असम्भव सा प्रतीत हुआ।

इसलिए स्थान तो ट्रान्सवाल में और सो भी जोहान्सबर्ग के

नजदीक ही होना जरूरी था। मि० कैलनबेक का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ। उन्होंने ११०० एकड़ जमीन खरीदी, और वह सत्याग्रहियों के उपयोग के लिए दे दी। उस जमीन में कुछ फल-पौधे और एक छोटा सा पाँच सात मनुष्यों के रहने योग्य मकान भी था। करीब ही पानी का एक झरना भी था। स्टेशन यहाँ से एक मील था और जोहान्सबर्ग २१ मील। बस इसी जमीन पर मकान बाँध कर सत्याग्रही कुटुम्बों को बसाने का निश्चय किया।

दसवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म (२)

जमीन ११०० एकड़ थी। उसके एक सिरे पर एक छोटी सी टेकड़ी थी। जिस पर एक छोटा सा मकान भी था। फल के कुछ पेड़ थे, जिनमें नारंगी, ऍप्रिकोट, प्लम खूब पैदा होते थे— इतनी तादाद में कि मोसम में सत्याग्रहियों के पेट भर खाने पर भी बच रहते। एक छोटा सा झरना भी था, जिससे स्वच्छ पानी मिल सकता था। रहने के स्थान से वह कोई ५०० गज की दूरी पर होगा। पानी कावड़ों से लाना पड़ता, खासा परिश्रम भी हो जाता।

इस स्थान पर हमने यह नियम रखा कि नौकरों के द्वारा किसी प्रकार का घरू, खेती का या मकान बाँधने का काम भी न लिया जाय। इसलिए पाखाने साफ करने से लेकर खाना पकाने तक का सभी काम प्रत्येक कुटुम्ब को स्वयं ही करना पड़ता था। कुटुम्बों को रखना था। पर पहले ही से यह नियम बना रक्खा था कि स्त्रियों और पुरुषों को अलग अलग ही रक्खा जाय? इसलिए मकान भी अलग अलग और दूर दूर ही बनाये गये। दस स्त्रियों और साठ पुरुषों के रहने योग्य मकान बनाने का फौरन निश्चय किया गया। मि० कैलनबेक के रहने के लिए भी एक मकान

बनाना था और उसके साथ ही साथ एक पाठशाला के लिए भी। इसके अलावा बढ़ईखाना, मोचीखाना आदि के लिए भी एक मकान बना लेना आवश्यक था ?

यहाँ पर जो लोग रहने के लिए आने वाले थे, वे गुजरात, मद्रास, आंध्र और उत्तरीय भारत के थे। धर्मानुसार वे हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई भी थे। लगभग ४० तरुण दो तीन बूढ़े, पाँच स्त्रियाँ और २५।३० बच्चे थे, जिनमें ४।५ बालायें थीं।

स्त्रियों में से जो ईसाई थीं उन्हें और दूसरों को भी मांसाहार की आदत थी। मि० कैलेनबक का और मेरा अभिप्राय था कि बड़ा अच्छा हो यदि मांसाहार को स्थान न दिया जाये। पर सवाल यह था कि ऐसे लोगों को कुछ समय के लिए भी मांस छोड़ने के लिए किस तरह कहा जाय, जिन्हें जन्म ही से मांस के प्रति कोई नफरत न हो, जो आपत्काल में ऐसे स्थान पर आ रहे थे, और जिन्हें बचपन से उसका दृढ़ अभ्यास था; यदि नहीं कहते तो खर्च बेहद बढ़ जाता। फिर जिन्हें गो-मांस खाने की आदत हो क्या उन्हें वह दिया जाय? रसोई घर कितने हों? मेरा धर्म क्या था? इन सब कुटुम्बों को द्रव्य दे कर मैं मांसाहार या गोमांस का व्यवहार करने के लिए, अप्रत्यक्ष रूप से क्यों न हो, सहायता तो कर ही रहा था! अगर मैं यह नियम कर दूँ कि मांसाहारी को सहायता नहीं मिल सकती तब तो मुझे शुद्ध निरामिषभोजी लोगों के बल पर ही सत्याग्रह चलाना पड़ेगा। पर यह हो भी कैसे सकता था? युद्ध तो तमाम भारतीयों के लिए था। मैं अपना धर्म स्पष्ट रूप से समझ गया। ईसाई या मुसलमान भाई

यदि गोमांस भी मांगते तो भी उनको मुझे वह देना ही भाग था। मैं उनको यहाँ आने से रोक नहीं सकता था।

पर प्रेम का वाली परमात्मा है। मैंने तो सरलता पूर्वक ईसाई बहिनों के सामने अपनी संकटापन्न दशा रक्खी। मुसलमान माता-पिताओं ने तो मुझे यह छुट्टी दे रक्खी थी, कि मैं केवल निरामिष पाकशाला ही रक्खूं। बहनों के साथ मुझे बात चीत कर लेना अभी बाकी था। उनके पुत्र वा पति तो जेलों में ही थे। वे भी मुझे सम्मति दे चुके थे। कई बार उनके साथ में ऐसे प्रसंग हम लोगों के सामने उपस्थित हुए थे। बहनों के साथ इतना निकट सम्बन्ध होने का यह पहला ही अवसर था। उनके सामने मैंने मकान सम्बन्धी असुविधा धनाभाव और मेरे व्यक्तिगत विचार इन तीनों बातों को रख दिया। साथ ही यह कह कर मैंने उन्हें निर्भय भी कर दिया था कि यदि वे चाहेंगी तो मैं तो उन्हें गोमांस भी दे दूंगा। बहनों ने प्रेम-भाव से यह स्वीकार कर लिया कि वे माँस नहीं मंगावेंगी।

खाना पकाने का काम बहनों को सौंप दिया गया। उनकी सहायता के लिए हम में से एक दो पुरुष भी रख दिये गये। जिन में मैं तो अवश्य ही था। मेरी उपस्थिति छोटे-मोटे मत-भेद के मामलों को यों ही भगा दिया करती थी। यह भी तय हुआ कि भोजन बिलकुल सादा हो। भोजन करने का समय भी निश्चित कर दिया गया। सब के लिए पाकशाला एक ही रक्खी गयी। सब एक साथ ही भोजन करते। सब अपने अपने बर्तन भी साफ कर लिया करते। सार्वजनिक बर्तन साफ करने के लिए बारियाँ मुकर्रर कर दी गई थीं। मुझे यहाँ पर यह कह देना चाहिए कि

टॉल्स्टॉय फार्म बहुत दिन तक चलता रहा, पर वहाँ न तो कभी भाइयों ने माँसाहार के लिए इच्छा जाहिर की और न, बहनों ने। शराब, तंबाकू आदि तो पहले ही से बन्द थे।

मैं पहले लिख चुका हूँ, कि हमारा यह भी आग्रह था कि मकान बाँधने का काम हमी-हम कर लें। राज तो स्वयं कैलेनबेक ही थे। उन्होंने एक और यूरोपियन साथी ढूंढ़ लिया। एक गुजराती सुतार ने मुफ्त सहायता देना स्वीकार किया, और वही दूसरे एक सुतार को भी कम मज्दूरी पर तय करके ले आया। शेष मज्दूरों का काम हम लोगों ने खुद ही कर लिया। हम लोगों में जो मजबूत और फुर्तीले बदन वाले थे उन्होंने तो हद कर दी।

बिहारी नामक एक बढ़िया सत्याग्रही था। उसने बढई का आधा काम अपने जिम्मे ले लिया। स्वच्छता रखना, शहर में जाकर वहां से सब समान वगैरा लाना आदि काम सिंह के समान बहादुर थम्बी नायडू ने अपने जिम्मे ले लिया।

इस टुकड़ी में भाई प्रागजी देसाई थे। उन्होंने कभी जीवन में धूप-जाड़ा नहीं सहा था। और यहाँ तो जाड़ा था, धूप थी और बारिश की मौसिम भी थी। हमने अपना श्रीगणेश तो तम्बू में रह कर किया था। मकान बँध कर तैयार हों, तब उनमें सोएँ। करीब दो महिनों के अन्दर मकान तैयार हो गये। मकान टीन के थे, इसलिये उनको बनाने में कोई देरी नहीं लगी। आवश्यक आकार-प्रकार की लकड़ी तैयार मिल सकती थी। केवल नाप-नूप कर टुकड़े मात्र करना पड़ते। दरवाजे खिड़कियाँ आदि ज्यादह नहीं बनाने थे। इसीलिए इतने थोड़े समय में सभी मकान तैयार हो गये। पर इस काम-काज ने भाई प्रागजी की खूब खबर ले

डाली। जेल की बनिस्बत फार्म का काम जरूर ही अधिक सख्त था। एक दिन तो परिश्रम और बुखार के कारण वे बेहोश तक हो गये। पर वे यों इतनी जल्दी हारने वाले आदमी नहीं थे। यहाँ उन्होंने अपने शरीर को पूरी तरह मिहनत पर चढ़ा दिया; और अन्त में इतनी शक्ति प्राप्त कर ली कि वे सब के साथ साथ काम करने लग गये।

यही हाल जोसेफ रॉयपन का था। वे तो बरिस्टर थे पर उन्हें इस बात का अंहकार नहीं था। वे अतिशय कठिन परिश्रम नहीं कर सकते थे। ट्रेन से अपना असबाब उतार कर उसे बाहर गाड़ी पर रख देना भी उनके लिए कठिन था। परन्तु यहाँ तो वे भी मिहनत पर चढ़ गये। उन्होंने वह सब यथाशक्ति कर लिया।

टॉल्स्टॉय फार्म पर कमजोर आदमी सशक्त हो गये और सभी परिश्रम के आदी हो गये।

सभी को किसी न किसी कार्यवश जोहान्सबर्ग जाना पड़ता बच्चों को भी वहाँ की सैर करने की इच्छा होती। मुझे भी काम-काज के लिए वहाँ जाना पड़ता। इसलिए यह तय हुआ कि सार्वजनिक काम के लिए जाने वाले ही को रेल से जाने की इजाजत दी जाय। तीसरे दर्जे को छोड़ कर ऊपर के दर्जे में तो किसी को भी नहीं जाना चाहिए। जिसे केवल सैर करने के लिए जाना हो वह पैदल जावे। हाँ, रास्ते में नाश्ते के लिए कुछ साथ में जरूर ले जाय। शहर में अपने खाने पर कोई खर्च न करे। यदि इतने कड़क नियम नहीं बनाये जाते, तो जिन पैसों की बचत करने के लिए बनवास के कष्ट उठाये थे, वे रेल-किराया और शहर के नाश्ते ही में उड़ जाते।

घर से हम लोग जो नाश्ता ले जाते वह भी सादा ही होता था। घर पर पीसे हुए मोटे और बिना छने हुए आटे की रोटी, मुंफली से घर पर ही बनाया हुआ मक्खन, और संत्रे के छिलकों का मुरब्बा। आटा पीसने के लिए हाथ से चलाने की लोहे की चक्की खरीद ली गई थी। मुंफली को भूंजकर पीस डालने से मक्खन बन जाता है। दूध से बनाये मक्खन की बनिस्वत इसकी कीमत एक चौथाई होती थी। संत्रे तो फार्म में ही पैदा होते थे। फार्म पर गाय का दूध हम शायद ही कभी खरीदते। अक्सर डिब्बे के दूध से ही काम चला ले जाते।

हां, तो सैर की बात। जिनको सैर करने के लिए जोहान्सबर्ग जाने की इच्छा होती, वे सप्ताह में एक या दो बार जाते। पर उसी दिन लौट आते। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि फासला २१ मील का था। पैदल जाने के इस नियम से सैकड़ों रुपये बचगये। और पैदल जाने वालों को भी बड़ा लाभ हुआ। कितनों ही को तो चलने का नवीन अभ्यास हो गया। नियम यह था कि इस तरह जाने वाले को रात के दो बजे उठकर २॥ बजे निकल पड़ना चाहिए। सब छः से सात घंटों के अंदर जाहोन्सबर्ग पहुंच जाते। कम से कम समय में पहुंचने वाले को करीब चार घंटे और अठारह मिनिट लगते।

पाठक यह न ख्याल करले कि ये नियम हद से ज्यादह कठोर थे। सभी बड़े प्रेम पूर्वक इनका पालन करते थे। बलात्कार से तो मैं एक भी आदमी को नहीं रोक सकता था। नौजवान तो क्या सफर में, और क्या आश्रम में, सभी काम हंसते हंसते और किल-कते हुए कर डालते। मजदूरी करते समय वे इतनी ऊधम मचाते कि उन्हें रोकते रोकते मुश्किल हो जाती। आश्रम पर तो हमने यह

नियम बना लिया था कि बच्चों से उतना ही काम लिया जाय, जितना उन्हें खुश रखते हुए लिया जा सके। पर मजा यह कि इसके कारण कभी कम काम नहीं हुआ।

पाखानों की कथा समझ लेने योग्य है। इतनी बड़ी बस्ती थी, पर कहीं किसी को कूड़ा-कचरा, मैला, या जूठन ढूँढ़े नहीं मिल सकती थी। सभी कूड़ा-कचरा एक गड़हे में डाल कर ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती। रास्ते में कोई पानी तक नहीं डालता था। सब पानी बरतनों में एकत्र कर लिया जाता, और झाड़ों में डाल दिया जाता। जूठन और साग के कचरे से सुंदर खाद बन जाता। रहने के मकान के नजदीक जमीन में एक चौरस टुकड़ा डेढ फूट गहरा खोद रक्खा था। उसी में सब मैला गाड़ दिया जाता। और ऊपर से खुदी हुई मिट्टी दबा दी जाती। जरा भी दुर्गंध नहीं आती थी। मक्खी तक वहाँ नहीं भिन भिनाती थी। मतलब यह कि किसी को यह ख्याल तक नहीं होता था कि वहाँ मैला गडा हुआ है। अलावा इसके, खेत को भी सुंदर खाद मिलता रहता। अगर हम मैले का सदुपयोग करना सीख लें तो लाखों रुपयों का खाद बचा लें और स्वयं अनेक रोगों से बच जावें। मलोत्सर्ग सम्बन्धी हमारी कुटेव के कारण हम पवित्र नदियों के किनारों को खराब करते हैं, और मक्खियों की पैदायश को बढ़ाते हैं। और नहा धो कर साफ हो लेने पर भी हमारी इस बेहूदी लापरवाही के कारण खुली विष्टा पर बैठी हुई मक्खी को हम अपने शरीर का स्पर्श करने देते हैं। एक छोटी सी कुदाली हमें बहुत भारी गंदगी से बचा सकती है। चलने की राह पर मैला डालना, थूंकना, नाक साफ करना, यह सब ईश्वर और मनुष्य के प्रति महान् अपराध है। इसमें दया का अभाव है। जो मनुष्य जंगल में रहकर

भी अपनी विष्टा को मिट्टी में नही दबा देता, वह दंड के पात्र है।

अब हमारा काम यह था कि सत्याग्रही कुटुम्बों को उद्यमी रक्खें, पैसे बचावें, और अन्ततः हम स्वाश्रयी बन जावें। हमने सोचा कि अगर हम इतना कर गुजरे तो चाहे जितने समय तक लड़ सकेंगे। जूतों का खर्च भी तो था ही। बंद जूते पहनने से गरमी में तो बड़ी हानि होती है। सारे पैर में पसीना हो आता है और वह नाजुक हो जाता है। हमारे जैसी आबोहवा वाले देशों में रहने वालों को तो मोजों की आवश्यकता ही नही है। हां, कंकड, पत्थर, कांटा आदि से पैर की रक्षा करने के लिए हमने एक हद तक जूते को आवश्यक माना था। इसलिए हमने कंटक-रक्षक अर्थात् चप्पल बनाने का धंधा सीखने का निश्चय किया। दक्षिण आफ्रिका में ट्रेपिस्ट् नामक रोमन कैथालिक पादरियों का एक मठ है। वहाँ पर इस तरह के उद्योग चलते हैं। वे जर्मन होते हैं। उनमें से एक मठ में जा कर कैलनबेक ने चप्पल बनाना सीख लिया, और मुझे तथा दूसरे साथियों को भी सिखा दिया। इस तरह कितने ही युवक चप्पल बनाना सीख गये और हम अपने मित्र-वर्ग में उनको बेंचने भी लग गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि मेरे कई चेले इस कला में मुझ से बहुत आगे बढ़ गये। दूसरा काम जो हमने शुरू किया था वह बढ़ई का था। हमारी बस्ती एक छोटासा गांव ही थी। वहाँ तो पाट से लगाकर संदूक तक छोटी मोटी चीजों की जरूरत बनी रहती। वे सब चीजें हम खुद ही बना लेते। उन परोपकारी मिस्त्रियों ने तो कितने ही महीनों तक हमारी सहायता की। इस काम के नायक स्वयं मि० कैलनबेक थे, और हमें क्षण क्षण पर उनके कौशल और दक्षता का अनुभव होता था।

बालक-बालिकाएं और युवकों के लिए पाठशाला तो अवश्य ही होनी चाहिए न? यह काम सब से कठिन मालूम हुआ, और अब तक पूर्णता को नहीं पहुंचा। शिक्षा का भार खासकर मि. कैलनबेक और मुझपर था। पाठशाला का समय दो पहर के बाद ही रक्खा जा सकता था। मज्दूरी करते करते हम दोनों खूब थक जाते। विद्यार्थी भी जरूर ही थक जाते। अर्थात् बड़ी देर तक मारे नींद के वे भी झोंके खाते और हम भी आंखों पर पानी लगाते, बच्चों के साथ हंसी-खेल करते और उनका तथा हमारा भी आलस्य भगाते। पर कई बार यह सब प्रयत्न निष्फल होता। शरीर को आवश्यक आराम देना ही पड़ता। किन्तु यह तो पहला और सब से छोटा विघ्न हुआ। क्योंकि ऊंघते रहने पर भी हम वर्ग को तो शुरु ही रखते। किन्तु सब से बड़ी कठिनाई तो यह थी कि तामिल तेलगु और गुजराती इन तीनों भाषाओं के बोलने वालों को एक साथ क्या और किस तरह पढाया जाय? मातृभाषा के द्वारा शिक्षा देने का लोभ तो हमें अवश्य ही रहता था। तामिल तो मैं जानता भी था पर तेलगु तो कसम खाने को भी नहीं। इस हालत में अकेला एक शिक्षक क्या क्या कर सकता था? युवकों में से कुछेक से शिक्षक का काम लेना शुरू किया। पर वह सफल नहीं हुआ। भाई प्रागजी का उपयोग अवश्य ही होता था। युवकों में से कई नटखट थे और कुछ आलसी। किताबों से उनकी कभी बनती ही नहीं थी। भला ऐसे विद्यार्थी पाठकों के पास क्यों कर जावें? फिर मेरा काम भी अनियमित रहता था। आवश्यकता पड़ने पर मुझे जोहान्सबर्ग जाना ही पड़ता। यही हाल मि. कैलन-बेक का था। दूसरी कठिनाई धार्मिक-शिक्षा के विषय में पड़ती। पारसी को अवेस्ता पढ़ने की इच्छा होती। एक खोजा

बालक था। उसके पास अपने पंथ सम्बन्धी एक छोटीसी किताब थी। उसे पढाने का भार उसके पिता ने मुझपर डाल रक्खा था। मुसलमान और पारसियों के लिए तो मैंने कुछ किताबें एकत्र कीं। हिन्दूधर्म के तत्व भी, जहां तक मैं उन्हें समझा था मैंने लिख रक्खे थे— यह याद नहीं कि मेरे बच्चों के लिए या फार्म में। अगर-वे इस समय मेरे पास होते तो मैं अपनी गति-प्रगति जानने के लिए यहां लिख देता। पर यों तो मैंने अपने जीवन में ऐसी कितनी ही वस्तुयें फेंक दी हैं, और जला डाली हैं। ज्यों ज्यों मुझे इनके संग्रह करने की जरूरत कम मालूम होती गई, और साथ ही साथ ज्यों ज्यों मेरा व्यवसाय बढ़ता गया, त्यों त्यों मैं उनका नाश ही करता गया। पर इसके लिए मुझे किसी प्रकार का पश्चात्ताप भी नहीं होता। यदि मैं ऐसा न करता तो उनका संग्रह मेरे लिए एक भारी बोझा और खर्चीली चीज़ हो जाता। उनको संग्रहित करने के साधन मुझे उत्पन्न करना पड़ते। और यह तो मेरे अपरिग्रही आत्मा के लिए असह्य हो जाता।

पर यह शिक्षा-प्रयोग व्यर्थ नहीं साबित हुआ। लड़कों में कभी असहिष्णुता नहीं दिखाई दी। एक दूसरे के धर्म और रीति-नीति का वे आदर करना सीख गये, और सभ्यता सीख गये। उद्यमी भी बने। आज भी उन बालकों में से जितनों को मैं जानता हूं, उनके कार्यों को देखते हुए मुझे यही मालूम होता है, कि टॉल्स्टॉय फार्म पर उन्होंने जो कुछ सीखा था वह व्यर्थ नहीं गया। अधूरा सही, पर था वह विचारमय और धार्मिक प्रयोग। टॉलस्टॉय फार्म की अत्यन्त मधुर स्मृतियों में से शिक्षा की स्मृति किसी प्रकार कम मधुर नहीं है।

पर इन मधुर स्मृतियों के लिए एक पूरे प्रकरण की आवश्यकता है।

ग्यारहवां अध्याय

टॉल्स्टॉय फार्म (३)

इस प्रकरण में टॉल्स्टॉय फार्म की कितनी ही स्मृतियों का संग्रह होगा। इसलिए अवश्य ही वे असम्बद्ध तो मालूम होंगी, पर पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करें।

शिक्षा के लिए जैसा वर्ग मुझे मिला था शायद ही वैसा किसी को मिला हो। सात सात साल के बालक-बालिकाओं से लेकर बीस बीस वर्ष के युवक और बारह बारह तेरह तेरह वर्ष की बालिकाएँ भी इसमें थीं। कई लड़के तो निरे जंगली थे। खूब ऊधम मचाते।

इस संघ को क्या पढ़ाया जाय? इन सब के स्वभाव के अनुकूल खुद को किस तरह बनाया जाय? साथ ही मुझे सब के साथ किस भाषा में बातचीत करनी चाहिए। तामिल-तेलगू लड़के या तो अपनी मातृभाषा समझते या अंगरेजी। वे कुछ कुछ डच भी जानते थे। मुझे तो अंगरेजी से ही काम लेना पड़ा। गुजरातियों के साथ गुजराती में, और शेष सब के साथ मैं अंगरेजी में बोलता। मैं उन्हें प्रधानतया चटकीली कहानियां कहता, या पढ़कर सुना देता। उद्देश यही था कि एक साथ रहते हुए

उन्हें मित्र भाव या सेवा के आदर्श के अनुगामी बना दिया जाय। इतिहास भूगोल का कुछ ज्ञान देकर कुछ कुछ लिखना भी सिखाता था। कुछेक को अंक-गणित भी पढ़ाता था। इस तरह गाड़ा चला ले जाता था। प्रार्थना के लिए कितने ही भजन पढ़ाये जाते थे। उनमें भाग लेने के लिए तामिल बालकों को भी ललचाता था।

बालक और बालिकायें स्वतन्त्रता पूर्वक साथ साथ बैठते थे। टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरा यह प्रयोग सब से अधिक निर्भय रहा। जो स्वतन्त्रता मैंने उन्हें वहाँ दी और जिसका विकास मैंने उनके अन्दर किया, वह स्वतन्त्रता आज उन्हें देने की तथा उसका विकास करने की हिम्मत मुझे भी नहीं है। मुझे बराबर यह ख्याल बना रहता है कि आज की बनिस्बत तब मेरा मन अधिक निर्दोष था। इसका कारण मेरा अज्ञान भी हो सकता है। उसके बाद मुझे कई बार धोखा हुआ है, कई कडुवे अनुभव भी हुए हैं। जिन्हें मैं केवल निर्दोष समझता था वे सदोष साबित हुए हैं। खुद अपने अन्दर गहराई के साथ देखने पर मैंने विकारों को छिपे हुए पाया है। इसलिये अब मेरा दिल दीन और रंक बन गया है।

किन्तु मुझे मेरे उस प्रयोग पर कोई पश्चात्ताप नहीं होता। मेरी आत्मा तो यह भी साक्ष देती है, कि इस प्रयोग के कारण कोई खराबी नहीं पैदा हुई। पर जिस तरह दूध का जला छांछ को फूंक फूंक कर पीता है, कुछ वैसी ही हालत अब मेरी हो गई है।

मनुष्य श्रद्धा अथवा धैर्य किसी दूसरे से नहीं चुरा सकता। 'संशयात्मा विनश्यति' टॉल्स्टॉय फार्म पर मेरी हिम्मत और श्रद्धा चरम सीमा को पहुंच गई थीं। मैं परमात्मा से बार बार प्रार्थना

कर रहा हूं कि वे मुझे फिर वही हिम्मत और श्रद्धा दें। पर वे सुनें तब न! उनके सामने तो मेरे जैसे असंख्य भिखारी हैं। हां, आशा के लिए इतना स्थान जरूर है कि उनके द्वार पर जहां असंख्य भिखारी खड़े हैं तहां उनके कान भी तो असंख्य हैं। इसलिए मुझे उनपर पूरी श्रद्धा है। जब मैं योग्य हो जाऊंगा तब वे मेरी प्रार्थना को जरूर सुनेंगे।

यह था मेरा वह प्रयोग।

बदमाश समझे जाने वाले लड़कों को और निर्दोष सयानी बालिकाओं क मैं साथ साथ स्नान के लिए भेजता। बालकों को मर्यादा-धर्म खूब समझा दिया गया था। मेरे सत्याग्रह से वे सब परिचित थे। माता की तरह मेरा उन पर प्यार था। इस बात को मैं तो जानता ही था, पर वे भी उसे मानते थे। पाठक उस पानी के झरने को न भूलें। पाकशाला से वह दूर था। वहां पर इस तरह का सम्मीलन होने दिया जाय और साथ ही निर्दोपिता की भी आशा रक्खी जाय? मेरी आंखें तो उन बालिकाओं के साथ साथ उसी तरह घूमती रहती थीं, जिस तरह कि एक माता की आंखें अपनी लड़की के आसपास घूमती रहती हैं। प्रत्येक काम का समय बंधा हुआ था। स्नान के लिए सब लड़के-लड़कियां साथ जाते। संघ में एक प्रकार की सुरक्षितता होती है, वह यहां भी थी। एकांत तो कहीं भी न मिलता। और यदि कहीं मिलता भी तो कम से कम मैं तो जरूर ही वहां रहता।

खुले बरामदे में सब सोते थे। बालक और बालिकायें भी मेरे ही आसपास सोतीं। बिस्तरों के बीच तीन फीट का अन्तर रहता था। सोने के क्रम में भी सावधानी जरूर रक्खी गई थी। पर

दोषित मन के नजदीक वह सावधानी क्या चीज़ थी ? अब तो मैं देखता हूं कि इन बालक-बालिकाओं के मामले में परमात्मा ने ही लाज रक्खी। मेरी यह धारणा थी कि बालक-बालिकायें इस तरह निर्दोष भाव से हिलमिल कर रह सकते हैं । यह प्रयोग मैंने इसी भाव से किया था और माता पिताओं ने भी मुझपर असीम विश्वास डाल कर यह प्रयोग करने दिया।

एक दिन इन्हीं बालिकाओं ने या किसी बालक ने मुझे खबर दी कि एक युवक ने उन दो बालाओं से कुछ छेड़-छाड़ की । मैं कांप गया! तलाश किया, बात सच्ची थी। युवक को समझाया। पर यह काफी न था। मैंने यह चाहा कि इन बालाओं के शरीर पर कोई ऐसा ही चिन्ह हो, जिसे हरएक युवक समझ सके और जान जाय कि इन बालाओं की ओर कदापि कुदृष्टि से नहीं देखना चाहिए। बालिकाएँ भी समझलें कि उनकी पवित्रतापर कदापि कोई हाथ नहीं डाल सकता। सीता को विकारी रावण स्पर्श नहीं कर सका। यद्यपि राम तो दूर थे। ऐसा कौनसा चिन्ह मैं उन बालिकाओं को दे सकता था, जिससे वे अपने को सुरक्षित समझने लगजाएं, और दूसरे उन्हें देखकर निर्विकार रहें। रात भर जागा । सुबह बालिकाओं को समझाया। विना किसी तरह चौंकने देते हुए मैंने उन्हें समझाया कि वे मुझे अपने सुंदर काले लम्बे केश काट डालने की इजाजत दें। फार्म पर हम आपस में ही एक दूसरे के वाल बना लिया करते थे। इसलिए वाल काटने की मशीन हमारे पास रहती थी। पहले तो वे समझ ही नहीं सकीं । बड़ी स्त्रियों को पहले ही समझा रक्खा था। मेरी सूचना को तो वे नहीं सह सकीं, पर मेरे हेतु को वे ज़रूर समझ सकी थीं। इसलिए उनकी भी मुझे

मदद थी। लड़कियां भव्य थीं। शिव शिव, पर आज उनमें से एक चलबसी है। वह तेजस्विनी थी। दूसरी जिंदा है। वह अपनी गृहस्थी चला रही है। अंत में वे दोनों समझ गईं। उसी क्षण इन हाथों ने, उस प्रसंग को इस समय चित्रित करने वाले इन्हीं हाथों ने उनके बालों पर कैंची चला दी। बाद में वर्ग में इस कार्य का विश्लेषण कर सब को समझा दिया गया। परिणाम सुंदर निपजा। फिर से कहीं बदमाशी की बात तक मेरे कानों पर नहीं आई। इन बालाओं का तो कुछ भी नहीं बिगड़ा। इससे उन्हें फायदा किस हद तक हुआ यह तो परमात्मा ही जानें। मैं तो आशा करता हूं कि वे युवक आज भी उस प्रसंग की याद कर करके अपनी दृष्टि को शुद्ध रखते होंगे।

ऐसे प्रयोग अनुकरण के लिए नहीं लिखे जाते। यदि कोई शिक्षक ऐसे प्रयोगों का अनुकरण करेगा तो जरूर ही वह बहुत भारी जोखिम अपने सिर पर लेगा। इस प्रयोग का उल्लेख तो केवल यह बताने के लिए किया गया है कि मनुष्य एक खास मार्ग पर कितनी दूर तक जा सकता है। साथ ही सत्याग्रह के युद्ध की शुद्धता भी इससे सूचित हो सकती है। इस चरम विशुद्धि ही में उसकी अंतिम विजय की रहस्य छिपी हुई थी। ऐसे प्रयोगों के लिए तो शिक्षक को माता और पिता दोनों खुद ही बन जाना चाहिए। तर्क को एक तरफ रख कर ही ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं। पर इसके लिए बड़ी ही कठिन तपश्चर्या की जरूरत है।

इस कार्य का असर तमाम फार्मवासियों की रहन सहन पर पड़ा। कम से कम खर्च में गुजर करना हमारा हेतु था; इसलिए पोशाक में फर्क करना पड़ा। शहरों में पुरुषों की पोशाक साधारण-

तथा यूरोपियन ढंग की ही थी। सत्याग्रहियों तक का यही हाल था। फार्म पर इतने कपड़ों की आवश्यकता नहीं थी। हम तो सब मजदूर बन गये थे। इसलिये पोशाक भी मजदूर ही की सी, पर यूरोपियन ढंग की रक्खी गई। मजदूर की सी पतलून और उन्हीं की सी एक क़मीज़। इसमें जेल का अनुकरण किया गया था। मोटे आसमानी रंग के कपड़े की सस्ती पतलूनें और कमीज़ें बाज़ार में बिकती थीं। हम सब उन्हींको पहनते थे। स्त्रियों में से कई सीने-पिरोने का काम अच्छी तरह कर सकती थीं। अतः तमाम सीने का काम वे ही करने लग गईं।

भोजन में चावल, दाल, तरकारी, और कभी खीर। बस, यही सामान्यतः नियम था। यह सब एक ही पात्र में परोसा जाता था। भोजन के लिए थाली के बदले जेल में मिलती है उस तर्ज़ की एक तश्तरी रक्खी जाती थी। चम्मच लकड़ी के रहते, जिन्हें हमने खुद अपने हाथों से बना लिया था। भोजन दिन में तीन बार होता था। सुबह छः बजे गेहूँ की रोटी और काफी, ग्यारह बजे दाल, भात तथा साग, और शाम को साढ़े पाँच बजे ज्वारी का दलिया और दूध अथवा रोटी और फिर गेहूँ की कॉफी। रात के नौ बजते ही सब सोने को चले जाते। भोजन के बाद शाम के सात–साढ़े सात बजे प्रार्थना होती। प्रार्थना में भजन होते और कभी कभी रामायण तथा इस्लामी धर्म ग्रन्थों से कुछ पढ़ा जाता था। भजन अंगरेजी, गुजराती, और हिन्दी भी होते। कभी कभी तीनों भाषा के, और कभी कभी किसी एक ही भाषा के।

फार्म पर कई लोग एकादशी व्रत करते थे। भाई कोतवाल भी वहाँ पहुँचे। उन्हें लङ्घन वगैरह का अच्छा अभ्यास था।

उनको देख कर कई लोगों ने चातुर्मास व्रत किया। इन्हीं दिनों रोज़े भी आते थे। हम लोगों में मुसलमान युवक भी थे। उन्हें रोज़े रखने के लिए उत्साहित करना हमें अपना धर्म प्रतीत हुआ। उन के लिए प्रातःकाल तथा रात के भोजन की व्यवस्था भी कर दी गई। रात को खीर आदि भी बनाये जाते। मांसाहार तो था ही नहीं और न किसी ने माँगा ही था। उनके प्रति सम्मान जाहिर करने के लिए हम भी एक बार भोजन अर्थात् प्रदोष करते। साधारणतया हम लोग सूर्यास्त से पहले पहल भोजन कर लिया करते। मुसलमान लड़के थोड़े ही थे, इसलिए दूसरे सब सूर्यास्त से पहले खाना खा कर तैयार हो जाते। बस इतना ही अन्तर पड़ता था। मुसलमान नवयुवकों ने भी अपने रोज़े के दिनों में बड़ी विनयशीलता दिखाई, जिससे किसी को भी अधिक कष्ट नहीं होने दिया। गैर मुसलिम बालकों ने इस समय में उनका साथ दिया, इसका असर भी बड़ा अच्छा हुआ। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं, जब हिन्दू और मुसलमान बालकों में झगड़ा हुआ हो। बल्कि इसके विपरीत मैं तो जानता हूँ कि सभी अपने अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी एक दूसरे के साथ बड़ी शिष्टता का व्यवहार करते थे। एक दूसरे की धार्मिक क्रियाओं में सहायता करते थे।

हम लोग इतनी दूर रहते थे। तथापि बीमारी वगैरा के लिए जो मामूली सुविधाएँ रक्खी जाती हैं, उनमें से एक भी नहीं रक्खी गई थी। उस समय मुझे बालकों की निर्दोषिता के विषय में जो श्रद्धा थी, वही बीमारी के अवसर पर कुदरती उपायों के अवलम्बन पर भी थी। सादे जीवन में बीमारी हो ही कैसे सकती है। अगर

आवेगी तो उसका यथोचित प्रतिकार भी किया जायगा इत्यादि मैं सोचता रहता था। मेरी आरोग्य विषयक किताब मेरे प्रयोग और मेरी तत्कालीन श्रद्धा का स्मारक है। मुझे तो यह अभिमान था कि मैं तो बीमार हो ही नहीं सकता। मेरा ख्याल था कि केवल पानी, मिट्टी, उपास और खान-पान में तरह तरह के परिवर्तन करने ही से तमाम बीमारियों को दूर किया जा सकता है। और यही मैंने फार्म पर किया भी। एक भी बीमारी के समय किसी डॉक्टर का इलाज नहीं कराया गया। एक उत्तर हिन्दुस्थानी बूढ़ा आया। अवस्था होगी कोई ७० वर्ष। दमे और खाँसी से पीड़ित था। भोजन में फेरफार करने से तथा पानी के प्रयोगों के द्वारा वह निरोग हो गया। पर अब इस तरह के प्रयोग करने की हिम्मत मुझ में नहीं रही। मैं स्वयं भी दो बार बीमार हो चुका, इसलिए अब मेरा ख्याल है, मैं उस अधिकार को भी खा चुका।

उन्हीं दिनों में स्वर्गीय गोखले दक्षिण आफ्रिका आये। तब हम फार्म पर ही रहते थे। उस प्रवास के वर्णन के लिए एक स्वतन्त्र अध्याय की जरूरत है। अभी तो एक कडुआ-मीठा संस्मरण है उसी को यहाँ लिख देता हूँ। हमारा जीवन-क्रम तो पाठकों ने जान ही लिया। फार्म में खाट के जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी। पर गोखले जी के लिए हम एक खाट माँग कर ले आये। वहाँ पर ऐसा एक भी कमरा नहीं था, जिसमें रह कर उन्हें पूरा एकान्त मिल सके। बैठने के लिए पाठशाला के बेंच थे। पर इस स्थिति में भी कोमल शरीर वाले गोखलेजी को फार्म पर बिना लाये हम कैसे रह सकते थे? और वे भी उसे बिना देखे क्यों कर रह सकते थे? मेरा ख्याल था कि उनका शरीर एक रात भर के

लिए कष्ट उठा सकेगा, और वे स्टेशन से फार्म तक करीब डेढ़ मील पैदल भी चल सकेंगे। मैंने उन्हें पहले ही से पूछ रक्खा था। अपनी सरलता के कारण उन्होंने विना विचारे मुझ पर विश्वास रख सब व्यवस्था को कुबूल भी कर लिया था। कर्म-धर्म संयोग से उसी दिन बारिश आ गई। ऐन वक्त पर एकाएक मैं भी कोई फेरफार नहीं कर पाया। इस तरह अज्ञानमय प्रेम के कारण मैंने उनको उस दिन जो कष्ट दिया, वह कभी नहीं भुलाया जा सकता। वे भारी परिवर्त्तन को तो कदापि नहीं सह सकते थे। उन्हें खूब जाड़ा लगा। खाना खाने के लिए पाकशाला में भी उन्हें नहीं ले जा सके। मि० केलनबेक के कमरे में उन्हें रक्खा गया था। वहाँ पहुँचते पहुँचते तो सब खाना ठण्ढा हो जाता। उनके लिए खुद मैं 'सूप' बना रहा था, और भाई कोतवाल ने रोटियाँ बनाईं। पर यह सब गरम कैसे रहे ? ज्यों त्यों करके भोजनाध्याय समाप्त हुआ। पर उन्होंने मुझे एक शब्द भी नहीं कहा। हाँ, उनके चेहरे पर से मैं सब कुछ और अपनी मूर्खता को भी जान गया। जब देखा कि हम सब जमीन पर सोते थे, तब तो उन्होंने भी खाट को अलग कर दिया, और अपना बिस्तर जमीन पर ही लगवा लिया। रात-भर मैं पड़ा पड़ा पश्चात्ताप करता रहा। गोखले जी को एक आदत थी, जिसे मैं कुटेव कहता था। वे केवल नौकर से ही काम लेते थे। ऐसे लम्बे प्रवासों में वे नौकरों को साथ नहीं रखते थे। मि० कैलनबेक ने और मैंने कई बार उनके पैर दबा देने के लिए प्रार्थना की। पर वे टस से मस नहीं हुए। अपने पैरों को हमें स्पर्श तक नहीं करने दिया। उलटा कुछ गुस्से में और कुछ हंसी में कहा "मालूम होता है, आप सब लोगों

ने समझ रक्खा कि दुःख और कष्ट उठाने के लिए केवल आप ही पैदा हुए हैं, और मुझ जैसे आपको केवल कष्ट देने के लिए। लो, भुगतो अब अपनी 'अति' की सजा। मैं तुम्हें अपने शरीर को स्पर्श तक नहीं करने दूंगा। आप सब लोग तो नित्य-क्रिया के लिए मैदान में जावेंगे और मेरे लिए कमोड रख छोड़ा है, क्यों? खैर, परवा नहीं। आज तो मैं जरूर आपका गर्व दूर करूंगा, चाहे इसके लिए कितना ही कष्ट हो"। ये वचन तो वज्र के समान थे। कैलनबेक और मैं दोनों सुस्त हो गये। पर उनके चेहरे पर कुछ कुछ हँसी भी थी, बस यही हमें आश्वासन दे रही थी। अर्जुन ने अज्ञानवश श्रीकृष्ण को कितना ही कष्ट क्यों न दिया हो, पर क्या यह सब श्रीकृष्ण ने याद रक्खा होगा? गोखलेजी ने तो केवल सेवा को ही याद रक्खा। और खूबी यह कि सेवा तो करने भी न दी। मोंबासा से लिखा हुआ उनका वह प्रेम भरा पत्र मेरे हृदय में अँकित है। उन्होंने आप कष्ट उठा लिया, पर हम उनकी जो सेवा कर सकते थे, वह भी उन्होंने नहीं करने दी। हमारा बनाया भोजन तो खैर खाना ही पड़ा? नहीं तो और करते ही क्या?

दूसरे दिन सुबह न तो उन्होंने खुद ही आराम लिया न हमें लेने दिया। उनके भाषणों को, जिन्हें हम पुस्तक रूप में छपाने वाले थे, उन्होंने दुरुस्त किया। उन्हें कुछ भी लिखना होता तो पहले वे यहां से वहाँ तक टहलते टहलते विचार कर लेते। उन्हें एक छोटासा पत्र लिखना था। मेरा ख्याल था कि वे फौरन लिख डालेंगे, पर नहीं। मैंने टीका की, इसलिए मुझे व्याख्यान सुनना पड़ा। "मेरा जीवन तुम क्या जानो? मैं छोटी से छोटी बात में भी जल्दी नहीं करता। उस पर विचार करता हूँ, उसके मध्यबिन्दु पर ध्यान देता

हूँ, विषयोचित भाषा गढ़ता हूँ, और फिर कहीं लिखता हूँ। इस तरह यदि सभी करें तो कितना समय बच जाय, और समाज का कितना लाभ हो ? आज समाज को जो इन अपरिपक्व विचारों के कारण हानि उठानी पड़ती है उससे वह बच जाय। ''

जिस तरह गोखलेजी के आगमन के वर्णन रहित टॉल्स्टॉय फार्म के संस्मरण अधूरे माने जावेंगे, उसी प्रकार यदि मि० कैलनबेक की रहन सहन का वर्णन भी न दिया जाय, तो वे अधूरे ही रह जावेंगे। इस निर्मल पुरुष का परिचय मैं पहले दे चुका हूँ। मि० कैलनबेक का टॉल्स्टॉय फार्म पर और सो भी हमारे जैसा रहना एक आश्चर्यकारक वस्तु थी। गोखले सामान्य बातों से आकर्षित होने वाले पुरुष नहीं थे। पर कैलनबेक के जीवन में यह महान् परिवर्तन देखकर वे भी अत्यंत आश्चर्य-चकित हो गये थे। मि० कैलनबेक ने कभी धूप जाड़ा नहीं सहा था, न किसी प्रकार की मुसीबत पहले उठाई थी। अर्थात् स्वच्छन्द जीवन को उन्होंने अपना धर्म बना लिया था। संसार के आनन्दों का उपभोग लेने में उन्होंने किसी प्रकार की बाकी नहीं रहने दी थी। धन से जितनी भी चीजें खरीदी जा सकती हैं उन सबको प्राप्त करने के लिए उन्होंने कभी कुछ उठा नहीं रक्खा था।

ऐसे पुरुष का फार्म पर रहना, वहीं खाना पीना, फार्म-वासियों के जीवन के साथ अपने को पूर्णतया मिला देना, कोई ऐसी वैसी बात नहीं थी। भारतीयों को इस बात पर बड़ा आश्चर्य और आनन्द भी हुआ। कितने ही गोरों ने तो उन्हें मूर्ख या पागल ही समझ लिया, कितनों ही के दिलों में उनकी त्याग-शक्ति के कारण उनके प्रति आदर बढ़ गया। कैलनबेक ने अपने त्याग

पर न तो कभी पश्चात्ताप किया और न उन्हें वह दुःख रूप मालूम हुआ। अपने वैभव से उन्हें जितना आनन्द प्राप्त हुआ था, उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक आनन्द वे अपने त्याग से पा रहे थे। सादगी से होनेवाले सुखों का वर्णन करते करते वे तल्लीन हो जाते। यहाँ तक कि कई बार तो उनके श्रोताओं को भी इस सुख का आस्वाद करने की इच्छा हो जाती। छोटे से लेकर बड़े तक सबके साथ वे इस तरह प्रेम पूर्वक हिलमिल जाते कि उनका छोटे से छोटा वियोग भी सब के लिए असह्य हो जाता। फल पौधों का उन्हें बड़ा शौक था, इसलिए बागवान का काम उन्होंने अपने अधीन रक्खा था। और प्रति दिन सुबह बालकों और बड़ों से उनकी काट-छाँट, रक्षा वगैरह का काम लेते। मिहनत पूरी लेते, पर साथ ही उनका चेहरा इतना हँस मुख और स्वभाव ऐसा आनन्दमय था कि उनके साथ काम करते हुए सब को बड़ा आनन्द होता था। जब जब कभी रातके २ बजे से उठकर टॉल्स्टॉय फार्म से कोई टोली जोहान्सबर्ग को पैदल जाती तो कैलनबेक बराबर उसके साथ पाये जाते।

इनके साथ धार्मिक सम्वाद हमेशा होते रहते थे। मेरे नजदीक अहिंसा, सत्य इत्यादि यमों को छोड़कर तो और कौनसी बात हो सकती थी? सर्पादि जानवरों को मारना भी पाप है, इस विचार से जिस तरह दूसरे यूरोपियन मित्रों को आघात पहुंचा ठीक उस तरह पहले पहले मि० कैलनबेक को भी पहुंचा। पर अंत में तात्विक दृष्टि से उन्होंने इस सिध्दान्त को कुबूल कर लिया। हम लोगों के साथ सम्बन्ध होते ही इस बात को तो उन्होंने पहले ही मान लिया था कि जिस बात को बुद्धि स्वीकार करे उस पर अमल करना भी योग्य और उचित है। इसी कारण

वे अपने जीवन में बड़े से बड़े परिवर्तन बिना किसी प्रकार के सँकोच के एक क्षण में कर सके थे।

अब तो, चूँकि सर्पादि को मारना अयोग्य पाया गया इसलिए मि० कैलनबेक को उनकी मित्रता भी संपादन करने की इच्छा होने लगी। पहले पहल तो उन्होंने भिन्न भिन्न जाति के साँपों की पहचान जानने के लिए साँपों से सम्बन्ध रखने वाली किताबें इकट्ठी कीं। उनसे उनको पता चला कि सभी सर्प जहरीले नहीं होते। बल्कि कितने ही तो खेती की फसल की रक्षा भी करते रहते हैं। हम सबको उन्होंने सर्पों की पहचान बताई, और अंत में एक जबरदस्त अजगर को उन्होंने पाला, जो कि फार्म में ही उन्हें मिल गया था। उसे वे रोज अपने हाथों से खिलाते थे। एक दिन नम्रतापूर्वक मैंने मि० कैलनबेक से कहा, "यद्यपि आपका भाव तो शुद्ध है, तथापि अजगर शायद इसे समझ न सकता होगा। क्योंकि आपका प्रेम भय से मिश्रित है। इसको छोड़कर उसके साथ इस तरह क्रीड़ा करने की आपकी मेरी या किसी की शक्ति नहीं है। और हम तो उसी हिम्मत को प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए इस सर्प के पालन में सद्भाव तो देखता हूं पर अहिंसा नहीं देख सकता। हमारा कार्य तो ऐसा हो कि जिसे यह अजगर भी पहचान सके। यह तो हमारा हमेशा का अनुभव है कि प्राणिमात्र केवल भय और प्रीति इन दो ही बातों को समझते हैं। आप इस सर्प को जहरीला तो मानते ही नहीं। केवल इसका स्वभाव आदि जानने भर के लिए आपने इसे कैद कर रक्खा है। यह तो स्वच्छंद हुआ। मित्रता में तो इसके लिए भी स्थान नहीं है।

मि० कैलनबेक मेरी दलील को समझ गये। पर उनको यह इच्छा नहीं हुई कि अजगर को जल्दी छोड दें। मैंने किसी प्रकार का दबाव तो डाला ही नहीं। सर्प के बर्ताव में मैं भी दिलचस्पी ले रहा था। बच्चों को तो खूब आनंद हो रहा था। सबसे कह दिया गया था कि उसे कोई सतावे नहीं। पर वह कैदी स्वयं ही अपनी राह ढूंढ रहा था। पींजडे का दरवाजा खुला रह गया या शायद उसीने उसे किसी तरह खोल लिया—परमात्मा जानें क्या हुआ—दो चार दिन के अंदर ही, एक दिन सुबह-जब मि० कैलनबेक अपने कैदी को देखने के लिए गये, तो उन्होंने पींजडे को खाली पाया। वे और मैं भी खुश हो गया। पर इस प्रयोग के कारण हमेशा के लिए सर्प हमारी बात चीत का विषय हो गया। मि० कैलनबेक एक गरीब जर्मन को हमारे फार्म पर लाये थे। वह गरीब भी था और पंगु भी। उसकी जांघ इतनी टेढी हो गई थी कि वह बिना लकडी के चल ही नहीं सकता था। पर वह बड़ा हिम्मतवर था। शिक्षित भी था, इसलिए सूक्ष्म बातों में भी बड़ी दिलचस्पी बताता। फार्म पर वह भी भारतीयों का साथी बनकर सब से हिलमिल कर रहता था। उसने तो निर्भयता पूर्वक सर्पों के साथ खेलना तक शुरू कर दिया। छोटे छोटे सर्पों को वह अपने हाथ में ले आता और अपनी हथेली पर उन्हें खेलाता था। कौन कह सकता है कि यदि फार्म अधिक दिन तक चला होता तो इस जर्मन के प्रयोग का क्या परिणाम होता। इसका नाम आल्बर्ट था।

इस प्रयोग के कारण यद्यपि सांप का डर तो कम हो गया था तथापि कोई यह न समझ ले कि फार्म के अंदर किसी को सांप

का भय ही नहीं रहा अथवा सांप को मारने की सब को मनाई थी। हिंसा-अहिंसा और पाप का ज्ञान प्राप्त कर लेना एक बात है और उसके अनुसार आचरण करना दूसरी बात। जिसके दिल में सांप का डर है, और जो प्राण-त्याग करने के लिए तैयार नहीं है, वह संकट-समय में सांप को कभी नहीं छोड़ेगा। मुझे याद है कि ऐसा ही एक किस्सा फार्म पर हुआ था। पाठकों ने यह तो स्वयं ही अंदाज से जान लिया होगा कि फार्म पर सर्पों का उपद्रव खूब रहा होगा। क्योंकि हम लोग वहां गये उससे पहले वहां कोई बस्ती नहीं थी। बल्कि कितने ही समय से वह निर्जन ही था। एक दिन मि० कैलनबेक के कमरे में अचानक ऐसी जगह एक सांप दिखा, जहां से उसे भगाना या पकड़ना भी करीब करीब असम्भव था। पहले पहल फार्म के एक विद्यार्थी ने उसे देखा। उसने मुझे बुलाया और पूछा—कि अब क्या करना चाहिए? उसे मारने की आज्ञा भी उसने चाही। वह बिना इजाजत भी सांप को मार सकता था, परन्तु साधारणतया क्या विद्यार्थी और क्या दूसरे मुझे बिना पूछे ऐसी कोई बात नहीं करते थे। इस सांप को मारने की इजाजत देना मैंने अपना धर्म समझा और आज्ञा दे भी दी। यह लिखते समय भी मुझे यह नहीं मालूम होता कि मैंने वह आज्ञा देने में कोई गलती की। सांप को हाथ में पकड़ने इतनी अथवा अन्य किसी प्रकार से फार्म वासियों को निर्भय कर देने इतनी शक्ति न तो मुझ में तब थी और न आज तक उसे प्राप्त कर सका हूं।

पाठक यह तो आसानी से जान सकते हैं, कि फार्म पर सत्याग्रहियों के दल आते रहते थे! कैद होने के लिए जाने

वाले तथा कैद से छूटकर आने वाले सत्याग्रही इन दो में से कोई न कोई तो वहां जरूर ही बने रहते। उनमें दो कैदी ऐसे वहां आ पहुंचे जिन्हें मॅजिस्ट्रेट ने उनके अपने मुचलके पर ही छोड़ दिया था और जिन्हें दूसरे दिन सजा सुनने के लिए जाना था। बात चीत हो रही थी। बात बात में इतना समय हो गया कि आखिरी ट्रेन का वक्त भी आ पहुंचा। यह निश्चय नहीं था कि ट्रेन मिल ही जायगी। दोनों जवान कसरती थे, वे दोनों और हम में से कितने ही ताकतवर लोग दौड़े। रास्ते ही में ट्रेन के आने की सीटी मैंने सुनी। हम स्टेशन के बाहर तक पहुंचे कि गाड़ी के छूटने की सीटी हुई। वे दोनों भाई तो एक सा दौड़ते चले जा रहे थे। मैं पीछे रह गया। ट्रेन खुल गई। इन दोनों को दौड़ते देख कर स्टेशन मास्टर ने चलती ट्रेन को रोक दिया, और उन दोनों को बैठा दिया। जब मैं पहुंचा तो मैंने अहसानमंदी जाहिर की।

यह वर्णन करते हुए मैं दो बातें दिखा गया हूं। एक तो सत्याग्रहियों की अपनी प्रतिज्ञा पालन करने तथा जेल जाने की उत्कट उत्सुकता और दूसरे, सत्याग्रहियों और स्थानीय अधिकारियों के बीच जो मधुर-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। वह अगर वे दोनों युवक ट्रेन नहीं पकड़ सकते तो वे दूसरे दिन अदालत में हाजिर भी नहीं हो सकते। उनका जामीन दूसरा कोई था ही नहीं। और न इनसे कहीं रुपये ही लिये गये थे। उन्हें तो केवल उनकी भलमनसाही पर ही छोड़ा गया था। वहां पर सत्याग्रहियों की साख इतनी जम गई थी कि जेल जाने के लिए सदा उत्सुक रहने के कारण अदालत के अधिकारीगण भी उनसे कभी जामीन

लेना आवश्यक नहीं समझते थे। इसलिए उन युवकों को ट्रेन चूकने का बड़ा भारी डर था। और इसलिए वे तीर की तरह छूटे थे। हां इस सत्याग्रह के आरंभ में अधिकारियों की तरफ से सत्याग्रहियों को जरूर कुछ कष्ट हुआ था। कहीं कहीं तो जेल के अधिकारी अत्यन्त कठोरता पूर्ण व्यवहार भी करते थे। पर ज्यों ज्यों युद्ध आगे बढता गया त्यों त्यों मैंने देखा कि वे नरम होते गये, और कितने ही अधिकारी तो नितान्त मधुरतापूर्ण व्यवहार करने लग गये। और जहां जहां उनके साथ अधिक समय तक मेल-मिलाप का सम्बन्ध या प्रसंग पडता, वहां वहां तो उस भले स्टेशन मास्टर की तरह वे सहायता तक करने लग गये। पाठक यह न समझ लें कि सत्याग्रही लोग अधिकारियों को रिश्वत देकर अपने अनूकूल कर लिया करते होंगे। वहां तो अनुचित मार्ग के अवलम्बन द्वारा सुविधायें प्राप्त करने का ख्याल तक नहीं किया जाता था। पर ऐसा कौन होगा जिसे शिष्ट-सम्मत सुविधायें प्राप्त करने की इच्छा भी न हो? बस इसी प्रकार की सुविधा अनेक स्थानों पर सत्याग्रही प्राप्तकर सकते थे। यदि स्टेशन मास्टर उलटा आदमी होता तो नियम-भंग न करते हुए भी हमें अनेक प्रकार से सता सकता था, और ऐसे व्यवहार के खिलाफ कोई शिकायत भी नहीं की जा सकती थी। पर इसके विपरीत यदि वह भला आदमी होता तो नियमों का बिना किसी प्रकार उल्लंघन किये हमें अनेक प्रकार से सहायता भी पहुंचा सकता था। और इसी तरह की सुविधायें इस फार्म के नजदीक वाले स्टेशन के स्टेशन-मास्टर से हम प्राप्त कर सके थे। पर इसका कारण तो था सत्याग्रहियों का विवेक, उनका धैर्य अनेक कष्ट सहने की क्षमता रखनेवाली उनकी सहन शक्ति।

यदि एक अप्रस्तुत प्रसगं का भी यहाँ उल्लेख कर दूं तो अनुचित न होगा। लग भग ३५ वर्ष से मुझे भोजन में सुधार और अन्य धार्मिक आर्थिक तथा आरोग्य विषयक प्रयोग करने का शौक है। वह अभीतक ज्यों का त्यों है, जरा भी मंद नहीं हुआ। इन प्रयोगों का प्रभाव मेरे आस पास रहने वालों पर तो जरूर ही पड़ता। इन प्रयोगों के साथ साथ बिना किसी प्रकार की औषधि की सहायता के केवल प्राकृतिक-मसलन पानी, मिट्टी आदि उपचारों द्वारा रोगों के इलाज के प्रयोग भी मैं करता था। मैं वकालत करता था उस समय मवक्किलों के साथ मेरा बिलकुल घर के जैसा सम्बन्ध हो जाता। इसलिए वे मुझे अपने सुख-दु:खों में भी भागीदार बनाते। आरोग्य विषयक मेरे कितने ही प्रयोगों से वे परिचित भी थे। इसलिए वे अक्सर उस विषय में मेरी सहायता लेते।

टॉल्स्टॉय फार्म पर भी ऐसी सहायता के इच्छुक कभी कभी चले आते। इनमें उत्तर हिंदुस्तान से गिरमिट में आया हुआ लुटावन नामक एक बूढ़ा मवक्किल भी था। अवस्था ७० वर्ष से भी अधिक होगी। उसे बड़ी पुरानी दमे और खांसी की व्याधि थी। अनेकों वैद्यों के क्वाथ-पुड़ियों और कई डॉक्टरों की बोतलों को वह आजमा चुका था। उस समय मुझे अपने इन उपचारों में असीम विश्वास था। मैंने उसे कहा कि यदि तुम मेरी तमाम शर्तों का पालन करो और फार्म ही पर रहो। तो मैं अपने उपचारों का प्रयोग तुम पर कर सकूँगा। उसका इलाज करने की बात तो मैं कैसे कह सकता था? उसने मेरी शर्तों को कबूल किया। लुटावन को तमाखु का बहुत भारी व्यसन था। मेरी शर्तों में एक यह भी थी कि वह तमाखू छोड़ दे। लुटावन को एक दिन का उपास कराया।

प्रति दिन बारह बजे धूप में 'क्यूनी बाथ' देना शुरु किया। उस समय की ऋतु भी धूप में बैठने लायक थी। उसे थोड़ा भात, कुछ ऑलिव ऑइल (जेतून का तेल) शहद और कभी कभी शहद के साथ साथ खीर, मीठी नारंगी, अंगूर और भूंजे हुए गेहूं की कॉफ़ी आदि भोजन के लिए दिया जाता था। नमक और तमाम मसाले बंद कर दिये गये थे। जिस मकान में मैं सोता था उसी मकान में जरा अन्दर की तरफ़, लुटावन का भी बिस्तर लगा दिया जाता था। सब के बिस्तर में दो कम्बल रहते थे, एक बिछाने का और एक ओढने का। लकड़ी का तकिया भी रहता था।

एक सप्ताह बीता, लुटावन के शरीर में तेज प्रवेश करने लगा, दमा कम हुआ, खाँसी भी घट गई। पर रात को दमा और खाँसी दोनों सताते। मुझे तमाखु का शक हुआ। मैंने उसे पूछा। लुटावन ने कहा 'मैं नहीं पीता'। फिर एक दो दिन गये। पर खाँसी में कोई फर्क नहीं हुआ। अब छिपकर लुटावन पर नजर रखने का निश्चय किया। सब जमीन पर ही सोते थे। सर्पादि का भय तो था ही। इसलिए मि० कैलनबेक ने मुझे बिजली की एक जेबी बत्ती दे रक्खी थी। वे भी एक रखते थे। इस बत्ती को लेकर मैं सोता था। मैंने निश्चय किया कि एक रात बिस्तर ही में पड़े पड़े जागूँ। दरवाजे से बाहर बरामदे में मेरा बिस्तर लगा हुआ था, और दरवाजे के अंदर नजदीक ही लुटावन लेट रहा था। करीब आधीरात के लुटावन को खांसी आई। दीया सलाई सुलगा कर उसने बीड़ी पीना शुरू किया। मैं भी धीरे से चुप चाप उसके बिस्तर के पास जा खड़ा हुआ और बत्ती की कल को दबाया। लुटावन घबडाया! वह समझ गया। बीड़ी

बुझा कर उठ खड़ा हुआ। और मेरे पैर पकड़ कर बोला "मैंने बड़ा गुन्हा किया, अब मैं कभी तमाखू नहीं पीऊंगा। आपको मैंने धोखा दिया। मुझे आप माफ करें" यह कह कर वह गिड़ गिड़ाने लगा। मैंने उसे आश्वासन पूर्वक कहा कि बीड़ी छोड़ने में उसी का हित था। मेरे अनुमान के अनुसार खांसी जरूर मिट जानी चाहिए थी। वह मिटी नहीं इसलिए मुझे शक हुआ। लुटावन की बीड़ी छूटी और उसके साथ ही साथ दो तीन दिन में दमा और खांसी की शिकायत भी कम हो गई। इसके बाद एक मास में लुटावन बिलकुल नीरोग हो गया। उसके चेहरे पर खूब रौनक आ गई और वह बिदा होने के लिए तैयार हुआ।

स्टेशन मास्तर का लड़का, जो दो साल का था, टॉइफाइड (विषम ज्वर) से पीडित था। स्टेशन मास्टर जानते थे कि मैं इस तरह उपचार करता हूँ। उन्होंने मेरी सलाह चाही। उस बच्चे को पहले दिन तो मैंने खाने के लिए कुछ भी नहीं दिया। दूसरे दिन से खूब मसला हुआ आधा केला ले कर उसमें एक चम्मच ओलिव ऑइल और नींबू के रस के कुछ बूंद डाल कर देना शुरू किया। बस, और सब खुराक बंद कर दिया। हाँ, रात को इस बालक के पेट पर मिट्टी की पट्टियां बांधी जाती थीं। उसे भी आराम हो गया। सम्भव है, डा० का निदान गलत हो, और वह विषम ज्वर न भी हो।

इस तरह के अनेकों प्रयोग मैंने फार्म पर किये। और जहां तक मुझे याद है, उनमें से एक भी निष्फल नहीं हुआ। पर आज उन्हीं उपचारों को आजमाने की हिम्मत मुझमें नहीं है। अब तो विषमज्वर से पीडित रोगी को केला और ओलिव ऑइल मुझ से

नहीं दिया जाय। हाथ पाँव ही काँपने लग जावें। १९१८ में भारतवर्ष में मुझे अतिसार की बीमारी हो गई थी। परन्तु मैं उसका इलाज नहीं कर सका। मैं नहीं कह सकता कि इसका कारण क्या होगा? पता नहीं कि जो उपचार आफ्रिका में सफल हुए, वे यहां उसी परिमाण में सफल नहीं होते इसका कारण मेरे आत्मविश्वास की न्यूनता है या वे (उपचार ही) यहां के जल-वायु को अनुकूल नहीं होते। पर मैं यह जरूर कह सकता हूं कि इन घरेलू उपचारों की बदौलत तथा टॉल्स्टॉय फार्म में अख्तियार की गई सादगी के कारण, अधिक नहीं तो कम से कम २।३ लाख रुपये की बचत तो कौम को अवश्य हुई होगी। अलावा इसके रहने वालों में कौटुम्बिक भावना उत्पन्न हो गई, सत्याग्रहियों को शुद्ध आश्रय स्थान मिला, अप्रामाणिकता और दम्भ को कहीं मौका नहीं मिला। मूंग और कंकड अलग अलग हो गये।

उपर्युक्त कहानियों में बताये खुराक के प्रयोग केवल आरोग्य की दृष्टि से किये गये। पर इस फार्म पर रहते हुए। मैंने केवल आध्यात्मिक दृष्टि से खुद अपने ऊपर एक महत्वपूर्ण प्रयोग भी किया था।

इस बात पर तो मैंने बहुत विचार किया है और उपलब्ध साहित्य भी पढ़ा है कि निरामिष भोजन करने वाले की हैसियत से हमें दूध का उपयोग करना चाहिए या नहीं, और यदि हाँ, तो कितना किया जाय। इस फार्म पर रहते हुए मेरे हाथों में एक किताब या अखबार आया, जिसमें मैंने पढ़ा कि कलकत्ता में गाय भैंसों का दूध बिलकुल निचोड कर निकाला जाता है। इस लेख में फूंकने की (पंप करने की) अमानुष और भयानक क्रिया का भी

बारहवां अध्याय

श्री गोखले का प्रवास

इस टॉल्स्टॉय फार्म पर सत्याग्रही अपनी जीवन-यात्रा तय कर रहे थे और अज्ञात भावी में उनके लिए जो कुछ भी रचा जा रहा था उसके लिए तैयार हो रहे थे। न तो उन्हें इस बात की कोई खबर थी और न कोई चिन्ता ही थी कि लड़ाई कब खतम होगी? उनकी तो केवल यही एक प्रतिज्ञा थी कि उस खूनी कानून के सामने कभी सिर न झुकावेंगे। इसमें जो कुछ दुःख कठिनाइयां आवेंगी सब को सहलेंगे। एक सिपाही के लिए तो स्वयं युद्ध ही जीत है। क्योंकि वह उसीमें सुख मानता है। और चूंकि लड़ना न लड़ना उसीके अपने अधीन होता है हार-जीत तथा अपने सुख दुःख का भार भी उसी पर होता है।

कोई नास्तिक मित्र उधर आ निकलता तो वह, हमपर दया दिखाता और यदि वह टीकाकार होता तो हमारी निन्दा करता। "काहिल हैं, और क्या? तभी तो जँगल में पड़े पड़े खुराक घटा रहे हैं। जेल से हार गये इसीलिए तो फलों के सुन्दर बाग में रह कर आराम से नियमित जीवन बिता रहे हैं,—शहर के झंझटों से दूर भागकर सुखोपभोग कर रहे हैं" इस तरह के टीकाकार को कोई यह किस तरह समझा सकता है कि सत्याग्रही अनुचित रीति से—नीति का भंग करके जेल जाना कभी ठीक नहीं समझता। भला उसे यह भी कौन समझावे कि सत्याग्रही की शांति और सयम में ही युद्ध की तैयारी है। यह भी उसे कौन कहे कि सत्याग्रही मनुष्य की सहायता का विचार तक छोड़ देता है, वह तो केवल परमात्मा पर विश्वास रखता है। किन्तु अंत में ऐसे संयोग आ जुटे जिनकी हमें कल्पना भी नहीं थी। अथवा यों कहें कि वह परमात्मा ही की माया थी। सहायता भी अकल्पित रीति से आ पहुंची। कसौटी का मौका भी ऐसा बढिया आ गया, जिसका किसी को ख्याल तक न था। फलतः अंत में हमें बाह्य विजय भी ऐसी मिली जिसको संसार समझ सका।

गोखलेजी तथा अन्य नेताओं से मैं प्रार्थना कर रहा था कि वे दक्षिण अफ्रिका आकर यहां के भारतीयों की स्थिति का अध्ययन करें। पर इस बात में पूरा पूरा सन्देह था कि कोई आवेगा भी या नहीं। मि० रिच भी किसी नेता को भेजने की कोशिश कर रहे थे। पर ऐसे समय वहां आने की हिम्मत कौन कर सकता था जब लड़ाई बिलकुल मंद हो गई हो? सन् १८११ में गोखले इंग्लैंड में थे, दक्षिण आफ्रिका के युद्ध का

अध्ययन तो उन्होंने अवश्य ही कर लिया था। बल्कि धारासभाओं में चर्चा भी की थी। गिरमिटियाओं को नाताल भेजना बंद करने का प्रस्ताव उन्होंने धारासभा में पेश किया था, जो स्वीकृत भी हो गया था। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार बराबर जारी था। भारत-सचिव के साथ वे इस विषय में कुछ मशविरा कर रहे थे, और उन्होंने दक्षिण आफ्रिका जा कर उस प्रश्न का ठीक ठीक अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की थी। भारत सचिव ने उनके उस विचार को पसन्द भी किया था। गोखलेजी ने छः सप्ताह के प्रवास की योजना और कार्यक्रम बनाने लिए मुझे लिख भेजा और साथ ही वह अंतिम तारीख भी लिख भेजी, जब वे दक्षिण, आफ्रिका से विदा होना चाहते थे। उनके शुभागमन की वार्ता पढ़कर हमें तो इतना आनंद हुआ कि जिसकी हद नहीं। आजतक किसी नेता ने दक्षिण आफ्रिका की सफर नहीं की थी। दक्षिण आफ्रिका की तो ठीक पर प्रवासी भारतवासियों की दशा का अवलोकन और ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से भी किसी विदेशी रियासत की सफर तक नहीं की थी। इसलिए गोखले जैसे महान् नेता के शुभागमन के महत्व को हम सब पूरी तरह समझ गये। हमने यह निश्चय किया कि गोखलेजी का ऐसा स्वागत-सन्मान किया जाय जैसा अब तक बादशाह का भी न हुआ। यह भी तय हुआ कि उन्हें दक्षिण आफ्रिका के मुख्य मुख्य शहरों में भी ले जाना चाहिए। सत्याग्रही और दूसरे भी उनके स्वागत की तैयारियों में बड़े उत्साह पूर्वक काम करने लगे। गोरों को भी इस स्वागत में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया गया था, और लग भग सभी जगह वे शामिल भी हुए थे। यह भी निश्चय किया गया कि जहाँ

जहाँ सार्वजनिक सभायें हों, उन उन शहरों के मेयरों को, यदि वे स्वीकार करें तो, अध्यक्षस्थान दिया जाय । साथ ही जहां तक हो सके कोशिश करके प्रत्येक शहर में सभा-स्थान के लिए वहाँ के टाउन हॉल का ही उपयोग किया जाय । हमने यह निश्चय कर लिया कि रेलवे-विभाग की इजाजत प्राप्त कर के मुख्य मुख्य स्टेशनों को भी सजाया जाय। तदनुसार कितने ही स्टेशनों को सजाने की इजाजत भी हमें मिल गई । यद्यपि सामान्यतया ऐसी इजाजत नहीं दी जाती । पर हमारी स्वागत की तैयारियों का असर सत्ताधिकारियों पर भी पड़ा । इसलिए उन्होंने भी जितनी उन से बन पड़ी सहानुभूति दिखाई । मसलन, केवल जोहान्सवर्ग के स्टेशन को सजाने में ही हमें लगभग १५ दिन लग गये । वहाँ हम लोगों ने एक सुन्दर प्रवेश द्वार बनाया था ।

दक्षिण आफ्रिका के विषय में बहुत कुछ जानकारी तो उन्हें इंग्लैण्ड में ही मिल चुकी थी । भारत-सचिव ने दक्षिण आफ्रिका की सरकार को गोखले का दरजा, साम्राज्य में उनका स्थान, इत्यादि पहले ही बता दिया था । किन्तु स्टीमर कम्पनी में टिकट तथा व्यवस्था आदि करने की वात किसी को कैसे सूझ सकती थी ? गोखलेजी की तबियत नाजुक थी । इसलिए उनको अच्छी कैबिन और एकान्त की बड़ी आवश्यकता रहती । पर उन्हें तो साफ उत्तर मिल गया कि ऐसी कैबिन है ही नहीं । मुझे ठीक ठीक पता नहीं है कि स्वयं गोखलीजी ने या उनके और किसी मित्र ने इंडिया आफिस में इस वात का इत्तिला किया। कम्पनी के डायरेक्टर को इण्डिया आफिस तरफ से पत्र पहुंचा। और जहां कोई कैबिन ही नहीं थी वहीं उनके लिए एक बढ़िया कैबिन तैयार हो गई।

उस प्रारम्भिक कटुता का अंत इस मधुरता के साथ हुआ। स्टीमर के कैप्टन को भी गोखलेजी का बढ़िया स्वागत करने के लिए सूचना पहुंची थी। इसलिए उनकी इस सफर के दिन बड़ी शान्ति और आनन्द के साथ बीते। गोखले उतने ही आनन्द और विनोदशील भी थे जितने वे गम्भीर थे। स्टीमर के खेल वगैराओं में वे खूब भाग लेते थे। इसलिए स्टीमर के मुसाफिरों में वे बड़े प्रिय हो गये। गोखलेजी को यूनियन सरकार यह विनय-सदेश भी पहुंचा कि वे युनियन सरकार के मिहमान हों और रेलवे के स्टेट सलून में ही सफर करें। किन्तु स्टेट सलून का तथा प्रिटोरिया में सरकारी मिहमान होना स्वीकार करने का निश्चय उन्होंने मेरे साथ मशवरा करने के बाद किया।

जहाज से वे केप टाउन में उतरने वाले थे। उनका मिज़ाज तो मेरी अपेक्षा से भी अधिक नाजुक साबित हुआ। वे एक खास तरह का भोजन ही खा सकते थे। अधिक परिश्रम भी नहीं उठा सकते थे। निश्चित कार्य-क्रम भी उनके लिए असह्य हो गया। जहांतक हो सका उसमें परिवर्तन किया गया। जहां कहीं परिवर्तन नहीं हो सका, वहां स्वास्थ्य बिगड़ने की आशंका होते हुए भी उन्होंने उसे कुबूल कर लिया। मुझे इस बात का बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उनको बिना पूछे ही मैंने इतना सख्त कार्य-क्रम क्यों तैयार कर डाला! कार्य-क्रम में कितनी ही जगह परिवर्तन किया गया। पर अधिकांश तो ज्यों का त्यों ही रखना पड़ा। यह बात मेरे ख्याल में नहीं आई थी कि उन्हें एकांत की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। अतः एकांत स्थान का प्रबन्ध करने में मुझे ज्यादह से ज्यादह कठिनाई हुई। पर

साथ ही नम्रता पूर्वक मुझे यह तो सत्य के लिए जरूर कहना पडेगा कि बीमार और बुजुर्गों की सेवा करने का मुझे खास अभ्यास और शौक भी था; इसलिए अपनी मूर्खता का ज्ञान होने के बाद मैं उसमें इतना सुधार कर सका था, कि उन्हें बहुत काफी एकान्त और शान्ति भी मिल सकी। प्रवास में शुरू से आखिर तक उनके मंत्री का काम स्वयं मैं ने ही किया। स्वयं-सेवक भी ऐसे थे जो सांय सांय करती अंधेरी रात में भी चिट्ठी का उत्तर ला सकते थे। इसलिए मेरा ख्याल है कि उन्हें सेवकों के अभाव के कारण कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा होगा। कैलनबेक भी इन स्वयं सेवकों में थे।

यह तो प्रकट ही था कि केप टाउन में बढ़िया से बढ़िया सभा होनी चाहिए। श्राइनर कुटुम्ब के विषय में पहले भाग में लिख ही चुका हूं। उन में से डब्ल्यू. पी. श्राइनर से, जो मुख्य थे—अध्यक्ष स्थान स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की गई। हमारी प्रार्थना को उन्होंने मंजूर कर लिया। विशाल सभा हुई। भारतीय और गोरे भी अच्छी तादाद में आए। मि० श्राइनर ने मधुर शब्दों में गोखलेजी का स्वागत किया, और दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। गोखलेजी का भाषण छोटा परिपक्व विचारों से भरा हुआ, और दृढ़ किन्तु विनयपूर्ण भी था—ऐसा था जिसने भारतीयों को प्रसन्न कर दिया, और गोरों का भी चुरा लिया। गोखलेजी ने जिस दिन दक्षिण आफ्रिका की भूमि पर पैर रक्खा उसी दिन वहां की पचरंगी प्रजा के हृदय में उन्होंने अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

केप टाउन से जोहान्सबर्ग को जाना था। रेल से दो दिन का

प्रवास था। युद्ध का कुरुक्षेत्र ट्रान्सवाल था। केप टाउन से आते समय राह में हमें ट्रान्सवाल के बड़े सरहदी स्टेशन क्लार्कसूडॉर्प पर से गुजरना पड़ता था। खास क्लार्कसूडॉर्प तथा राह में आने वाले अन्य शहरों में भी ठहर कर हमें सभाओं में जाना था। इसलिए क्लार्कसूडॉर्प से एक स्पेशल ट्रेन की व्यवस्था की गई। दोनों शहरों में वहां के मेयर ही अध्यक्ष थे। किसी भी शहर को एक घंटे से अधिक समय नहीं दिया गया था। जोहान्सबर्ग को ट्रेन बिलकुल ठीक समय पर पहुंची। एक मिनट का भी फर्क नहीं पड़ने पाया। स्टेशन पर खासे कालीन वगैरा बिछाये गये थे। एक मंच भी बनाया गया था। जोहान्सबर्ग के मेयर और दूसरे अनेक गोरे भी हाजिर थे। गोखलेजी जितने दिन जोहान्सबर्ग में रहे, उतने दिन तक उनके उपयोग के लिए मेयर ने उन्हें अपनी मोटर दे दी थी। स्टेशन पर ही उन्हें मानपत्र भी दिया गया। प्रत्येक स्थान पर मान-पत्र तो दिये ही जाते थे। जोहान्सबर्ग का मानपत्र बड़ा सुंदर था। दक्षिण आफ्रिका की लकड़ी पर जड़ी हुई सोने की हृदयाकार तख्ती पर खुदा हुआ था—तख्ती का सोना भी जोहान्सबर्ग की कान का ही था। लकड़ी पर भारत के कितने ही दृश्यों के सुंदर चित्र खुदे हुए थे। गोखलेजी का परिचय, मानपत्र को पढ़ना, और उसका उत्तर दिया जाना तथा अन्य मानपत्रों का लेना यह सब काम २२ मिनिट के अंदर कर लिये गये थे। मानपत्र इतना छोटा था कि उसे पढ़ने में पांच मिनिट से अधिक समय नहीं लगा होगा। गोखलेजी का उत्तर भी पांच ही मिनिट का था। स्वयं सेवकों का इन्तिज़ाम इतना बढ़िया था कि पूर्व निश्चित मनुष्यों के सिवा एक भी आदमी प्लेटफार्म पर नहीं आ सका। शोरगुल

जरा भी न था। वाहर लोगों की खूब भीड थी। तथापि किसी के आने जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

उनके ठहरने की व्यवस्था मि० कैलनबेक की एक छोटी सी सुंदर बंगली में की गई थी। जो जोहान्सबर्ग से पांच मील की दूरी पर एक टेकड़ी पर थी। वहाँ का दृश्य ऐसा भव्य था, वहाँ की शांति ऐसी आनंद दायक थी, और बङ्गली सादी होते हुए भी कला से इतनी परिपूर्ण थी कि गोखलेजी खुश हो गये। मिलने जुलने की व्यवस्था सब के लिए शहर में ही की गई थी। उसके लिए एक खास ऑफिस किराये पर ले लिया गया था। उसमें एक कमरा केवल उनके आराम करने के लिए रक्खा गया था, दूसरा मिलने जुलने के लिए और तीसरा कमरा मिलने के लिए आनेवाले सज्जनों के बैठने के लिए। जोहान्सबर्ग के कितने ही प्रसिद्ध गृहस्थों से खानगी मुलाकात करने के लिए भी गोखलेजी को ले गये थे। गण्य मान्य गोरों की भी एक खानगी सभा की गई थी, जिससे गोखलेजी को उनके दृष्टि-बिन्दु का पूरी तरह ख्याल हो जाय। अलावा इसके जोहान्सबर्ग में उनके सम्मानार्थ एक विशाल भोज भी दिया गया, था जिसमें कोई ४०० आदमियों को निमंत्रित किया गया था। उनमें लग भग १५० गोरे थे। भारतीय टिकट लेकर ही आ सकते थे। टिकट की कीमत एक गीनी रक्खी गई थी। टिकटों की आय में से उस भोज का खर्च निकल आया। भोज केवल निरामिष और मद्यपान रहित था। खाना भी केवल स्वयंसेवकों द्वारा ही बनाया गया था। इसका वर्णन यहां करना कठिन है। दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों में हिन्दू मुसलमान, छूत-अछूत आदि का कोई ख्याल ही नहीं होता। सब एक साथ बैठ कर खा

लेते हैं। निरामिष आहार करने वाले भारतीय भी अपने नियम का पालन करते हैं। भारतीयों में कितने ही क्षत्रिय भी थे। दूसरों के मुआफिक उनसे भी मेरा तो गाढ़ परिचय था। उनमें से अधिकांश गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा ही होते हैं। कई होटलों में खाना पकाने और परोसने का काम करते हैं। इन्हीं लोगों की सहायता से इतने मनुष्यों की रसोई की व्यवस्था हो सकी। तरह तरह के कोई पंद्रह व्यंजन थे। दक्षिण आफ्रिका के गोरों के लिए यह एक नवीन और अजीब अनुभव था। इतने भारतीयों के साथ एक पंक्ति में खाने के लिए बैठना, निरामिष भोजन करना और मद्यपान बिना काम चलाना ये तीनों अनुभव उनमें से कइयों के लिए नवीन थे। दो तो अवश्य ही सब के लिए नवीन थे।

इस सम्मेलन में गोखलेजी का बड़ा से बड़ा और महत्व पूर्ण भाषण हुआ। पूरे ४५ मिनिट बोले। इस भाषण की तैयारी के लिए उन्होंने हमारा खूब समय लिया था। पहले उन्होंने अपना जीवन भर का यह निश्चय सुनाया कि एक तो स्थानीय मनुष्यों के दृष्टि-बिन्दु की अवगणना नहीं होनी चाहिए; दूसरे, जहाँ तक उनसे मिलकर रहा जाय हम मिलकर रहने की कोशिश करें। इन दो बातों को ध्यान में रखकर मैं उनसे जो कहलाना चाहूं वह उन्हें बता दूं। पर यह मुझे उन्हें लिखकर देना चाहिए था। साथ ही उनकी यह भी शर्त थी कि उसमें से एक भी वाक्य या विचार का वे उपयोग न करें तो मुझे बुरा न मानना चाहिए। लेख न लम्बा होना चाहिए और न छोटा। कोई महत्व पूर्ण बात भी छूटने न पावे। इन सब बातों का ख्याल रखते हुए मुझे उनके लिए स्मरणार्थ टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती थीं। यह तो मैं सब से पहले कहे देता हूँ कि उन्होंने मेरी

भाषा का तो जरा भी उपयोग नहीं किया। वे तो अंगरेजी के पारंगत विद्वान् थे। फिर मैं यह आशा भी क्यों करूँ कि वे मेरी भाषा का उपयोग करें। पर मैं यह भी नहीं कह सकता कि उन्होंने मेरे विचारों का भी उपयोग किया। हाँ, मेरे विचारों की उपयुक्तता को उन्होंने जरूर स्वीकार किया। इसलिए मैंने अपने दिल को समझा लिया कि आखिर उन्होंने मेरे बिचारों का भी किसी तरह उपयोग किया होगा। क्योंकि उनकी विचार शैली कोई ऐसी अजीब थी कि उससे हमें यही पता नहीं चलता था कि उन्होंने हमारे विचारों को कहां स्थान दिया है, अथवा दिया भी है, या नहीं। गोखलेजी के सभी भाषणों के समय मैं हाजिर था, पर मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं कि जिसमें मुझे यह इच्छा हुई हो कि फलां विशेषण या फलां विचार का उपयोग वे न करते तो अच्छा होता। उनके विचारों की स्पष्टता, दृढ़ता, विनय, इत्यादि उनके अथक परिश्रम और सत्यपरायणता के फल स्वरूप थे।

जोहान्सबर्ग में केवल भारतीयों की एक विराट सभा भी तो हो जाना जरूरी था। मेरा यह आग्रह पहले से ही चला आ रहा है कि भाषण मातृ-भाषा ही में अथवा राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी में ही होना चाहिए। इस आग्रह के कारण दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों के साथ मेरा अधिक सरल और निकट का सम्बन्ध हो गया। इसलिए मैं चाहता था कि भारतीयों की सभा में गोखले भी हिन्दुस्तानी में भाषण दें तो बड़ा अच्छा हो, किन्तु इस विषय में उनके विचार मैं जानता था। टूटी-फूटी हिंदी से काम चलाना तो उन्हें पसंद ही नहीं था। अर्थात् वे या तो मराठी में भाषण दे सकते थे या अँगरेजी में। मराठी में भाषण देना उन्हें

कृत्रिम मालूम हुआ। यदि मराठी में बोलते भी तो गुजरातियों तथा उत्तर हिन्दुस्तान के निवासी भारतीयों के लिए उसका अनुवाद करना अनिवार्य था। यदि ऐसा था तो फिर अंगरेजी में ही क्यों न बोला जाय? पर मेरे पास एक ऐसी दलील थी, जिसको गोखले स्वाकार कर सकते थे। जोहान्सबर्ग में कोंकण के कई मुसलमान भी बसते थे। कुछ महाराष्ट्रीय हिन्दू भी थे। ये सब गोखलेजी का मराठी भाषण सुनने के लिए बड़े लालायित थे, और उन लोगों ने मुझे यह भी कह रक्खा था कि मैं गोखलेजी से मराठी में भाषण देने के लिये अनुरोध करूं। इसलिए मैंने गोखलेजी से कहा "यदि आप मराठी में भाषण देंगे तो इन लोगों को बड़ा आनन्द होगा। आप जो कुछ कहेंगे उसका मैं हिन्दुस्तानी में अनुवाद करके सुना दूंगा। यह सुनकर वे जोर से खिल खिलाकर हँस पड़े। "तेरा हिन्दुस्तानी का ज्ञान तो मैंने अच्छी तरह जांच लिया, वह तुझी को मुबारक हो। पर याद रख अब तुझे मराठी से अनुवाद करना होगा। भला बता तो सही इतनी अच्छी मराठी तू कहाँ से सीख गया"? मैंने कहा "जो हाल मेरी हिन्दुस्तानी का है वही मराठी के विषय में भी समझिए। मराठी में एक अक्षर भी मैं नहीं बोल सकता। पर आप जिस विषय पर आज कुछ कहेंगे उसका भावार्थ मैं जरूर कह दूंगा। आप देखिएगा कि मैं लोगों के सामने उसका उलट सुलट अर्थ तो हरगिज न करूंगा। भाषण का अनुवाद करके सुनाने के लिए मैं ऐसे लोग तो आपको अवश्य ही दे सकता हूं, जो अच्छी तरह मराठी जानते हैं। पर शायद आप इस प्रस्ताव को मंजूर नहीं करेंगे। इसलिए मुझी को निबाह लीजिए, पर बोलिएगा मराठी ही में। कोंकणी

भाइयों के साथ साथ मुझे भी आपकी मराठी सुनने की बड़ी अभिलाषा है"। "भाई अपनी ही टेक रख। अब यहाँ तेरे ही तो पाले पड़ा हुआ हूं न ? अब कहीं यों थोडी छुट्टी मिल सकती है !" यह कह कर उन्होंने मुझे खुश कर दिया । इसके बाद झांझीबार तक इस तरह की प्रत्येक सभा में वे मराठी ही में बोले । और मैं खास उन्हीं का नियुक्त किया हुआ अनुवादक रहा। मेरा ख्याल है कि प्रत्येक भारतीय को यथा-सम्भव अपनी मातृ भाषा में अथवा व्याकरण शुद्ध अंगरेजी की बनिस्बत व्याकरण रहित टूटी फूटी हिन्दी ही में भाषण देना चाहिए। मैं कह नहीं सकता कि यह बात मैं उनको कहाँ तक समझा सका, किन्तु इतना तो मैं जरूर कहूंगा कि मुझे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने दक्षिण आफ्रिका में तो मराठी ही में भाषण दिये। मैं यह भी जान सका कि अपने भाषण के बाद उसके प्रभाव से वे खुश भी हुए। दक्षिण आफ्रिका में अनेक प्रसंगों पर किये हुए अपने बर्ताव से गोखले ने यह बता दिया कि सिद्धान्त की कठिनाई न हो तो मनुष्य को अपने सेवकों को जरूर राजी रखना चाहिए। वह भी एक गुण है।

तेरहवां अध्याय

श्री गोखलेजी का प्रवास (चलू)

जोहान्सबर्ग से हमें प्रिटोरिया जाना था। प्रिटोरिया में गोखलेजी को युनियन सरकार का निमन्त्रण था। तदनुसार होटल में उनके लिए सुरक्षित जगह में ही हम ठहरे। यहां पर उन्हें युनियन सरकार के मंत्रिमंडल से, जिस में जनरल बोथा और जनरल स्मट्स भी थे, मिलना था। जैसा कि ऊपर लिख चुका हूं, मैंने उनका कार्यक्रम ऐसा बनाया था कि उन्हें हमेशा करने योग्य कामों की सूचना मैं प्रतिदिन सुबह कर दिया करता था। यदि वे चाहते तो अगली रात को भी बता देता। मंत्रि-मंडल से मिलने का काम उत्तरदायित्व पूर्ण था। हम दोनों ने निश्चय कर लिया था कि मुझे उनके साथ नहीं जाना चाहिए—जाने की आज्ञा भी नहीं मांगनी चाहिए। मेरी उपस्थिति के कारण मंत्रि-मंडल और गोखले के बीच में जरूर ही एक हद तक पडदा पड़जाने की सम्भावना थी। मन्त्रीगण उन्हें न तो पेट भर स्थानीय भारतीयों की और न मेरी ही ऐसी बातें बता सकते जिनको वे गलत समझते थे। और यदि वे कुछ कहना चाहते तो उसे भी खुले दिल से नहीं कह सकते थे। किन्तु इसमें एक असुविधा भी थी। गोखलेजी की

जिम्मेदारी दुगुनी हो जाती थी। यदि किसी बात को वे भूल जायँ, या मन्त्रि-मंडल की तरफ से कोई ऐसी बात कही जाय जिसका उत्तर इनके पास न हो, तो क्या किया जाय ? अथवा भारतीयों की तरफ से किसी बात को कुबूल करना हो तब क्या किया जाय ! ये दोनों बातें विना मेरी या दक्षिण आफ्रिका के किसी जिम्मेदार नेता की उपस्थिति के कैसे तय हो सकती थीं ? पर इसका निर्णय स्वयं गोखलेजी ने ही फौरन कर डाला। यही कि मैं उनके लिए शुरू से आखिर तक संक्षेप मे भारतीयों की स्थिति का वृत्तान्त लिख दूं। उसमें यह भी हो कि भारतीय अपनी मांगों में कहां तक कम ज्यादह करने को तैयार हैं। इसके बाहर की कोई बात उपस्थित हो, तो उसमें गोखले अपना अज्ञान कुबूल कर लें। इस निश्चय के साथ ही वे निश्चिन्त भी हो गये। अब रहा यह कि मैं ऐसा एक कागज तैयार कर लूं और वे उसे पढ़ लें। पर पढ़ने इतना समय तो मैंने रक्खा ही नहीं था। कितना ही संक्षेप में लिखूं तो भी १८-२० वर्ष का, चार रियासतों की भारतीय जनता की स्थिति का इतिहास मैं १०-२० सफे से कम में कैसे दे सकता था ? फिर उसके पढ़ लेने पर उनको कुछ सवाल तो अवश्य ही सूझते। पर उनकी स्मरणशक्ति जितनी तीव्र थी उतनी ही उनकी मिहनत करने की शक्ति भी अगाध थी। रात भर जागते रहे। पोलक को और मुझे भी सोने नहीं दिया। प्रत्येक बात को पूरी पूरी जानकारी प्राप्त कर ली। उलट सुलट रीति से सवाल करके इस बात की जांच भी कर ली कि वे स्थिति को बराबर समझ गये या नहीं। अपने विचार मेरे सामने कह सुनाये। अंत में उन्हें पूरा संतोष हो गया। मैं तो निर्भय ही था।

लगभग दो घंटे मन्त्रि-मंडल के पास बैठे, और वहाँ से आने पर मुझ से कहा, "तुझे एक साल के अन्दर भारतवर्ष आना है। सब बातों का फैसला हो गया है। काला-कानून रद होगा; इमिग्रेशन कानून से वर्ण-भेद निकाल दिया जायगा; और तीन पौंड का कर भी रद होगा"। मैंने कहा "इसमें मुझे पूरा सन्देह है। मंत्रि-मंडल को जितना मैं जानता हूं, इतना आप नहीं जानते। आपका आशा-वाद मुझे प्रिय है। क्योंकि स्वयं मैं भी आशावादी हूं। पर अनेक बातों में धोखा खाने पर अब मैं इस विषय में आपके इतनी आशा नहीं रख सकता। पर मुझे भय भी नहीं है। आप वचन ले आये, यही मेरे लिए काफी है। मेरा धर्म तो केवल यही है कि आवश्यकता उपस्थित होने पर युद्ध ठान दूं और यह सिद्ध करदूं कि वह न्याय्य है। इसकी सिद्धि में आपको दिया गया वचन हमारे लिए बड़ा फायदेमन्द होगा। और यदि लड़ना ही पड़ा तो वह हमें दूनी शक्ति देगा। पर मुझे न तो इस बात का विश्वास होता कि बिना अधिक तादाद में भारतीयों के जेल गये इसका निपटारा हो सकता है, और न इस बात का भी कि एक साल के अंदर मैं भारतवर्ष जा सकूंगा"। तब वे बोले "मैं तुझे जो कुछ कहता हूं इसमें कभी फर्क नहीं हो सकता। जनरल बोथा ने मुझे वचन दिया है कि काला कानून और वह तीन पौंडवाला कर भी रद होगा। तुझे एक साल के अंदर भारत लौटना ही होगा। मैं अब इस विषय में तेरी एक भी उजर नहीं सुनूंगा"।

जोहान्सबर्ग का भाषण प्रिटोरिया की मुलाकात के बाद हुआ था।

ट्रान्सवाल से डरबन, मॅरिट्सबर्ग आदि स्थानों को गये।

वहां भी कई गोरों से काम पड़ा। किम्बरली की हीरों की खान देखी। किंबरली और डरबन के स्वागत-मंडलों ने भी जोहान्सबर्ग के जैसे भोज दिये थे। उनमें अनेक अंगरेज भी आये थे। इस तरह भारतीयों और गोरों का दिल चुरा करके गोखलेजी ने दक्षिण आफ्रिका का किनारा छोड़ा। उनकी आज्ञा प्राप्त कर कैलनबेक और मैं उन्हें झांझीबार तक छोड़ने के लिए गये थे। स्टीमर में उनके लिए ऐसे भोजन की व्यवस्था कर दी गई जो उनको मुआफिक हो। रास्ते में डेलागोआ बे, इन्हामबेन, झांझीबार, आदि बंदरगाहों पर भी उनका बड़ा सन्मान किया गया।

रास्ते में हमारे बीच जो बातें होतीं उनका विषय भारतवर्ष और उसके प्रति हमारा धर्म ही रहता। प्रत्येक बात में उनका कोमल भाव, सत्यपरायणता, और स्वदेशाभिमान चमकता था। मैंने देखा कि स्टीमर में वे जो खेल खेलते उनमें भी खेलों की बनिस्बत भारतवर्ष की सेवा का भाव ही विशेष रहता। भला उनके खेल में भी सम्पूर्णता क्यों न हो!

स्टीमर में शान्ति के साथ बातें करने के लिए हमें समय मिल ही गया। उससें उन्होंने मुझे भारतवर्ष के लिए तैयार किया। भारतवर्ष के प्रत्येक नेता का पृथक्करण करके दिखाया। वे वर्णन इतने हूबहू थे कि मुझे बाद में उन नेताओं का जो प्रत्यक्ष अनुभव हुआ, उसमें और उनके चरित्र-चित्रण में शायद ही कोई फर्क दिखाई दिया।

गोखलेजी के दक्षिण आफ्रिका के प्रवास में उनके साथ मेरा जो सम्बन्ध रहा उसके ऐसे कितने ही पवित्र संस्मरण हैं, जिनको मैं यहां दे सकता हूं। किन्तु सत्याग्रह के इतिहास के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए मुझे अनिच्छापूर्वक अपनी कलम

को रोकना पड़ता है। झांझीबार में हमारा जो-वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए बड़ा दुखदायी था। किन्तु यह सोच कर कि देह-धारियों के घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्ध भी अंत में टूटते ही हैं, कैलनवैक ने और मैंने अपना समाधान किया। हम दोनों ने यह आशा की कि गोखलेजी की वाणी सत्य हो और हम दोनों एक साल के अन्दर ही भारतवर्ष में जा सकें। पर यह असम्भव सिद्ध हुआ।

इतना होते हुए भी गोखलेजी के दक्षिण आफ्रिका के प्रवास ने हमें अधिक दृढ़ बना दिया। युद्ध को जब अधिक रंग चढ़ा तब इस मुलाकात का रहस्य और आवश्यकता हम और भी अच्छी तरह समझे। यदि गोखले दक्षिण आफ्रिका नहीं आते, मंत्रि-मंडल से वे नहीं मिलते, तो हम तीन पौंड वाले कर को अपने युद्ध का विषय ही नहीं बना सकते। यदि काला कानून रद होते ही सत्याग्रह-बंद कर दिया जाता तो तीन पौंड के करके लिए हमें नवीनतः सत्याग्रह शुरू करना पड़ता। और उसमें असंख्य कष्ट उठाना पड़ते। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात में भी भारी संदेह था कि लोग उसके लिए शीघ्र तैयार होते भी या नहीं। इस कर को रद करना स्वतन्त्र भारतीयों का कर्त्तव्य था। उसको रद कराने के लिए अर्जियां वगैरा सब उपाय काम में लाये जा चुके थे। सन् १८९५ के साल से कर दिया जा रहा था। चाहे कितना ही घोर दुःख क्यों न हो किन्तु यदि वह दीर्घ कालीन हो जाता है, तो लोग उसके आदी हो जाते हैं। फिर उन्हें यह समझाना महा कठिन है कि उन्हें उसका प्रतिकार करना चाहिए। गोखलेली को जो वचन दिया गया उसने सत्याग्रहियों के मार्ग

को बड़ा सरल बना दिया। या तो सरकार को अपने वचन के अनुसार उस कर को रद कर देना चाहिए था, या नहीं तो स्वयं वह वचन-भंग ही सत्याग्रह के लिए एक काफी बलवान कारण हो जाता। और हुआ भी ठीक यही। सरकार ने एक साल के अंदर उस कर को रद नहीं किया। यही नहीं बल्कि यह भी साफ साफ कह दिया कि वह कर रद नहीं किया जा सकता।

इसलिए गोखले के प्रवास से हमें तीन पौंड वाले कर को सत्याग्रह के द्वारा रद्द कराने में बड़ी सहायता मिली। दूसरे, उनके उस प्रवास के कारण वे दक्षिण आफ्रिका के प्रश्न के एक विशेषज्ञ समझे जाने लगे। दक्षिण आफ्रिका सम्बन्धी अब उनके कथन का वजन भी कहीं अधिक बढ़ गया। साथ ही दक्षिण आफ्रिका में रहनेवाले भारतीयों की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान मिल जाने के कारण, वे इस बात को अधिक अच्छी तरह समझ सके, कि भारतवर्ष को उन लोगों के लिए क्या करना चाहिए— और उसे यह बात समझाने में उनकी शक्ति तथा अधिकार भी बहुत बढ़ गया फलतः अब की बार जब युद्ध चेता तो भारत से धन की वर्षा होने लग गई। लॉर्ड हार्डिंज तक ने सत्याग्रहियों के साथ अपनी सहानुभूति जाहिर कर उन्हें उत्साहित किया। भारत से मि० ऍण्ड्रूज और मि० पियर्सन दक्षिण आफ्रिका आये। यह सब बिना गोखले के प्रवास के नहीं हो सकता था। वचन-भँग कैसे हुआ, और उसके बाद क्या क्या हुआ ? यह तो नये प्रकरण का विषय है।

को रोकना पड़ता है। झांझीवार में हमारा जो-वियोग हुआ वह हम दोनों के लिए बड़ा दुखदायी था। किन्तु यह सोच कर कि देह-धारियों के घनिष्ट से घनिष्ट सम्बन्ध भी अंत में टूटते ही हैं, कैलनवैक ने और मैंने अपना समाधान किया। हम दोनों ने यह आशा की कि गोखलेजी की वाणी सत्य हो और हम दोनों एक साल के अन्दर ही भारतवर्ष में जा सकें। पर यह असम्भव सिद्ध हुआ।

इतना होते हुए भी गोखलेजी के दक्षिण आफ्रिका के प्रवास ने हमें अधिक दृढ़ बना दिया। युद्ध को जब अधिक रंग चढ़ा तब इस मुलाकात का रहस्य और आवश्यकता हम और भी अच्छी तरह समझे। यदि गोखले दक्षिण आफ्रिका नहीं आते, मंत्रि-मंडल से वे नहीं मिलते, तो हम तीन पौंड वाले कर को अपने युद्ध का विषय ही नहीं बना सकते। यदि काला कानून रद होते ही सत्याग्रह-बंद कर दिया जाता तो तीन पौंड के करके लिए हमें नवीनतः सत्याग्रह शुरू करना पड़ता। और उसमें असंख्य कष्ट उठाना पड़ते। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात में भी भारी संदेह था कि लोग उसके लिए शीघ्र तैयार होते भी या नहीं। इस कर को रद करना स्वतन्त्र भारतीयों का कर्त्तव्य था। उसको रद कराने के लिए अर्जियां वगैरा सब उपाय काम में लाये जा चुके थे। सन् १८९५ के साल से कर दिया जा रहा था। चाहे कितना ही घोर दुःख क्यों न हो किन्तु यदि वह दीर्घ कालीन हो जाता है, तो लोग उसके आदी हो जाते हैं। फिर उन्हें यह समझाना महा कठिन है कि इन्हें उसका प्रतिकार करना चाहिए। गोखलेली को जो वचन दिया गया उसने सत्याग्रहियों के मार्ग

को बड़ा सरल बना दिया। या तो सरकार को अपने वचन के अनुसार उस कर को रद कर देना चाहिए था, या नहीं तो स्वयं वह वचन-भंग ही सत्याग्रह के लिए एक काफी बलवान कारण हो जाता। और हुआ भी ठीक यही। सरकार ने एक साल के अंदर उस कर को रद नहीं किया। यही नहीं बल्कि यह भी साफ साफ कह दिया कि वह कर रद नहीं किया जा सकता।

इसलिए गोखले के प्रवास से हमें तीन पौंड वाले कर को सत्याग्रह के द्वारा रद्द कराने में बड़ी सहायता मिली। दूसरे, उनके उस प्रवास के कारण वे दक्षिण आफ्रिका के प्रश्न के एक विशेषज्ञ समझे जाने लगे। दक्षिण आफ्रिका सम्बन्धी अब उनके कथन का वजन भी कहीं अधिक बढ़ गया। साथ ही दक्षिण आफ्रिका में रहनेवाले भारतीयों की स्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान मिल जाने के कारण, वे इस बात को अधिक अच्छी तरह समझ सके, कि भारतवर्ष को उन लोगों के लिए क्या करना चाहिए— और उसे यह बात समझाने में उनकी शक्ति तथा अधिकार भी बहुत बढ़ गया फलतः अब की बार जब युद्ध चेता तो भारत से धन की वर्षा होने लग गई। लॉर्ड हार्डिंज तक ने सत्याग्रहियों के साथ अपनी सहानुभूति जाहिर कर उन्हें उत्साहित किया। भारत से मि० ऍण्ड्रयूज और मि० पियर्सन दक्षिण आफ्रिका आये। यह सब बिना गोखले के प्रवास के नहीं हो सकता था। वचन-भँग कैसे हुआ, और उसके बाद क्या क्या हुआ? यह तो नये प्रकरण का विषय है।

चौदहवां अध्याय

वचन-भंग

दक्षिण आफ्रिका की लड़ाई में बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया जा रहा था। यहाँ तक कि प्रचलित नीति के खिलाफ एक भी बात नहीं की जाती थी। इतना ही नहीं, बल्कि इस बात का भी बराबर ख्याल रक्खा जाता था कि सरकार को भी अनुचित रीति से न सताया जाय। उदाहरणार्थ काला कानून केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों के लिए ही था इसलिए केवल ट्रान्सवाल के भारतीयों को ही सत्याग्रह की नीति में दाखल किया जाता था। नाताल, केप कोलोनी इत्यादि देशों से किसी को भी भरती नहीं किया जाता था। बल्कि वहाँ से जिन लोगों ने सत्याग्रह में शामिल होने के लिए अपने नाम भेजे थे उन्हें तक इन्कार कर दिया गया था। लड़ाई की मर्यादा भी इस कानून को रद करने तक ही रक्खी गई थी। इस बात को न तो गोरे समझ सकते थे और न भारतीय ही समझ सकते थे। प्रारम्भ में भारतीय इस बात की मांग किया करते थे कि लड़ाई शुरू करने के बाद काले कानून के अतिरिक्त अन्य दुःखों को भी यदि हम लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर सकते हों तो क्यों न कर लिया जाय? शांति पूर्वक मैंने उन लोगों को समझाया

कि इस से सत्य का भंग हो सकता है। और जहां सत्य के लिए आग्रह किया जा रहा है, वहां उसके भंग की बात कैसे शामिल की जा सकती है ? शुद्ध लड़ाई का तरीका तो यही होना चाहिए कि यदि लड़ते लड़ते जूझने वाले का बल बढ़ भी जाय तो भी प्रारम्भ में जिन उद्देशों को लेकर वह चला हो, उनके अतिरिक्त दूसरी बातों को उसे शामिल नहीं करना चाहिए, इसके विपरीत उस उद्देश का वह त्याग भी नहीं कर सकता, फिर भले ही लड़ते लड़ते उस की शक्ति क्षीण ही क्यों न हो जाय। इन दोनों बातों पर दक्षिण आफ्रिका में पूरा पूरा ध्यान दिया गया था। हम इस बात को भी देख चुके हैं कि जिस बल की हिम्मत पर लड़ाई का प्रारंभ किया गया था, वह आगे चलकर मिथ्या साबित हुआ तथापि शेष सत्याग्रही तो, जो केवल मुट्ठी भर ही थे, अंत तक अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ ही रहे। किन्तु यह बहुत मुश्किल नहीं है। मुश्किल है यह बात कि बल की वृद्धि होते हुए भी हम उसके उद्देशों में दूसरी दूसरी बातें शामिल न करें। उसमें अधिक संयम है। दक्षिण आफ्रिका में इस तरह के प्रलोभन के कई अवसर आये। पर मैं निश्चय पूर्वक कह सकता हूं कि उनमें से एक का भी फायदा नहीं उठाया गया। इसलिए मैं कई बार कह चुका हूँ कि सत्याग्रही का निश्चय तो एक ही हो सकता है। वह न तो कम कर सकता है और न बढ़ा सकता है; न उसमें वृद्धि के लिए अवकाश है और न क्षय के लिए ही। मनुष्य जिस नाप से अपने को नापता है, ठीक उसी नाप से संसार भी उसे नापने को जाता है। जब सरकार ने यह देखा कि सत्याग्रही इतनी सूक्ष्म नीति से काम लेते हैं तब वह भी उसी रीति से उनके कार्यों की आलोचना करने लग गई। हां खुद के लिए

भले ही वह अपने एक भी काम में उस नीति को न अख्तियार करे। दो चार बार उसने सत्याग्रहियों के सिर इस नीति के भंग का आरोप मढ़ भा दिया। यह बात तो एक नन्हे से बालक की समझ में भी आ सकती है कि काले कानून के बाद यदि भारतीयों के खिलाफ सरकार किसी नवीन कानून की रचना करती तो उसका समावेश लड़ाई के उद्देशों में अपने आप ही हो जाता। तथापि जब नवीन आने वाले भारतीयों के खिलाफ वह इमिग्रेशन कानून बनाया गया, और उसको लड़ाई के उद्देशों में शामिल किया गया तब सरकार ने यही आरोप किया कि लड़ाई के हेतु में एक नई बात शामिल की गई है। पर उसका यह आरोप नितान्त अनुचित था। यदि बाहर से आने वाले भारतीयों के ऊपर ऐसी कोई नई शर्त लगा दी गई जो पहले नहीं थी, तो उसको युद्ध के उद्देशों में शामिल कर लेना उचित ही तो था। और इसीलिए सोराबजी वगैरा युद्ध में शामिल हो सके। पर सरकार इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकती थी। किन्तु निष्पक्ष लोगों को इस बात की नीतियुक्तता समझाने में मुझे जरा भी कठिनाई नहीं मालूम हुई।

गोखलेजी के चले जाने बाद फिर एक ऐसा ही प्रसंग उपस्थित हुआ। गोखले तो सोच रहे थे कि तीन पौंड का कर अवश्य ही एक साल के अंदर उठा लिया जायगा; और उनके जाने बाद होने वाली दक्षिण आफ्रिका की पार्लियामेन्ट में उस कर को उठाने के लिए कानून भी स्वीकृत हो जायगा। पर दर असल हुआ क्या? हुआ यह कि जनरल स्मट्स ने उस पार्लियामेन्ट में यह जाहिर किया कि नाताल के गोरे उस कर को उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। इस-लिए सरकार उस कर को रद करने सम्बन्धी कानून को स्वीकार

करने में असमर्थ है। वस्तुतः ऐसी कोई बात ही नहीं थी। युनियन पार्लियामेन्ट में चार रियासतें हैं। उसमें केवल नाताल के सभ्यों की कहाँ तक चल सकती थी? फिर मंत्रि-मण्डल कानून बनावे, पार्लियामेंट उसको अस्वीकृत करे, तब कहीं वे इस तरह जाहिर कर सकते थे। पर जनरल स्मट्स ने इनमें से एक भी नहीं किया। इसलिए उस हानिकर कर को भी लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर लेने का शुभ संयोग अनायास हमारे हाथ लग गया। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि युद्ध के चलते हुए यदि कोई बचन दे और उसका भंग करे तो वह युद्ध के उद्देश में शामिल किया जा सकता था। दूसरे, यह कि ऐसे बचन-भंग से गोखले जैसे भारत के सन्मान्य प्रतिनिधि का अपमान हो रहा था, जो परम्परया भारत का अपमान ही था। भला उसे हम कैसे बरदाश्त कर सकते थे? यदि पहली बात ही होती और इधर सत्याग्रहियों में उसके लिए जूझने की शक्ति भी न होती तो भले ही कर को रद करने के लिए सत्याग्रह जैसे शस्त्र का उपयोग वे न करते। पर जिस बात से समस्त भारत का अपमान हो रहा हो, उसे तो वे हरगिज नहीं सह सकते थे। इसलिए इस तीन पौंड के कर को भी लड़ाई के उद्देशों में शामिल कर लेना सत्याग्रहियों के लिए एक धर्म हो गया। और ज्यों ही कर को लड़ाई में शामिल किया गया, त्यों ही गिरमिटियाओं को भी युद्ध में भाग लेने का मौका मिल गया। पाठकों को याद होगा कि अब तक इन लोगों को युद्ध में शामिल नहीं किया गया था। इसलिए एक ओर तो लड़ाई के कारण बढ़ गये, और दूसरी ओर योद्धाओं की संख्या बढ़ने का भी समय आ पहुँचा।

अभी तक गिरमिटियाओं में किसी प्रकार युद्ध की शिक्षा की

बात तो दूर ही है, लड़ाई की चर्चा भी नहीं की जाती थी। वे निरक्षर थे। इसलिए न 'इण्डियन ओपिनियन' पढ़ सकते थे, और न दूसरा कोई समाचार पत्र। इतना होते हुए भी मैं देखता था कि ये गरीब लोग सत्याग्रह का निरीक्षण खूब कर रहे थे और जो कुछ भी हो रहा था उसे समझते थे। उनमें से कितनों ही को तो इस बात का बराबर दर्द हो रहा था कि वे उस युद्ध में शामिल नहीं हो सकते थे। जब वचन-भँग हुआ और तीन पौंड का कर लड़ाई के उद्देशों में शामिल करने की नोटिस दी गई, तब मुझे भी यह पता न था उन लोगों में से कौन कौन युद्ध में शामिल होंगे।

बचन-भँग वाली बात मैंने गोखलेजी को लिख भेजी। उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्हें मैंने लिख दिया कि आप निर्भय रहें। हम लोग आमरण जूझेंगे और कर को रद कराएँगे। हाँ, एक साल के अन्दर मेरे भारत जाने की बात अनिश्चित समय के लिए आगे बढ़ गई। गोखलेजी तो अँकगणित के शास्त्री थे न! उन्होंने मुझ से ज्यादह से ज्यादह और कम से कम लड़ने वालों की संख्याओं के अँक मांगे। मुझे इस समय जहाँ तक स्मरण होता है, मैंने उनको ज्यादह से ज्यादह ६५–६६ और कम से कम १६ लड़ने वालों के नाम लिख भेजे। मैंने उन्हें यह भी लिख दिया था कि इतनी छोटी सँख्या के लिए मैं भारत से आर्थिक सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। हमारे विषय में निश्चिन्त रहने और अपने शरीर को अधिक कष्ट न देने के लिए भी मैंने उनसे प्रार्थना की थी। दक्षिण आफ्रिका से बम्बई लौटने पर उन पर कमजोरी के कितने ही आरोप मढ़े गये थे। उनकी खबर भी मुझे समाचार पत्रों द्वारा तथा अन्य रीति से मिल चुकी थी। इसलिए मैं चाहता था कि

हमें आर्थिक सहायता भेजने के लिए वे भारत में किसी प्रकार का आन्दोलन न करें। पर मुझे उनका कडक उत्तर मिला। "जिस तरह तुम लोग दक्षिण आफ्रिका में अपना धर्म समझते हो, उसी प्रकार हम भी यहाँ कुछ कुछ अपना धर्म अवश्य ही समझते होंगे। हमें यहाँ पर क्या करना चाहिए यह आपको बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तो केवल वहाँ की परिस्थिति मात्र जानना चाहता था। हमें अपनी तरफ से क्या करना चाहिए। इस विषय में हमने आप से कोई सलाह नहीं मांगी थी"। इन शब्दों के भेद को मैं समझ गया। उस दिन से मैंने उन्हें इस विषय में न तो एक शब्द कहा और न लिखा ही। इसी पत्र में उन्होंने मुझे आश्वासन और चेतावनी भी दी थी। जब वचन-भंग हुआ तो उन्हें ख्याल हुआ कि अब लड़ाई का अन्त जल्दी न होगा। उन्हें इस बात में भी सन्देह था कि ये मुट्ठीभर लोग सरकार का सामना कैसे और कहाँ तक कर सकेंगे! इधर हमने तैयारियां शुरू कर दीं। हम जान गये थे कि अब उसके बाद जो युद्ध छिड़ने को था उसमें हम शांति से तो बैठ ही नहीं सकते थे। हम सब यह भी समझ चुके थे कि अब की बार लम्बी लम्बी सजायें भोगना होंगी। टॉलस्टॉय फार्म बंद करने का निश्चय हुआ। कितने ही कुटुम्ब अपने पुरुष-वर्ग के छूटते ही अपने अपने घर चले गये। बाकी रहने वालों में मुख्यत: फिनिक्स के ही थे। अत: तय हुआ कि इसके बाद सत्याग्रहियों का अड्डा फिनिक्स ही रहे। फिर यदि तीन पौंड वाली लड़ाई में गिरमिटिया भी भाग लें तो नाताल में रह कर उनसे मिलने जुलने में अधिक सुविधा होगी। इस ख्याल से भी फिनिक्स को सत्यागृहियों का केंद्र बनाना-तय हुआ।

अभी लड़ाई शुरू करने की तैयारियां चल ही रही थीं कि एक नवीन विघ्न आ उपस्थित हुआ, जिसके कारण स्त्रियों को भी युद्ध में शामिल होने का अवसर मिल गया। कितनी ही बहादुर स्त्रियों ने तो इससे पहले भी युद्ध में भाग लेने की आज्ञा मांगी थी। उदाहरणार्थ, जब परवाने बिना दिखाये फेरी करके जेल में जाना तय हुआ, तब कितनी ही फेरी करने वाली स्त्रियों ने भी जेल जाने की इच्छा जाहिर की थी। पर उस समय विदेश में स्त्रियों को जेल भेजना हम सब को अनुचित मालूम हुआ। जेल में भेजने लायक वैसा कोई कारण भी नहीं दिखाई दिया। अलावा इसके उस समय उन्हें जेलों में भेजने की मुझे तो हिम्मत भी नहीं हुई। बल्कि उस समय तो मुझे यही मालूम हुआ कि जो कानून पुरुषों पर अमल करता था उसके लिए स्त्रियों का बलिदान देना पुरुषों के लिए लज्जास्पद होगा। पर अब तो एक ऐसी घटना हुई जिससे स्त्रियों का विशेष अपमान होता था। इसलिए अब यही जान पड़ा कि उस अपमान को दूर करने के लिए स्त्रियों का बलिदान भी दिया जाय तो अनुचित न होगा।

पन्द्रहवां अध्याय

विवाह गैर कानूनन

अब एक ऐसी घटना हुई कि जिसको देखते हुए यह मालूम होने लगा, मानो परमात्मा स्वयं अदृश्य रहते हुए भारतीयों की जीत के लिए कोई सामग्री तैयार कर रहे हों, और मानों दक्षिण आफ्रिका के गोरों के अन्यायों को अधिक स्पष्ट रीति से बता देना चाहते हों। हिन्दुस्तान से कितने ही विवाहित लोग दक्षिण आफ्रिका गये थे। कितनों ही की शादी वहीं हुई थी। भारतवर्ष में यह कानून तो हुई नहीं कि सामान्य विवाहों को भी रजिस्टर किया जाय। धार्मिक क्रिया काफी होती है। यही प्रथा दक्षिण आफ्रिका में भी होनी चाहिए थी, और चालीस वर्ष से इसी तरह भारतीय वहां रह भी रहे थे। भारत के भिन्न भिन्न धर्मों के नियमानुसार जो विवाह होते चले जा रहे थे उनमें से अभीतक एक भी रद नहीं समझा गया था। पर इस समय एक ऐसा मामला अदालत में आया जिसमें न्यायाधीश ने यह फैसला सुनाया कि दक्षिण आफ्रिका के कानून में, उसी विवाह के लिए स्थान है जो ईसाई धर्म के अनुसार होता है,—अर्थात् जो विवाह-अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाता है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी

प्रकार के विवाह के लिए उसमें स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि इस भयंकर फैसले के अनुसार सभी विवाह रद करार कर दिये गये, और फलतः उस कानून की मन्शा के अनुसार दक्षिण आफ्रिका में परिणीत कितनी ही भारतीय स्त्रियों का दरजा धर्मपत्नी का न रहा। वे सरासर दाश्तायें गिनी जाने लगीं। और आगे चलकर उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा भी पिता की वारिस नहीं रही। इस स्थिति को न तो स्त्रियां सह सकती थीं, और न पुरुष। दक्षिण आफ्रिका में रहने वाले भारतीयों में इससे भारी खड़बड़ाहट मच गई। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने सरकार से पूछा कि क्या वह न्यायाधीश के फैसले को कुबूल करती है, या उसके बताये कानून के अर्थ को, यद्यपि वह ठीक है, अनर्थ कर समझ कर एक नये कानून द्वारा हिन्दू, मुसलमान, इत्यादि के धार्मिक विवाहों को कानूनन मानेगी? पर इस समय सरकार क्यों इन बातों की परवा करने चली? उत्तर नकारात्मक मिला। फिर इस बात का विचार करने के लिए सत्याग्रह-मंडल बैठा कि उस फैसले पर अपील की जाय या नहीं? अंत में सभी सभ्य इस निश्चय पर पहुंचे कि ऐसे मामलों में अपील हो ही नहीं सकती। यदि अपील करना अनिवार्य हो तो सरकार को करनी चाहिए। अथवा यदि सरकार चाहे तो खुले तौर पर भारतीयों का पक्ष ग्रहण करे तभी भारतीय कुछ कर सकते हैं। इसके बिना अपील करने के मानी तो गोया यह मान लेना है कि फलां तौर पर हिन्दू मुसलमानों का विवाह रद हो जाता है। फिर ऐसी अपील करने पर भी यदि हमारी हार हुई तो सिवा सत्याग्रह के दूसरा चारा ही न रहे। इसलिए ऐसे अपमान पर हम तो अपील कर ही नहीं सकते।

अब तो ऐसा समय उपस्थित हो गया कि शुभ चौघड़िया या शुभ तिथि की राह देखना असंभव था। स्त्रियों का अपमान हो जाने पर कैसे धीरज धारण किया जा सकता था? यह निश्चय किया कि जितने लोग मिल जावें उन्हींको लेकर सत्याग्रह शुरू कर दिया जाय। अब स्त्रियों को सत्याग्रह में शामिल होने से हम नहीं रोक सकते थे, बल्कि यह निश्चय किया कि युद्ध में शामिल होने के लिए उन्हें निमन्त्रित भी किया जाय। सब से पहले तो टॉलस्टॉय फार्म पर रहनेवाली बहनों को ही निमन्त्रित किया गया। वे तो स्वयं ही सत्याग्रह में शामिल होने के लिए तड़फ रही थीं। युद्ध में होने वाली तमाम कठिनाइयों और जोखिमों का चित्र पहले पहल मैंने उनके सामने रक्खा। खान-पान, पोशाक, सोना, बैठना आदि सब बातों में उन्हें परतंत्रता रहेगी आदि समझाया। जेल में सख्त मज़दूरी करनी होगी, कपड़े धुलाये जावेंगे, अधिकारी लोग अपमान करेंगे, इत्यादि बातों से भी उन्हें सावधान कर दिया। पर वे बहनें तो एक भी बात से नहीं डरीं। सभी बहादुर थीं। उनमें से एक तो गर्भवती थी। कई बहनों की गोद में नन्हे नन्हे बच्चे थे। पर उन्होंने भी शामिल होने के लिए आग्रह किया। मैं तो उनमें से एक को भी नहीं रोक सका। सभी बहनें तामिल थीं। उनके नाम नीचे लिखे हैं:—

श्रीमती थम्बी नायडू; २ श्रीमती एन० पिल्ले; ३ श्रीमती के० मुरगेसा पिल्ले; ४ श्रीमती ए० पी० नायडू; ५ श्रीमती पी० के० नायडू; ६ श्रीमती चिन्न स्वामी पिल्ले; ७ श्रीमती एन० एस० पिल्ले; ८ श्रीमती आर० ए० मुदलिंगम्; ९ श्रीमती भवानी दयाल; १० श्रीमती एम० पिल्ले; ११ श्रीमती एम० बी० पिल्ले।

इनमें से छः बहिनों की गोद में बालक थे। कोई अपराध करके कैद होना आसान है। पर निर्दोष रहते हुए गिरफ्तार होना कठिन है। अपराधी गिरफ्तार नहीं होना चाहता, इसलिए पुलिस उसके पीछे लगी रहती है। और उसे गिरफ्तार करती है। पर स्वेच्छा-पूर्वक निर्दोष रहते हुए जेल जाने की इच्छा रखने वाले को पुलिस तब पकड़ती है जब वह मजबूर हो जाती है। इन बहनों का पहला प्रयत्न निष्फल हुआ। उन्होंने विना परवाने की फेरी की, पर पुलिस ने उनको पकड़ने से इनकार किया। उन्होंने फ्रीनिखन से आॅरेंजिया की सरहद में बिला इजाजत प्रवेश किया। पर उन्हें कोई गिरफ्तार ही नहीं करता था। अब इनके लिए यह सवाल खड़ा हो गया कि गिरफ्तार किस तरह होवें? ऐसे मर्द भी ज्यादह नहीं थे जो गिरफ्तार होने के लिए तैयार हों, और जो तैयार थे उनके लिए गिरफ्तार होना कठिन था।

अंत में उसी मार्ग का अवलम्बन करने का निश्चय किया जिसका अंत में अवलम्बन करने के लिए सोच रक्खा था। वह तेजस्वी भी साबित हुआ। मैंने सोच रक्खा था कि मेरे साथ फिनिक्स में रहने वालों को सब के बाद, अंत में, जेल भेजना चाहिए। यह मेरे लिए अंतिम त्याग था। फिनिक्स में रहने वाले निकट के साथी और सगे-सम्बन्धी थे। यह सोच रक्खा था कि समाचार-पत्र चलाने के लिए आवश्यक आदमियों को तथा १६ साल से कम वयस् वाले बालकों को छोड़कर शेष सब को जेल-यात्रा के लिए भेज दिया जाय। इससे अधिक त्याग करने के साधन मेरे पास नहीं थे। गोखले को लिखते समय जिन सोलह आदमियों का जिक्र किया था वे इन्हीं में से थे। मैंने यह निश्चय किया था

कि इन लोगों को सरहद नांघ कर ट्रान्सवाल में "बिना परवाने के ट्रान्सवाल में प्रवेश करने" के गुनाह के अनुसार गिरफ्तार करवा दूँ। हमें यह भी डर था कि यदि इन लोगों का नाम-ठाम पहले ही से जाहिर कर दिया जायगा, तो शायद सरकार इन्हें गिरफ्तार भी नहीं करेगी।

इसलिए दो चार मित्रों को छोड़कर मैंने और किसी से इस बात का जिक्र तक नहीं किया था। सरहद नांघते समय पुलिस के अधिकारी अक्सर नाम ठाम पूछते हैं। हमने यह भी सोच रक्खा था कि उस समय नाम वगैरा नहीं बताया जाय। अधिकारी को नाम वगैरा नहीं बताना भी एक पृथक अपराध समझा जाता था। यदि नाम वगैरा बता देते तो पुलिस को यह मालूम हो जाता कि वे मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, और इसलिए हमें डर था कि शायद वह उन्हें छोड़ भी देती। इसीलिए हमने पहले ही से यह निश्चय किया था कि नाम वगैरा नहीं बताया जाय। और इस विधि के अनुसार ट्रान्सवाल की जिन जिन बहनों को गिरफ्तार होने की इच्छा थी उन्हें नाताल में हाजिर हो जाना जरूरी था। जिस प्रकार नाताल से बिना परवाने के ट्राँसवाल जाना गुनाह समझा जाता था, ठीक उसी तरह ट्रांसवाल से नाताल आने वाले का भी वही हाल होता था। इसलिए ट्रांसवाल से आने वाली बहनें यदि पकड़ी जातीं तो नाताल में ही पकड़ी जातीं। यदि उन्हें पकड़ा न गया तो यह तय हुआ था कि नाताल की कोयले की कानों में, जिन का केन्द्र न्यूकेसल था, वे चली जावें और वहाँ के मज़दूरों को कानें छोड़ने के लिए समझावें। इन बहिनों की मातृ-भाषा तामिल थी। उन्हें कुछ कुछ हिंदुस्तानी भी याद थी।

मज्दूर लोग भी प्रायः मदरास इलाके के—तामिल तेलुगु ही थे। दूसरे प्रांत के भी बहुत से थे। यदि मजदूर इन बहनों की बात मान कर मज्दूरी छोड़ दें तो मज्दूरों के साथ साथ इन बहनों को भी सरकार गिरफ्तार किये विना कैसे रह सकती थी? अतएव मज्दूरों में भी खूब उत्साह फैलने की पूरी सम्भावना थी। इस तरह सभी बातें ट्रान्सवाल की बहनों को समझा दी गई थीं।

इसके बाद मैं फिनिक्स पहुँचा। वहाँ सब के साथ बैठ कर बात-चीत की। पहले पहल तो फिनिक्स में रहने वाली बहनों से इस विषय में बात-चीत कर लेना था। मैं जानता था कि बहनों को जेल में भेजना एक भँयकर बात है। फिनिक्स में रहने वाली अधिकांश बहनें गुजराती थीं। इसलिए उन्हें उन ट्रॉसवाल वाली बहनों के समान मुस्तैद और अनुभवी नहीं कह सकते थे। फिर उनमें से कितनी ही तो मेरी रिश्तेदार ही थीं। इसलिए केवल मेरी लिहाज से शायद वे जेल जाना मँजूर कर लें और यदि ऐन वक्त पर घबड़ा कर अथवा जेल में जाने के बाद कष्टों से अकुला कर माफी वगैरा माँग लें तो मुझे कितना आघात पहुँचेगा? लड़ाई एक-दम शिथिल हो जायगी इत्यादि सभी बातों पर बिचार कर लेना जरूरी था। यह तो मैंने निश्चय ही कर लिया था कि अपनी पत्नी को तो मैं कभी नहीं ललचाऊँगा। एक तो वह लल-चाने पर ना कही नहीं सकती थीं। और यदि हाँ भर भी लेती तो मुझे यह निश्चय नहीं था कि उस हाँ, को कितना महत्व दिया जाय। ऐसे जोखिम के समय स्त्री अपने आप जो काम करे उसी को मँजूर कर लेना श्रेयस्कर है। यदि वह कुछ न करे तो पति को बुरा भी नहीं मानना चाहिए। यह सब मैं जानता था। इसलिए

मैंने यह निश्चय कर लिया था कि अपनी पत्नी के साथ इस विषय में कोई बात तक न करूँ। अन्य बहनों के साथ मैंने बात-चीत की। उन्होंने भी ट्रांसवाल की बहनों की तरह फौरन बीड़ा उठा लिया और सब जेल-यात्रा करने को तैयार हो गईं। उन्होंने मुझे यह भी विश्वास दिलाया कि हर प्रकार के कष्ट झेल करके भी वे जेल-यात्रा पूरी करेंगी। इन सब बातों का सार मेरी पत्नी भी जान गई और उसने मुझ से कहा—"मुझे दुःख होता है कि आप मुझ से इस विषय में कोई बात-चीत क्यों नहीं करते? मुझ में ऐसी कौन खामी है, जो मैं जेल न जा सकूंगी? मुझे भी वही मार्ग लेना है जिसके लिए आप इन बहनों को सलाह दे रहे हैं।" मैंने कहा "तेरे चित्त को दुःखी तो मैं कैसे कर सकता हूँ? न इसमें अविश्वास की ही कोई बात है। मैं तो तेरे उत्तर से भी खुश हूँ। पर मुझे इस बात का आभास तक पसंद नहीं कि मेरे कहने पर तू जेल गई है। ऐसे काम सब को अपनी अपनी हिम्मत पर ही करना चाहिए। मैं यदि तुझ से कहूँ, और यदि तू मेरी आज्ञा का पालन करने के लिए स्वभावतः जेल चली भी जाय, किंतु अदालत में खड़ी रहते समय तेरे हाथ पाँव काँपें, तू हार जाय, या जेल के कष्टों को तू बरदाश्त न कर सके तो इसमें मैं तुझ को दोष तो न दूँगा पर मेरी हालत क्या होगी? मैं फिर तुझे किस तरह अपने पास रक्खूँ, और संसार में किस तरह मैं ऊँचा सिर करके खड़ा रह सकूँगा? इसी भय से मैंने तुझे अब तक कुछ नहीं कहा था।" मुझे उत्तर मिला:—"यदि मैं हार कर छूट जाऊँ तो आप मेरा स्वीकार न कीजिएगा। आप यह कल्पना भी किस तरह कर सकते हैं कि मेरे बच्चे उन कष्टों

को सह सकते हैं, आप सब उन्हें बरदाश्त कर सकते हैं और अकेली में ही उन्हें नहीं सह सकूंगी ? मुझे तो आपको इस युद्ध में शामिल करना ही होगा।' मैंने उत्तर दिया "तब तो हमें तुझे शामिल करना ही पड़ेगा। मेरी शर्तें तो तू जानती ही है। मेरा स्वभाव भी जानती है। अब भी विचार करना हो तो कर ले। यदि पूरी तरह विचार कर लेने पर तुझे मालूम हो कि युद्ध में शामिल नहीं होना चाहिए, तो तुझे छुट्टी है। पहले ही से निश्चय बदलने में कोई शर्म की बात नहीं है।" उत्तर मिला मुझे कुछ भी सोचना बिचारना नहीं है। मैं अपने निश्चय पर दृढ हूँ।" फिनिक्स में अन्य निवासी भी थे उन्हें भी मैंने इस प्रश्न पर स्वतंत्र रीति से विचार करने के लिए कहा। युद्ध का अंत शीघ्र हो या देरी से, फिनिक्स बना रहे या उसका नाम भी मिट जाय, जाने वाले भले चंगे रहें या बीमार हो जावें, पर किसी को पीछे न हटना चाहिए" इत्यादि शर्तें मैंने सबको बार बार ठोक पीट कर समझा दीं। सब तैयार हो गये। फिनिक्स के बाहर वालों में केवल रुस्तमजी जीवनजी घोरखोदु थे। उनसे मैं ये सब बातें छिपा नहीं सकता था, और न वे पीछे रह सकते थे। जेल तो उन्हें जाना ही था, पर वे चाहते थे कि बाद में जावें इस टुकडी के नाम नीचे लिखे हैं:—

(१) सौ० कस्तूर मोहनदास गांधी; (२) सौ० जयाकुंवर मणिलाल डाक्टर; (३) सौ० काशी छगनलाल गांधी; (४) सौ० संतोक मगनलाल गांधी; (५) श्री० पारसी रुस्तमजी जीवणजी घोरखोदु; (६) छगनलाल खुशालचन्द गांधी; (७) श्री० रावजी भाई मणिलाल पटेल; (८) श्री० मगनभाई हरिभाइ पटेल; (९) श्री० सोलोमन रॉयन; (१०) भाई रामदास मोहनदास गांधी;

(११) भाई राजू गोविन्दु; (१२) भाई शिवपूजन बद्री; (१३) भाई गोविन्द राजुलू; (१४) श्री कुप्पु स्वामी मुदालियार; (१५) भाई गोकलदास हंसराज; (१६) भाई रेवाशंकर रतनशी सोढ़ा।

आगे के हाल सोवहवें अध्याय में।

सोलहवां अध्याय

स्त्रियां कैद में

यह टुकड़ी सरहद को लांघकर बिना परवाने के ट्रान्सवाल में प्रवेश करने के अपराध में जेल की सैर करने वाली थी। पिछले अध्याय के अंत में दिये हुए नामों को पढ़ने पर पाठक देखेंगे कि इनमें से कितने ही नाम ऐसे हैं जिनके मालूम हो जाने पर यह आशंका थी कि पुलिस शायद उन्हें न भी पकड़ती। मेरे विषय में यही हुआ था। दो एक बार पकड़ लेने पर फिर सरहद लांघते समय पुलिस ने मुझे पकड़ना ही छोड़ दिया। इस टुकड़ी के निकलने की खबर किसी को नहीं भेजी गई थी, फिर समाचारपत्रों को तो कहां से मालूम हो ? उन्हें यह भी समझा दिया गया था कि वे पुलिस को अपना नाम ठाम भी नहीं बतावे। कह दें कि नाम अदालत में बतला दिये जावेंगे।

ऐसे कई मामले पुलिस के पास आते थे। गिरफ्तारी के आदी हो जाने पर भारतीय तो कई बार पुलिस को केवल मधुरता पूर्वक सताने के लिए नाम वगैरा बताने से इन्कार कर दिया करते थे। इसलिए इस समय भी पुलिस को कोई विचित्रता नहीं मालूम हुई। इस टुकड़ी को पुलिस ने पकड़ लिया। अदालत में मामला पेश हुवा और सबको तीन तीन महीने की सख्त कैद की सजा मिली।

जो बहनें ट्रान्सवाल में गिरफ्तार न हो सकीं, वे निराश

होकर अब नाताल में आईं। बिना परवाने के प्रवेश करने के अपराध में पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया। यह तो पहले ही निश्चित हो चुका था कि यदि पुलिस उन्हें गिरफ्तार न करे, तो उन्हें सीधे न्यू कॅसल चले जाना चाहिए, और वहां की कोयले की खानों में काम करने वाले मजदूरों से अपना काम छोड़ने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। न्यू कॅसल नाताल की कोयलों की खानों का केन्द्र है। इन खानों में खासकर भारतीय मजदूर ही थे। बहनों ने अपना काम शुरू कर दिया। इसका परिणाम बिजली का सा हुआ। तीन पौंड के कर की बात कहकर उनपर असर डाला गया। मजदूरों ने अपना काम छोड़ दिया। मुझे इसका तार मिला। मैं खुश हुआ, पर साथ ही उतना ही घबड़ाया भी। सवाल यह था कि मुझे क्या करना चाहिए? मैं इस अद्भुत जागृति के लिए तैयार न था। मेरे पास पैसे नहीं थे, और न थे इतने आदमी कि जो इतने बड़े काम को अच्छी तरह संभाल लें। तथापि मैं अपने कर्तव्य को जानता था। सोचा, मुझे पहले न्यू कॅसल जाना चाहिए और वहाँ जो कुछ भी बन पड़े वही करना चाहिए। मैं निकला।

इन बहादुर बहनों को भला अब सरकार कैसे छोड़ सकती थी? वे गिरफ्तार कर ली गईं, और पहली टुकड़ी में जा कर शामिल हो गईं। उन्हें भी वही सजा दी गई, और उन्हीं के साथ साथ रक्खा गया। अब तो दक्षिण अफ्रिका के तमाम भारतीयों की नींद टूटी, और वे खड़बड़ा कर जाग उठे, मानों उनमें नवीन चैतन्य ने प्रवेश किया। परन्तु स्त्रियों के बलिदान ने तो भारत को भी जगा दिया। सर फिरोजशाह मेहता आज तक तटस्थ थे। सन् १९०१ में उन्होंने मुझे उलहना देकर समझाया था कि मुझे

दक्षिण अफ्रिका नहीं जाना चाहिए। उनका अभिप्राय मैं पहले ही लिख चुका हूं। सत्याग्रह के युद्ध का भी उन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। पर स्त्रियों की कैद का तो उनपर भी जादू का सा प्रभाव पड़ा। स्वयं उन्होंने अपने टाऊनहाल वाले भाषण में कहा था कि "स्त्रियों की कैद ने उनकी शांति को भंग कर दिया"। अब भारतवर्ष चुप चाप नहीं बैठा रह सकता था।

स्त्रियों की बहादुरी का वर्णन कहाँ तक किया जाय! सबको नाताल की राजधानी मॉरिट्सवर्ग में ही रक्खा गया। यहाँ उन्हें कष्ट भी खूब दिया गया। उनके खान-पान की जरा भी चिंता नहीं की जाती थी। मजदूरी के स्थानपर उनको धोबी का काम दिया गया। बाहर से खाना मँगाने की सख्त मनाई थी, जो आखीर तक कायम रही। एक बहन का व्रत था कि वह एक खास तरह का भोजन ही कर सकती थी। बड़ी मुश्किल से उसे वही खुराक देने का प्रस्ताव मंजूर किया गया। पर चीज़ ऐसी मिलती कि उसे खाया ही नहीं जा सकता था। ओलिव ऑइल की विशेष आवश्यकता थी। पर पहले तो वह दिया ही नहीं गया। और जब मिला तो पुराना और खराब। जब कैदियों ने प्रार्थना की कि हमारे खर्च से ही खाना मँगवा दिया जाय, तो उस पर उत्तर मिला "यह होटल नहीं है जो मिलेगा वही खाना पड़ेगा"। वह बहन जब जेल से बाहर निकली तब उसके शरीर में केवल हड्डियाँ रह गई थीं। बड़ी मुश्किल से वह कहीं बची।

एक दूसरी बहन भयंकर बुखार लेकर बाहर निकली, जिसने थोड़े ही दिन बाद उसे परमात्मा के घर पहुँचा दिया। उसे मैं कैसे भूल सकता हूँ? वालियामा अट्ठारह वर्ष की बालिका थी। मैं उसके

पास गया तब वह बिस्तर से उठ भी नहीं सकती थी। क़द ऊँचा था। उसका लकड़ी के जैसा शरीर डरावना मालूम होता था।

मैंने पूछा—"वालियामा, जेल जाने पर पश्चात्ताप तो नहीं है?"

"पश्चात्ताप क्यों हो! अगर मुझे फिर गिरफ्तार करें तो मैं पुनः इसी तरह जेल जाने को तैयार हूँ।"

"पर इसमें यदि मौत आ जाय तो?"

"भले ही आवे न! देश के लिए मरना किसे न अच्छा लगेगा?" इस बात चीत के कुछ ही दिन बाद वालियामा की मृत्यु हो गई। देह चला गया पर वह बाला तो अपना नाम अमर कर गई। इसकी मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए स्थान स्थान पर शोक सभायें हुईं, और कौम ने इस पवित्र देवी का स्मारक बनाने के लिए एक 'वालियामा हॉल' नामक भवन बनवाने का निश्चय किया। पर कौम ने इस हॉल को बनवा कर अपने धर्म का पालन अभी तक नहीं किया! उसमें कई विघ्न उपस्थित हो गये। कौम में फूट हो गई। मुख्य कार्य-कर्त्ता एक के बाद एक वहाँ से चले गये। पर वह ईंट-पत्थर का स्मारक बने, या न भी बने, वालियामा की सेवा का नाश नहीं हो सकता। इस सेवा का हॉल तो उसने स्वयं अपने हाथों से बना रक्खा है। आज भी उसकी वह मूर्त्ति कितने ही हृदयों में विराज रही है। जहाँ तक भारतवर्ष का नाम रहेगा तहाँ तक दक्षिण आफ्रिका के इतिहास में वालियामा का नाम भी अमर रहेगा।

इन बहनों का बलिदान विशुद्ध था। वे बेचारी कानून की बारीकियों को नहीं जानती थीं। उनमें से कितनी ही को देश का ख्याल तक नहीं था। उनका देश-प्रेम तो केवल श्रद्धा ही पर

निर्भर था। उनमें से कितनी ही निरक्षर थीं। अर्थात् समाचार पत्र तक नहीं पढ़ सकती थीं। पर वे जानती थीं कि कौम के मान-वस्त्र का हरण हो रहा है। उनका जेल जाना उनका आर्त्तनाद था, शुद्ध यज्ञ था। ऐसी शुद्ध हार्दिक प्रार्थना ही को प्रभु सुनते हैं। यज्ञ की शुद्धि ही में उसकी सफलता है। प्रभु तो भावना के भूखे हैं। भक्ति-पूर्वक अर्थात् निस्वार्थ बुद्धि से अर्पित की हुई फूल-पत्ती या पानी भी परमात्मा को प्रिय है। उसका सप्रेम स्वीकार कर वे उससे करोड़ों गुना फल देते हैं। सुदामा के मुट्ठी भर चाँवल के बदले में उसकी वर्षों की भूख भाग गई। अनेकों के जेल जाने से चाहे कोई फल न निकले, पर एक शुद्ध आत्मा का भक्ति-पूर्वक समर्पण किसी समय निष्फल नहीं हो सकता। कौन कह सकता है कि दक्षिण आफ्रिका में किसका किसका यज्ञ सफल हुआ? पर इतना तो हम जरूर जानते हैं कि वालियामा का बलिदान तो अवश्य ही सफल हुआ? बहनों का यज्ञ तो जरूर ही सफल हुआ।

स्वदेश यज्ञ में, जगत्-यज्ञ में असंख्य आत्माओं का बलिदान दिया गया है, दिया जा रहा है, और दिया जायगा। यही ठीक भी है। क्योंकि कोई नहीं जानता कि पूर्णरूपेण शुद्ध कौन है। पर सत्याग्रही इतना तो जरूर जानते हैं कि उनमें से यदि एक भी शुद्ध होगा तो उसका यज्ञ फलोत्पत्ति के लिए काफी है। पृथ्वी सत्य के बल पर टिकी हुइ है। 'असत्'—'असत्य' के मानी हैं, 'नहीं'; 'सत्'–'सत्य' अर्थात "है" जहाँ असत् अर्थात् अस्तित्व ही नहीं है, उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो सत्—अर्थात 'है' उसका नाश कौन कर सकता है। बस इसी में सत्याग्रह का समस्त शास्त्र समाविष्ट है।

सत्रहवां अध्याय

मजदूरों की धारा

बहनों के इस त्याग का मजदूरों पर बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा। न्यू कॅसल के नजदीक की खानों के मजदूरों ने अपने हथियार फेंक दिये। उनका प्रवाह शुरू हुआ। समाचार मिलते ही फिनिक्स छोड़ कर मैं न्यू कॅसल पहुंचा।

ऐसे मजदूरों का अपना घर नहीं होता। मालिक ही उनके लिए घर बनाते हैं, मालिक ही उनके मार्गों को दीया-बत्ती से प्रकाशित रखते हैं, वे ही उन्हें पानी भी देते हैं। अर्थात् मजदूर हर तरह से पराधीन रहते हैं। और तुलसीदासजी ने तो कही दिया है कि

'पराधीन सपने हुँ सुख नाहीं'

ये हडताल वाले मजदूर मेरे पास कई प्रकार की शिकायतें ले कर आने लगे। कोई कहता 'खानों के मालिकों ने रास्ते पर की बत्तियों को उठा लिया है'। कोई कहता 'उन्होंने पानी बंद कर दिया है। कई कहते 'वे हडताल वालों का असबाब कमरों में से बाहर फेंक रहे हैं'। एक पठान ने मुझे अपनी पीठ दिखाते हुए कहा "यह देखिए, मुझे कैसे मारा है, सिर्फ आपके खातिर मैंने

उस बदमाश को छोड़ दिया है, क्योंकि यही आपका हुक्म है। नहीं तो मैं पठान हूँ, और पठान कभी मार नहीं खाता, स्वयं मारता है।" मैंने उत्तर दिया "भाई तुमने बहुत अच्छा काम किया, इसीको मैं सच्ची बहादुरी कहता हूँ; तुम जैसे लोगों के बल पर ही हम जीतेंगे।"

मैंने इस तरह उसे मुबारिकबादी तो दी, पर दिल में सोचा, यदि यही हाल अनेकों का हुआ तो हड़ताल कैसे चलेगी? मार की बात छोड़ दी जाय, तो फरियाद फिर और किस बात की करें? खानों के मालिक यदि हड़ताल करने वालों के लिए पानी, बत्ती इत्यादि सुविधायें न भी रहने दें, तो इसमें फरियाद के लिए कहाँ स्थान रह जाता है? जो हो, आखिर लोग इस स्थिति में कब तक रह सकते हैं? मुझे अवश्य ही कोई न कोई उपाय सोच लेना चाहिए। क्योंकि लोग लाचार हो कर फिर अपने अपने काम पर लौट जावें इसकी बनिस्बत तो ठीक यही होगा कि वे अभी से अपनी हार कुबूल कर लें और काम पर लौट जावें। पर लोग मेरे मुंह से यह सलाह कभी नहीं सुनेंगे। मार्ग केवल एक ही बचा। उन्हें मालिकों के दिये हुए कमरे छोड़ देना चाहिए। अर्थात् 'हिजरत' कर देनी चाहिए।

मजदूर पांच-पच्चीस नहीं, सैकड़ों थे। सैकड़ों से हजारों होने में भी देर नहीं थी। उनके लिए मैं मकान कहाँ से लाऊं? उनके खाने पीने का क्या प्रबंध करूं? भारतवर्ष से तो पैसे मांगना ही नहीं था। वहां होने वाली पैसों की वर्षा को अभी जरा देर थी। इधर दक्षिण आफ्रिका के भारतीय व्यापारी इतने डर गये थे कि जाहिरा तौर पर वे मेरी कोई सहायता करने के लिए तैयार नहीं थे। उनका

व्यापार तो खान के मालिकों और दूसरे गोरों के साथ भी था इसलिए खुल्लम खुल्ला वे मुझसे कैसे मिल सकते थे ? मैं जब कभी न्यू कॅसल जाता तब उन्हीं के यहाँ ठहरता था। पर इस बार दूसरी जगह पर उतरने का निश्चय करके स्वयं मैंने ही उनका मार्ग सरल कर दिया था।

पहले मैं यह बतला चुका हूँ कि ट्रान्सवाल से जो बहनें आई थीं वे द्राविड प्रान्त की थीं। वे एक द्राविड कुटुम्ब के यहाँ ठहरी थीं जो ईसाई था। यह कुटुम्ब मंझोले दर्जे का था। उसके एक छोटासा जमीन का टुकड़ा और दो तीन कमरे वाला एक छोटा-सा मकान था। इन्हींके यहाँ ठहरने का मैंने भी निश्चय किया। मालिक मकान का नाम लॅझरस था। गरीब को किसका डर हो सकता है ? ये सब मूलतः गिरमिटिया माता-पिता की प्रजा थे, इसलिए उनको और उनके सम्बन्धियों को भी तीन पौंड वाला कर देना पड़ता था। गिरमिटियाओं के दुःखों से तो वे पूरी तरह परिचित थे। इसलिए उनके साथ इनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक ही था। इस कुटुम्ब ने मेरा सहर्ष स्वागत किया। मेरा स्वागत करना मित्रों के लिए आसान काम तो कभी रहा ही नहीं है। परन्तु इस बार तो वह और भी मुश्किल था। मेरा स्वागत करना मानों प्रत्यक्ष दरिद्रता, निर्धनता का स्वागत करना और शायद जेल को भी निमन्त्रण देना था। इस स्थिति में शायद ही कोई धनिक व्यापारी अपने को इस खतरे में डालने के लिए तैयार होता; और अपनी तथा उनकी परिस्थिति को इस तरह समझ लेने पर भी उन्हें ऐसी विकट परिस्थिति में डालना मेरे लिए सर्वथा अनुचित था। बेचारे लॅझरस को थोड़ासा वेतन ही खोने का डर था, और वह उसे बरदाश्त भी कर सकता था। उसे कोई कैद करना चाहे तो भले ही

करे पर वह अपने से भी गरीब गिरमिटियाओं के दुःखों को कैसे चुपचाप सह सकता था ? उसने अपने यहां इन गिरमिटियाओं की सहायता के लिए आई हुई बहनों को अपनी आँखों जेल में जाते देखा था। उसे मालूम हुआ कि उनके प्रति उसका भी कुछ कर्तव्य है, इसीलिए उसने मेरा भी स्वीकार किया। स्वीकार तो किया पर अपना सर्वस्व भी अर्पित कर दिया। क्योंकि उसके यहां मेरे जाने के बाद उसका घर एक धर्मशाला बन गया। सैकड़ों आदमी और हर तरह के आदमी आते जाते थे। उसके मकान के आसपास की जमीन आदमियों से खचाखच भर गई। चौबीसों घंटे उसके मकान पर रसोई होती रहती थी, जिसमें उसको धर्मपत्नी ने तनतोड़ मिहनत की। और इतने पर भी जब कभी देखिए, तब वे दोनों हँसमुख ही नजर आते थे। उनकी मुखाकृति में मैंने अप्रसन्नता नहीं देखी।

पर लॅझरस भला कहीं सैकड़ों मजदूरों को खिला सकता था ? मजदूरों को मैंने समझा दिया कि उन्हें इस हड़ताल को हमेशा टिकनेवाली हड़ताल समझ कर अपने अपने मालिक के झोपड़ों को भी हमेशा के लिए छोड़ देना चाहिए। उनके पास जो चीजें बेंचने लायक हों उन्हें बेंच दिया जाय। बाकी असबाब को वे अपनी खोलियों में भर कर रख दें। मालिक उसे हाथ नहीं लगावेगा। शायद अधिक दुश्मनी ठानने के लिए यदि वह उसे फेंक भी दे तो उन्हें यह भी बरदाश्त कर लेना चाहिए। मेरे पास वे अपने पहनने के कपड़ों और ओढने के कम्बलों के सिवा और कुछ नहीं लायें। जहां तक हड़ताल टिकेगी और जबतक वे जेल से बाहर रहेंगे तबतक उन्हींके साथ रहने और उन्हीं के साथ साथ खाने

पीने का अपना निश्चय भी मैंने उन्हें सुना दिया। इन शर्तों पर यदि वे खानों से बाहर निकल सकते हों, तभी और केवल तभी, वें टिक सकेंगे और उनकी जीत भी हो सकेगी। ऐसा करने की जिसे हिम्मत न हो वह भले ही अपनी नौकरी पर लौट जाय। और इस तरह जो लौट जावे, उसका कोई तिरस्कार भी न करे, और न कोई उसे सतावे! मुझे ऐसा एक भी उदाहरण याद नहीं जिसमें इन बातों का किसी ने इनकार किया हो। मैंने उन्हें यह कहा उसी दिन से हिज़रत करने वाले घर-त्यागियों की कतारें आने लगीं। सभी अपने अपने बीवी-बच्चों को लेकर अपने सिर पर गठडियां रखकर आने लगे। मेरे सामने तो केवल ठहरने भर के लिए जमीन थी। सौभाग्यवश इन दिनों न तो कोई जाड़ा था और न बारिश ही थी।

मेरा विश्वास था कि खाने पीने की व्यवस्था के विषय में व्यापारी वर्ग पीछे कदम नहीं हटावेगा। न्यू कॅसल के व्यापारियों ने दाल और चांवल के बोरिये और खाना पकाने के लिए वर्तन भी भेज दिये। अन्य गांवों से भी दाल, चांवल, सब्जी, मसाले वगैरा की वर्षा होने लगी। मैं सोचता था उससे कहीं अधिक ये चीजें मेरे पास आने लग गईं। जेल जाने के लिए भले ही सब तैयार न हों पर सहानुभूति तो सभी रख सकते थे न? सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुसार सहायता देने के लिए तैयार थे। जिन की हालत कुछ देने-दिलाने लायक नहीं थी उन्होंने शारीरिक मिह-नत द्वारा कौम के इस यज्ञ में सहायता की। इन अपढ़ अजान मनुष्यों को संभालने के लिए समझदार होशियार स्वयंसेवकों की आवश्यकता थी। वे भी मिलते गये, और उन्होंने अमूल्य

सहायता की। उनमें से अधिकांश तो गिरफ्तार भी कर लिये गये। इस तरह सभी ने यथाशक्ति सहायता की, जिससे हमारा मार्ग सरल हो गया।

मनुष्यों की संख्या बढने लगी। इतने बड़े और प्रति क्षण बढ़ने वाले जनसमुदाय को एक ही स्थान पर बिना किसी उद्योग के रख छोड़ना यद्यपि अशक्य नहीं तो भयानक तो जरूर ही था। मलोत्सर्ग वगैरा की उनकी आदतें तो अच्छी होती ही नहीं। इस समुदाय में कितने ही ऐसे थे जो जुर्म करके जेल हो आये थे। कई तो खून के अपराधी भी थे। कई चोरी करने के अपराध में जेल यात्रा करके छूट कर आये हुए थे। हडताल करने वाले मजदूरों का मैं नीति के अनुसार विभाग तो हरगिज नहीं कर सकता था। भेद करना भी चाहूं तो सभी मुझे अपना भेद थोडे ही बताने वाले थे। स्वयं मैं ही काज़ी बन बैठूं तो मुझे तो विवेक-हीन बनना पडे। मेरा कार्य तो केवल हडताल का संचालन करना मात्र था। इसमें अन्य सुधारों को शामिल करने के लिए कोई अवकाश नहीं था। हां, छावनी में नीति की रक्षा करना जरूर मेरा काम था। वहाँ आने वाले लोग पहले कैसे थे, इसकी तलाश करना मेरा काम नहीं था। इतना बड़ा समुदाय एक ही जगह बैठा रहे तो जरूर ही कुछ न कुछ खुरापात खडी होती रहे। और वास्तव में चमत्कार तो यही था कि इतने दिन शांति से कैसे वीत गये ? वे सब इस कदर शांति पूर्वक रहे, मानों वे अपना आपद्धर्म समझ गये हों।

मुझे उपाय सूझा! इनको भी उन १६ मनुष्यों की तरह ट्रान्सवाल ले जा कर जेल में बैठा दूं। पहले पहल यह विचार हुआ कि

इनकी छोटी छोटी टुकड़ियां बना लूं और फिर एक एक टुकड़ी को सरहद लाँघने के लिए भेजूं, पर फौरन ही मैंने इस विचार को पलट लिया। इससे बहुतसा समय नष्ट होने की सम्भावना थी। दूसरे, एक सामुदायिक कार्य का जो असर होता है, वह एक एक टुकड़ी भेजने से नहीं हो सकता।

मेरे पास लग-भग पांच हजार मनुष्य इकट्ठा हुए होंगे। उन सब को ट्रेन से नहीं ले जा सकता था। इतने रुपये भी मैं कहां से लाता? फिर इससे लोगों की परीक्षा भी नहीं हो सकती थी। न्यू कॅसल से ट्रान्सवाल की सरहद ३६ मील थी। नाताल का सरहदी गांव चार्लस् टाऊन था, और ट्रान्सवाल का वॉकसरेस्ट। अंत में पैदल ही सफर करने का निश्चय किया। मजदूरों के साथ भी सलाह की। उनमें स्त्रियां, बच्चे, वगैरा भी थे। कितने ही टाल मटूल कर गये। हृदय को कठोर करने के सिवा मेरे पास और कोई उपाय ही नहीं था। मैंने उन्हें कह दिया कि जो वापिस खानों पर जाना चाहते हों वे जा सकते हैं। पर लौट जाने को कोई तैयार नहीं थे। जो पंगु थे उन्हें ट्रेन से भेजने का निश्चय हुआ। शेष सब चार्लस् टाऊन तक पैदल चलने को तैयार हो गये। रास्ता दो दिन में तय करना था। इससे तो सभी प्रसन्न हो गये। लोगों ने सोचा कि बेचारे लॅफरस कुटुम्ब को भी कुछ विश्रान्ति मिलेगी। इधर न्यू कॅसल के गोरों को हैजे का भय था, इसलिए वे जो कुछ इन्तजाम करने वाले थे उससे वे मुक्त हो गये, और हम भी तो उनके उस इन्तजाम के भय से मुक्त हो गये।

कूच की तैयारी कर ही रहे थे कि खान के मालिकों का निमन्त्रण आया। मैं डरबन पहुँचा। पर अब यह किस्सा अगले प्रकरण में

अठारहवां अध्याय

खानों के मालिकों से बात-चीत और उसके बाद

खानों के मालिकों के निमन्त्रण के अनुसार मैं उनके पास डरबन गया। मैं समझा कि मालिकों पर कुछ प्रभाव पड़ रहा है। पर मुझे यह विश्वास नहीं था कि इस मुलाकात से कोई नतीजा निकलेगा। पर सत्याग्रही तो असीम नम्र होता है। समझौते का एक भी अवसर वह अपने हाथों से नहीं खोता। इससे यदि कोई उसे भीरु भी कहे तो वह उसकी परवा नहीं करता। जिसके हृदय में विश्वास है. और विश्वास से पैदा होने वाला बल है. वह दूसरों द्वारा की गई अपनी अवगणना पर अफसोस नहीं करता। वह तो अपने आंतरिक बल पर ही निर्भर रहता है। इस तरह सब के साथ नम्रता पूर्वक रह कर वह तो संसार की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है और उसे अपने काम की तरफ आकर्षित कर लेता है।

इसलिए मालिकों का निमन्त्रण मुझे स्वागत करने योग्य मालूम हुआ। मैं उनके पास पहुँचा। मैंने देखा कि वायुमण्डल संक्षुब्ध है। मामले को मुझसे समझ लेने के बदले उनके प्रतिनिधि ने उलटे मुझी को जांचना शुरू किया। उसके प्रश्नों के मैंने यथोचित उत्तर दिये। और उनसे कहा "यह हडताल बंद करना आपके हाथों में है।"

"हम कहीं अधिकारी तो हैं नहीं" उनकी तरफ से कहा गया।

मैं–"आप अधिकारी न होते हुए भी बहुत कुछ कर सकते हैं। आप मजदूरों का पक्ष ले कर झगड सकते हैं। मैं इस बात को नहीं मानता कि यदि आप सरकार से तीन पौंड के कर को रद करने के लिए कहें तो वह आप की बात को स्वीकार नहीं करेगी। आप दूसरों को अपने अनुकूल बना सकते हैं।"

"पर सरकार द्वारा मंजूर किये गये कर के साथ हडताल का क्या सम्बन्ध है ? मालिक यदि मजदूरों को कष्ट दे रहे हों तो आप कानून के अनुसार उनसे दरख्वास्त करें।"

सिवा हडताल के मुझे और कोई ऐसा उपाय नहीं दिखाई देता, तीन पौंड वाला कर भी तो मालिकों के खातिर ही मजदूरों पर लदा गया है। मालिक मजदूरों की मजदूरी तो चाहते हैं, पर उनकी स्वतंत्रता नहीं चाहते। इसलिए इस कर को दूर करने के लिए मैंने यह जो हडताल रूपी शस्त्र उठाया है, इसमें मुझे जरा भी अनीति अर्थात् मालिकों के प्रति अन्याय नहीं दिखाई देता।"

"तो फिर आप मजदूरों को काम पर लौट जाने के लिए नहीं कहेंगे ?"

"मैं लाचार हूँ।"

"इसके परिणाम का भी आप को ख्याल है ?"

"मैं सावधान हूँ। अपनी जिम्मेदारी का मुझे पूरा ख्याल है।

"ठीक तो है, इसमें आपकी क्या हानि है ? पर इन भोले-भाले मजदूरों की जो हानि होगी, क्या इसकी भरपाई आप कर देंगे।"

"मजदूरों ने समझ बूझ कर और हानि-लाभ का पूरा हिसाब लगा लेने पर ही यह हडताल शुरू की है। आत्म-सम्मान की

हानि से किसी हानि को मैं बड़ी नहीं समझ सकता, और मुझे संतोष है कि मजदूर भी इस बात को समझ गये हैं"

इस तरह की बात-चीत हुई। संभाषण की प्रत्येक बात इस समय तक मुझे याद नहीं रह सकती। जो खास खास बातें मुझे याद रह गईं, वे मैंने संक्षेप में ऊपर कह दी हैं। यह तो मुझे मालूम हो गया कि मालिकों को अपनी केस कमजोर मालूम होने लग गई। क्योंकि सरकार के साथ तो उनकी बात चीत चल ही रही थी।

जाते और लौटते समय मैंने देखा कि ट्रेन के गार्ड वगैरा पर इस हडताल का और जनता की शान्ति का बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ा था। मैं तो तीसरे दर्जे में ही सफर करता था। पर वहाँ भी गार्ड वगैरा अधिकारी लोग मुझे घेर कर चिंता के साथ सब हकीकत, पूछ लेते और बिजय की इच्छा जाहिर करते। अनेक प्रकार की छोटी मोटी सुबिधायें मेरे लिए कर देते। पर मैं उनके साथ अपने सम्बन्ध को हमेशा निर्मल रखता। एक भी सुबिधा के लिए मैं उन्हें किसी प्रकार का प्रलोभन नहीं दिखाता। अपनी इच्छा से वे जो विनय दिखाते वही मुझे पसंद था। विनय को खरीदने का प्रयत्न तो मैंने कभी किया ही नहीं। गरीब, अपढ अज्ञानी मजदूरों को इस तरह शांत रहते हुए देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य मालूम हुआ। और यह ठीक भी था। दृढता और बहादुरी ऐसे गुण हैं कि जिनका प्रभाव विरोधियों पर भी बिना पड़े नहीं रहता।

मैं पुनः न्यू कॅसल पहुंचा। लोगों का प्रवाह तो उसी तरह बहा जा रहा था। सब बातें उन्हें खोल खोलकर समझा दी गईं। यह भी पुनः कह दिया कि यदि वे लौट जाना चाहते हों तो लौट सकते हैं। मालिकों की धौंस की बात भी कही। भावी विपत्तियों

का भी चित्र खींच कर बता दिया और चेता दिया कि लड़ाई कब समाप्त होगी इसका कोई ठिकाना नहीं। जेल के दुःख समझाये, सब कुछ समझाया पर वे अपने निश्चय से नहीं हटे। "आप जब तक लड़ने के लिए तैयार हैं, तब तक हम भी अपना कदम पीछे नहीं हटावेंगे। हमें कष्टों का पूरा ख्याल है हमारी चिंता न कीजिएगा" इस तरह का निर्भय उत्तर मुझे मिला।

अब तो सिर्फ आगे कूच करना रहा। एक दिन सुबह जल्दी उठकर कूच करने के लिये मैंने उन्हें कह दिया। राह पर चलते हुए जिन नियमों का पालन करना चाहिए वे भी समझा दिये पांच छः हजार के समुदाय को समझा कर रखना कोई मामूली बात नहीं था। उनकी गिनती तो मेरे पास थी ही नहीं, और न थे नाम ठाम। जो रहे सो रहे, और गये सो गये। यही हिसाब किताब था। प्रत्येक आदमी को २॥ पाव रोटी और २॥ रुपये भर शक्कर के सिवा अधिक खुराक देने की गुंजाइश भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त यह कह रक्खा था कि यदि राह में भारतीय व्यापारी कुछ देंगे तो ले लूंगां। पर उन्हें रोटी और शक्कर पर ही संतुष्ट रहना चाहिए। बोअर युद्ध और उसके बाद हबसियों के युद्ध में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ था उसने इस समय खूब काम दिया। आवश्यकता से अधिक कपड़े न रक्खे जायँ यह तो शर्त ही थी। रास्ते में किसी की चीज को हाथ न लगाया जाय। अधिकारी लोग या अंगरेज रास्ते में मिलें, गालियां दें, और पीटें भी तो सब बरदाश्त कर लिया जाय। यदि कैद करें तो चुप चाप अपने आप को सौंप दिया जाय। यदि मैं पकड़ा जाऊं तो भी तो लोग उसी तरह कूच करते हुए चले जाएँ, रास्ते में कहीं न रुकें,

इत्यादि सब बातें समझा दी गई थीं। यह भी समझा दिया गया था कि मेरी अनुपस्थिति में क्रमशः कौन कौन मेरा स्थान ले, और काम शुरू रक्खे।

लोग समझ गये। समुदाय सहीसलामत चार्लस् टाऊन जा पहुंचा। चार्ल्स-टाऊन में व्यापारियों ने खूब सहायता की। अपने मकान ठहरने के लिए खोल दिये। मस्जिद के आहते में रसोई पकाने के लिए सुविधा कर दी। कूच के लिए जो खुराक दिया जाता था उसका उपयोग स्थायी मुकाम पर तो हो ही नहीं सकता था। इसलिए खाना पकाने के लिए बरतनों की भी आवश्यकता हुई। यह सब उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक दिया। चांवल वगैरा तो मेरे पास पहले ही से बहुत इकट्ठा हो गये थे। पर फिर भी व्यापारियों ने अपनी तरफ से और दे दिये।

चार्ल्स टाऊन एक छोटासा गांव था। इस समय उसकी जन संख्या मुश्किल से चार पांच हजार होगी। उसमें इतने मनुष्यों का समावेश होना कठिन था। बच्चों और स्त्रियों को ही मकानों के अंदर रक्खा। कितनों ही को तो मैदान में भी ठहरा दिया गया था।

यहां की कितनी ही स्मृतियां तो मधुर हैं, और कितनी ही कडुवी भी। मधुर स्मरण सब से पहले चार्लस् टाऊन के आरोग्य-विभाग और उसके अधिकारियों से सम्बन्ध रखते हैं। जन-संख्या को इतनी बढ़ी हुई देख कर वे घबड़ा गये। पर उन्होंने पहले ही से कडक उपायों का अवलम्बन नहीं किया। सब से पहले आकर वे मुझ से मिले स्वच्छता तथा आरोग्य विषयक कितनी ही सूचनायें करके उन्होंने मुझे सहायता करने का

अभिवचन भी दिया। यूरोप के लोग तीन बातों में जितने सावधान रहते हैं, उतने हम नहीं रहते। उन्होंने कहा कि स्वच्छता, तथा रास्ते और पाखानों की स्वच्छता, का मुझे विशेष ख्याल रखना चाहिए। जहां तहां लोग पानी नहीं डालने पावें पेशाब का भी एक निश्चित स्थान हो। कूड़ा-कचरा भी लोग हर कहीं न डालने पावें, उसका भी एक निश्चित स्थान हो। जहां वे बतावें, वहीं मैं लोगों को रखूं और वहां की स्वच्छता के लिए मैं जिम्मेदार रहूं। यह सब मैंने उनके प्रति अपनी एहसानमन्दी जाहिर करते हुए कबूल कर लिया। और मुझे पूरी शांति हुई।

हमारे मनुष्यों के द्वारा इन नियमों का पालन कराना महा कठिन है। पर उन लोगों ने और मेरे साथियों ने मेरे लिए इस काम को आसान कर दिया। मेरा यह हमेशा का अनुभव है कि सेवक हुक्म न करे, बल्कि सेवा ही करे तो बहुत कुछ काम हो सकता है। सेवक यदि अपने शरीर को जरा भी कष्ट देगा तो दूसरे लोग भी ऐसा ही करने लग जावेंगे। इस बात का पूरा अनुभव मुझे उस छावनी में प्राप्त हुआ। मैं और मेरे साथी झाड़ना बुहारना, मैला उठाकर फेंकना आदि काम करते हुए जरा भी नहीं हिचकते थे। इसलिए दूसरे लोग उसी काम को खुशी खुशी करने लग जाते थे। यदि हम ऐसा न करते तो आखिर हुकूमत भी किस पर करते? सभी सरदार बन कर दूसरों पर हुकूमत करने लगते तो कुछ भी काम न होता। पर जब स्वयं सरदार ही सेवक बन जाता है तब तो दूसरे लोग सरदारी का दावा किस तरह कर सकते हैं?

साथियों में से कैलन बेक आपहुंचे थे। मिस स्लेशीन भी

हाजिर हो गई थीं। इस महिला की मिहनत, चिंताशीलता, और प्रामाणिकता की जितनी तारीफ की जाय थोड़ी ही है। भारतीयों में तो सिर्फ स्वर्गीय पी. के. नायडू और क्रिस्टॉफर के नाम ही इस समय याद आ रहे हैं। और भाई भी थे, जिन्होंने खूब मिहनत करके सहायता की थी।

भोजन में भात और दाल दी जाती थी। सब्जी भी खूब मिल जाती थी। पर उसे अलग पकाने के लिए एक तो बर्तन नहीं थे, दूसरे, उतना समय भी तो चाहिए। चौबीसों घंटे खाना पकता रहता। क्योंकि भूखे-प्यासे आदमी आते ही रहते थे। न्यू कॅसल में किसी के ठहरने की जरूरत ही नहीं थी। रास्ता सभी को मालूम था। इसलिए हरएक आदमी खान से निकलते ही सीधा चार्लस् टाऊन आ पहुंचता।

जब मैं मनुष्य के धीरज और सहनशीलता पर विचार करता हूं, तब मेरे सामने परमात्मा की महिमा खड़ी हो जाती है। खाना पकाने वालों में मुखिया मैं था। कभी दाल में पानी ज्यादह हो जाता, तो कभी वह गलती ही नहीं थी। कभी साग कच्ची रहती तो कभी भात बिगड़ जाता। मैंने संसार में ऐसे बहुत से लोग नहीं देखे जो हंसते हंसते ऐसा भोजन कर लेते हैं। इसके विपरीत दक्षिण आफ्रिका की जेल में मैंने यह अनुभव भी प्राप्त कर लिया है कि जरा ही थोड़ा, देर से, या कच्चा खाना मिलने पर अच्छे अच्छे शिक्षित समझे जाने वाले का भी मिजाज बिगड़ जाता था।

खाना पकाने की बनिस्पत परोसने का काम अधिक कठिन था। वह तो मेरे अधीन ही रह सकता था। कच्चे पक्के भोजन का हिसाब तो मुझ को ही देना पड़ता। कभी कभी आदमी बढ़ जाते तब

स्वभावतः सामग्री कम हो जाती। तो ऐसे मौकों पर भोजन थोड़ा थोड़ा बांट कर मुझी को लोगों को समझाना पड़ता था। कम भोजन मिलने पर बहनें मेरी ओर उलहने की नजर से देखने लगतीं, और मेरा हेतु समझते ही हंसती हुई चल देतीं। वह दृश्य मैं अपने जीवन में कभी नहीं भूल सकता। मैं कह देता "मैं तो लाचार हूं। मेरे पास पकाया हुआ अन्न तो थोड़ा है, और लेने वाले बढ़ गये। इसलिए अब मुझे इसी तरह देना चाहिए, जिससे थोड़ा थोड़ा सभी को पहुंच जाय" यह सुनते ही वे 'संतोषम्' कह कर रवाना हो जातीं।

ये तो सब हुए मधुर संस्मरण। कुछ कड़वी स्मृतियां भी थीं। आदमी जरा भी निकम्मा रहा कि झगड़े-बखेड़े, और इससे भी खराब—व्यभिचार—के उद्योग करने लग जाता है। स्त्री पुरुषों को तो एक साथ ही रखना पड़ता। समुदाय भी थोड़ा न था। व्यभिचारी को लज्जा कहां से हो? पर ऐसे उदाहरणों में मैं जल्दी जा पहुंचता और वे शरमिंदे हो जाते। फिर ऐसे लोगों को अलग भी रखता। पर उन उदाहरणों की कौन गिनती लगा सकता है जो मेरी अनजान में गुजर चुके होंगे। किन्तु इस वस्तु का अधिक वर्णन करना व्यर्थ है। मैंने तो केवल यह बतलाने के लिए इन बातों का जिक्र किया है कि वह सब काम इतना आसान नहीं था। साथ ही इससे यह जाहिर होता है कि इतना करने पर भी कोई उद्धतता पूर्वक मुझ से पेश नहीं आता था। नीति-अनीति का भेद न जानने वाले निरे जंगली जैसे लोग भी अच्छे वायुमण्डल में आते ही कितनी अच्छी तरह बरतने लग जाते हैं यह मैंने ऐसे कई मौकों पर देखा है। और यही जान लेना अधिक आवश्यक और फायदेमन्द भी है।

उन्नासवां अध्याय

ट्रान्सवाल में प्रवेश

इस समय हम १९१३ के नवम्बर महीने के ७... ... ...
कूच करने से पहले की दो घटनाओं का उल्लेख कर देना जरूरी है। न्यू कॅसल में द्राविड बहनों को जेल जाते देख कर बाई फातमा महेताब से न रहा गया। वह भी अपनी मां और सात वर्ष के बच्चे को लेकर जेल जाने के लिए निकल पड़ी। मां-बेटी तो गिरफ्तार हो गई, पर सरकार ने बच्चे को अंदर लेने से साफ इन्कार कर दिया। पुलिस ने बाई फातमा की उंगलियों की छाप लेने की खूब कोशिश की। पर वे निडर रहीं। और आखिर तक उन्होंने पुलिस को अपनी उंगलियों की छाप नहीं दी।

इस समय हड़ताल पूरे जोर में थी। पुरुषों की तरह उसमें स्त्रियां भी शामिल होती जा रही थीं। उनमें दो मातायें अपने बच्चों को साथ में लिये हुए थीं। एक बच्चे को कूच में जाडा हो गया और वह मृत्यु की गोद में जा सोया। दूसरी का बालक एक नाला पार करते हुए गोद में से पानी में गिरकर डूब गया। पर माता निराश नहीं हुई। दोनों ने अपनी कूच को उसी प्रकार शुरू रक्खा। एक ने कहा:—"हम मरे हुओं का शोक करके क्या

करेंगी? इससे वे कहीं लौट कर थोड़े ही आ सकते हैं। हमारा धर्म तो है जीवितों की सेवा करना।" उस शांत वीरता के, ऐसी असीम आस्तिकता के, और अगाध ज्ञान के कई उदाहरण मैंने उन गरीबों में देखे।

इसी दृढता पूर्वक चार्ल्स टाउन में स्त्री-पुरुष अपने कठिन धर्म का पालन कर रहे थे। पर हम चार्ल्स टाउन में कहीं शांति के लिए नहीं आये थे। जिसे शांति की जरूरत हो, भीतर से प्राप्त कर लें बाहर तो जहाँ देखिए—यदि देखना याद हो—तहाँ बड़े बड़े अक्षरों में यही लिखा हुआ नजर आता है कि "यहाँ शांति नहीं मिल सकती। पर इसी अशांति के बीच, मीराबाई जैसी भक्त अपने मुंह को विष का प्याला लगाते हुए हंसती है। इसी अशांति के बीच अपनी अंधेरी खोली में बैठकर सुकरात हाथ में हलाहल का कटोरा लेकर अपने मित्र को गूढ ज्ञान का उपदेश करता है, और कहता है जिसे शांति की आवश्यकता हो वह अपने हृदय में उसे ढूंढ ले।

उस अलौकिक शांति के बीच सत्याग्रहियों का वह मस्ताना दल पड़ाव डाल कर पड़ा हुआ था। इस बात की उसे कोई चिंता तक नहीं थी कि कल सुबह क्या होगा। मैंने तो सरकार को लिख दिया था कि हम ट्रान्सवाल में निवास करने के हेतु से प्रवेश करना नहीं चाहते। हमारा प्रवेश तो वह सक्रिय पुकार है जो हम सरकार के वचन-भंग के उत्तर में उठाना चाहते हैं। हमारा प्रवेश तो उस दुःख का शुद्ध चिन्ह है, जो हमारे आत्म-सम्मान की हानि से हमारे हृदय में हो रहा है। यदि आप हमें यहीं चार्ल्स टाउन में ही गिरफ्तार कर लेंगे तो हम निश्चिन्त हो जावेंगे। यदि ऐसा

आप न करेंगे और हममें से कोई चुपचाप शान्ति पूर्वक ट्रान्सवाल में प्रवेश कर लेंगे तो इसके लिए हम जवाब देह नहीं है। हमारे युद्ध में छिपाने योग्य कुछ नहीं। इसमें किसी का व्यक्तिगत स्वार्थ भी नहीं है। यदि कोई दब छिप कर भी प्रवेश करेगा तो हमें वह प्रिय न होगा। पर जहाँ हजारों आदमियों से काम लेना है, जहाँ प्रेम के सिवा अन्य कोई बंधन नहीं है, तहाँ हम किसी के कार्य के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकते। साथ ही आप इतना भी जान लें कि यदि तीन पौंड वाला कर आप उठालेंगे तो तमाम गिरमिटिया पुनः अपने काम पर लौट आवेंगे और हडताल समाप्त हो जायगी। भारतीयों के अन्य दुःखों को दूर करने के लिए हम उन्हें अपने सत्याग्रह में शामिल नहीं करेंगे।

इस पत्र के कारण भी स्थिति बड़ी अनिश्चित हो गई थी। इसका कोई ठिकाना न था कि सरकार हमें कब गिरफ्तार कर लेगी। पर ऐसी हालत में सरकार के उत्तर की प्रतीक्षा दिनों तक नहीं की जा सकती थी। एक या दो डांक की राह देखी जा सकती थी। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि यदि सरकार यहीं हमें गिरफ्तार न करे तो फौरन ट्रान्सवाल में प्रवेश कर दिया जाय। यदि रास्ते में भी वह हमें कहीं न पकड़े तो प्रति दिन २० से लेकर २४ मील तक की सफर समुदाय आठ दिन तक करता रहे। आठ दिन में टॉल्स्टॉय फार्म पर पहुंचने की योजना थी। यह भी बिचार लिया था कि बाद में युद्ध की समाप्ति तक वहीं पर सब रहें और काम करके अपनी आजीविका पैदा करें। मि० कैलनबेक ने सभी व्यवस्था कर रक्खी थी। इन्हीं लोगों के द्वारा वहां मिट्टी के मकान बनवा लेने का निश्चय कर लिया गया था। तब

तक छोटे छोटे डेरे लगा कर दुबले पतले आदमियों को उनमें रखने का विचार था। हट्टे कट्टे स्त्री-पुरुष तो बाहर भी पड़े रह सकते थे। कठिनाई सिर्फ यही थी कि वारिश का मौसम शुरू होने को था, इसलिए वर्षा ऋतु में तो सबको आसरा होना जरूरी ही था। पर मि० कैलनबैक को विश्वास था कि तब तक यह सब हो जायगा।

समुदाय की कूच की अन्य तैयारियां भी कर ली गई। चार्ल्स टाउन के डॉक्टर सज्जन पुरुष थे। उन्होंने ऐसी दवाओं की एक छोटीसी संदूक मुझे दे दी थी, जो रास्ते में उपयोगी हो सकती थीं। अपने कई शस्त्र भी दे दिये थे जिनसे मेरे जैसा आदमी भी काम ले सके। यह संदूक स्वयं हमीं उठा कर ले जाते थे। क्योंकि दल के साथ कोई सवारी वगैरा तो रखना ही नहीं था। इससे पाठक जान सकते हैं कि उसमें दवाइयां कितनी कम थीं। इतनी भी नहीं थी कि वे एक साथ सौ आदमियों को काम दे दें। इसका कारण तो यही था कि प्रति दिन शाम को हमें किसी न किसी छोटे गांव के नजदीक अपना पडाव डालना पड़ता था। इसलिए कोई औषधि समाप्त होते ही फौरन नयी ले ली जा सकती थी। दूसरे, हम अपने साथ में एक भी मरीज या पंगु आदमी को नहीं रखते थे। उसे तो राह में ही छोड़ते चले, जाते थे।

खाने के लिए सिवा रोटी और शक्कर के और क्या मिल सकता था! पर उस रोटी को भी तो आठ दिन तक हम कैसे रख सकते थे। मिले उसे तो प्रति दिन लोगों को बाँटना पड़ता था। इसका उपाय तो केवल यही हो सकता था कि हर मंजिल पर हमें कोई रोटियां भेज दिया करे। पर यह करे कौन? भारतीय बवर्ची

तो थे ही नहीं। फिर प्रत्येक गांव में इस तरह के डबल रोटी बनाने वाले भी नहीं होते। देहात में शहरों से रोटियां जाती हैं। यदि बवर्ची रोटी बराबर तैयार कर दिया करे और रेल वाले ठीक समय उसे पहुंचा दिया करें तभी तो यह मिल सकती थी। चार्ल्सटाउन की अपेक्षा वाकसरेस्ट (ट्रान्सवाल का सरहदी गांव, जो चार्लस टाउन से नजदीक था) एक बड़ा गांव था। वहां बेकर की एक बड़ी दूकान थी। उसने प्रसन्नता पूर्वक हमें रोटियां पहुंचाने का काम अपने जिम्मे ले लिया। हमारी कठिनाई को देखकर बाजार भाव से अधिक पैसे लेने की कोशिश भी उसने नहीं की। रोटियां भी अच्छे आटे की देता रहा। रेलवे पर वह समय पर रोटी भेज देता और रेल वाले भी—ये भी तो गोरे ही थे—प्रामाणिकता पूर्वक हमारे पास पहुंचा देते। इतना ही नहीं बल्कि इस काम में वे विशेष सतर्क भी रहते थे। उन्होंने हमारे लिए कितनी ही सुविधायें भी कर दीं। वे जानते थे कि किसी से हमारी दुश्मनी नहीं थी, और न किसी को कोई हानि पहुंचाने का हमारा उद्देश्य था। हमें तो दुःख सहकर भी अपने अन्याय की पुकार उठानी थी। इसलिए हमारे आस पास का वायुमण्डल भी इसी तरह शुद्ध हो गया और हो रहा था। मनुष्य-जाति का प्रेम भाव प्रकट हुआ। सब ने यही अनुभव किया कि हम सब इसाई, पारसी, मुसलमान हिन्दू यहूदी इत्यादि भाई भाई ही हैं।

इस तरह कूच की तैयारी होते ही मैंने फिर समझौते की कोशिश की। पत्र तार वगैरा तो भेज ही चुका था। यह तो मैं जानता था कि मेरा अपमान तो वे करें ही गे, पर मैंने यही निश्चय किया कि अपमान करें भी तो भले ही करते रहें, मुझे एकबार कम

से कम टेलीफोन से तो बात चीत कर ही लेनी चाहिए। चार्लस टाउन और प्रिटोरिया के बीच टेलिफोन था। जनरल स्मट्स को मैंने टेलीफोन किया। उनके सेक्रेटरी से कहा जनरल स्मट्स से कहिए कि "कूच करने की तमाम तैयारियां मैंने करली हैं। वॉक्स-रेस्ट के लोग उत्तेजित हो गये हैं। संभव है, वे हमारी जान को भी हानि पहुंचायें। कम से कम ऐसा करने की धमकी तो उन्होंने हमें अवश्य ही दी है। शायद यह तो जनरल स्मट्स भी नहीं चाहते होंगे। यदि वे तीन पौंड का कर उठा लेने का वचन दे सकते हों तो मैं कूच नहीं करूंगा। महज कानून का भंग करने ही पर हम तुले हुए नहीं हैं। मैं इस समय लाचार हूं। क्या इस समय वे मेरी इतनी सी बात को नहीं सुनेंगे ?" आधी मिनिट में उत्तर मिला "जनरल स्मट्स आपके साथ कोई सम्बन्ध रखना नहीं चाहते"। आपका जी चाहे सो करिए"। टेलीफोन बंद !

पर यह अकल्पित बात नहीं थी। हां मैंने इस रूखेपन की आशा जरूर नहीं की थी। क्योंकि सत्याग्रह के बाद मेरा उनका कोई छः वर्ष का राजनैतिक सम्बन्ध हो गया था। इसलिए मैं शिष्टतापूर्ण उत्तर की उमीद कर रहा था। पर उनकी शिष्टता से मैं फूल के कूप्पा तो नहीं हो जाता। उसी प्रकार न इस अशिष्टता से मैं जरा भी शिथिल हुआ। मेरे कर्तव्य की सरल रेखा मेरी आंखों के सामने स्पष्टतया दीख पड़ती थी। दूसरे दिन निश्चित समय पर हमने प्रार्थना की और परमात्मा के नाम पर कूच भी कर दी। उस वक्त मेरे साथ २०२७ पुरुष, १२७ स्त्रियां और ५७ बच्चे थे।

बीसवां अध्याय

ट्रान्सवाल में प्रवेश (चलू)

इस प्रकार वह यात्रियों का समुदाय, काफिला या संघ, जो चाहे कहिए, निश्चित समय पर चल पड़ा। चार्ल्स टाउन से एक माल की दूरी पर वाकसरेस्ट का बुगदा था। इसको पार करते ही मनुष्य वॉकसरेस्ट अथवा ट्रान्सवाल में पहुंच जाता है। इस बुगदे के उस पार घुडसवार पुलिस खड़ी थी। सब से पहले मैं उसके पास गया। लोगों को समझा दिया गया था कि जब मैं उधर से इशारा करूं तो वे फौरन बुगदे को पार कर जायं। पर अभी मैं पुलिस से बात चीत कर ही रहा रहा था कि, लोग तो आगे घुस कर बुगदे को पार कर चले आये। घुडसवार उनके सामने हो गये। पर वह समुदाय इस तरह रुकने वाला नहीं था। पुलिस हमें पकड़ना तो चाहती ही नहीं थी। मैंने लोगों को शांत किया, और उन्हें समझाया कि वे एक कतार में हो कर चले। पांच सात मिनिट में सभी शांत हो गये और अब ट्रान्सवाल में कूच करना आरम्भ किया।

वॉकसरेस के लोगों ने दो दिन पहले ही सभा की थी उसमें अनेक प्रकार का डर बताया गया था। कितनों ही ने तो यह कहा

था कि यदि भारतीय ट्रान्सवाल में प्रवेश करेंगे तो हम उन पर गोलियां चला देंगे। इस सभा में मि० कैलनबेक गोरों को समझाने के लिए गये थे। पर उनकी बात कोई सुनना ही नहीं चाहता था। कई तो उन्हें मारने के लिए उठ खड़े हो गये। मि० कैलनबेक स्वयं कसरती जवान हैं। सैंडों से उन्होंने कसरत सीखी थी। उनको यों डराना मुश्किल था। एक गोरे ने उन्हें द्वंद्व युद्ध के लिए आह्वान किया। मि० कैलनबेक ने कहा "मैंने शांति धर्म का स्वीकार किया है। इसलिए आपकी इच्छा की पूर्ति करने में मैं असमर्थ हूं। पर मुझपर जिसे प्रहार करना हो, वह सुखपूर्वक करे, मैं तो इस सभा में बोलता ही रहूंगा। आपने इसमें सभी गोरों को निमन्त्रित किया है। मैं आपको यह सुनाने के लिए आया हूं कि आपकी तरह सभी गोरे निर्दोष मनुष्यों को मारने के लिए तैयार नहीं है। एक ऐसा गोरा है, जो आपसे कह देना चाहता है कि आप भारतीयों पर जिन बातों का आरोप करते हैं, वे असत्य है। आप जो सोच रहे हैं वह भारतीय नहीं चाहते। उन्हें न तो आपके राज्य की आवश्यकता है और न वे आपके साथ लड़ना चाहते है। वे आपके मुल्क को भारतीयों से भर देना भी नहीं चाहते हैं। वे तो शुद्ध न्याय के लिए पुकार उठा रहे हैं। ट्रान्सवाल में हमेशा रहने के हेतु से वे प्रवेश नहीं कर रहे हैं, बल्कि उनपर जो अन्याय पूर्ण कर लादा गया है उसके खिलाफ सक्रिय पुकार उठाने के उद्देश से वे यह कर रहे हैं। वे बहादुर हैं, हुल्लड़बाज नहीं। वे आपके साथ लड़ेंगे नहीं, पर यदि आप उनपर गोलियां चलावेंगे तो उनको सहकर भी वे इसी तरह आगे बढ़ते जावेंगे। आपकी बंदूकों या बल्लम के डर से वे पीछे पैर नहीं हटावेंगे। वे तो

स्वयं दुःख सह कर आपके हृदय को पिघला देने वाले लोग हैं। बस यही कहने के लिए मैं यहां आया हूं। यह कह कर मैंने तो आपकी सेवा ही की है। आप सावधान हो जाइए और अन्याय से बचिए" इतना कह कर मि० कैलनबेक शांत हो गये। गोरे कुछ शरमा गये। वह द्वंद्व करने वाला कसरती जवान तो अब उनका मित्र हो गया।

पर उपर्युक्त सभा की खबर हमें मिल चुकी थी। इसलिए ऐसे मौके के लिए भी हम तैयार थे। इतनी पुलिस को बुलाकर खड़ी कर रखने से चाहे यह मतलब भी हो सकता था कि गोरों को उपद्रव करने से रोका जाय। जो हो, हमारा जुलूस तो शांति पूर्वक जा रहा था। मुझे तो याद है कि किसी गोरे ने ज़रासी खुरापात तक नहीं की। सभी इस नवीन आश्चर्य को देखने के लिए बाहर निकल पड़े थे। उनमें से कितनों ही की आँखों में मित्रता झलकती थी।

हमारा पहले दिन का मुकाम ऐसे एक स्टेशन पर था जो वहां से आठ मील के फासले पर था। शाम के छः-सात बजे हम वहां पहुंच गये। रोटी और शक्कर खा कर सभी लोग खुली हवा में लेटे हुए थे। कोई भजन गा रहा था; तो कोई बातचीत कर रहा था। राह में कितनी ही स्त्रियां थक गई थीं। अपने बच्चों को गोद में ले कर चलने की हिम्मत तो उन्होंने की थी, पर अब आगे चलना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। इसलिए अपनी चेतावनी के अनुसार मैंने उन्हें एक भारतीय सज्जन की दूकान पर छोड़ दिया, और उन्हें कह दिया कि यदि हम टॉल्स्टॉय फार्म पर पहुंच जाँय तो वे उन्हें वहां भेज दें और गिरफ्तार हो जायं, तो उनके अपने घर पर वापिस भेज दें। उन भारतीय व्यापारी सज्जन ने इस प्रार्थना को मान लिया।

जैसे जैसे रात होती गई वैसे वैसे शान्ति बढ़ती गई। मैं भी सोने की तैयारी कर रहा था कि इतने में कहीं से खड़वड़ाहट सुनाई दी। लालटेन हाथ में लिये हुए गोरों को आते हुए मैंने देखा। मैं चेता। मुझे कोई तैयारी तो करना ही नहीं थी। पुलिस अधिकारी ने कहा:—

"मेरे पास आपके नाम का वारण्ट है। आपको मुझे कैद करना है।"

मैंने पूछा—"कब?"

उत्तर मिला—"अभी।"

"मुझे कहां ले जाइएगा"?

"अभी तो इस नजदीक वाले स्टेशन पर, और गाड़ी मिलते ही वॉकसरेस्ट।"

मैंने कहा "तब तो मैं किसी को बिना जगाये ही आपके साथ हो लेता हूं" पर मेरे साथी को कुछ समझा बूझा दूँ??

"शौक से।"

पास ही सोये हुए पी० के० नायडू को मैंने जगाया। उन्हें मेरी गिरफ्तारी की बात कही, और समझा दिया कि वे लोगों को सुबह होने से पहले न जगावें। प्रातःकाल होते ही नियमानुसार सूर्योदय के पहले कूच कर दें। जहां विश्रान्ति लेने और रोटी बांटने का समय हो वहीं वे मेरी गिरफ्तारी की खबर उन्हें सुना दें, दरमियान जो जो पूछें उनसे कहते जावें। यदि सरकार दल को गिरफ्तार करना चाहे तो वह गिरफ्तार हो जावे। यदि नहीं पकड़े तो नियमित रूप से कूच करता हुआ चला जाय। नायडू को किसी प्रकार

का भय तो था नहीं, उन्हें यह भी समझा दिया था कि यदि वे स्वयं गिरफ्तार हो जावें तो उन्हें क्या करना चाहिए।

वॉक्सरेस्ट में मि० कैलनबेक भी तो थे।

मैं पुलिस के साथ साथ हो लिया। प्रातःकाल हुआ। वॉक्सरेस्ट की ट्रेन में बैठे। वॉक्सरेस्ट में मामला चला। मामला मुल्तवी रखने की माँग पब्लिक प्रॉसिक्यूटर ने ही पेश की, क्योंकि उनके पास कोई सबूत ही तैयार नहीं था। मामला मुलतवी रहा। मैंने जामीन पर छूटने के लिए दरख्वास्त पेश की। कारण यह लिखा "मेरे साथ २००० पुरुषों और १२२ औरतें और बच्चों का दल है। मामले की अगली तारीख तक मैं उनको निश्चित-स्थान पर पहुँचा कर फिर हाजिर हो सकता हूँ" वगैरा। सरकारी वकील ने जामीन का विरोध किया। पर मॅजिस्ट्रेट बेचारे लाचार थे। मुझ पर जो आरोप रक्खा गया था, वह तो ऐसा नहीं था जिसमें जामीन पर छोड़ना भी मजिस्ट्रेट की इच्छा पर। छोड़ा गया हो। इसलिए ५० पौंड का मुचलका ले कर मुझे छोड़ दिया गया। मि० कैलनबेक ने मेरे लिए मोटर तो तैयार ही रक्खी थी। उसमें सवार होते ही फौरन उन्होंनें मुझे अपनें लोगों में ला कर छोड़ दिया। ट्रान्सवाल के समाचार-पत्र का एक प्रतिनिधि भी हमारे साथ साथ आना चाहता था उसे भी बैठा लिया। इस मोटर की सफ़र का, मामले का, और लोगों के साथ पुनःसम्मीलन का सुन्दर वर्णन उसने प्रकाशित किया था। लोगों ने मेरा बड़ा स्वागत किया। उनका उत्साह खूब बढ़ गया। मि० कैलनबेक वैसे ही वॉक्सरेस्ट लौट गये। चार्ल्स टाउन में पिछड़े हुए लोगों को तथा नवीन था आने वालों को संभालने का काम उनके जिम्मे।

हम पुनः आगे बढ़े। पर मुझे छोड़कर सरकार कैसे चैन पा सकती थी ? इसलिये दूसरे दिन फिर दूसरी बार उसने स्टैंण्डरटन में मुझे पकड़ा। वैसे तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह गाँव जरा बड़ा है। बड़ी बिचित्र रीति से मुझे यहाँ पकड़ा गया। मैं लोगों को रोटी बाँट रहा था। यहाँ के दूकान-दारों ने हमें मुरब्बे के डिब्बे भेंट में दिये थे। इसलिए उसके बाँटने के काम में ज्यादह समय लग रहा था। मॅजिस्ट्रेट मेरे पास आ कर खड़ा हो गया। बाँटने का काम पूरा होते ही उसने मुझे एक तरफ बुलाया। मैं उसे जानता था, इसलिए सोचा कि शायद वह कोई बात कहना चाहता होगा। किन्तु उसने तो हँस कर मुझ से कहा—

"आप मेरे कैदी हैं"।

मैंने कहा "तब तो मेरा दरजा बढ़ गया। पुलिस के बदले अब स्वयं मजिस्ट्रेट को गिरफ्तार करने के लिए आना पड़ा। पर मुझ पर मामला तो अभी चलाइएगा न ?"

उसने कहा "मेरे साथ ही चले चलिए। अदालत चल रहा है" लोगों से मुसाफरी शुरू रखने का कह कर मैं रवाना हुआ। कोर्ट में पहुँचा तो वहाँ मैंने अपने साथियों को भी गिरफ्तार पाया। पी० के० नायडू, बिहारीलाल महाराज, रामनारायणसिंह, रघुनारसु और रहीमखाँ ऐसे पाँच आदमी थे।

फौरन मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मैंने अपने छूटने के लिए उन्हीं कारणों को पेश किया जो वॉकसरेस्ट में पेश किये थे। यहाँ भी सरकारी वकील ने विरोध किया। और यहाँ भी मॅजिस्ट्रेट ने छोड़ना मंजूर किया। व्यापारी लोगों ने मेरे लिए इक्का तैयार ही रक्खा था। हमारा दल तीन मील भी नहीं जा पाया था

कि फिर मैं उनमें जा मिला। इस बार तो उन्होंने और मैंने भी सोचा था कि अब तो फिर टॉल्स्टॉय फार्म पर ही पुनः भेट होगी। पर यह धारणा गलत साबित हुई। लोग मेरी गिरफ्तारी के आदी हो गये। और यह बात बड़ी महत्वपूर्ण थी। मेरे साथी तो जेल में ही रहे।

इक्कीसवां अध्याय

सभी कैद

अब हम जोहान्सबर्ग के काफी नजदीक आ गये थे। पाठकों को स्मरण रहे कि पूरा मार्ग सात दिन में तय करने का निश्चय किया था। अब तक हम अपने निश्चयानुसार प्रतिदिन मार्ग तय करते हुए आ रहे थे। अब पूरी चार मंजिलें और रह गई थीं। किन्तु ज्यों ज्यों हमारा उत्साह बढ़ता जाता था त्यों त्यों सरकार की जाग्रति भी तो बढ़नी ही चाहिए न ? हमें अपनी मंजिल तय करने पर वह यदि पकड़ती तो उससे उसकी कमजोरी और अरसिकता न जाहिर होती ? इसलिए उसने शायद सोचा कि यदि पकड़ना ही है तो मंजिल तय करने से पहले ही क्यों न पकड़ लिया जाय !

सरकार ने देखा कि मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोग न तो निराश हुए, न डरे, और न कोई उपद्रव ही उन्होंने मचाया। यदि वे उपद्रव कर बैठते तो सरकार को अपनी तोपों और बन्दूकों का उपयोग करने का अवसर मिल जाता। जनरल स्मट्स के लिए हमारी शांति और उसके साथ साथ दृढ़ता एक बड़ी दुःखदायी बात हो गई। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला। "शांत मनुष्य

को कोई कहाँ तक सता सकता है" ? मरे को मारने से क्या लाभ ? जो मरने पर तुला हुआ है, उसे मारने में कोई आनन्द नहीं आता। इसीलिए शत्रु को जिन्दा पकड़ना बहादुरी समझी जाती है। अगर चूहा बिल्ली को देख कर भागना छोड़ दे तो अवश्य ही उसे कोई दूसरी शिकार ढूंढ़ना पड़े। सभी भेड़ें सिंह की गुफा में जा कर बैठ जायँ तो सिंह को भेड़ें खाना ही छोड़ देना पड़े। अगर सिंह सामना नहीं करे तो क्या पुरुष-सिंह सिंह का शिकार करेंगे ?

हमारी शांति और हमारे निश्चय में ही हमारी जीत छिपी हुई थी।

गोखले की इच्छा थी कि पोलक भारतवर्ष जाकर उनकी कुछ सहायता करें। मि० पोलक का स्वभाव ही ऐसा है कि वे जहाँ कहीं रहें मनुष्य के लिए उपयोगी हो जाते है। जिस काम को वे उठाते हैं उसीमें तन्मय हो जाते हैं। इसलिए उनको भारतवर्ष भेजने की तैयारियाँ चल रही थीं। मैंने तो लिख दिया था कि वे चले जावें। पर बिना मुझे मिले, सभी सूचनायें प्रत्यक्ष मेरे मुँह से सुने बिना ही वे जाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस सफर में ही मुझ से मिल लेने की इजाजत मांगी। मैंने उन्हें तार से उत्तर दिया कि 'गिरफ्तार हो जाने की जोखिम उठाना चाहें तो चले आवें"। सिपाही सभी आवश्यक जोखिमों का स्वागत कर लेते हैं। यह युद्ध तो ऐसा था कि सरकार यदि सब को पकड़ना चाहती तो सभी को गिरफ्तार हो जाना चाहिए था। जब तक सरकार गिरफ्तार नहीं करती है; तब तक गिरफ्तार होने के लिए सरल और नीतियुक्त कोशिशें करते जाना धर्म्म था।

इसलिए मि० पोलक अपनी गिरफ्तारी की जोखिम उठा कर भी आ पहुँचे।

हम लोग हेडलबर्ग के करीब पहुँच चुके थे। नजदीक वाले स्टेशन से उतर कर वे हमें वहीं मिले। हमारी बात-चीत हो रही थी। अभी वह पूरी भी नहीं हो पाई थी। दोपहर के तीन बजे होंगे। हम दोनों दल के मुंहाने पर थे। दूसरे साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शाम को मि० पोलक को डरबन जाने वाली ट्रेन पकडना थी। किन्तु रामचन्द्रजी जैसे महापुरुष तक को राजतिलक के समय वनवास मिला। फिर पोलक कौन होते थे? हमारी बात-चीत हो ही रही थी कि एक घोड़ा गाड़ी सामने आ कर ठहर गई। उसमें एशियाई विभाग के उच्च अधिकारी मि० चमनी और एक पुलिस अधिकारी भी थे। दोनों नीचे उतरे। मुझे ज़रा दूर ले जा कर कहा "मैं आपको गिरफ्तार करता हूँ। इस तरह चार दिन में मैं तीन बार पकड़ा गया। मैंने पूछा इस दल को?"

"यह सब होता रहेगा"।

मैं कुछ न बोला, केवल अपने गिरफ्तार होने की खबर देने का समय ही मुझे दिया गया। मैंने पोलक से कह दिया कि वे दल के साथ जावें। लोगों से शांति रखने के लिए कहना शुरू किया कि वह अधिकारी बोला—

"अब आप कैदी हैं। भाषण नहीं दे सकते।"

मैं अपनी मर्यादा को समझ गया। समझने की जरूरत तो नहीं थी, क्योंकि मुझे बोलते हुए रोकते ही उस अधिकारी ने तो गाड़ी हांकने वाले को गाड़ी तेज चलाने के लिए हुक्म दे दिया था। एक क्षण में दल आंखों से ओझल हो गया।

अधिकारी जानता था कि उस समय एक घड़ी भर के लिए तो मेरा ही राज्य था। क्योंकि हम पर विश्वास रखकर ही तो वह इस निर्जन प्रदेश में दो हज़ार आदमी के समुदाय के सामने आया हुआ था। वह जानता था कि यदि मुझे एक चिट्ठी भेजकर भी कैद की खबर सुनाता तो मैं बराबर हाज़िर हो जाता। इस हालत में उसका मुझे यह याद दिलाना कि मैं कैदी हूं, अनावश्यक ही था। मैं लोगों से जो कुछ कहता वह बात सत्ता धारियों के भी काम की ही थी। पर उन्हें भी तो अपना रूप दिखाना चाहिए न? इसके साथ ही मुझे यह भी कह देना जरूरी है कि कितने ही अधिकारी इस बात को जानते थे कि कैद इनके लिए कोई दुखदायी वस्तु नहीं, बल्कि मुक्ति का द्वार है। इसलिए वे सब प्रकार की रिआयतें हमारे साथ करते। इतना ही नहीं, बल्कि कैद करना अपनी सुविधा से काम करना, तथा समय बचाना इत्यादि बातों में वेहमारी सहायता मांगते और उसके मिल जाने पर अपनी एहसानमन्दी तक प्रकट करते। दोनों प्रकार के उदाहरण पाठकों को इन प्रकरणों में मिल जावेंगे। मुझे तो यहां वहां घुमा कर आखिर हेडलबर्ग के थाने में उतार दिया। रात वहीं कटी।

दल को ले कर पोलक आगे बढ़े, और हेडलबर्ग पहुंचे। वहां भारतीय व्यापारियों का अच्छा जमघट था। रास्ते में सेठ आमद महमद काछलिया और आमद भायात मिले। उन्हें इसकी खबर लग गई थी कि आगे क्या होने वाला है। दल को भी मेरे ही साथ साथ गिरफ्तार करने की व्यवस्था की गई थी। इसलिए पोलक चाहते थे कि एक दिन देर से सही, पर दल को मुकाम पर

पहुंच जाने के बाद डरबन जा कर भारत के जहाज पर चढ़ूंगा। पर परमात्मा की योजना तो कुछ और ही थी।

इन लोगों को गिरफ्तार करके ले जाने के लिए हेडलबर्ग में दो ट्रेनें खड़ी थीं। लोग जरा हठ पर चढ़ गये। "गांधी को बुलाओ वे कहेंगे तब हम गिरफ्तार होंगे, और ट्रेन में बैठेंगे।" यह हठ तो खराब ही था। अगर वे इसे न छोड़ते तो बाजी बिगड़ने को थी। सत्याग्रही का तेज घट जाता। जेल तो जाना ही था, फिर उसमें गांधी की जरूरत क्यों आन पड़ी? सिपाही भी भला कहीं अफसरों का चुनाव करता है, अथवा कभी यह हठ पकड़ता है कि हम तो सिर्फ एक ही आदमी का हुक्म मानेंगे? मि० चमनी ने मि० पोलक और कांछलिया की सहायता से बड़ी मुश्किल से उन लोगों को समझाया। इन दोनों ने कहा "यात्रा का उद्देश तो आखिर जेल जाना ही था। जब स्वयं सरदार ही गिरफ्तार होने के लिए तैयार हो, तब तो जनता को उसकी अनुपस्थिति से घबड़ाना नहीं, बल्कि उसका स्वागत करना चाहिए। इसीमें हमारी भलाई और युद्ध की जीत है। गांधी की भी दूसरी इच्छा हो ही नहीं सकती। यही सबको ख्याल करना चाहिए"। बात लोगों के ख्याल में जम गई और वे ट्रेन में बैठे।

इधर मुझे कोर्ट में खड़ा किया गया। मुझे उस समय उपर्युक्त घटनाओं की कोई खबर नहीं थी। मैंने कोर्ट से फिर छूटने के लिए दरख्वास्त की; उन्हें यह भी कहा कि दो कोर्टों ने मुझे इस तरह पहले छोड़ दिया था, और प्रार्थना की कि या तो सरकार उन लोगों को भी गिरफ्तार करे या उन्हें मुकाम पर पहुंचा देने के लिए मुझे इजाजत और छुट्टी दे। कोर्ट ने मेरी दरख्वास्त को तो

नामंजूर किया, पर मेरी मनशा सरका से फौरन जाहिर कर देने का वचन दिया। इस बार ये लोग मुझे डंडी ले जाने वाले थे। क्योंकि मामला वहीं चलने वाला था। अतः उसी दिन ट्रेन में बैठा कर मुझे डंडी लिवा ले गये।

इधर मि० पोलक को हेडलबर्ग में तो गिरफ्तार नहीं किया। इतना ही नहीं, बल्कि उनकी सहायता के लिए उनके प्रति एहसान मन्दी तक जाहिर की गई। मि० चमनी ने तो यहां तक कहा था कि सरकार उन्हें पकडना ही नहीं चाहती। पर यह तो मि० चमनी का, और जहां तक उन्हें मालूम था, सरकार का विचार था। किन्तु सरकार के विचार तो घड़ी घड़ी पर बदलते रहते थे। आखिर सरकार इसी नतीजे पर पहुंची कि मि० पोलक को भारतवर्ष नहीं जाने देना चाहिए। अतः उसने निश्चय किया कि उन्हें और मि० कैलनबेक को भी, जो कि इस समय खूब काम कर रहे थे, गिरफ्तार कर लेना चाहिए। इसलिए मि० पोलक को चार्ल्सटाउन में गिरफ्तार कर लिया। मि० कैलनबेक भी पकड़ लिये गये। दोनों वाकसरेस्ट की जेल में ठूंस दिये गये।

मुझ पर डंडी में मामला चलाया गया। नौ महीने की कैद की सज़ा मुझे सुनाई गई। अभी वाकसरेस्ट में मुझ पर मामला चलना बाकी था। अतः मुझे वाकसरेस्ट ले गये। वहां मैंने मि० पोलक और मि० कैलनबेक को भी देखा। इस तरह हम तीनों वाकसरेस्ट की जेल में एकत्र हो गये। हमें असीम हर्ष हुआ। मुझ पर जो मामला चलाया गया उसमें अपने खिलाफ मुझको सबूत देना था। पुलिस भी सबूत इकट्ठा कर सकती थी, पर बड़ी कठिनाई से। इसलिए उन्होंने मेरी ही सहायता ली। उस देश की अदालतों में अपने

गुन्हे को कबूल कर लेने के बाद कैदी को सजा नहीं दी जाती।

मेरे खिलाफ तो ठीक, पर मि० कैलनबेक और मि० पोलक के खिलाफ कौन सबूत पेश कर सकता था। यदि सबूत न मिलता तो उन्हें सजा देना अदालत के लिए असम्भव था। उनके खिलाफ शीघ्र सबूत इकट्ठा करना भी कोई आसान काम नहीं था। मि० कैलनबेक तो अपना अपराध स्वीकार ही करने वाले थे। क्योंकि उन्हें समुदाय के साथ ही रहना था। पर मि० पोलक तो भारतवर्ष जाना चाहते थे। उन्हें इस वार जेल जाने की वैसी कोई उत्सुकता नहीं थी। अतः हम तीनों ने आखिर यही तय किया कि जब मि० पोलक को पूछा जाय कि तुमने फलाँ फलाँ अपराध किया है या नहीं, तब वे उसके उत्तर में न तो हाँ, कहें और न ना ही कहें।

इन दोनों के विपक्ष में साक्षी बन कर मैं खड़ा हुआ। हमें मामले को लम्बाना तो था ही नहीं। इसलिए हमने इस बात के लिए अदालत की पूरी सहायता की कि तीनों के मामले एक ही दिन में समाप्त हो जायँ। आखिर ऐसा ही हुआ। तीन तीन महिने की कैद हम तीनों को हुई। अब हमें यह मालूम हुआ कि कम से कम तीन महिने तो तीनों एक ही जगह रहेंगे। पर सरकार यह कैसे बरदाश्त कर सकती थी?

तथापि कुछ दिन तो वाक्सरेस्ट की जेल में हमने सुख पूर्वक बिताये। यहाँ हमेशा नये कैदी आते रहते थे, इसलिए नित्य नई खबरें भी मिलती रहती थीं। इन सत्याग्रही कैदियों में हरबतसिंह नाम का एक बूढ़ा था। उसकी अवस्था ७५ वर्ष से भी अधिक होगी। वह कहीं खानों में नौकरी नहीं करता था। उसने

तो बरसों पहले अपना गिरमिट पूरा कर दिया था। इसलिए वह हडतालिया नहीं था। मेरे गिरफ्तार हो जाने पर लोगों में जोश खूब बढ़ गया था। और वे नाताल से ट्रान्सवाल में प्रवेश कर अपने को गिरफ्तार करा दिया करते थे। हरबतसिंह ने भी इनके साथ साथ ट्रान्सवाल जाने का निश्चय किया।

एक दिन हरबतसिंह से मैंने पूछा "आप क्यों जेल में आये? आप जैसे बूढ़ों को मैंने जेल में आने का निमन्त्रण नहीं दिया है"

हरबतसिंह ने उत्तर दिया "मैं कैसे रह सकता था, जब आप आपकी धर्मपत्नी, और आपके लड़के तक हम लोगों के लिए जेल चले गये?

लेकिन आप जेल के दुःखों को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे। आप जेल छोड़ कर चले जावें। क्या मैं आपके छूटने के लिए कोशिश करूँ?

मैं जेल हरगिज नहीं छोड़ूँगा। मुझे एक दिन मरना तो हई है। फिर ऐसा दिन कहाँ, जो मेरी मौत यहीं हो जाय!"

इस दृढ़ता को मैं कैसे बिचलित कर सकता था? वह तो इतनी बिकट थी कि बिचलित करने पर भी डिग नहीं सकती थी। हरबतसिंह की जो भावना थी, ठीक वही हुआ। उसने जेल ही में अपने को मृत्यु के हाथों में सौंप दिया। उसका शव वॉक्सरेस्ट से डरबन मंगवाया गया था। सम्मान पूर्वक सैकड़ों भारतीयों की उपस्थिति में हरबतसिंह का अग्नि-संस्कार किया गया। पर इस युद्ध में ऐसा एक नहीं अनेकों हरबतसिंह थे। हाँ, जेल में मरने का सौभाग्य जरूर अकेले हरबतसिंह को ही प्राप्त हुआ। और

इसीलिए दक्षिण आफ्रिका के सत्याग्रह के इतिहास में उसका नाम उल्लेखनीय भी हो गया।

पर इस तरह जेल से आकृष्ट होकर मनुष्यों का आना सरकार को कदापि प्रिय नहीं हो सकता था। फिर जेल से छूटने वाले भी तो मेरा सन्देश लेकर जाते थे। इसको वह कैसे बरदाश्त कर सकती थी? इसलिए उसने हम तीनों को अलग अलग रखने का निश्चय किया। जो हो, वॉक्सरेस्ट में तो एक को भी न रहने दिया जाय। हाँ, और खास कर मुझे तो उसने ऐसी जगह पर रखने का निश्चय किया जहाँ एक भी भारतीय नहीं पहुँच पावे। आखिर ऑरेंजिया की राजधानी ब्लूम फनटीन की जेल मेरे लिए चुनी गई। आरेंजिया के देश भर में सब मिल कर ५० से अधिक भारतीय नहीं होंगे। और वे सभी होटलों में नौकर। ऐसे प्रदेश की जेल में भारतीय क़ैदी मिल नहीं सकता था। जेल भर में भारतीय के नाम से अकेला मैं ही था।। शेष सब गोरे या हबसी थे। इसका मुझे कोई दुःख नहीं था। इसे तो मैंने सुख माना। वहाँ न तो मेरे लिए कुछ देखने को था और न सुनने के लिए। यह भी एक प्रसन्नता की बात थी कि यहाँ मुझे खूब नवीन अनुभव मिला। फ़िर अध्ययन के लिए तो मुझे बरसों से, अर्थात् १८९३ के बाद से अवसर ही नहीं मिला था। इसलिए यह सोच कर मुझे हर्ष ही हुआ कि अब मुझे अध्ययन के लिए पूरा एक साल मिल जायगा।

मैं ब्लूमफनटीन पहुँचा। एकान्त तो खूब मिला। असुविधायें भी बहुत सी थीं। पर वे असाधारण नहीं थीं, सब सहने योग्य थीं।

उनका वर्णन करके पाठकों का समय नहीं लूंगा। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि वहाँ के डॉक्टर मेरे मित्र बन गये। जेलर तो केवल अपने अधिकार का ही ख्याल रखता था। और डॉक्टर कैदियों के अधिकारों की रक्षा करता था। इन दिनों मैं केवल फलाहार करता था। न दूध लेता था न घीं। अनाज तो बन्द ही था। मैं केले, टामाटा, कच्ची मुंफली, नीम्बू, और जेतून का तेल मात्र खाता था। इनमें से एक भी वस्तु यदि सडी मिलती तो भूखों मरना पड़ता। इसलिए डॉक्टर साहब विशेष सावधान रहते। उन्होंने मेरे भोजन में, अखरोट, बादाम और ब्रॉफ्रिलनट भी शामिल कर दिया। वे स्वयं सब फलों को जांच लिया करते थे। मेरा कमरा बड़ा तँग था। हवा बहुत कम मिलती थी। डॉक्टर ने खूब कोशिश की कि उसका दरवाजा खुला रक्खा रहे। पर उसकी एक भी न चली। जेलर ने तो कहा कि यदि कहीं दरवाजा खुला हुआ देखलूंगा तो मैं अपना इस्तीफा ही पेश कर दूंगा। वैसे जेलर कोई खराब आदमी नहीं था, पर उसका स्वभाव तो मानों एक सांचे का ढला हुआ था। भला वह उसे कैसे बदल सकता था? उसे हमेशा तो बदमाश कैदियों से काम पड़ता रहता। इसलिए उसे डर था कि यदि वह मेरे जैसे एक भले आदमी को देखकर अपने बर्ताव में कोई फर्क कर दे तो दूसरे कैदी उसके नाकों दम कर डालते। मैं जेलर की कठिनाई को ठीक तौर से समझ गया था और जब जब कभी डॉक्टर और जेलर के बीच मेरे प्रति बर्ताव के विषय में झगड़ा होता। तब मेरी सहानुभूति बराबर जेलर ही के पक्ष में रहती। जेलर अनुभवी आदमी था, एक मार्गी था। पर अपने कर्त्तव्य को भली भांति जानता था।

मि० कैलनदेक को प्रिटोरिया की जेल में भेजा गया। और मि० पोलक को जमिस्टन की जेल में।

पर सरकार की ये तमाम व्यवस्थायें निरर्थक थीं। अब तो आकाश ही फटने लगा उसे आदमी कहाँ कहाँ पैबन्द लगा सकता था? नाताल के भारतीय गिरमिटिया पूरी तरह जाग उठे थे। अब उन्हें कोई सत्ता रोक नहीं सकती थी।

बाईसवां अध्याय

कसौटी

सोने की परीक्षा करनेवाला हमेशा उसे कसौटी पर घीसता है। इससे अधिक परीक्षा करना होती है तो वह उसे भट्टी में डालता है। उसे पीटता है, यदि कहीं अशुद्धि होती है तो उसे निकाल डालता है फिर उसका कुन्दन बनाता है। बस इसी प्रकार भारतीयों की भी परीक्षा हुई, वे पीटे गये भट्टी में तपाये गये, और जब वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए तब जाकर उनकी कहीं सच्ची कीमत हुई।

यात्रियों को ट्रेन में बैठा कर कहीं उनकी पूजा करने के लिए नहीं, बल्कि ऐरण पर पीटने के लिए ले चले। उनके खाने का कोई इन्तजाम नहीं था। नाताल में पहुंचते ही फौरन उनपर मामला चलाया गया और सबको जेल भेज दिया गया। पर यह तो हमने पहले ही सोच रक्खा था। बल्कि हमतो यह चाहते भी थे। पर इस तरह हजारों को जेल में रखने से तो भारतीयों की बन आती। उनका क्या बिगड़ता ? सरकार का खर्च बढ़ता, और साथ ही वे कोयले की खानें भी बन्द पड़ी रहतीं। यही स्थिति अधिक समय तक टिकी रहती तो सरकार को मजबूरन कर उठाना पड़ता। इस-

लिए युनियन सरकार ने एक नवीन युक्ति ढूंढी। उसने एक ऐसी धारा बनाई कि जिसके अनुसार जहां जहां से सत्याग्रही गिरमिटिया भाग आये थे, उसी स्थान को जेल बनाया गया। और उन खानों के नौकरों को बना दिया गया जेल के दारोगा। इस तरह जिस बात का मजदूरों ने त्याग किया था वही बात सरकार ने बलात्कार पूर्वक उनसे करवाई और इसतरह खानें शुरू करदी गई। गुलामी और नौकरी में फर्क सिर्फ इतना ही है कि यदि नौकर नौकरी छोड़कर चला जाता है तो उसपर दीवानी अदालत में दावा पेश कियां जा सकता है। किन्तु यदि गुलाम नौकरी छोड़ कर चला जाता है तो उसे जबरदस्ती से पुनः काम पर लगाया जा सकता है। अर्थात् अब वे मज्दूर पूरे गुलाम हो गये।

पर यही काफी नहीं था। मजदूर तो बहादुर थे। उन्होंने खानों में काम करने से साफ इन्कार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि कोड़ों की मार सहनी पड़ी। जो उद्धत आदमी क्षणभर में इस धारा के अनुसार अधिकारी बना दिये गये थे। उनकी बन आई। वे लगे इन मजदूरों को लातों से मारने और गालियों की बौछार करने। और भी अनेक प्रकार के अत्याचार वे करने लगे। पर इन गरीब मजदूरों ने वह सब शांति के साथ सह लिया। इन अत्याचारों के तार भारतवर्ष पहुंचे। तार से सभी खबरें गोखलेजी को भेजी जाती थीं। एक दिन भी पूरा ब्यौरेवार तार न मिलता तो वे डाँट कर पूछते। वे अपने बिस्तर पर पड़े पड़े ही इन तारों का प्रचार किया करते थे। क्योंकि उन दिनों वे बहुत बीमार थे। किन्तु दक्षिण आफ्रिका के काम को स्वयं देखने का आग्रह उन्होंने नहीं छोड़ा। और इसमें न उन्होंने रात की परवा की न

दिन की। फल यह हुआ कि देश भर में वह आग फैल गई। उन दिनों भारतवर्ष में दक्षिण आफ्रिका का सवाल एक मुख्य सवाल बन गया।

इसी समय लार्ड हार्डिंज ने अपना वह विख्यात भाषण दिया था जिसके कारण दक्षिण आफ्रिका और इंग्लैण्ड में भी जहां तहां खलबली मच गई। वाइसराय दूसरे संस्थानों की टीका नहीं कर सकते थे। पर लोर्ड हार्डिज ने तो सख्त टीका कर डाली। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने तो सत्याग्रहियों का पूरा बचाव भी किया। यहां तक कि उनके सविनय-भंग का भी समर्थन कर डाला। उनके इस साहस पर इंग्लैण्ड के अखबारों में जरूर कुछ सख्त टीका-टिप्पणी की गई। तथापि लोर्ड हार्डिंज ने अपने कार्य पर पश्चात्ताप नहीं जाहिर किया, बल्कि दृढ़ता के साथ उसका औचित्य बताया। इसका फल भी बड़ा सुंदर हुआ।

इन गिरफ्तार, दुःखी किन्तु बहादुर मजदूरों को छोड़कर हम क्षणभर के लिए जरा खानों के बाहर नज़र दौड़ा लें।

खानें नाताल के उत्तर विभाग में थीं। पर मजदूर तो सब से बड़ी संख्या में नैऋत्य और वायव्य कोन में रहते थे। वायव्य कोन में फिनिक्स, वेरूलम्, टोंगाट इत्यादि थे। नैऋत्य में इसीविंगो, अमझींटो इत्यादि थे। वायव्य के मजदूरों के साथ मेरा काफी परिचय हो गया था। उनमें से कई मेरे साथ बोअर युद्ध में काम कर चुके थे। इतना काम मुझे नैऋत्य कोन के मजदूरों से नहीं पड़ा था। उसी प्रकार इस दिशा में मेरे साथी भी बहुत कम थे। तथापि जेल और हड़ताल की बात बिजली की तरह चारों दिशाओं में फैल गई। दोनों तरफ से अचानक हजारों

मजदूर निकल पड़े। कितनों ही ने इस ख्याल से कि लड़ाई बहुत दिन तक चलेगी और शायद कोई खाने को नहीं देगा, अपना असबाब तक बेच डाला था। जेल जाते समय मैं तो अपने साथियों से कह गया था कि "अब अधिक हड़तालें न होने पावें"। मुझे विश्वास था कि अब अधिक बलिदान की जरूरत नहीं होगी। खानों के मजदूरों की सहायता से ही लड़ाई समाप्त कर देंगे। यदि सभी अर्थात् ६०,००० मजदूर हड़ताल कर देते तो उनका पोषण करते करते मुश्किल हो जाती। इन सब की कूच कराने इतनी सामग्री भी हमारे पास नहीं थी। न इतने मुखिया थे और न उतना पैसा। फिर इतने आदमियों के इकट्ठे होने पर उपद्रव न होने देना भी तो महा कठिन काम था न ?

किन्तु भला बाढ़ भी किसी से रुक सकती है ! सब जगह से अपने आप मजदूर निकल पड़े, स्वयं सेवक भी अपने आप चुन लिये गये, और काम शुरू कर दिया गया।

अब सरकार ने बन्दूक-नीति का आश्रय लिया। लोगों को हड़ताल करने से जबरस्ती रोका गया। उन पर घोड़े दौड़ा कर उन्हें वापिस भेजा गया। जरा भी लोग कहीं उपद्रव मचाते तो उन पर गोलियाँ चल जातीं। पर लोगों ने लौट जाने से इनकार कर दिया। किसी किसी ने पत्थर भी फेंके, फैर किये गये। कई घायल हो गये। दो चार मरे। पर लोगों का उत्साह नहीं घटा। स्वयंसेवकों ने यहां के लोगों को हड़ताल करते करते रोका। सब तो काम पर नहीं गये। कितने ही मारे डर के कहीं छिप गये, और फिर लौट कर भी नहीं गये।

एक प्रसंग उल्लेखनीय है। वेरूलम में कई मजदूर निकल पड़े

थे। वे किसी प्रकार लौट कर नहीं जाना चाहते थे। जनरल ल्यूकिन अपने सिपाहियों को लेकर वहाँ खड़ा था। लोगों पर गोली चलाने का हुक्म वह देने को ही था, कि स्वर्गीय पारसी रुस्तमजी का छोटा लड़का बहादुर सोराबजी—जिसकी उम्र उस समय शायद ही अठारह वर्ष की होगी—डरबन से यहाँ आ पहुँचा। जनरल के घोड़े की लगाम थाम कर उसने कहा "आप गोलियाँ चलाने का हुक्म न दें, मैं अपने लोगों को शांतिपूर्वक अपने अपने काम पर लौटा देने की जिम्मेदारी लेता हूँ।" जनरल ल्यूकिन इस नौजवान की बहादुरी पर मुग्ध हो गया। और उसने सोराबजी को अपना प्रेम-बल आजमा लेने की मुहलत दे दी। सोराबजी ने लोगों को समझाया। वे समझ गये, और अपने अपने काम पर चले गये। इस तरह एक नौजवान के प्रसंगावधान, निर्भयता और प्रेम के कारण खून की नदी बहते बहते रुक गई।

पाठकों को यह जानना चाहिए कि यह गोलियाँ चलाना आदि काम गैर कानूनन ही था। खान के मजदूरों के साथ सरकार ने जो व्यवहार किया था, वह देखने में तो कानूनन था। उन लोगों को हड़ताल करने के अपराध में नहीं बल्कि ट्रान्सवाल की सरहद लांघने के अपराध में गिरफ्तार किया गया था। नैऋत्य और वायव्य में हड़ताल करना ही एक अपराध समझा गया, सो भी कानून के आधार पर नहीं, बल्कि सत्ता के आधार पर। और अंत में तो सत्ता ही कानून बन बैठती है न? अंगरेजी कानून में एक कहावत भी है जिसका अर्थ है "राजा कभी गलती करता ही नहीं।" सत्ता के लिए जो बात अनुकूल होती है, वही अंत में कानून बन जाती है। पर यह दोष सार्वभौम है। सच पूछा जाय

तो इस तरह कानून को भूल जाना हमेशा दोष भी नहीं कहा जा सकता। कई बार कानून का अवलम्बन ही दोष बन जाता है। यदि सत्ता लोकसंग्रह कर रही हो, और उसको नियन्त्रित रखने वाले नियमों से उसके विनाश की सम्भावना हो, तो वहां उस नियम का नाश करना ही धर्म्य और विवेक पूर्ण है। पर ऐसा प्रसंग बहुत क्वचित उपस्थित होता है। जो सत्ता बार बार निरंकुश हो जाती है वह लोकोपकारी नहीं कही जा सकती। प्रस्तुत उदाहरण में सत्ता के इस तरह निरंकुश होने के लिए कोई कारण ही नहीं था, हडताल करने का हक तो अनादि है। सरकार के पास यह जानने के लिए भी काफी कारण थे कि हडतालियों का उद्देश कोई उपद्रव करना नहीं था। हडताल का अन्तिम परिणाम तीन पौंड के कर का रद हो जाना था। सच पूछा जाय तो शांतिप्रिय लोगों को यदि वे गलती करें तो शांति युक्त उपायों से ही राह पर लाना चाहिए। फिर यहाँ सत्ता लोकोपकारी नहीं थी। उसका अस्तित्व तो केवल गोरों के उपकार के लिए ही था। वह साधारणतया भारतीयों की विरोधिनी थी। अर्थात् इस एक पक्षीय सत्ता की निरंकुशता कभी उचित और क्षम्य नहीं मानी जा सकती।

इसलिए मेरी मति के अनुसार तो यहाँ सत्ता का दुरुपयोग ही हुआ। जिस कार्य की सिद्धि के लिए इस तरह सत्ता का दुरुपयोग किया जाता है, वह कभी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक सिद्धि जरूर मिलती हुई मालूम होती है, पर स्थायी सिद्धि तो कदापि नहीं मिल सकती। दक्षिण आफ्रिका में तो जिस कर की रक्षा के लिए यह अत्याचार किया गया, वही छः माह के बाद उठ गया।

इस तरह कई बार दुःख सुख के लिए ही होता है। इस दुःख की पुकार चारों तरफ मच गई। मैं तो यह मानता हूँ कि जिस तरह एक यन्त्र में प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान होता है, उसी प्रकार युद्ध में भी प्रत्येक वस्तु का भी अपना एक निश्चित स्थान होता है। और जिस प्रकार गंज या गर्दा यंत्र की गति में वाधक होता है, उसी प्रकार कितनी ही वस्तुयें युद्ध की गति को भी रोक देती हैं। हम तो निमित्र मात्र होते हैं, इसलिए हम यह हमेशा नहीं जान सकते कि कौनसी चीज़ें तो हमारे लिए प्रतिकूल होती हैं, और कौनसी अनुकूल। इसलिए हम केवल साधन मात्र जानने के अधिकारी हैं। साधन यदि पवित्र हों तो हम परिणाम के विषय में निर्भय और निश्चिन्त रह सकते हैं।

इस युद्ध में एक यह बात भी देखी गई कि ज्यों ज्यों लड़ने-वालों का दुःख बढ़ता गया, त्यों त्यों उसका अंत भी नजदीक आता गया। साथ ही ज्यों ज्यों दुःखी की निर्दोषिता अधिकाधिक प्रकट होती गई, त्यों त्यों भी लड़ाई का अंत निकट आने लगा। मैंने इस युद्ध में यह भी देखा कि ऐसे निर्दोष, निःशस्त्र और अहिंसक युद्ध के लिए ऐन-वक्त पर जिन जिन साधनों की आवश्यकता होती है वे भी अनायास प्राप्त होते चले जाते हैं। कितने ही स्वयं-सेवकों ने, जिन्हें मैं आज तक भी नहीं जानता, अपने आप सहायता की। ऐसे सेवक अक्सर निःस्वार्थ होते हैं। अनिच्छा पूर्वक भी वे अदृश्य रूप से सेवा कर देते हैं। न तो कोई उनका हिसाब रखता और न कोई प्रमाण-पत्र ही उन्हें दे देता है। उनके वे अमूल्य कार्य परमात्मा की किताबों में जमा होते रहते हैं। पर कई सेवक तो यह भी नहीं जानते।

दक्षिण आफ्रिका के भारतीय अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। उन्होंने अग्नि-प्रवेश किया और ज्यों के त्यों शुद्ध बाहर निकल आये। अब यह अगले प्रकरण में देखेंगे कि लड़ाई के अंत का आरम्भ किस तरह हुआ।

तेईसवां अध्याय

अन्त का आरम्भ

पाठकों ने देखा ही होगा कि कौम ने अपनी शक्ति भर, और जितनी उमीद की जा सकती थी, उससे भी अधिक शांत बल का उपयोग किया। पाठकों ने यह भी देखा होगा इस वल का उपयोग करने वालों में अधिकांश वे ही गरीव, और निचली श्रेणी के लोग थे, जिनसे ऐसी आशा भी नहीं की जा सकती थी। पाठकों को यह भी स्मरण होगा कि दो तीन को छोड़ कर फिनिक्स आश्रम के सभी जिम्मेदार काम करने वाले जेल में थे। फिनिक्स के वाहर रहने वालों में स्वर्गीय सेठ अहमद महमद काछलिया थे। फिनिक्स पर अब वेस्ट मिस्ट वेस्ट और मगनलाल गांधी थे। काछलिया सेठ साधारण देखभाल करते थे। मिस श्लेजीन ट्रॉन्सवाल का तमाम हिसाब–किताब और सरहद नांघने वालों की देखभाल करती थीं। मि० वेस्ट के जिम्मे इण्डियन के ओपीनियन के अगरेजी विभाग के संपादन का तथा गोखलेजी से तार व्यवहार करने का भार था। इस समय, जब कि प्रति क्षण नये नये मोर्चे बदले जाते थे, पत्र व्यवहार वगैरा का तो काम ही नहीं पड़ता था। तार ही पत्रों के

इतने लम्बे चौड़े भेजना पड़ते थे। यह सूक्ष्म उत्तरदायित्व से परिपूर्ण काम मि० वेस्ट को करना पड़ता था।

अब न्यूकॅसल की तरह फिनिक्स भी वायव्य कोण के हड़तालियों का केन्द्र हो गया। सैकड़ों मजदूर वहां आने लगे और सलाह तथा आश्रय मांगने लगे। अवश्य ही इससे सरकार का ध्यान फिनिक्स की तरफ आकर्षित हुआ। आस पास रहने वाले गोरों की आंखें भी लाल होने लगीं। अब फिनिक्स पर रहना भयावह हो गया। तथापि लड़के बच्चे तक जोखिम भरे काम करते रहते। इतने में वेस्ट गिरफ्तार हुए। सच पूछा जाय तो वेस्ट को पकड़ने के लिए कोई कारण नहीं था। सोचा यह गया था के मि० वेस्ट और मगनलाल गांधी को गिरफ्तार होने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, वल्कि जहां तक हो सके, गिरफ्तारी के प्रसंगों से भी दूर रहना चाहिए। इसलिए वेस्ट ने अपनी ओर से अपने को गिरफ्तार करने के लिए सरकार को कोई कारण ही नहीं दिया था। पर सरकार कहीं सत्याग्रहियों की सुविधा असुविधा का थोड़े ही ख्याल करती है? अथवा उसे इन लोगों को गिरफ्तार करने के प्रसंगों को ढूंढना भी तो नहीं पड़ता था। सत्ताधीश जब किसी काम को करना चाहता है वही उसके लिए उस काम को करने का प्रसंग होता है। वेस्ट की गिरफ्तारी का तार गोखलेजी को पहुंचा कि फौरन उन्होंने भारत से होशियार आदमियों को भेजना शुरू कर दिया। सत्याग्रहियों की सहायता के लिए जब लाहौर में सभा हुई थी, तब ऍण्ड्र्यूज ने अपने पास के सभी पैसे दे डाले। तभी से गोखले की नजर में वे भर गये थे। इसलिए वेस्ट की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही

फौरन उन्होंने मि० एण्डयूज को तार द्वारा पूछा कि "क्या आप इसी वक्त दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए तैयार हैं ?" ऐण्डूयूज ने उत्तर में लिख दिया "हाँ"। उसी क्षण उनके परम-प्रिय मित्र पियर्सन भी तैयार हो गये, और दोनों पहली स्टीमर से दक्षिण आफ्रिका जाने के लिए निकल पड़े।

पर अब तो युद्ध समाप्त होने को था। हजारों निर्दोष आदमियों को जेल में रखने की ताकत दक्षिण अफ्रिका की सरकार में नहीं थी। वाईसराय भी उसे सहन नहीं कर सकते थे। सारे संसार की नजर इस बात पर लगी हुई थी कि अब जनरल स्मट्स क्या करते हैं ? इस समय जनरल स्मट्स ने भी वही किया जो ऐसी हालत में अन्य सरकारें करती हैं। यों जांच तो किसी बात की करना नहीं थी। जो कुछ भी अन्याय हो रहा था, वह तो प्रकट ही था। स्वयं जनरल स्मट्स इस बात को महसूस करते थे कि निःसन्देह अन्याय हो गया है और चाहते थे कि उसका दूर होना जरूरी है। पर इस समय "भई गति सांप छछूंदर केरी" वाला उनका हाल हो रहा था। वे इस समय इन्साफ तो करना चाहते थे, पर उस शक्ति को अपने हाथों से खो बैठे थे। क्योंकि दक्षिण आफ्रिका के गोरों को वे इस बात का आश्वासन दे चुके थे कि वे स्वयं उस तीन पौंड वाले कर को रद नहीं करेंगे, और न कोई अन्य सुधार ही करेंगे। पर अब तो वे उस कर को उठाने तथा अन्य सुधार भी करने के लिए मजबूर हो रहे थे। ऐसी विचित्र स्थिति से निकलने के लिए लोकमत से डराने वाले राज्य हमेशा कमिशन की नियुक्ति करते हैं। कमिशन नाम मात्र की जांच कर लेता है। क्योंकि उसका परिणाम तो पहले ही से सर्व-विदित सा होता है। इधर कमिशन ने

सिफारिश की नहीं, कि उसपर अमल हुआ नहीं, यही सामान्य प्रथा है। अर्थात् साधारणतया सरकारें जिस न्याय को पहले से देने में इन्कार करती हैं, वही कमिशन की सिफारिश के आधार पर फिर बाद में उनको देना पड़ता है। जनरल स्मट्स के कमिशन में तीन सभ्य नियुक्त किये गये। भारतीय जनता ने इस कमिशन के विषय में कुछ शर्तें पेश कीं, और यह प्रतिज्ञा ले ली कि जब तक उन शर्तों का पालन न किया जायगा, तब तक वह उसका बहिष्कार करेगी। उनमें नीचे लिखी दो शर्तें थीं।

(१) सब सत्याग्रहियों को छोड़ दिया जाय।

(२) कमिशन में कम से कम एक सभ्य तो जरूर भारतीयों का चुना हुआ हो।

पहली शर्त को कुछ अंशों में स्वयं कमिशन ने ही मान लिया था, और उसने सरकार से सिफारिश की थी कि कमिशन का काम सरल करने के लिए सरकार मि० कैलनबेक, मि० पोलक और मुझे बिना किसी शर्त के छोड़ दे। सरकार ने इस सिफारिश को मंजूर कर हम तीनों को एक साथ छोड़ दिया। मुश्किल से हम दो महीने जेल में रहे होंगे।

इधर वेस्ट को गिरफ्तार तो कर लिया पर सरकार के पास ऐसा कोई सबूत नहीं था जिसके बल पर उन पर वह काम चला सकती। इसलिए उन्हें भी उसे छोड़ना पड़ा। ये घटनायें एंड्रूज और पियर्सन के दक्षिण आफ्रिका पहुंचने के पहले ही घट चुकी थीं। इसलिए दोनों मित्रों को स्टीमर से मैं ही लिवा लाया। दोनों को इस बात के कोई समाचार नहीं मिले थे, इसलिए उन्हें

बड़ा ही आश्चर्य पर साथ ही आनंद भी हुआ। दोनों के साथ मेरा यह प्रथम परिचय ही था।

छूटने पर हम तीनों को निराशा ही हुई। बाहर के कोई हाल हमें मालूम नहीं थे। कमिशन की खबर सुनकर हमें आश्चर्य तो जरूर हुआ, पर हमने देखा कि हम कमिशन की किसी प्रकार सहायता नहीं कर सकते थे। हमने इस बात को भी महसूस किया कि कमिशन में भारतीयों की तरफ का भी कोई आदमी होना जरूरी है। इसपर हम तीनों डरबन पहुँचे और वहां से जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका सार इस तरह था:—

"हम कमिशन का स्वागत करते हैं। पर इसमें उन दो सभ्यों की जिस तरह नियुक्ति हुई है उसके लिए हमारी घोर आपत्ति है। उनके व्यक्तित्व से हमें किसी तरह का विरोध नहीं है। वे चतुर और प्रसिद्ध नागरिक हैं। पर उन दोनों ने कई बार भारतीयों के प्रति अपना विरोध जाहिर किया है। इसलिए अज्ञाततः उनसे अन्याय होने की संभावना है। मनुष्य अपने स्वभाव को एकाएक नहीं बदल सकता। अतः यह मान लेना प्रकृत्ति के नियमों के विपरित होगा कि वे दोनों अपना स्वभाव पलट लेंगे। तथापि हम यह नहीं चाहते कि उनको कमिशन से अलग ही कर दिया जाय। हम तो केवल यही चाहते हैं, कि किसी तरह कुछ और तटस्थ पुरुष उसमें रख लिये जायं। इसी हेतु से हम सर जेम्स रोज्भइनिस और ऑन० डब्ल्यू० पी० श्राइनर के नाम सूचित करते हैं। ये दोनों प्रख्यात व्यक्तियां हैं। और अपनी न्याय-वृत्ति के लिए भी प्रसिद्ध हैं। हमारी दूसरी प्रार्थना यह है कि तमाम सत्याग्रही कैदियों को छोड़ दिया जाय। अगर

ऐसा नहीं किया जायगा तो हमारे लिए बाहर रहना मुश्किल हो जायगा। अब उन्हें जेल में रखने का कोई कारण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि हमें कमिशन के सामने अपनी जवानी देना पड़े, तो हमें खानों में, तथा जहां जहां गिरमिटिया काम करते हैं वहाँ जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। यदि हमारी इस प्रार्थना पर विचार न हुआ तो हमें फिर जेल में जाने के उपायों को ढूंढना होगा।"

जनरल साहब ने कमिशन के सभ्यों की संख्या बढाने से इनकार कर दिया और कहा कि कमिशन किसी पक्ष के लिए नियुक्त नहीं किया गया है। वह तो केवल सरकार के संतोष के लिए है। यह उत्तर मिलते ही हमारे पास तो एक ही उपाय बच रहा। हमने पुनः जेल की तैयारी कर इस आशय के निवेदन पत्र प्रकाशित कर दिये कि सन १९१४ के जनवरी की पहली तारीख से जेल जाने वाले डरबन से कूंच करेंगे। ता० १८ दीसम्बर १९१३ को हमें छोड़ा गया था, २१ वीं को हमने उपर्युक्त पत्र लिखा और २४ वीं को जनरल का यह उत्तर मिला था।

पर इस उत्तर में एक बात थी, जिस पर से मैंने उन्हें फिर एक पत्र लिखा। जनरल के जवाब में यह वाक्य था, "कमिशन को निष्पक्ष और अदालती बनाया गया है और उसकी नियुक्ति करते समय यदि भारतीयों की सलाह नहीं ली गई, तो खानों के मालिकों के साथ तथा चीनी के कारखाने वालों के साथ भी कोई सलाह नहीं की गई"। इस पर से मैंने उन्हें एक खानगी पत्र लिखा जिस में उन्हें सूचित किया कि यदि सरकार न्याय ही चाहती हो तो मुझे जनरल स्मट्स से मिलना है। और उन्हें कुछ बातें कह देना

है। इसके उत्तर में उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकृत किया। इस-लिए कुछ दिन के लिए तो कूच मुल्तवी की गई।

इधर जब गोखलेजी ने सुना कि पुनः कूच की तैयारी हो रही है, तो उन्होंने एक लम्बा चौड़ा तार भेजा। उसमें लिखा था कि मेरे इस कार्य से लार्ड हार्डिज की और स्वयं उनकी स्थिति भी बड़ी विचित्र हो जायगी। इसलिए कूच को स्थगित करने तथा कमिशन के सामने अपना सबूत पेश करने के लिए उन्होंने बड़ी जोरों की सलाह दी।

अब तो हम धर्म-संकट में फँस गये। कौम तो इस बात की प्रतिज्ञा कर चुकी थी कि यदि उनकी मन्शा के अनुसार कमिशन के सभ्य नहीं बढाये गये तो वह उसका बहिष्कार करेगी। लार्ड हार्डिंज अप्रसन्न हो जायं और स्वयं गोखले को भी दुःख हो तो प्रतिज्ञा-भंग कैसे हो सकता था। मि० ऍण्ड्रयूज ने सुझाया कि गोखलेजी की सहानु-भूति, उनकी नाजुक हालत तथा हमारे निश्चय से उनको जो आघात पहुंचने की सम्भावना थी उस पर भी पूरा विचार कर लेने की जरूरत है। मैं तो जानता ही था। मुखियाओं की सलाह हुई, और अन्त में सब इसी निर्णय पर पहुंचे कि कमिशन में यदि अधिक सभ्य नहीं लिये गये तो उसका बहिष्कार तो अवश्य ही करना चाहिए। फिर इसका परिणाम चाहे जो हो। इसलिए फिर लगभग सौ पौंड खर्च करके एक लम्बा तार गोखलेजी को भेजा गया। इससे ऍण्ड्रयूज भी सहमत हो गये। इस तार का आशय नीचे लिखे अनुसार था:—

"आपके दुःख को हम समझ सकते हैं। मेरी हमेशा यही इच्छा रहेगी कि सब बातों को छोड कर आपकी सलाह का ही सम्मान

करूं। लार्ड हार्डिंज ने भी हमारी असूल्य सहायता की है। मैं यह भी चाहता हूं कि इसी प्रकार अंत तक हमें उनकी सहायता मिलती रहे। पर साथ ही प्रार्थना करता हूं कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसमें हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा का प्रश्न है। प्रतिज्ञा शुद्ध है। सारे युद्ध की रचना प्रतिज्ञाओं पर की गई है। यदि यह बन्धन न होता तो आज हममें से कितने ही फिसल गये होते। हजारों मनुष्यों की प्रतिज्ञा यदि इस तरह पानी में डुबो दी जाय तो फिर संसार में नैतिक बंधन जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहेगी। प्रतिज्ञा करते समय लोगों ने पूरा विचार कर लिया था। उसमें किसी प्रकार की अनीति तो हुई नहीं। बहिष्कार की प्रतिज्ञा लेने का भी कौम को अधिकार है। मैं चाहता हूं कि आप भी यही सलाह देंगे कि इस तरह गंभीरता पूर्वक की गई प्रतिज्ञा किसी के लिए भी न तोड़ी जाय। उसका पालन तो होना ही चाहिए, फिर चाहे सो हो जाय। यह तार लार्ड हार्डिंज को भी बताइएगा। मैं चाहता हूं कि आपकी स्थिति विचित्र न हो। हमने परमात्मा को साक्षी रख कर और उसी, की सहायता के बल पर युद्ध छेड़ा है। हम बड़े-बूढों की, गुरु-जनों की सहायता भी मांगते हैं। उसके मिल जाने पर हमें हर्ष होता है। पर मेरी तो यही नम्र राय है कि वह चाहे मिले या न मिले। हमारी प्रतिज्ञा नहीं टूटनी चाहिए। अंत में उस के पालन में आपका समर्थन और आशीर्वाद मैं मांगता हूं।"

यह तार गोखलेजी को भेजा गया। उसका असर उनके स्वास्थ्य पर तो हुआ पर सहायता पर नहीं हो पाया। यदि हुआ हो तो भी इस तरह कि वह और भी बढ गई। उन्होंने लार्ड हार्डिंज को तार भेज दिया। किन्तु हमारा त्याग नहीं किया।

बल्कि हमारी दृष्टि का समर्थन ही किया। लॉर्ड हार्डिंज भी दृढ रहे।

एँण्ड्र्यूज को लेकर मैं प्रिटोरिया गया। इसी समय यूनियन रेलवे के गोरे कार्य-कर्ताओं ने बडी भारी हडताल कर दी। इस हड-ताल से सरकार की स्थिति वडी नाजुक हो गई। मुझे भी कहलाया गया कि फिर भारतीयों की कूच बोल दी जाय। मैंने तो जाहिर कर दिया कि मुझ से इस तरह रेलवे हडतालियों की सहायता नहीं हो सकती। सरकार को महज सताना हमारा उद्देश नहीं है। हमारी लड़ाई और उसका तरीका भी भिन्न है। यदि हमें कूच करना ही होगा तो वह हम तभी करेंगे जब यह रेलवे की हडताल शान्त हो जायगी। इस निश्चय का बड़ा गंभीर प्रभाव पड़ा। रूटर ने इसके तार ईंग्लैंड भेजे। वहां से लॉर्ड अम्पट्हिल ने धन्यवाद सूचक तार भेजा। दक्षिण आफ्रिका के अंगरेज मित्रों ने भी धन्यवाद दिये। जनरल स्मट्स के मंत्री ने विनोद में कहा "मुझे तो आपके लोग ज़रा भी अच्छे नहीं लगते। मैं तिल-भर भी उनकी सहायता नहीं करना चाहता। पर हम करें क्या? आप लोग तो आपत्काल में भी हमारी सहायता करते हैं। आपको कैसे मारा जा सकता है? मैं तो कई बार चाहता हूं कि आप भी कहीं इन अंगरेज हड़तालियों की तरह उपद्रव कर दें तो एक घड़ी-में आपको सीधा करदें। पर आप तो दुश्मन को भी सताना नहीं चाहते। केवल स्वयं दुःख सह कर जीतना चाहते हैं। विवेक और मर्यादा का जरा भी त्याग नहीं करते। फिर हम क्या कर सकते हैं?"

इसी प्रकार के उद्गार जनरल स्मट्स के मुंह से भी निकले थे।

पाठकों को इस बात का बराबर ख्याल होगा कि सत्याग्रही

के विवेक और विनय का यह पहला ही उदाहरण नहीं था। वायव्य कोण में जब हड़ताल हुई तब कितनी ही जगह गन्ना कटा हुआ मैदान में ही पड़ा था। वह यदि उचित स्थान पर नहीं पहुंचा दिया जाता तो मालिकों की बड़ी हानि होती। इसलिए १५०० आदमी फिर उस काम को पूरा करने के लिए लौट गए, और माल को उचित तथा सुरक्षित स्थान पर पहुंचा कर फिर हड़ताल में शामिल हो गये। डरबन की म्यूनिसीपालिटी के गिरमिटियाओं ने जब हड़ताल की तब उसमें भी जो मेहतर और शफाखाने का काम करते थे, उन्हें वापिस भेज दिया गया। और वे खुशी से लौट भी गये। यदि मेहत्तर और शफाखानों में काम करने वाले काम छोड दें तो सारे शहर में बीमारी फैल जाय, तथा अस्पताल में रोगियों की शुश्रूषा भी बंद हो जाय। और सत्याग्रही तो कभी न चाहेगा कि उसके कार्य का ऐसा परिणाम हो। इसलिए ऐसे कार्यकर्ताओं को हड़ताल से मुक्त रक्खा गया। प्रत्येक काम करते हुए सत्याग्रही को यह जरूर सोच लेना चाहिए कि उसके इस कार्य का परिणाम विरोधी पर कैसा होगा।

इस तरह के अनेकों विवेक पूर्ण कार्यों का अदृश्य प्रभाव चारों ओर मुझे दिखाई देता था। इसीसे भारतीयों की प्रतिष्ठा दिन ब दिन बढ़ती जा रही थी और समझौते के लिए अनुकूल वायु मण्डल तैयार होता जा रहा था।

चौबीसवां अध्याय

प्राथमिक समझौता

इस तरह दिन ब दिन समझौते के लिए अनुकूल वायुमण्डल होता जा रहा था। एँण्ड्रयूज और मैं प्रिटोरिया पहुंचे, उसी समय सर बेंजामिन रॉबर्टसन भी, जिन्हें कि लॉर्ड हार्डिंज ने एक स्पेशल स्टीमर में भेजा था, वहां पहुंचने वाले थे। पर जनरल स्मट्स ने मुलाकात के लिए जो दिन मुकर्रर किया था उसी दिन हमें वहां पहुंच जाना जरूरी था। इसलिए सर बेंजामिन की बिना ही राह देखे हम चल पड़े थे। राह देखने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। युद्ध का अंत तो हमारी शक्ति के अनुसार ही होने वाला था।

हम दोनों प्रिटोरिया तो पहुंचे। पर जनरल स्मट्स से अकेले मुझी को मुलाकात करनी थी। वे रेलवे के गोरे कर्मचारियों की हड़ताल के काम में मग्न थे। यह हड़ताल भी ऐसी भयंकर थी कि यूनियन सरकार को फौजी कानून जारी करना पड़ा था। इन कर्मचारियों का उद्देश केवल अपनी मजदूरी बढ़ाना ही नहीं था। वे तो सत्ता को भी अपने हाथों में ले लेना चाहते थे। मेरी पहिली भेट बहुत छोटी थी। पर मैंने देखा कि कूच करने से पहले

जनरल स्मट्स की जो स्थिति थी, वह आज नहीं थी। पाठकों को स्मरण होगा कि उस समय तो उन्होंने बात चीत करने से भी इन्कार कर दिया था। सत्याग्रह की धमकी तो जिस प्रकार उस समय थी, ठीक वैसी ही अब भी कायम थी। पर फिर भी उन्होंने बसीठी करने देने से इन्कार कर दिया था। इस बार तो वे सलाह लेने तक को तैयार थे।

भारतीयों की मांग तो यह थी की उनकी तरफ से भी कमिशन में किसी की नियुक्ति होनी चाहिए। पर इस बात पर जनरल स्मट्स मजबूत थे, उन्होंने कहा "यह तो हो ही नहीं सकता। उससे सरकार की प्रतिष्ठा कम हो जायगी और दूसरे, मैं जो सुधार करना चाहता हूं वह मैं नहीं कर सकूंगा। आप जानते हैं कि मि० एसलन हमारे आदमी है। सुधार करने के विषय में वे सरकार के प्रतिकूल मत नहीं दे सकते बल्कि अनुकूल ही हो जावेंगे। कर्नल वायली नाताल के प्रतिष्ठित मनुष्य हैं। इसके अलावा वे आप लोगों के विरोधी माने जाते हैं। इसलिए यदि वे भी तीन पौंड का कर उठा लेने के पक्ष में अपना मत दे देंगे तो हमारा काम बड़ा सरल हो जायगा। इस समय हम ऐसी कठिनाइयों में फंसे हैं कि दम मारने तक की फुरसत नहीं है। इसलिए स्वयं हम ही चाहते हैं कि आपके मामले का एक बारगी अंतिम फैसला हो जाय। आप जो चाहते हैं वही देने का प्रस्ताव हमने स्वीकृत कर लिया है। पर बिना कमिशन की सम्मति के वह दिया नहीं जा सकता। आप की स्थिति को भी मैं समझ सकता हूं। आप तो यह प्रतिज्ञा किये बैठे हैं कि जब तक हम आप के पक्ष के किसी आदमी को कमिशन में शामिल नहीं कर लेंगे, तब तक आप कोई

सबूत नहीं देंगे। भले ही आप न दें। पर जो देना चाहें उनको रोकने के लिए कोई आन्दोलन न कीजियेगा। तब तक तो सत्याग्रह को भी स्थागित करना होगा। मेरा तो ख्याल है कि यदि आप ऐसा करेंगे तो आप का लाभ ही होगा और हमें भी शांति मिलेगी। आपका कहना है कि हड़तालियों पर जुल्म हुआ है। पर आप इस बात को सिद्ध नहीं कर सकेंगे। क्योंकि आप तो कोई सबूत ही देना नहीं चाहते। इसलिए इस बात का भी आपको पूरा बिचार कर लेना चाहिए।"

इस तरह की बात चीत जनरल स्मट्स ने की। मुझे तो यह सब अनुकूल ही मालूम हुआ। एक धर्म-संकट जरूर था। हमने सिपाहियों और दारोगाओं के जुल्म की जो शिकायतें की थीं उनको सिद्ध करने का सुयोग बहिष्कार की प्रतिज्ञा के कारण हमें नहीं मिल सकता था। पर इस विषय में हमारे बीच मतभेद भी था। एक पक्ष का कहना था कि सिपाहियों पर जिन बातों का आरोप किया गया है वे भारतीयों की तरफ से साबित हो जाना बहुत जरूरी है। इसलिए उनकी यह सूचना थी की यदि कमिशन के सामने हम अपना सबूत पेश नहीं कर सकते तो हमें उन लोगों के खिलाफ इस रूप में फरियादें प्रकाशित करना चाहिए कि जिससे यदि वे (अभियुक्त) चाहें तो हम पर आबरू नुकसानी का दावा कर सकें। मैं इस पक्ष का विरोधी था। बहुत सम्भव है कमिशन अपना निर्णय सरकार के प्रतिकूल नहीं देगा। फिर लाइबेल (आबरू नुकसानी की फरियाद) पेश करने जितनी बातें प्रकट करने में कौम को बहुत भारी झंझटों में पड़ना पड़ता फिर इसका परिणाम क्या होता ? यही की हमारी फरियाद सिद्ध

होगई इस बात का सन्तोष। फिर एक वकील होने के कारण मैं उन कठिनाइयों को भी जानता था जो लायबेल सिद्ध करने में उपस्थित हो सकता था। पर सब से जबरदस्त दलील तो मेरे पास यह थी कि सत्याग्रही को तो दुःख ही सहना था। सत्याग्रह शुरू करने के पहले हम इस बात को जानते थे कि उसमें हमें मरणांत दुःख तक सहन करना होगा और इसके लिए हम तैयार भी थे। फिर अब उन दुःखों को साबित कर देने में कोई विशेषता नहीं रह जाती। बदला लेने की वृत्ति तो सत्याग्रही में होनी ही नहीं चाहिए। इसलिए अपने दुःखों को सिद्ध कर देने में जहां असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड रहा हो वहां ठीक तो यही है कि वह शांत रहे। सत्याग्रही तो असल बात के लिए लड़ता है, और वह था कानून। जहां उसके रद होने अथवा उसमें आवश्यक परिवर्तन हो जाने की भी संभावना है तो फिर सत्याग्रही दूसरे झंझटों में पड़ेगा क्यों? दूसरे, कानून के विरोध में उसने जो युद्ध ठान दिया है उसमें सत्याग्रही का मौन भी तो अवश्य समझौते के समय मददगार होगा। इन दलीलों से विरोधी पक्ष के एक बड़े हिस्से को मैं समझा सका। आखिर यही निश्चय हुआ कि दुःखों की कानूनन फरियाद को साबित करने की बात को छोड़ दिया जाय।

पच्चीसवां अध्याय

पत्र व्यवहार

प्राथमिक समझौते के लिए जनरल स्मट्स और मेरे बीच पत्र व्यवहार शुरू हुआ। मेरे पत्र का आशय इस प्रकार था ?—

"आपकी सूचनानुसार हम अपनी प्रतिज्ञा के कारण कमिशन की सहायता नहीं कर सकेंगे। इस प्रतिज्ञा को आप समझ सकते हैं और उस की कद्र भी करते हैं। आप भारतीयों के साथ सलाह मशविरा करने के तत्व को कुबूल करते हैं, इसलिए मैं अपने देश भाइयों को यह सलाह अवश्य दे सकता हूं, कि वे कमिशन में सबूत पेश करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से उसकी सहायता कर सकते हैं। कम से कम वे उसके काम में रोडे अटकाने से तो जरूर बाज़ आवें। मैं उन्हें यह सलाह भी दे सकूंगा कि जब तक कमिशन जारी है और नवीन कानूनों का बिधान नहीं हो जाता सरकार को आपत्ति में न डाला जाय इस ख्याल से वे सत्याग्रह को भी मुलतबी रक्खें। भारत के बड़े लाट महोदय के भेजे सर बेंजामिन रॉबर्टसन् की सहायता करने के लिए भी उनसे मैं सिफारिश कर सकता हूं। मुझे कहना होगा कि हम अपनी प्रतिज्ञा के कारण उन दुःखों को कमिशन के सामने सबूत पेश करके साबित नहीं

कर सकेंगे जिन्हें हमने जेल में और हड़तालों के दिनों में झेला है। सत्याग्रही की हैसियत से हम से जहां तक होगा हम अपने कष्टों की न तो शिकायत करेंगे, और न इनके बदल की ही इच्छा करेंगे। पर हमारे इस समय के इस मौन का कहीं यह अर्थ न लगा लिया जाय कि उन्हें सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई सामग्री ही नहीं है। मैं चाहता हूं कि आप हमारी स्थिति को भी समझ लें। इसके अतिरिक्त चूंकि हम सत्याग्रह को मुलतवी करने के लिए तैयार हैं, उस अवस्था में इस युद्ध के कारण जो लोग आपकी कैद में हैं वे भी छोड दिये जायँ। हम लोग जो जो बातें चाहते हैं उन्हें मैं संक्षेप में नीचे लिख देना आवश्यक समझता हूं।

(१) तीन पौंड का कर उठा लिया जाय।

(२) हिन्दू, इस्लाम इत्यादि धर्मों की विधि के अनुसार किये गये विवाह कानूनन समझे जायं।

(३) शिक्षित भारतीय इस देश में प्रवेश पा सकें।

(४) ऑरेञ्जिया के विषय में जो ऍकरार हुए हैं उनमें सुधार किया जाय।

(५) यह विश्वास दिलाया जाय कि प्रचलित कानूनों पर इसी प्रकार अमल किया जायगा जिससे वर्तमान अधिकारों के हक़ में कोई हानि न हो।

इन बातों का संतोषप्रद उत्तर मिलने पर मैं कौम को सत्याग्रह मुल्तवी रखने के लिए सलाह दे सकूंगा।"

यह पत्र १९१४ की जनवरी की २१ वीं तारीख को मैंने लिखा था। उसी दिन उनका उत्तर भी मिल गया। आशय यह था:—

"यह जानकर सरकार को दुःख हुआ कि आप कमिशन में ज़बानी नहीं दे सकेंगे। पर वह आपकी स्थिति को समझ सकती है। आप अपने कष्टों वगैरा विषयक बात छोड देना चाहते हैं इसके हेतु को भी सरकार समझे हुए है। पर जब आप उस विषय में कोई सबूत ही देना नहीं चाहते तो सरकार के लिए भी तो इस विषय में कुछ करने योग्य नहीं रह जाता। सत्याग्रही कैदियों को छोडने का हुक्म तो आपका पत्र मिलने के पहले ही सरकार दे चुकी है। कौमी दुःखों के विषय में आपने जो उल्लेख किया है उस विषय में सरकार तब तक कुछ न कर सकेगी जब तक कि कमिशन अपनी रिपोर्ट पेश नहीं कर देता।"

इन दोनों पत्रों का लेन देन होने के पहले हम दोनों जनरल स्मट्स को कई बार मिल चुके थे। पर इस बीच सर बेंजामिन रॉबर्टसन भी प्रिटोरिया जा पहुंचे थे। यद्यपि सर बेंजामिन लोक प्रिय माने जाते थे, और गोखलेजी की सिफारिश भी लाये थे, तथापि मैंने देखा कि वे एक मामूली अंगरेज अधिकारी की कमजोरियों से एक दम मुक्त नहीं थे। वहां पहुंचते ही उन्होंने कौम में भेद-नीति का विष बोना और सत्याग्रहियों को डराने का काम शुरू कर दिया। प्रिटोरिया की पहली मुलाकात में मुझ पर उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। डराने के विषय में मुझे जो तार मिले थे उनका जिक्र भी मैंने उनसे किया था। मुझे तो सबके साथ एक ही रीति से, अर्थात् स्पष्टता तथा निस्पृहता पूर्वक काम लेना था। इसलिए हम मित्र हो गये! पर मैंने य कई बार अनुभव किया कि डरने वाले को तो अधिकारी डराते ही रहते हैं। और सरल तथा निडर मनुष्य से सीधी तरह पेश आते हैं।

इस तरह प्राथमिक समझौता हो गया। और आखिरी बार सत्याग्रह मुल्तवी किया गया। कई अंगरेज मित्र खुश हो गये, और अंतिम समझौते में सहायता करने का उन्होंने मुझे आश्वासन भी दिया। कौम से यह समझौता मंजूर करा लेना जरा मुश्किल था। सबको यही आशंका थी कि जागा हुआ उत्साह कहीं फिर न सो जाय। फिर जनरल स्मट्स पर अब लोग क्यों विश्वास करने चले? अनेकों ने १९०८ के समझौते की याद दिला दिला कर कहा "जो जनरल स्मट्स पहले एक वार कौम के साथ विश्वासघात कर चुके हैं, जो सत्याग्रह में नवीन बातें शामिल करने का आरोप आप पर मढ चुके हैं, जिन्होंने कौम पर विपत्ति के महान् महान् पर्वत् ढाहे हैं, क्या आप उन्हें फिर भी अभी तक नहीं समझ सके? कैसे दुःख की बात है? यह आदमी फिर आपके साथ विश्वासघात करेगा और फिर आप सत्याग्रह की राग आलापेंगे किन्तु तब आप पर कौन विश्वास करेगा? यह कैसे हो सकता है कि लोग बार बार जेल जावें, और फिर बार बार धोखा खावें? ज़नरल स्मट्स जैसे आदमी के साथ तो केवल एक ही समझौता हो सकता है। और वह यही की हम जो कुछ भी चाहते हैं वह दे दे। उससे वचन न लिये जायं। जो वचन दे कर फिर उन्हें तोड़ देता है उसे उधार भी कोई कैसे देगा"? मैं जानता था कि इसी प्रकार की दलीलें कई जगह पेश की जावेंगी। इसलिए मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। सत्याग्रही के साथ चाहे कितनी ही वार विश्वासघात किया जाय वह तब तक बराबर वचनों पर विश्वास करता जायगा जब तक कि उसे इसके विपरीत कोई ऐसे ही बलवान कारण नहीं मिल जावेंगे। जिसने दुःख को ही

सुख समझ लिया है, वह केवल दुःख के भय से ऐसी जगह अविश्वास न करेगा, जहां अविश्वास करने के लिए कोई कारण न हो। बल्कि वह तो अपनी शक्ति पर विश्वास रखकर इस बात की चिंता ही न करे कि कहीं विरोधी पक्ष फिर विश्वासघात न कर जाय। वह तो वचनों पर बराबर विश्वास करता हुआ आगे बढता जायगा, चाहे कितनी ही बार उसके साथ विश्वासघात क्यों न हो; और यह करते हुए वह यही ख्याल रक्खेगा कि इसी तरह सत्य का बल बढता जायगा और विजय नजदीक आवेगी। इसलिए स्थान स्थान पर सभायें कर के मैं लोगों के द्वारा उस समझौते को मंजूर करा सका। लोग भी सत्याग्रह का रहस्य विशेष रूप से समझने लग गये। इस बार के समझौते में श्री ऍएड्रयूज मध्यस्थ और साक्षी थे। उसी प्रकार वाईसराय के राजदूत की हैसियत से सर बेंजामिन राबर्टसन भी थे। अर्थात् यह समझौता मिथ्या होने की बहुत ही कम भ्रांति थी। यदि मैं हठ पर चढ जाता और इस समय समझौता नहीं करता तो उलटा कौम का ही दोष समझा जाता, और जो विजय छः महीने बाद हमें मिली उसके मिलने में अनेक प्रकार के विघ्न खडे हो जाते। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' वाला वाक्य इसी प्रकार के अनुभवों से लिखा गया है, जिनमें सत्याग्रही किसी को उंगली तक बताने का कारण नहीं देता। अविश्वास भी डर की निशानी है। सत्याग्रह में अवश्य ही निर्भयता है। निर्भय को डर कैसे हो सकता है? फिर जहाँ विरोधी के विरोध को जीतना है, विरोधी का नाश नहीं करना है तहां अविश्वास क्यों?

इसलिए कौम के समझौता मंजूर करने के बाद अब केवल यूनियन पार्लियामेन्ट की राह देखना बाकी रह गया। तब तक

वह कमिशन तो जारी ही था। उसमें भारतीयों की तरफ से बहुत कम गवाह गये। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था कि कौम पर सत्याग्रह का कितना प्रभाव था। सर बेंजामिन रॉबर्टसन ने कई भारतीयों को साक्ष देने के लिए समझाया। पर जो इने गिने सत्याग्रह के कट्टर विरोधी थे, उनको छोड़ कर शेष सब अटल रहे। इस बहिष्कार का प्रभाव जरा भी खराब नहीं हुआ। कमिशन का काम कम हो गया। और रिपोर्ट फौरन प्रकाशित हो गई। रिपोर्ट में कमिशन के सभ्यों ने इस बात पर जरूर सख्त टीका की थी कि भारतीयों ने कमिशन की सहायता नहीं की। सिपाहियों के दुर्व्यवहार वाले आरोप को भी बिलकुल उडा दिया गया। पर उस ने उन सब बातों के देने की सिफारिश की, जिन्हें भारतीय चाहते थे। तीन पौंड वाला कर बिलकुल उठा लिया जाय, दूसरे विवाह के विषय में भी भारतीयों की बात को मान लेना चाहिए। इत्यादि अन्य भी कई छोटी छोटी बातें देने तथा यह सब बहुत शीघ्र कर डालने की सिफारिश उसने की। इस तरह जनरल स्मट्स के कथनानुसार कमिशन ने अपनी रिपोर्ट भारतीयों के अनुकूल ही दी। मि० एँराड्रयूज इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुए। उसी प्रकार सर बेंजामिन्न रॉबर्टसन भी चले गये। हमें भी यह विश्वास दिलाया गया कि कमिशन की रिपोर्ट के अनुसार ही कानून भी बनाया जायगा। अब हम यह अगले प्रकरण में देखेंगे कि वह कानून कौनसा था और किस तरह बनाया गया था।

छब्बीसवां अध्याय

युद्ध का अन्त

कमिशन की रिपोर्ट के कुछ ही समय बाद उस कानून का मसविदा यूनियन गॅभ्कट में प्रकाशित किया गया जिसके अनुसार सुलह होने को थी। इस मसविदे के प्रकाशित होते ही मुझे केप टाउन जाना पड़ा। यूनियन धारा-सभा की बैठकें वहीं होती थीं—अब भी वहीं होती हैं। इस बिल में नौ धारायें हैं। पूरा बिल 'नवजीवन' के दोनों स्तम्भों में समा सकता है। उसका एक भाग भारतीयों के विवाह से संबंध रखता है। इसके अनुसार वे सब विवाह दक्षिण आफ्रीका में कानूनन करार दे दिये गये जो भारतवर्ष में कानूनन समझे जाते हैं। पर इसके अनुसार किसी की भी एक से अधिक पत्नियां एक ही समय कानूनन नहीं समझी जावेंगी। दूसरे भाग के द्वारा वह तीन पौंड वाला कर रद हो गया जो स्वतन्त्र भारतीय की हैसियत से वहां रहने वाले प्रत्येक गिरमिटिया को प्रतिवर्ष देना पड़ता था, तीसरे भाग में दक्षिण आफ्रिका में रहने वालों को दिये गये प्रमाण-पत्रों का महत्व बताया गया है। अर्थात् उसमें यह बताया गया है कि जिनके पास वह प्रमाण-पत्र हो उसको दक्षिण आफ्रिका में रहने का हक़ उस

प्रमाण पत्र के द्वारा कहां तक सिद्ध होता है । इस विचार पर यूनियन पार्लियामेन्ट में खूब और मीठी चर्चा हुई । अन्य बातें, जिनके लिए कानून की आवश्यकता नहीं थी, जनरल स्मट्स और मेरे बीच के पत्र-व्यवहार द्वारा, तय हो गईं। उनमें नीचे लिखी बातों का खुलासा था ।

(१) केप कोलोनी में शिक्षित भारतीयों के प्रवेश और निवास के हक़ की रक्षा

(२) दक्षिण आफ्रिका में दाखल होने के लिए खास इजाज़त किन्हें किन्हें दी जाय ?

(३) सन् १९१४ के पहले दक्षिण आफ्रिका में प्रवेश पा चुकने वाले शिक्षित भारतीयों के विषय में, और

(४) जिसने एक से अधिक स्त्रियों से शादी कर ली है उसे बराय मिहरबानी अपनी अन्य स्त्रियों को लाने की इजाजत दे दी जाय, इस विषय में ।

जनरल स्मट्स के पत्र में एक और बात भी है । "वर्तमान कानूनों के विषय में यूनियन सरकार ने हमेशा यही चाहा है और अब भी चाहती है कि उन पर न्याय पूर्वक और वर्तमान स्वत्वों की रक्षा करते हुए ही अमल किया जाय" यह पत्र जून सन् १९१४ की ३० वीं तारीख को लिखा गया था। उसी दिन मैंने जनरल स्मट्स को एक पत्र लिखा जिसका आशय इस प्रकार था:

"आपका आज ही का लिखा पत्र मुझे मिल गया। जनरल स्मट्स ने शांति और विनय पूर्वक मेरी बातों को सुन लिया इसलिए मैं उनका एहसानमन्द हूं । भारतीयों के साथ रिआयत करने वाला कानून और हमारा यह पत्र-व्यवहार सत्याग्रह-युद्ध को

समाप्त करता है। यह युद्ध सन् १९०६ के सितम्बर में शुरू हुआ था। इसके कारण भारतीयों को अनेकों कष्ट और आर्थिक मुसीबतों का सामना करना पडा। सरकार को भी इसके कारण बड़ी चिंता में पडना पड़ा। प्रधान मंत्री महाशय जानते हैं कि मेरे कितने ही भाई इससे कहीं अधिक बातें मांग रहे थे। भिन्न भिन्न प्रान्तों में व्यापार करने के परवानों के विषय में कानून, मसलन ट्रान्सवाल का 'गोल्ड लॉ', 'ट्रान्सवाल टाउन शिप्स ऍक्ट', तथा सन् १८८५ का ट्रान्सवाल का नं० ३ का कानून,—वगैरा में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं किया गया जिसके कारण रहने वगैरा वषय के सम्पूर्ण हक़, व्यापारी स्वतंत्रता, और जमीन की मालिकी का हक़ भी हमें मिल जावें; इसलिए वे असंतुष्ट हो गये हैं। कितने ही तो इसी बात पर असंतुष्ट हो गये हैं कि उन्हें एक प्रांत से दूसरे प्रांत में आने की पूरी स्वाधीनता नहीं मिली है। कई इसलिए नाराज हैं कि भारतीयों के साथ रिआयतें करने वाले विवाह-विषयक कानून में विवाह के विषय में जो कुछ किया गया है इससे कुछ अधिक करने की जरूरत थी। और वे सब चाहते थे कि मैं इन बातों को सत्याग्रह के उद्देश के अन्दर शामिल कर लूं। पर मैंने उनकी बातों को मंजूर नहीं किया। इसलिए यद्यपि सत्याग्रह के उद्देशों में इन बातों को सम्मिलित नहीं किया गया है, तथापि इस बात से तो कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसी दिन सरकार को इन बातों पर भी विचार करके उनको न्याय देना चाहिए। जब तक यहां बसने वाले भारतीयों को नागरिकत्व के सम्पूर्ण हक नहीं दिये जावेंगे; तब तक पूरे संतोष की आशा ही नहीं की जा सकती। अपने भाइयों को मैंने कह

दिया है कि आपको शांति रखना चाहिए। और प्रत्येक उचित साधन के द्वारा लोकमत को इतना जागृत कर देना चाहिए कि भविष्य की सरकार उन बातों से भी आगे बढ़ जाय जिनका कि इस पत्र-व्यवहार में उल्लेख किया गया है। मुझे आशा है कि जब दक्षिण आफ्रिका के गोरे इस बात को समझने लग जावेंगे कि अब तो भारतवर्ष से गिरमिटिया मजदूरों का आना बंद हो गया है, तथा दक्षिण आफ्रिका में नवीन आने वालों के संबंध में जो कानून स्वीकृत हो गया है उसके अनुसार स्वतंत्र भारतीयों का आना भी लगभग बंदसा ही हो गया है, और साथ ही जब वे यह भी जान लेंगे कि भारतीय यहां के राज्य-कार्य में भी हस्तक्षेप करने की कोई महत्वाकांक्षा नहीं रखते, तब तो वे भी इस बात को महसूस करने लग जावेंगे कि उपर्युक्त स्वत्व उन्हें जरूर ही देना चाहिए, और उसीमें न्याय भी है। इस प्रश्न को हल करने में पिछले कुछ महीनों से सरकार ने जिस उदार नीति का अवलम्बन किया है, वह यदि वर्तमान कानूनों पर अमल करते समय भी इसी प्रकार कायम रही, जैसा कि आपके पत्र में लिखा है, तो मुझे विश्वास है कि समस्त यूनियन भर में भारतीय जनता कुछ शांतिपूर्वक रह सकेगी, और वह सरकार की अशांति का भी कारण न होगी।

उपसंहार

इस तरह आठ वर्ष के बाद सत्याग्रह का यह महान् युद्ध समाप्त हुआ। और मालूम होने लगा कि समस्त दक्षिण आफ्रिका में बसने वाले भारतीयों को शान्ति मिली। दुःख तथा हर्ष के साथ मैं इंग्लैंड में गोखलेजी से मिल कर भारतवर्ष को लौटने के लिए दक्षिण आफ्रिका से निकल पड़ा। जिस दक्षिण आफ्रिका में मैंने २१ वर्ष निवास किया, और असंख्य कडुवे तथा मीठे अनुभवों को प्राप्त किया, साथ ही जहां मैंने अपने जीवनोद्देश का दर्शन किया, उस देश को छोड़ते हुए मुझे बड़ा दुःख हुआ। और कुछ अनिच्छा भी मालूम हुई। हर्ष मुझे इस बिचार से हुआ कि अब मुझे कई वर्षों में भारतवर्ष लौट कर गोखले की छत्रच्छाया में सेवा करने का सद्भाग्य प्राप्त होगा।

उस लड़ाई का इस तरह सुंदर अंत हुआ। किन्तु उसके साथ दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की वर्तमान अवस्था की जब हम तुलना करते हैं तब क्षण भर के लिए दिल में यही प्रश्न उठता है कि इतना दुःख और कष्ट हमने क्यों उठाया होगा? अथवा सत्याग्रह जैसे शस्त्र की फिर कौन विशेषता रही? इस प्रश्न के उत्तर पर भी यहां विचार कर लेना जरूरी है। सृष्टि का

यह एक अटल नियम है कि जो वस्तु जिस साधन से प्राप्त होती है उसी साधन से उसकी रक्षा भी होती है। सत्य से संप्राप्त वस्तु का संग्रह भी सत्य से ही हो सकता है। अर्थात् यदि दक्षिण आफ्रिका के भारतीय आज ही सत्याग्रह का उपयोग कर सकें, तो आज ही वे सुरक्षित हो सकते हैं। यह विशेषता तो सत्याग्रह में भी नहीं है कि सत्य के द्वारा प्राप्त की गई वस्तु की रक्षा सत्य को छोड़ देने पर भी की जा सकती हो। किन्तु यदि यह संभव हो तो भी वह इष्ट नहीं माना जा सकता। इसलिए आज यदि दक्षिण आफ्रिका के भारतीयों की अवस्था बिगड़ी हुई है तो इसका कारण हमें यही समझ लेना चाहिए कि वहां सत्याग्रहियों का अभाव है। यह कथन आजकल के भारतीयों के दोष को सूचित नहीं करता, बल्कि यह तो केवल वहां की वस्तु-स्थिति का दर्शक मात्र है। व्यक्ति अथवा समुदाय उस वस्तु को कहाँ से ला सकता है जो उसमें हुई नहीं? सत्याग्रही सेवक तो एक के बाद एक चल दिये। सोराबजी, काछलिया, नायडू, पारसी रुस्तमजी आदि की मृत्यु के कारण अनुभवियों में से बहुत ही कम लोग रह गये हैं। जो बचे हैं वे अबतक भी जूझते ही हैं। और मुझे तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यदि उनमें सत्याग्रह होगा तो वे भी जरूर ही कौम को बचालेंगे।

अन्त में, इन प्रकरणों को पढ़ाने वाले पाठक इस बात को तो जान गये होंगे कि यदि यह महान युद्ध नहीं छेड़ा जाता, यदि अनेकों भारतीय उन कष्टों और मुसीबतों को न उठाते, जिन्हें उन्होंने इस अप्रतिम युद्ध में उठाया, तो आज दक्षिण आफ्रिका में भारतीयों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इतना ही नहीं,

बल्कि दक्षिण आफ्रिका की इस विजय के कारण अन्य उपनिवेशों में रहने वाले भारतीयों की भी न्यूनाधिक परिमाण में रक्षा हो हुई। यदि दूसरे उपनिवेश अपनी रक्षा न कर सके तो यह सत्याग्रह का दोष नहीं कहा जायगा। बल्कि कहना होगा कि उन उपनिवेशों में सत्याग्रह का अभाव है, और साथ ही यह भी सिद्ध होगा कि भारतवर्ष में भी उनकी रक्षा करने की शक्ति का अभाव है। सत्याग्रह एक अमूल्य शस्त्र है। उसमें निराशा अथवा पराजय के लिए तो स्थान ही नहीं है। यह बात यदि न्यूनाधिक अंश में भी इस इतिहास में सिद्ध हो गई हो तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

समाप्त

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालायें प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्रामसंगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरु होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी । प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें ? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥ ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारतवासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ २६६ मू० ॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १६१२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं